प्रकाशक—
विजयकृष्ण लखनपाल,
विद्या-विहार, बलबीर ऐवेन्यू,
देहरादून

१. आर्य-संस्कृतिके मूल-तत्त्व

लेखक

प्रो० सत्यव्रत सिद्धातालकार

(भूतपूर्व आचार्य तथा मुख्याधिष्ठाता, गुरुकुल विश्व-विद्यालय, कागडी)

कुछ समालोचनाओका साराश

आर्य-प्रतिनिधि-सभा पजावका मुख-पत्र 'आर्य' अपने १७ जनवरी १९५४ के अकमें लिखता है —

"आर्य-सस्कृतिके मूल-तत्त्व-पुस्तकके विपयमे विना किसी सकोचके कहा जा सकता है कि ज्यो-ज्यो समय वीतता जायगा, इसका स्थान आर्य-समाजके साहित्यमे वढता जायेगा ।"

'दैनिक हिन्दुस्तान' अपने १० जनवरी १९५४ के अंकमें लिखता है —

"हम तो यहातक कहनेका साहस रखते है कि भारतसे वाहर जानेवाले सास्कृतिक-मिशनके प्रत्येक सदस्यको इस पुस्तकका अवलोकन अवश्य करना चाहिए । लेखककी विचार-शैली, प्रतिपादन-शक्ति, विषय-प्रवेशकी सूक्ष्मता डा० राधाकृष्णन्से टक्कर लेती है ।"

'नवभारत टाइम्स' अपने २० दिसम्बर १९५३ के अकमें लिखता है —

"लेखकने आर्य-सस्कृतिके अथाह समुद्रमें पैठकर, उसका मन्थन करके, उसमें छिपे रत्नोको वाहर लाकर रख दिया है । भापा इतनी परिमार्जित है कि पढते ही वनती है । इस ग्रन्थको अगर आर्य-सस्कृतिका दर्शन-शास्त्र कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी । हिन्दीके सस्कृति-सम्वन्धी साहित्यमें इस ग्रन्थका स्थान अमर रहनेवाला है ।"

'जनसत्ता' अपने १० जनवरी १९५४ के अकमें लिखता है —

"लेखकने वडी परिमार्जित भापामे भारतीय-सस्कृतिके उन मूल-तत्त्वोका वर्णन किया है जो इसके आधार है । उन्होने एक दार्शनिक और वैज्ञानिककी तरह 'आर्य-सस्कृति'का विश्लेपण कर दिया है, और उसके प्रत्येक तत्त्वको पाठक के सामने निखारकर रख दिया है । सस्कृतिके विपयमे अनेक पुस्तके हमने देखी है, परन्तु प्रो० सत्यव्रतजीकी इस पुस्तकका स्थान अद्वितीय है । पुस्तक हिन्दी-साहित्यके मस्तकको ऊँचा करनेवाली है । ऐसी पुस्तकोसे ही देशका स्थिर-साहित्य वनता है । प्रत्येक भारतीयको इस ग्रन्थका अध्ययन करना चाहिये—यह हमारी हार्दिक इच्छा है ।"

'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' अपने ३ जनवरी १९५४ के अकमें लिखता है —

"हमारी सम्मतिमें आर्य-सस्कृतिके सम्वन्धमे आजतक जो पुस्तकें लिखी गई है, उनमें प्रो० सत्यव्रतजीकी लिखी इस पुस्तकका वहुत ऊचा स्थान है ।

समग्र पुस्तक गहन विषयोको सरल भाषामे व्यक्त किये गये विचारोंसे भरी पडी है। आर्य-सस्कृतिके सम्बन्धमे इस प्रकारकी मार्मिक-विवेचना करने वाली यह पहली पुस्तक हमारे देखनेमें आई है। जो लोग आर्य-सस्कृतिके सम्बन्धमें जानकारी हासिल करना चाहे, उनका ज्ञान इस पुस्तकको पढे विना अधूरा रहेगा। प्रत्येक पुस्तकालयके लिये इस पुस्तकका सग्रह करना पुस्तकालय की शोभा बढायेगा। पुस्तक सुन्दर कागजपर छपी है, बढिया जिल्द है, मोनो टाइप है, यह सब-कुछ देखतेहुए मूल्य भी उचित ही है।"

एक समालोचक लिखते है —

"विश्व-विद्यालयोंके नव-स्नातकोको गीता आदि भेट करनेके स्थानपर इस पुस्तकको भेट किया जाय, तो उनके जीवनको एक स्थिर दिशा मिल जाय। मैं इस पुस्तकको विवाहोपर और सस्कारोपर एक तोहफेके रूपमे भेट किया करूंगा।"

सजिल्द पुस्तकका दाम चार रुपया

२. समाज-शास्त्रके मूल-तत्त्व

लेखक

प्रो० सत्यव्रत सिद्धातालकार

प्रो० सत्यव्रतजीकी 'समाज-शास्त्रके मूल-तत्त्व'-पुस्तकके सबधमें डी० ए० वी० कालेज देहरादूनके प्रिंसिपल डा० रामनारायण सक्सेना एम० ए०, पी० एच० डी० लिखते हैं —

"इस पुस्तकमे 'समाज-शास्त्र'के सभी विषयोका सुन्दर तथा सरल विवेचन किया गया है। वैसे तो पुस्तक 'समाज-शास्त्र'से परिचय प्राप्त करनेवाले सभी पाठकोंके लिये उपयोगी है, परन्तु विश्व-विद्यालयके उन विद्यार्थियोकेलिये तो, जो 'समाज-शास्त्र'का अध्ययन कर रहे है, यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी क्योंकि इसमे बी० ए० तथा एम० ए०की पाठविधिके इस क्षेत्रके किसी विषयको छोडा नहीं गया, हर विषयकी गहन तथा विशद विवेचना की गई है। 'समाज-शास्त्र'के सभी विश्व-विद्यालयोके विद्यार्थियोंकेलिये भी यह पुस्तक बडी आसानीसे पाठ्य-पुस्तक का काम दे सकेगी।"

कपडेकी सजिल्द ५०० पृष्ठोकी पुस्तकका दाम दस रुपया

उक्त पुस्तकोंके मिलनेका पता

विद्या-विहार, बलबीर ऐवेन्यू, देहरादून

विषय-सूची

चित्र-सूची

प्राथमिक-शब्द

[श्री डाक्टर स० राधाकृष्णन, उप-राष्ट्रपति द्वारा लिखित]

मानवीय-प्रगति का आधार वे कार्य है जो श्रद्धा की नीव पर खडे होते है। हमारी प्रगति का रूप हमारी प्राचीन सभ्यता है। यह सभ्यता श्रद्धा के जिन आधारो पर खडी है उनका सूत्र मुख्य-मुख्य उपनिषदो मे पाया जाता है। आज जब कि हम अपने देश के जीवन मे एक नव-युग का निर्माण करने जा रहे है, हमे अपने भीतर नव-जीवन का सचार करने के लिये उन्ही उपनिषदो की तरफ जाना होगा। उपनिषदो मे वे मूल-तत्व छिपे हुए है जिन्होने आदि-युग के उष काल से अब तक हमारे इतिहास को ढाला है। जब-जब हमने ठोकरे खाई है, तब-तब हमारे पथ-च्युत होने का कारण हमारा उपनिषदो की शिक्षा से विमुख हो जाना ही रहा है। इसलिये आज की सन्तति के उद्धार के लिये उपनिषदो के तत्वो को ग्रहण करना, और उन तत्वो का हमारे दिन-दिन की समस्याओ के साथ जो सम्बन्ध है उसे समझ लेना आवश्यक है।

उपनिषदो के मूल-वाक्यो को पढ लेना ही काफी नही है। उपनिषद् तो मनन का विषय है। उदाहरणार्थ, उपनिषद् की प्रथम पक्ति मे ही कितना मनन का विषय भरा पडा है। प्रथम उपनिषद् की प्रथम पक्ति है :

ईशावास्यमिद सर्व, यत्किञ्च जगत्या जगत्।
तेन त्यक्तेन भु जीथा, मा गृध कस्यस्विद्धनम् ॥

इस मन्त्र का अर्थ है—यह धारणा कर लो कि यह सब-कुछ, अर्थात् इस गतिमान् ससार मे जो-कुछ भी गति कर रहा है, पर-ब्रह्म से परिवेष्टित है। इसलिये त्याग मे ही आनद को ढूंढो, जो दूसरे का है, उसके प्रति मत ललचाओ।

इस पक्ति मे कितने महान् रहस्य का प्रतिपादन किया गया है। मन्त्र का कथन है कि यह सम्पूर्ण जगत् घटनाओ का एक निरन्तर प्रवाह है, इस प्रवाह मे एक घटना दूसरी घटना से आगे बढती चली जा रही है—सब जगह गति है, प्रवाह है। परन्तु क्या जगत् प्रवाह-मात्र है,

प्राथमिक-शब्द

[श्री डाक्टर स० राधाकृष्णन, उप-राष्ट्रपति द्वारा लिखित]

मानवीय-प्रगति का आधार वे कार्य है जो श्रद्धा की नीव पर खडे होते है। हमारी प्रगति का रूप हमारी प्राचीन सभ्यता है। यह सभ्यता श्रद्धा के जिन आधारो पर खडी है उनका सूत्र मुख्य-मुख्य उपनिषदो मे पाया जाता है। आज जब कि हम अपने देश के जीवन मे एक नव-युग का निर्माण करने जा रहे है, हमे अपने भीतर नव-जीवन का सचार करने के लिये उन्ही उपनिषदो की तरफ जाना होगा। उपनिषदो मे वे मूल-तत्व छिपे हुए है जिन्होने आदि-युग के उष काल से अब तक हमारे इतिहास को ढाला है। जब-जब हमने ठोकरे खाई है, तब-तब हमारे पथ-च्युत होने का कारण हमारा उपनिषदो की शिक्षा से विमुख हो जाना ही रहा है। इसलिये आज की सन्तति के उद्धार के लिये उपनिषदो के तत्वो को ग्रहण करना, और उन तत्वो का हमारे दिन-दिन की समस्याओ के साथ जो सम्बन्ध है उसे समझ लेना आवश्यक है।

उपनिषदो के मूल-वाक्यो को पढ लेना ही काफी नही है। उपनिषद् तो मनन का विषय है। उदाहरणार्थ, उपनिषद् की प्रथम पक्ति मे ही कितना मनन का विषय भरा पडा है। प्रथम उपनिषद् की प्रथम पक्ति है :

ईशावास्यमिद सर्वं, यत्किञ्च जगत्या जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा, मा गृध कस्यस्विद्धनम् ॥

इस मन्त्र का अर्थ है—यह धारणा कर लो कि यह सब-कुछ, अर्थात् इस गतिमान् ससार मे जो-कुछ भी गति कर रहा है, पर-ब्रह्म से परिवेष्टित है। इसलिये त्याग मे ही आनद को ढूंढो, जो दूसरे का है, उसके प्रति मत ललचाओ।

इस पक्ति मे कितने महान् रहस्य का प्रतिपादन किया गया है। मन्त्र का कथन है कि यह सम्पूर्ण जगत् घटनाओ का एक निरन्तर प्रवाह है, इस प्रवाह मे एक घटना दूसरी घटना से आगे बढती चली जा रही है—सब जगह गति है, प्रवाह है। परन्तु क्या जगत् प्रवाह-मात्र है,

प्रवाह के अतिरिक्त यह कुछ नही ? उपनिषद् का कहना है कि यह सम्पूर्ण प्रवाह पर-ब्रह्म से अनुप्राणित है, उससे आवासित है, उससे ढका हुआ है। हमे ससार को केवल बाहर से ही नही देखना, हमे बाहर से दिख रहे घटनाओ के अविरत प्रवाह के अन्तराल मे जाज्वल्यमान प्रगाढ यथार्थ-सत्ता को देखना है जो इस प्रवाह के भीतर अनुप्रविष्ट है। जो व्यक्ति इस अन्तर्दृष्टि से हर वस्तु के बाह्य रूप को नही, उसके आन्तरिक रूप को देख लेता है, उसके लिये ससार साध्य नही, साधन हो जाता है, वह ससार की हर वस्तु का त्याग करके हर वस्तु का स्वामी बन जाता है। जब हम यह अनुभव कर लेते है कि पर-ब्रह्म ससार के अणु-अणु मे व्यापक है, तब हम ससार की हर वस्तु से एकात्मता अनुभव करने लगते है। ट्रैहर्न के शब्दो मे जब हम विश्व के साथ इस एकात्मता का अनुभव करते है तब—'समुद्र हमारी शिराओ मे बहने लगता है सितारे हमारे देह के आभूषण बन जाते है।' जो व्यक्ति ऐसा अनुभव करने लगता है उस के लिये हर वस्तु ब्रह्मानुप्राणित हो जाती है, और जिसके लिये हर वस्तु ब्रह्मानुप्राणित है, उसके लिये लालच को, छीना-झपटी को, या अहमन्यता को स्थान कहाँ ?

मुझे यह जान कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि प्रो० सत्यव्रत, जो कई वर्षो तक गुरुकुल विश्व-विद्यालय कागडी, हरिद्वार के वाइस-चान्सलर रहे है और हिन्दी के एक लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक है, जिन्होने हिन्दी मे प्राचीन 'भारतीय-सस्कृति', 'शिक्षा' आदि के सम्बन्ध मे अनेक उच्च-कोटि के ग्रन्थ लिखे है, उन्होने अब यह धारावाही हिन्दी मे उप-निषदो का विस्तृत तथा गहन परिचयात्मक ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ मे उपनिषदो का मूल तथा उसकी धारावाही स्वतन्त्र व्याख्या दी गई है। मुझे विश्वास है कि हिन्दी-जगत् मे इस ग्रन्थ का स्वागत होगा, विस्तृत-रूप मे इस ग्रन्थ का अध्ययन होगा, सब किसी का इससे भला होगा, और इसके पढने से पाठको को आध्यात्मिक प्रसाद प्राप्त होगा।

२८ अप्रैल, १९५४
नई दिल्ली

—स राधाकृष्णन

FOREWORD

By

Dr S RADHAKRISHNAN, Vice-President of India

Human progress is built on acts of faith The acts of faith on which our civilisation is based are to be found in the principal Upanishads When we are now setting out on a new era in the life of our country, we must go to the Upanishads for our inspiration They contain the principles which have moulded our history from its earliest dawn Where we have failed, our defeat is due to our infidelity to the teachings of the Upanishads It is, therefore, essential for our generation to grasp the significance of the Upanishads and understand their relevance to our problems

The texts of the Upanishads are not to be read simply They are meant for meditation Take, for example, the very first verse with which this book opens

Ishavasyam idam sarvam
yat kim ca jagatyam jagat
tena tyaktena bhunjitha, ma gradhah
Kasyasvid dhanam

(Know that) all this, whatever moves in this moving world, is enveloped by God Therefore find your enjoyment in renunciation do not covet what belongs to others

It makes out that this world is a perpetual procession of events where everything supersedes another But this passing show is not all It is informed by the Supreme Spirit, enveloped by God We should not look at the world merely from the outside as a succession of events but perceive beneath it the burning intensity of significance which penetrates the succession Every occasion of the world is a means for transfiguring insight By renouncing everything we become the lords of everything When we feel that the whole universe is inhabited by God, we become

one with the universe In the words of Traherne "the sea flows in our veins and the stars are our jewels" When all things are perceived as sacred, there is no room for covetousness or self-assertion

I am pleased to find that Professor Satyavrata who was for some years the Vice-Chancellor of the Gurukul University, Hardwar, and is well known as the author of many important works in Hindi on Ancient Indian Culture, Education etc, has now written an exhaustive account in Hindi of the Upanishads He gives the text and a commentary I have no doubt that this book will be widely read by students of Hindi for their own profit and pleasure

New Delhi —*S Radhakrishnan*
28 April, 1954

भूमिका

प्राचीन-भारतके नभोमडलकी जाज्वल्यमान तारकावलीमे उपनिषद् वे सितारे है जिनका प्रकाश जीवन-यात्राकी घटाटोप अन्धकारपूर्ण रात्रिमे हजारो सालोमे बटोहीका मार्ग-प्रदर्शन करता रहा है। मै किधर जाऊ, मेरा सही रास्ता कौन-सा है, बीसियो पग-डडियोमेसे किसपर चलनेसे मै अपने लक्ष्यतक पहुचूगा—यह प्रश्न जैसे नचिकेताके हृदयमे उठा, जैसे मैत्रेयीके हृदयमे उठा, वैसे आज भी हरेक युवक-युवतीके हृदयमे उठता है, परन्तु आजके उत्तरमे नचिकेता और मैत्रेयीको भिन्न उत्तर मिला था, और वे हमसे भिन्न मार्गपर चले थे। यह नही कि वे उस मार्गपर चल नही सकते थे जिसपर आजका भौतिकवादी-जगत् चलता चला जा रहा है। हमारे मार्गपर चलनेकी भी उन्हे खुली छूट थी, परन्तु उन्होने इस मार्गको यह कहकर छोड दिया था—'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य'—मनुष्यकी धन-धान्य से अन्तिम तृप्ति नही हो सकती—'तवैव राजन् मानुष वित्तम्'—ये रुपया-पैसा मेरे अन्तरतमकी बेचैनीको दूर नही कर सकता, ये अपने पास रख—'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन'—वित्तसे ससारके सुख-भोग मिल सकते है, आत्माको जिस अमरताकी तलाश है वह इससे नही प्राप्त होती। आत्माकी अमरताका यह सन्देश भौतिकवादकी दलदलमे फसेहुए हम लोगोके कानोमे भी पडता है, हमारे जीवनमे भी समय आता है, जब हम इधर नही उधर देखने लगते है, प्रकृतिकी तरफ नही परमात्माकी तरफ मुह उठाकर अनित्यके स्थानमे नित्यकी तलाश करने लगते है, हम भी समझ जाते है—'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य'—'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन'—परन्तु हम बहुत देरमे समझते है, ऐसे समय समझते है जब इस तत्त्वको समझनेका जीवनमें हम कोई क्रियात्मक लाभ नही उठा सकते। कौन भौतिकवादी है जो ससारकी चकाचौंधमे सारी आयु गुजार देनेके बाद एक दिन यह नही देख लेता कि यह-सब धोखा था, इसमेसे कुछ भी तो टिकनेवाला न था, परन्तु जब उसकी आखे खुली, तब उसके हाथमे क्या रह गया था? इसको नित्य मानकर उसने झूठ बोला, दुराचार किया, अत्याचार किया, खून बहाया, अबाही-तबाही मचाई, परन्तु यह-सब तो एक भूल-भुलय्याका गोरखधधा था, असली वस्तु, वह वस्तु जिसकी उसे तलाश थी, जिसे वह जन्म-जन्मान्तरसे ढूढ रहा था, जो हाथ आती-जाती उसके हाथसे निकल जाती थी, उसे तो वह छूतक न सका था। यह भावना हर मनुष्यके सामने जीवनमे किसी-न-किसी समय साकार बनकर खडी हो जाती है, अध्यात्मवादीके जीवनमे बहुत पहले, भौतिकवादी के जीवनमे बहुत देर बाद, परन्तु देरमे या अबेरमे, यह कठोर, निष्ठुर सत्य, हम माने, न माने, किसीका पीछा नही छोडता, नही छोडता। इस आधार-भूत

सचाईको जिन्होंने पकड़ लिया था, उन्होंने इस सचाईकी दिग्दिगन्तमे घोषणा कर दी थी, उन्होंने एलान किया था—'इह चेदवेदीत् अथ सत्यमस्ति, न चेदवेदीन् महती विनष्टि'—अगर उसे यहां, इस जन्ममे, पा लिया तो ठीक, नहीं तो महानाश ही महानाश है। ऐसी घोषणा करनेवाले प्राचीन-भारतके ऋषि-मुनियोंने जिस सत्यका दर्शन किया था, इस ससारको सत्य मानते हुए भी इसके पीछे छिपेहुए, इसके भी प्राण, इसके भी जीवन जिस सत्योंके सत्य, जिस तत्त्वोंके तत्त्वके दर्शन किये थे, उसका नाम उन्होंने 'ब्रह्म' रखा था, और ससार-भरका ध्यान इसमे उसकी तरफ खीचनेकेलिये जिस विद्याको उन्होंने जन्म दिया था, उसका नाम 'ब्रह्म-विद्या' रखा था, 'ब्रह्म-विद्या'का प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थोंका नाम ही 'उपनिषद्' रखा था।

उपनिषदोको समझनेकेलिये उपनिषदोके ऋषियोंके दृष्टि-कोणको समझना जरूरी है। जैसे आज हर बात भौतिक दृष्टि-कोणको सामने रखकर कही या लिखी जाती है, वैसे उपनिषत्कारोने आध्यात्मिक दृष्टि-कोणको सामने रखकर सब-कुछ कहा तथा लिखा था। उनका कहना था कि सृष्टि सत् है, परन्तु इससे भी ज्यादा कोई दूसरी वस्तु सत् है, उस सत्की सत्तासे ही इस सृष्टिका रूप सत् दीखता है, अस्ली सत् यह नही वह है—वही ब्रह्म है, वही आत्मा है, उसीको जानकर मनुष्य अमृत होता है। उनका कहना था कि जो इस दृष्टिको पालेता है, वह जैसे हम इस सृष्टिको प्रत्यक्ष देखते है, वैसे ब्रह्मको प्रत्यक्ष देखने लगता है। प्रत्यक्षका यह मतलब नही कि इन स्थूल आखोसे प्रत्यक्ष देखने लगता है, इसका मतलब यह है कि इन आखोसे तो वह इस सृष्टिको ही देखता है, परन्तु इस सृष्टिकी हर वस्तुको वह एक पर्देके तौरपर देखता है, इस पर्देके पीछे, इसकी ओटमे वह पर्देवालेको, ओटवालेको भी देख लेता है। जैसे भौतिकवादीकी यथार्थवादी दृष्टि है, वैसे उपनिषद्के ऋषियोकी भी यथार्थवादी दृष्टि है। याज्ञवल्क्यने बार-बार कहा है कि ससार है, परन्तु यह अन्ततक रहनेवाला नही है। ससारका यही अन्तिम सार है—यह है, इससे भी हम इन्कार नही कर सकते, यह अन्ततक रहनेवाला नही है, इससे भी हम इन्कार नही कर सकते। इस यथार्थवादी दृष्टि-कोणको लेकर ही जगह-जगह उपनिषद्मे कहा है—यह सत् नही, वह सत् है, इन्द्रिय नही, मन-प्राण-आत्मा सत् है। इस बातसे कौन इन्कार कर सकता है कि उपनिषद्का यह दृष्टि-कोण काल्पनिक नही यथार्थ दृष्टि-कोण है, ऐसा दृष्टि-कोण जिसके सामने भौतिकवादी तथा अध्यात्मवादी दोनो विचारकोको सिर झुकाना पड़ता है।

उपनिषद्के रहस्यको समझनेके लिये एक बात और समझ लेना जरूरी है। ऋषियोंका कहना था कि ब्रह्मको ढूढनेके लिये कही दूर भटकनेकी जरूरत नही। जो-कुछ ब्रह्माडमे है, वही-कुछ पिंडमे है। विज्ञान भी तो यही कहता है कि जो नियम परमाणुमे काम कर रहे है, ठीक वही नियम सौर-मडलमे काम कर रहे है। इसी बातको उपनिषद् और आगे लेगये है। उनका कहना है कि जो नियम

भौतिकमे काम कर रहे हैं, वही आध्यात्मिकमे काम कर रहे है। इस वातको प्रकट करनेके लिये उपनिषद्मे 'अथाधिदैवतम्' तथा 'अथाध्यात्मम्'—इन दो वाक्योका प्रयोग किया गया है। 'अथाधिदैवतम्'का अभिप्राय है—देखो, ब्रह्माडमे क्या नियम काम कर रहे हैं, 'अथाध्यात्मम्'का अभिप्राय है—देखो, वही नियम पिडमे काम कर रहे हैं। अधिदैवत तथा अध्यात्म, ब्रह्माड (Macrocosm) तथा पिंड (Microcosm)—इन दोनोकी एकात्मताको समझ लेना उपनिषद्के रहस्यको समझ लेना है। हमने इस एक गुरका सहारा लेकर कठिन-से-कठिन स्थलोको बडी आसानीसे खुलते देखा है, और यह अनुभव किया है कि इस तत्त्वको गाठ बाध लिया जाय, तो उपनिषद्की कोई बात उलझी नही रहती। हमने अपनी व्याख्यामे इस गुरका प्रचुर प्रयोग किया है।

उपनिषद्मे दो-तीन स्थल ऐसे हैं जिनके सम्बन्धमे अक्सर वाद-विवाद रहा करता है। उनके विषयमे कुछ स्पष्टीकरण कर देना अप्रासगिक न होगा—

सबसे पहला विवाद तो यह चला करता है कि उपनिषदोका प्रतिपाद्य विषय एकत्व है, या द्वित्व? एकत्ववादियोके लिये 'सर्व खल्विद ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन'—छान्दोग्यका 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो'—'योऽसावादित्ये पुरुष सोऽहमस्मि' आदि वाक्य उनके मतका निश्चय करनेकेलिये पर्याप्त है, द्वित्ववादियोकेलिये 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' तथा श्वेताश्वतर उपनिषद्के अनेक वाक्य उनके मतका निश्चय करनेकेलिये पर्याप्त हैं। परन्तु अगर हम उपनिषदोका गहराईसे अध्ययन करे, तो पता चलेगा कि उपनिषदोका प्रतिपाद्य विषय न एकत्व है, न द्वित्व। उपनिषद् दर्शनके, तर्कके ग्रन्थ नही, अनुभूतिके, साक्षात्कारके ग्रन्थ हैं। 'नैषा मतिस्तर्केणापनेया'—यह उपनिषदोका दृष्टि-कोण है। किसी ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय वह होता है जो सम्पूर्ण ग्रन्थमे एक-समान दीख रहा हो, एक-एक अध्याय और एक-एक पृष्ठपर उभर-उभर आता हो। इस दृष्टिसे उपनिषदोका प्रतिपाद्य विषय सिर्फ यह है कि ब्रह्माडमे हम प्रकृतिमे उलझे रहते हैं, पिडमे हम शरीरमे उलझे रहते है, प्रकृतिका जीवन ब्रह्मसे है, शरीरका जीवन आत्मासे है, हमारे उलझनेकी असली वस्तु ब्रह्माडमे प्रकृति नही ब्रह्म है, पिडमे शरीर नही आत्मा है। जैसे भौतिकवादी प्रकृति तथा शरीरको यथार्थ समझता है, वैसे उपनिषद्का ऋषि ब्रह्म तथा आत्माको यथार्थ समझता है, जैसे भौतिकवादीका 'भौतिक-यथार्थवाद' (Physical realism) अनुभवके आधारपर खडा है, वैसे अध्यात्मवादीका 'आध्यात्मिक-यथार्थवाद' (Spiritual realism) भी अनुभवके आधार पर खडा है। उपनिषद्का प्रतिपाद्य विषय 'एकत्व'-'द्वित्व' नही, 'आत्म-तत्त्व' उसका प्रतिपाद्य विषय है। उपनिषद्के ऋषिका कथन है कि यह युक्तिसे सिद्ध करनेकी जरूरत नही कि ससार टिकनेवाली वस्तु नही है, यह तो हम सबका अनुभव हैं कि शरीरमेसे जब प्राण निकलने लगता है, तब आख, नाक, कान सब इन्द्रिया भागने लगती है, फिर हम इसमे क्यो उलझे रहे, उस आत्म-तत्त्वको पानेका यत्न क्यो न करे जिसके कारण

यह सब-कुछ है, और जिसके बिना यह सब-कुछ रहताहुआ भी नहीं रहता, होता हुआ भी क्षण भरमें नहीं हो जाता है ? यह विचार उपनिषद्के पृष्ठ-पृष्ठपर, पंक्ति-पंक्तिपर अंकित है। यही उपनिषद्का प्रतिपाद्य विषय है। 'एकत्व' और 'द्वित्व' तो अवान्तर बातें हैं। उपनिषत्कार दार्शनिक दृष्टिसे नहीं, अनुभवकी दृष्टिसे सत्यकी खोजमें निकले हैं, वे जानना चाहते हैं कि जीवनको किस दिशामें ढाला जाय जिससे जिस सुखकी तलाशमें यह मनुष्य जन्म-जन्मान्तरसे भटक रहा है वह उसे मिल जाय। उपनिषत्कारकी दृष्टि दिमागी उड़ानकी दृष्टि नहीं, जीवनकी सबसे मुख्य क्रियात्मक समस्याको हल करनेकी दृष्टि है। 'एकत्व' ठीक है, या 'द्वित्व' ठीक है—इसको जाननेवालोंके जीवनपर इस बातका क्या असर पड़ता है ? 'एकत्व'वाले भी उसी रास्तेपर भागे चले जा रहे हैं, जिसपर 'द्वित्व'वाले। उपनिषद्के दृष्टि-कोणको जाननेवालेका तो जीवनका रास्ता ही बदल जाता है। वह नचिकेताकी तरह संसारके प्रलोभनोंके मिलनेपर भी उन्हें अनित्य समझकर छोड़ देता है, याज्ञवल्क्यकी तरह आयुके एक भागमें आकर संसारसे उपराम हो जाता है, अनित्योंमें नित्यकी, अध्रुवोंमें ध्रुवकी तलाश करता है। कहनेका अभिप्राय यह है कि 'एकत्व' या 'द्वित्व' उपनिषदोंका प्रतिपाद्य विषय नहीं है, यह दर्शन-शास्त्रका विषय है, इन बातोंकी उपनिषदोंमें कहीं-कहीं झलक दीख जाती है, आखिर दार्शनिक तथा अनुभूतिकी दृष्टियां भी कहीं-कहीं पास-पाससे गुजरा करती हैं, परन्तु अनुभूतिके ग्रन्थमें दार्शनिक विवादको खड़ा कर देना ग्रन्थके मर्मको न समझना है। उपनिषद्के कुछ गिने-गिने वाक्योंका भले ही कोई एकत्वपरक अर्थ करे, या द्वित्वपरक, ये ग्रन्थ एकत्ववाद या द्वित्ववाद को लक्ष्यमें रखकर नहीं लिखे गये, और न ही ऐसे स्थलोंकी उपनिषदोंमें इतनी भरमार है कि इस समस्याका उपनिषदोंकी मुख्य समस्या बना लिया जाय।

दूसरा विवाद कुछ ऐसे स्थलोंके विषयमें है जो कुछ लोगोंकी दृष्टिमें आपत्ति-जनक हैं। आपत्ति-जनक स्थलोंके विषयमें एक स्थल तो बृहदारण्यकोपनिषद्के ६ अध्यायका चतुर्थ ब्राह्मण है जिसमें गर्भाधान-विधिका विस्तार-पूर्वक वर्णन है। मैक्समूलरने इस स्थलको अश्लील कहकर इसका अंग्रेजीमें अनुवाद करनेके स्थानमें इसलिये लैटिनमें अनुवाद किया था ताकि थोड़े ही लोग इसे पढ़ सकें। भारतमें 'गर्भाधान'-संस्कार सोलह संस्कारोंमेंसे एक मुख्य संस्कार समझा जाता था, और इसको उत्तम सन्तान उत्पन्न करनेका साधन माना जाता था। आज भी सुप्रजनन-शास्त्र (Eugenics) की पुस्तकोंमें उत्तम सन्तान कैसे उत्पन्न हो—यह विचार किया जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद्के उक्त स्थलमें यही चर्चा है कि वेदज्ञ, विद्वान्, धर्मनिष्ठ सन्तान कैसे उत्पन्न हो—इसमें गर्भाधान-विधिका भी वर्णन है, इतनेसे स्थल अश्लील कैसे हो सकता है ? गर्भाधानके साथ इस स्थलमें अन्य संस्कारोंका भी वर्णन है। इसी प्रकरणमें एक जगह (६-४-१८) यह वर्णन आता है कि जो माता-पिता चाहें कि उनका

पुत्र सब वेदोका ज्ञाता हो, वे 'मांसौदन पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्ष्णेण वार्ऽर्षभेण वा ।' इसका अर्थ कई विद्वानोने यह किया है कि माता-पिता मास और चावल पकवाकर औक्षणमे वा आर्षभने घृत-सहित खाये, अर्थात् बैलका मांस खाये । इस अर्थ करनेका कारण यह है कि 'मांसौदन' शब्दमे 'मांस' शब्द आया है । परन्तु इस सारे प्रकरणको आगे-पीछे देखनेसे क्या 'मांस'की बात ठीक जचती है ? सारे प्रकरणको पढ जाय, तो तिल, चावल, घृतके सिवाय किसी और वस्तुका कही जिक्र नही, एकाएक 'मांस'-शब्द आ गया है । असलमे, 'माष'की जगह किसी लेखककी गलतीसे 'मांस'-शब्द लिखा गया है । उस समयके लेखकोकी गलतिया आज-कल छापेखानेके भूतोकी गलतिया (Printer's devil) कहाती है । चावलके साथ माष अर्थात् उडदकी संगति तो स्पष्ट है, मासकी कोई संगति नही बैठती । शुभ-कार्योमे आजतककी परम्परा तिल-चावल-माषको मिलानेकी है, तिल-चावलके साथ मांस मिलानेकी तुक कहा बैठती है ? उपनिषदोके लेखकोसे कही-कही शब्दोकी गलतिया कई जगह रह गई है, और जो गलती एक बार रह गई, वह रहती ही चली गई, उसमे सुधारका किसीने प्रयत्न नही किया । तैत्तिरीयोपनिषद्मे 'शिक्षा'के स्थानमे 'शीक्षा', 'तत्'के स्थानमे 'त्यत्', 'निष्काम'के स्थानमे 'नीकाम' चलता चला आ रहा है । छान्दोग्य ६-२-१ मे 'तस्मादसत सज्जायत'—यह वाक्य आता है । इसका शुद्ध-पाठ 'तस्मादसत सज्जायते' या 'तस्मादसत सज्जायत इति'—यह होना चाहिये, परन्तु सब जगह छपी उपनिषदोमे 'तस्मादसत सज्जायत'—यही पाया जाता है । एक बार गलत लिखा गया, सो लिखा गया । जिस स्थलके विषयमे हम चर्चा कर रहे है उसका शुद्ध-पाठ 'मांसौदन' न होकर 'माषोदन' होना चाहिये, परन्तु एक बार कोई ग़लतीसे 'मांस' लिख गया, सो वैसा चलता चला गया । आगेके स्थलका अर्थ स्पष्ट है कि जो माता-पिता ऐसे भोजनका सेवन करेंगे, वे—'जनयितवा औक्षणेण वार्ऽर्षभेण वा'—शरीरमे बैलके समान और ज्ञानमे ऋषभके समान पुत्र-रत्नको उत्पन्न करेगे । बैलके मासमे ही मतलब होता तो 'औक्ष्णेण' और 'आर्षभेण'मे विकल्प क्यो कहा जाता ? उक्षा और ऋषभका बैल-विषयक तो एक ही अर्थ है ! आगे-पीछेके प्रकरणको देखकर युक्ति-संगत अर्थ यही प्रतीत होता है कि जो चाहे शरीरकी बलिष्ठ तथा ज्ञानकी धनी (ऋषभ—श्रेष्ठ) सन्तान हो वह घी-चावल और उडदका सेवन करे ।

उपनिषदोके भावकी गहराईतक न जानेका परिणाम है कि कई विद्वान् उपनिषदकी विचार-परम्पराके बिल्कुल विपरीत अर्थ कर देते है । छान्दोग्य (४-२-५) मे रैक्व ऋषिकी कथा आती है, जिसमे लिखा है कि राजा जान-श्रुति ब्रह्म-विद्याके उपदेशकेलिये रैक्वके पास गया, और साथ धन-धान्य, रथ तथा अपनी कन्याको भी लेता गया । ऋषिके विषयमे लिखा है—'तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाच' । 'उपोद्गृह्णन्' का सीधा-सादा अर्थ है, मुखको

ऊपर करके, परन्तु कुछ विद्वानोंने इसका अर्थ कर दिया है—उस स्त्रीके मुखको चूमकर! ऐसे अर्थ न प्रकरणमें खपते हैं, न शब्दोंमें ही ऐसा-कोई अर्थ निकलता है। उपनिषद्‌में तो ऐसा-कोई अर्थ निकलता भी प्रतीत होता हो, तब भी सारे ग्रन्थके विचार-क्रमको देखते हुए उससे मेल खानेवाला ही अर्थ करना चाहिये, दूसरा नहीं, क्योंकि हर ग्रन्थके भावको समझनेका यही सही तरीका है।

उपनिषदोंकी विचार-धारा चित्तको इतने आग्रहसे खींचती है कि इतनी पुरानी होनेपर भी यह नित नई बनी हुई है। मुसलमान कई शताब्दियोंतक भारतपर राज्य करते रहे, परन्तु उपनिषदोंकी उड़ानके सामने उन्होंने भी मस्तक नवा दिया। शाहजहाँका ज्येष्ठ पुत्र औरंगजेबका भाई दारा शिकोह उपनिषदों पर इतना लट्टू हो गया था कि काशीसे कुछ पंडितों और सन्यासियोंको बुलाकर लगातार छः महीने तक उनकी कथा और व्याख्या सुनता रहा। वह उपनिषदोंकी विचार-धारासे इतना प्रभावित हुआ कि १६५६ ईस्वीमें उसने इनका फारसीमें अनुवाद किया। कालान्तरमें दारा शिकोहके इसी भाषान्तरको फ्रेंच विद्वान् एन्क्विटिल ड्यू पेरो (Anquetil Du Peron) ने पढ़ा, और उसे पढ़कर ही उसे प्राच्य शास्त्रों तथा संस्कृत ग्रन्थोंको पढ़नेकी रुचि हुई। उपनिषदोंके फारसी अनुवाद तथा मूल संस्कृतके आधारपर ही एन्क्विटिल ड्यू पैरोने १८०१ ईस्वीमें इनका लैटिनमें अनुवाद किया। इसप्रकार दारा द्वारा मुस्लिम तथा एन्क्विटिल ड्यू पैरो द्वारा ईसाई जगत्‌में उपनिषदोंकी विचार-धाराने इतना ज़बर्दस्त सिक्का जमाया कि पूर्व तथा पश्चिम—दोनों जगह के लोग इन ग्रन्थोंको अत्यन्त श्रद्धासे पढ़ने लगे। इसके बाद राजा राममोहन राय ने १८१६–१८१९ में, ई० रोअर (E Roer) ने १८४८–१८७८ में तथा मैक्स मूलर (Max Muller) ने १८७९–१८८४ में उपनिषदोंका अंग्रेज़ीमें अनुवाद किया। जर्मनमें एफ मिशल (F Mischel) ने १८८२ में, ओ० बाहर्टलिंक (O Bohtlink) ने १८८९ में तथा पॉल ड्यूसन (Paul Deussen) ने १८९७ में इनका जर्मनमें अनुवाद किया। इनके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न भाषाओंमें उपनिषदोंके अनेक भाषान्तर हुए और संसारभरके विचारकोंको उपनिषदोंके अथाह समुद्रमेंसे अनेक रत्न मिले, जिनमेंसे सबसे मुख्य रत्नकी तरफ ध्यान खींचते हुए जर्मन विद्वान् शोपनहारने लिखा था कि अगर जीवनमें मुझे किसी चीज़से आत्मिक-शान्ति मिली है तो उपनिषदोंसे, और अगर मृत्युके समय मुझे किसी चीज़से शान्ति मिल सकती है तो उपनिषदोंसे!

भारतकी भाषाओंमें उपनिषदोंके अनेक भाषान्तर हुए हैं। हिन्दीमें ही कम-से-कम आधे दर्जन भाषान्तर हैं। इन सब ग्रन्थोंके होते हुए हमें इस ग्रन्थके लिखनकी क्या आवश्यकता हुई? हम इस ग्रन्थके लिखनेकी तरफ प्रेरित हुए जब हमने आनन्दते हुए हिन्दी-संस्कृत-अंग्रेज़ी सब अनुवादोंको पढ़ा। हमें प्रायः सभी ग्रन्थोंमें शब्द-जाल अधिक दिखाई दिया, भावकी प्रधानता कम दिखाई दी। इसका मुख्य कारण यह समझमें आया कि सबने संस्कृत-भागको प्रधानता देकर

अपनी लेखनी उठाई है। हमे यह समझ पड़ा कि जिन भावोको उपनिषत्काल मे संस्कृत भाषामे लिखा गया था, उन्ही भावोको बिना शब्दोके जालमे उलझे सर्व-साधारणकी भाषामे लिखनेकी जरूरत है। दूसरे शब्दोमे, उपनिषदोको ऐसी भाषामे लिखनेकी जरूरत है जिससे ऐसा लगे कि यह मक्खी-पर-मक्खी नही मारी गई, शब्द-पर-शब्द नही रख दिया गया, शब्दोमे भाव निकालकर निखारा गया है। यह तभी हो सकता था जब उपनिषद्के भावोको धारावाही स्वतंत्र भाषामे लिखा जाय, बीचमे किसी प्रकारका अटकाव न आने दिया जाय। उपनिषदोके समय वे लोग संस्कृतमे सोचते, बोलते और लिखते थे, आजकल हम हिन्दीमे सोचते, बोलते और लिखते है। हमने इस ग्रन्थमे यह प्रयत्न किया है कि अगर उपनिषदोके ऋषि हमारे युगमे आ जाय, तो वे अपने विचारोको हिन्दी भाषामे किस प्रकार, किन शब्दोमे व्यक्त करे। इसीलिये हमने मूल संस्कृत-भागको हिन्दीसे जुदा करके अलग दिया है, उसे हिन्दीके साथ मिलाया नही है। जो सिर्फ उपनिषद्के भावको समझना चाहे, वह सिलसिलेवार हिन्दी भागको पढता चला जाय, उसे यह हिन्दी का एक स्वतंत्र मौलिक ग्रन्थ प्रतीत होगा, और सब बात परस्पर सम्बद्ध प्रतीत होगी। जो हिन्दी और संस्कृतका मिलान करना चाहे, वह नीचे मूल-संस्कृतको देखकर मिलान करता जाय। इस दृष्टिसे यह ग्रन्थ शब्द-प्रधान नही, भाव-प्रधान है। परन्तु इसका यह मतलब नही कि शब्दोका हमने ध्यान नही रखा। शब्दोका भी हमने इतना ध्यान रखा है कि उपनिषद्मे भिन्न-भिन्न स्थलो पर जो शब्द आये है, उन शब्दोकी भी भावको दृष्टिमे रखते हुए पूरी-पूरी मीमासा करने का प्रयत्न किया है। सभूति-असभूति क्या है, विद्या-अविद्या क्या है, त्रिणाचिकेत अग्नि क्या है, नचिकेता, यम, इन्द्र, वायु, यज्ञ, उमा आदिका क्या अर्थ है, अधिदैवत तथा अध्यात्म क्या है, दप-दम-कर्म, तप-ब्रह्मचर्य-श्रद्धा—इन त्रिकोका क्या अर्थ है, ऋत तथा सत्यका पारस्परिक क्या सम्बन्ध है, अगुष्ठमात्रसे क्या अभिप्राय है, भू-भुव-स्व के आधारमे क्या विचार-प्रक्रिया है, जहा अनेक शब्द इकट्ठे दिये गये है उनका एक-दूसरेसे क्या रिश्ता है—इन सबका अपने-अपने स्थानमे हमने विवेचन किया है, इन शब्दोको ऐसा ही लिखकर नही छोड दिया गया, हरेक शब्दमे से उसका भाव निकालनेका प्रयत्न किया गया है। इस भाव-प्रधान ग्रन्थकी दूसरे शब्द प्रधान ग्रन्थोसे यही विशेषता है। दूसरे ग्रन्थ सिर्फ पडितोके लिये लिखे गये है, परन्तु आज क्योकि जनताका युग है, इसलिये यह ग्रन्थ पडितो तथा सर्व-साधारण जनता दोनोके दृष्टि-कोणसे लिखा गया है।

इसके लिखने की प्रेरणा मुझे तब हुई जब मेरी पत्नी श्रीमती चन्द्रावती लखनपालने मुझे उपनिषद् पढानेको कहा। वे स्वय मनोविज्ञानकी पडिता है, उन्होने स्वय उच्च-कोटिके ग्रन्थ लिखे है। उन्हे उपनिषद्-जैसे ग्रन्थ पढानेकेलिये मुझे भी तपस्या करनी पडी। जितने भाष्य मिल सके सब इकट्ठे किये। दिन-रात उपनिषदोमे विचरने लगा। भाव स्पष्ट होते थे, परन्तु कही-कही बिल्कुल अस्पष्ट

होते थे। कभी-कभी एक-एक स्थलको स्पष्ट करनेमें कई दिन लग जाते थे। पति-पत्नीका ज्यों-ज्यों उपनिषद् पढने-पढानेका यह सिलसिला चला, त्यों-त्यों मैं सोचने लगा कि यह सब-कुछ लिखता क्यों न चला जाऊं ? बस, जो हम लोग मिलकर पढते थे, उसे लिखना चला गया। लिखते-लिखते यह ग्रन्थ तैयार हो गया। इस लिये इस ग्रन्थको लिखनेका श्रेय मेरी पत्नी श्रीमती चन्द्रावती लखनपालको है।

परन्तु इस ग्रन्थको लिख देनेमें ही मामला खत्म नहीं हुआ। लिखनेके बाद मेरी इच्छा हुई इसे प्रकाशित किया जाय। इतने बडे ग्रन्थका प्रकाशित करना कोई हंसी-खेल न था। मैं बम्बई गया हुआ था। वहां मेरे मित्र पं० रामचन्द्रजी सिद्धान्तालंकार तथा ठाकुर मानसिंहने सुझाव दिया कि श्रीयुत् सेठ कुडीलालजी सकसरियासे मिला जाय। वे नव-युवक हैं, धार्मिक-वृत्तिके हैं, वे इस कार्यमें सहायता कर सकेंगे। सेठ कुडीलालजीसे हम तीनों जाकर उनके मकान पर मिले। उन्होंने बडा आदर-सत्कार किया, खाना खिलाया, परन्तु उपनिषद्की बातपर कुछ हामी न भर सके। हम लोग चले आये। सालभर बाद मुझे फिर बम्बई जानेका अवसर हुआ। इस बार फिर मैं कुडीलालजीसे मिला। उन्होंने सारा ग्रन्थ सुननेकी इच्छा प्रकट की। रोज अपनी मोटर भेज देते, और मुझसे अपने बंगलेपर एकान्तमें बैठकर अपने मित्र श्री शर्माजीके साथ उपनिषद्का यह धारावाही विवरण सुनते। सब सुननेके बाद उन्होंने कहा, पण्डितजी, ऐसा ग्रन्थ तो अवश्य छपना चाहिये, ऐसी विशद व्याख्याकी तो अत्यन्त आवश्यकता है। इसप्रकार मुख्य तौरपर सेठजीकी सहायतासे इस ग्रन्थका प्रकाशन संभव हुआ। उनका तथा उनके 'गोवर्धनदास गोविन्दराम चैरिटी ट्रस्ट' का जितना आभार प्रदर्शित किया जाय उतना ही थोडा है।

पुस्तक बहुत पहले पाठकोंके हाथमें आ जाती, परन्तु पहले तो मैं ही बीमार पड गया, फिर जब पुस्तकको प्रेसमें दिया गया, तो प्रेसवालाने आज-कल करते-करते इसे छापनेमें साल भर लगा दिया। यह उनकी तारीफ है कि मेरे बहुत शोर-शार करनेपर जो काम उन्होंने सालभर नहीं किया था वह एक महीनेमें कर दिया।

मैंने यह जो-कुछ लिखा है, यह तो इस ग्रन्थकी सरसरी भूमिका है। उपनिषद्के आध्यात्मिक दृष्टि-कोणको निबन्धोंके रूपमें मैंने एक पृथक् ग्रन्थमें लिखा है जिसका नाम है—'आर्य-संस्कृतिके मूल-तत्त्व'। जो महानुभाव उपनिषद्की विचार-धाराको स्वतन्त्र रूपमें जानना चाहें उनके लिये वह ग्रन्थ उपनिषदोंकी भूमिकाका काम करेगा। उस ग्रन्थको पढ लेना उपनिषदोंकी आधारभूत विचार-धाराको समझ लेना है।

आशा है, यह ग्रन्थ वर्तमान उदीयमान हिन्दी-संसारकी थोडी-बहुत सेवा कर सकेगा, जितने अंशमें यह हिंदी-भाषी-जगत्की सेवा कर सकेगा उतने अंशमें मैं अपने परिश्रमको सफल समझूंगा।

विद्या-विहार, बलबीर ऐवेन्यू,
देहरादून

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

ॐ

ईशावास्योपनिषत्

इस जगतीमें जो जगत् है वह ईशद्वारा वसाहुआ है। इसलिये त्याग-पूर्वक भोग करो। किसी दूसरेके धनकी आकांक्षा मत करो।१।

('जगती' का अर्थ है 'गतिवाली', जगत् का अर्थ हे 'गतिमान्'। ससारका सभी-कुछ गतिमान् है। सूर्य, पृथिवी, चन्द्र, तारेमे गति है, इनके एक-एक अणुमे गति है। तो क्या गति यू ही होरही है? नही, इस गतिका कोई देनेवाला है, कोई 'ईश' है, कोई स्वामी है। वह स्वामी कही अलग वैठा गति नही देरहा, वह गति करनेवाले एक-एक अणुमे वसा वैठा है। जब वह एक-एक अणुमे वसाहुआ है, और 'ईश'—स्वामी—की हैसियतसे वसाहुआ है, तव तो यह सब उसीका है, हमारा क्या है? मनुष्य अगर यह धारणा करले कि विश्वका स्वामी वही है, तो ससारका उपभोग वह किस वुद्धिसे करेगा? वह यही तो समझेगा कि मै उसका दिया खाता हू, उसका दिया पीता हू, उसका दिया काममे लाता हू। वह ससारके पदार्थोका भोग करेगा, परन्तु यह समझकर कि यह सव उसका है, मेरा कुछ नही, वह भोग करेगा परन्तु त्याग-वुद्धिसे, वह काम करेगा, परन्तु नि सग-भावसे। ससारकी सव वस्तुए उसकी है, अत. उसकी वस्तुको अपना समझना तो चोरीके समान है। जो अपने पास है जव उसे भी अपना समझना चोरी है, तो जो दूसरेके पास है उसे अपनानेका प्रयत्न करना तो उसकी दृष्टिमे दोहरी चोरी है। जो यह समझ लेता है कि ससार

ॐ ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्या जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्य स्विद्धनम्।१।

गतिमान् है, गति कभी गति देनेवालेके बिना आ नही सकती, गति अणु-अणुके भीतर है अत गति देनेवाला भी अणु-अणुमे बसाहुआ है, वही इस सबका स्वामी है, फिर वह ससारमे निर्लेप, नि सग, त्याग-पूर्वक भोगके अतिरिक्त किसी दूसरे दृष्टिकोणको अपने सम्मुख रख ही नही सकता ।)

सब उसीका है । इसका यह अभिप्राय नही कि सब काम छोड-कर हाथपर हाथ धरकर बैठा जाय । मनुष्य कर्म करे परन्तु निष्काम कर्म करे, और कर्म करतेहुए ही इस ससारमें सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे । इसप्रकार मनुष्यमें कर्मका लेप नही होता । इसके बिना कोई रास्ता नहीं ।२।

जो मनुष्य आत्माका हनन करते है वे मरकर गहरे अन्धकारसे आवृत असुर्य लोकमें जाते है (बृहदा० ४-४-११) ।३।

(इस उपनिषद्मे कर्मके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है । कर्म कैसा ? आत्माके जीवनका या आत्माके मरणका ? आत्माके विकासके मार्गपर चलना 'आत्माका जीवन' है, आत्माके ह्रास के मार्गपर चलना 'आत्माका हनन' है । जब-जब मनुष्य आत्म-ह्रासके मार्गपर चलता है तब-तब ही दिनमे अनेक वार आत्माका हनन करता है । आत्मा तो नित्य है, परन्तु हिसा-असत्य-स्तेय-अब्रह्मचर्य-परिग्रह ये आत्माका हनन करनेवाले है । आत्म-जीवनके मार्गपर चलनेसे आत्मामे प्रकाशका, उत्साहका, आत्म-स्फुरणका सचार होता है, आत्म-हननके मार्गपर चलनेसे आत्मामे अन्धकारका, निरुत्साहका, आत्म-हीनताका सचार होता है । भोगकी दृष्टि आत्माके हननकी दृष्टि है, त्याग-पूर्वक भोग, नि सगता, निष्कामता-से कर्म करनेकी दृष्टि आत्माके जीवनकी दृष्टि है ।)

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समा ।
एव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे । २ ।
असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता ।
ता ँ स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना । ३ ।

वह परमात्मा कपनतक नही करता परन्तु मनसे भी अधिक वेगवान् है, इन्द्रिया उसे प्राप्त नहीं कर सकती परन्तु वह इन्द्रियोसे भी पूर्व वर्तमान है; वह ठहराहुआ ही अन्य दौडतोहुओको पीछे छोड़ देता है; उसीके कारण वायु, जो स्वय हल्की है, अपनेसे भारी जलको उठा लेती है ।४।

वह चलता है, वह नहीं चलता, वह दूर है, वह निकट भी है, वह इस सबके अन्तरमे है, वही इस सबके बाहरसे वर्तमान है ।५।

देखना 'वीक्षण' है, गहराईसे देखना--एक-एक वस्तुमें अन्दरसे देखना कि इसमें है या नही 'अनु-वीक्षण' है । जो इसप्रकारके 'अनु-वीक्षण'से सब भूतोको आत्मामें ही देखता है, और आत्माको सब भूतोमें देखता है वह इस अनु-वीक्षणके कारण पाप नही करता । क्योकि उसे प्रत्येक वस्तुकी ओटसे वह देखता नजर आता है ।६।

जिस जाननेवालेके ज्ञानमें सब भूत आत्मवत् होगये, फिर वहा एकत्वका अनु-वीक्षण करनेवालेके लिये मोह कैसा, और शोक कैसा ? ।७।

(साधारण 'वीक्षण'—देखने—से ससारमे 'अनेकता' दीखती है, 'अनु-वीक्षण' से—एक-एक वस्तुके अन्दर जाकर देखनेसे—तो इस अनेकतामे छिपी 'एकता' दीख पडती है । एकता भी किसमे ? विश्व एक होकर प्रकृतिमे, और प्रकृति अपने निमित्त-कारण आत्मामे लीन हो जाती है । जो द्रष्टा सब भूतोको इस प्रकार आत्मामे मिटतेहुए देख लेता है फिर वह आत्माकी न मोहावस्थामे जाता है, न शोकावस्थामे । ससारमे फसकर दो ही अवस्थाओमे जीव धस जाता है । विषय-

---

अनेजदेक मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।४।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत ।५।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मान ततो न विजुगुप्सते ।६।

सुख मिलता रहता है, तो इसके मोहमे फसा रहता है, विषय-सुख छूट जाता है, तो शोकावस्थामे सिर धुनने लगता है। अगर ससारमें न फसे, आत्म-भावमे रहे, तो ससारमे कर्म करताहुआ भी फसता नही। अनात्म-दृष्टिसे मोह और शोक होते है, आत्म-दृष्टिमे ये दोनो छूट जाते है।)

वह सब जगह गयाहुआ है। वह शुद्धताकी चरम-सीमा है, शुक्र है। उसकी काया नही, काया नहीं तो व्रण कहा, नस-नाडी कहा? भौतिक-दृष्टिसे हम उसे 'शुद्ध' कहते है, मानसिक-दृष्टिसे 'पाप-रहित' कहते है। वह 'कवि' है, यह भौतिक-ससार उसका काव्य है। वह 'मनीषी' है, मानसिक-ससारका भी वही स्वामी है। वह 'परिभू' है—सब जगह मौजूद है परन्तु साथ ही वह 'स्वय भू' (Uncaused Cause) है—'अपने-आप' है—कोई उसे पैदा नहीं करता। शाश्वत-कालसे जो यह सृष्टि चल रही है, निरन्तर सृष्टिका प्रवाह चलता चला जारहा है, उसकेलिये ठीक-ठीक पदार्थोंकी व्यवस्था, जिस समय जो-कुछ होना चाहिये यह सारा प्रबन्ध, वही कर रहा है।८।

जो 'अविद्या', अर्थात् 'भौतिकवाद' (Materialism) की उपासना करते है वे गहन अन्धकारमें जा पहुचते है, और जो 'विद्या', अर्थात् 'अध्यात्मवाद' (Spiritualism) में रत रहने लगते है, भौतिक-जगत्की पर्वा ही नही करते, वे उससे भी गहरे अन्धकारमें जा पहुचते है (बृहदा० ४-४-१०)।९।

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत ।
तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत ।७।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभू स्वयभू-
र्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्य समाभ्य ।८।

अन्ध तम प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रता ।९।

'विद्या'से अन्य ही कुछ, और 'अविद्या'से अन्य ही कुछ फल होता है। धीर लोगोने विद्या और अविद्याकी जो व्याख्या की है उससे ऐसा ही सुनते आये है।१०।

'विद्या' तथा 'अविद्या'—इन दोनोको जो एक साथ जानते है, वे 'अविद्या', अर्थात् भौतिक-विज्ञान (Science) से 'मृत्यु' लानेवाले प्रवाहोको तर जाते है, और 'विद्या', अर्थात् अध्यात्म-ज्ञानसे 'अमृत'को चखते है।११।

जो 'असभूति' (अ+स+भूति), अर्थात् व्यक्तिवाद (Individualism) की उपासना करते है वे गहन अन्धकारमें प्रवेश करते है, और जो 'सभूति' (स+भूति) अर्थात् समष्टिवाद (Collectivism) में ही रत है वे उससे भी गहन अन्धकारमें प्रवेश करते है।१२।

'सभव' (सं+भव) अर्थात् 'समष्टिवाद' का कुछ और फल है, 'असभव' (अ+स+भव) अर्थात् समष्टिरूपमें न रहकर व्यक्तिको समाजमें मुख्य मानकर 'व्यक्तिवाद'से चलनेका कुछ और फल है। धीर लोगोने इन दोनोकी जो व्याख्या की है उससे ऐसा ही सुनते आये है।१३।

जो 'संभूति', अर्थात् 'समष्टि-वाद' तथा 'असभूति', अर्थात् 'व्यक्ति-वाद' इन दोनोको एक साथ जानते है, वे असभूति (अपना भला देखने-

---

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणा ये नस्तद्विचचक्षिरे। १०।
विद्या चाविद्या च यस्तद्वेदोभय सह।
अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। ११।
अन्ध तम प्रविशन्ति येऽसभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सभूत्या रता। १२।
अन्यदेवाहु सभवादन्यदाहुरसभवात्।
इति शुश्रुम धीराणा ये नस्तद्विचचक्षिरे। १३।

की दृष्टि) अर्थात् व्यक्तिवादसे मृत्युके प्रवाहको तो तैर लेते हैं, परन्तु अमृतको सभूति (सबका भला देखनेकी दृष्टि) अर्थात् समष्टिवादसे चखते हैं। असभूति अथवा व्यक्तिवाद (Individualism) विनाश-मूलक है इसलिये असभूतिका दूसरा नाम 'विनाश' है।१४।

(व्यक्तिवादसे क्या होता है? व्यक्ति अपनेलिये खाने-पीने आदिके साधन जुटाकर अपनी रक्षामात्र कर सकता है, परन्तु अगर यह स्वार्थ-भावना बढ़ जाय, अपनेको ही मुख्य रखाजाय, अन्योंकी



हे पूषन्! सत्यके मुखपर पड़े पर्देको हटा दे!

पर्वा न कीजाय, तो इसका परिणाम विनाशके अतिरिक्त कुछ नही होता। यह स्वार्थ-भावना समाजमे व्यक्तिवादके विरुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देती है और व्यक्तिवाद ही नष्ट हो जाता है—इसीलिये कहा कि व्यक्तिवादसे मृत्युको तो तर लेते है, मरनेसे वच जाते है, परन्तु इससे अधिक इससे कुछ नही मिलता, इसमे ही फसे रहनेसे व्यक्तिवादका ही विनाश हो जाता है।)

हिरण्मय चमक-दमकवाले ढक्कनेसे सत्यका मुख ढकाहुआ है। हे पूषन्!—अपनी पुष्टि अर्थात् पोषण चाहनेवाले उपासक!—अगर तू सत्य-धर्मको देखना चाहता है तो उस ढक्कनका, आवरणका अपवरण करदे, उस ढक्कनको हटादे, पर्देको उठादे।१५।

हे 'पूषन्'—पुष्टि देनेवाले! 'एकर्षे'—ऋषियोमें एक—अनोखे! 'यम'—नियमन करनेवाले! 'सूर्य'—प्रचण्ड प्रकाशमान्! 'प्राजापत्य'—प्रजाओके पति! आपकी रश्मियोका व्यूह चारोतरफ़ फैल रहा है। उन्ही रश्मियोके कारण प्रकृतिके नाना रूप प्रकाशमान् हो रहे है। मै यह प्रकाश आपका न समझकर प्रकृतिका समझ रहा हू, और इसीलिये प्रकृतिको ही सव-कुछ समझ वैठा हू। आप अपनी रश्मियोको समेटिये ताकि मै आपके कल्याणतम तेजोमय रूपके दर्शन कर सकू। अ-हा! आपकी रश्मियोके, तेजके, प्रकाशके एक जगह सिमिट जानेसे जो आपका कल्याणतम तेजस्वी पुरुष-रूप प्रकटहुआ, वह कितना ज्योतिर्मय है! मै भी वही हू—मै भी ज्योतिर्मय पुरुष हू।१६।

(जैसे ब्रह्माडमे ब्रह्म-पुरुषके प्रकाशसे प्रकृति प्रकाशमान् हो रही है, मै ब्रह्मको भूलकर प्रकृतिको सव-कुछ समझ वैठा हूं, वैसे पिडमे

सभूतिं च विनाश च यस्तद्वेदोभय सह।
विनाशेन मृत्यु तीर्त्वा सभूत्याऽमृतमश्नुते।१४।
हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम्।
तत्त्व पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।१५।

आत्म-पुरुषके प्रकाशमे शरीर प्रकाशमान् हो रहा है, मै आत्म-तत्त्व को भूलकर शरीरको सब-कुछ समझ बैठा हू। ब्रह्माडमे जो-कुछ है वही पिडमे है, जो पिडमे है वही ब्रह्माडमे है—इसप्रकार वर्णन करना उपनिषदोकी शैली है। इसी शैलीके अनुसार यहा ब्रह्माड तथा पिड दोनोमे 'पुरुष'का वर्णन किया है।)

प्राण-वायु शरीरमें रहता है, वह मृत्युके समय विश्वके अनिल, अर्थात्, विश्वके प्राणमें लीन हो जाता है। यह शरीर नहीं, वह प्राण ही अमर है। शरीर तो जबतक भस्म नही हो जाता तभीतक है। हे कर्मकरनेवाले जीव! 'क्रतु' (Future action) को—'प्रयत्न' को, जो तूने आगे कर्म करना है उसे स्मरण कर, और 'कृत' (Past action)—जो तू अबतक कर्म करचुका है, उसे स्मरण कर।१७।

हे अग्ने! हे देव! तुम सब प्रकारके कर्मोंको जानते हो। तुम हमें उन्नतिकेलिये ऐसे मार्गसे लेचलो जो सुपथ हो। जो कुटिल पाप-मार्ग है उसे हमसे अन्तरात्माका युद्ध कराकर पृथक् करो। हम बार-बार तुझे नमस्कार करते है (बृहदा० ५-१५)।१८।

(इस उपनिषद्मे द्वन्द्वोका समन्वय किया गया है। प्रकृति-पुरुष, भोग-त्याग, कर्म-निष्कर्म, व्यक्ति-समाज, अविद्या-विद्या, भौतिक-अध्यात्म, कर्म-ज्ञान, मृत्यु-जन्म, विनाश-उत्पत्ति, सगुण-निर्गुण ब्रह्म—इनका समन्वय ही यथार्थ-दृष्टि है। इसके साथ-साथ इस उपनिषद्मे दो और बाते बडी महत्त्वकी कही गई है। एक तो यह कि जिस 'भौतिक-विज्ञान'को आजकलके युगमे विद्या कहा जाता है, उसे उपनिषद्ने 'अविद्या' कहा है। उपनिषद्का कथन है कि 'भौतिक-विज्ञान', अर्थात् 'अविद्या'से केवल 'मृत्यु'

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह।
तेजो यत्ते रूप कल्याणतम तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुष सोऽहमस्मि।१६।
वायुरनिलममृतमथेद भस्मान्त शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृत स्मर क्रतो स्मर कृत स्मर।१७।

को तर सकते है, 'अमृत' नही प्राप्त कर सकते। विज्ञानद्वारा मृत्युसे बचनेके उपाय ही तो निकाले जा सकते है, स्वास्थ्यके नियमो अथवा औषधियोका पता लगाया जासकता है, अमरता नही प्राप्त की जा-सकती। 'अमरता' तो 'अध्यात्म-ज्ञान'से ही प्राप्त होती है, और वही वास्तवमे 'विद्या' है। दूसरी महत्त्वकी बात यह कही गई है कि 'व्यक्तिवाद'से मनुष्य केवल मृत्युसे बच जाता है, खाना-पीना-पहनना-ओढना मात्र करलेता है, इससे आगे नही बढ सकता। अमरता प्राप्त करनेकेलिये इससे आगे बढना होगा, समष्टिमे अपनेको मिटाना होगा।)

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम। १८।

केनोपनिषत्

प्रथम खण्ड

किसकी प्रेरणासे मन मानो विषयपर टूटा पडता है ? किसके द्वारा नियुक्त कियाहुआ प्राण जन्मते ही पहले-पहल गति करने लगता है ? किसकी प्रेरणासे इस वाणीको हम बोलते है ? चक्षु और श्रोत्रको कौन देव अपने-अपने विषयोमें नियुक्त करता है ? ।१।

श्रोत्रका वही श्रोत्र है, मनका वही मन है, वाणीकी वही वाणी है, प्राणका वही प्राण है, चक्षुका वही चक्षु है । यह जानकर धीर लोग इन्द्रियोके विषयोका सग छोड देते है, और मृत्युके अनन्तर इस लोकसे अमृत हो जाते है ।२।

वहा आख नही पहुचती, न वाणी पहुचती है, न मन पहुचता है । उसका शिष्योके प्रति उपदेश कैसे दिया जाय यह भी हम नही जानते, नहीं जानते । वह 'विदित' (Known)से भी अन्य है, 'अविदित' (Unknown) से भी अन्य है । 'विदित' वह है जिसे हम जानते है--उसे हम नहीं जानते इसलिये वह विदितसे अन्य है । 'अविदित' वह है जिसे हम नही जानते--उसे हम बिल्कुल नहीं जानते ऐसा भी नहीं है, इस विशाल ससारसे उसका आभास तो नास्तिक-से-नास्तिकको भी हो ही जाता है इसलिये वह अविदितसे भी अन्य है । हमसे पूर्व जिन ऋषियोने उसकी व्याख्या की है उनसे हम ऐसा ही सुनते चले आये है ।३।

ॐ केनेषित पतति प्रेषित मन केन प्राण प्रथम प्रैति युक्त ।
केनेषिता वाचमिमा वदन्ति चक्षु श्रोत्र क उ देवो युनक्ति । १ ।
श्रोत्रस्य श्रोत्र मनसो मनो यद्वाचो ह वाच ँ स उ प्राणस्य प्राण ।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीरा प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति । २ ।
न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्या-
दन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुम पूर्वेषा ये नस्तद्व्याचचक्षिरे । ३ ।

वाणी जिसे प्रकट नही कर सकती, जिससे वाणी प्रकट होती है, उसीको तू 'ब्रह्म' जान, जिसकी लोग उपासना करते है, वह नही ।४।

जिसका मनसे मनन नही कर सकते, जिसकेद्वारा मन मनन करता है, उसीको तू 'ब्रह्म' जान, जिसकी लोग उपासना करते है, वह नहीं ।५।

जो चक्षुसे नही देखता, जिसकेद्वारा चक्षु देखती है, उसीको तू 'ब्रह्म' जान, जिसकी लोग उपासना करते है, वह नही ।६।

जो श्रोत्रसे नही सुनता, जिसके द्वारा श्रोत्र सुनते है, उसीको तू 'ब्रह्म' जान, जिसकी लोग उपासना करते है, वह नही ।७।

जो प्राण-वायुसे सास नही लेता, जिससे प्राण प्राणित हो रहा है, उसीको तू 'ब्रह्म' जान, जिसकी लोग उपासना करते है, वह नहीं ।८।

(इस खडमे पाच वार इस वाक्य को दोहराया गया है कि जिसकी लोग उपासना कर रहे है वह 'ब्रह्म' नही है, वास्तविक 'ब्रह्म' और ही है । हम ससार ही को ब्रह्म समझेबैठे है, उसीमे रमेहुए है, उसीकी उपासना करते है । ऋषि वार-वार दोहराते है, इस ससारकी ही पूजा न करते रहो—विश्वकी जो आधार-भूत शक्ति है वही ब्रह्म है—ससारमे वृहत्ता, महानता उसीकेद्वारा है अत उसकी उपासना करो, इसकी नही ।)

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते । ४ ।
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते । ५ ।
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते । ६ ।
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते । ७ ।
यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते । ८ ।

द्वितीय खण्ड

यदि तू मानता है कि ब्रह्मके स्वरूपको तू जानता है तो तू उसके स्वरूपको बहुत थोडा ही जानता है। उस ब्रह्मके स्वरूपको जो तू जानता है, या देवताओ, अर्थात् विद्वानोमें जो उसका स्वरूप प्रकट है वह मीमांस्य ही है—स्पष्ट नही है ।१।

मै नही मानता कि मै उसे ठीकसे जानता हू, न यही कह सकता हू कि मै नहीं जानता, क्योंकि कुछ जानता भी हू । जो हममेंसे उसे जानता है, वह जानता है, नही भी जानता, और जानता भी है ।२।

जो यह मान गया है कि वह उसे नहीं जान सका, उसने उसे जान लिया है, जिसने यह समझ लिया कि वह उसे जान गया है, उसने उसे नहीं जाना। जाननेवालोकेलिये वह 'अविज्ञात' (Unknown) है, न जाननेवालोकेलिये वह 'विज्ञात' (Known) है। क्योकि उसके विषयमें यही जाना जासकता है कि उसे जाना ही नही जा-सकता ।३।

'प्रतिबोध' से जब उसका ज्ञान हो तभी उसे जाना जा सकता है। इद्रिया जब विषयोकी तरफ जाकर उनका ज्ञान करती है तब 'बोध' होता है; विषयोसे उल्टी जब अन्दरकी तरफ लौटती है, तब जो ज्ञान होता है, वह 'प्रतिबोध' कहाता है। इस 'प्रतिबोध'से ही मनुष्य अमृतत्वको प्राप्त होता है। 'प्रतिबोध'की अवस्था तभी आती है जब

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्।
यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् । १ ।

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च । २ ।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् । ३ ।

मनुष्य वीर्यवान् हो, वीर्यहीन व्यक्तिकी 'प्रतिबोध'की अवस्था नहीं आती। इन्द्रियोके विषयो में फसनेवाला व्यक्ति वीर्य-हीन हो जाता है, और वीर्य-हीन विषयोमें अधिकाधिक फसता है। इस चक्रमेंसे निकलनेका, वीर्यवान् होनेका, 'प्रतिबोध' के मार्गपर चलनेका उपाय तो यही है कि आत्म-शक्तिको जागृत किया जाय। ससारके साथ बधनेसे वीर्य नहीं प्राप्त होता, आत्मासे वीर्य मिलता है, शक्ति मिलती है। इन्द्रियोके विषयोकी तरफसे मुह मोडकर, उधर पीठ करके आत्माकी तरफ लौट आनेसे वीर्य—शक्ति—प्राप्त होती है। यही 'प्रतिबोध'-की अवस्था है। विषयोकी तरफ मुख होना 'बोध' है, आत्माकी तरफ मुख होना 'प्रतिबोध' है। 'बोध' अविद्या है, 'प्रतिबोध' विद्या है, वास्तविक-ज्ञान है—इस विद्यासे अमृत प्राप्त होता है।४।

अगर तूने उसे यहा—इस जन्ममें—जान लिया तब तो ठीक है, अगर यहा नहीं जाना, तो विनाश-ही-विनाश है—महानाश है। धीर लोग ससारके एक-एक भूत, एक-एक पदार्थ—जड़, चेतन—पर चिन्तनकरके इसी परिणामपर पहुचे है कि मूल-तत्त्व वही है। ऐसे धीर लोग मृत्युके अनन्तर इस लोकसे अमृत हो जाते है (कठ० ६-४, बृहदा० ४-४-१४)।५।

तृतीय खड

अग्नि, वायु, इन्द्र आदि देवताओकी ससारमें धूम मची हुई है, चारोतरफ़ इनकी विजयका डका पिट रहा (प्रश्न २-३, बृहदा० १-३, ३-१)। वास्तवमें देवताओके लिये यह विजय ब्रह्मने ही प्राप्त

प्रतिबोधविदित मतममृतत्व हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्य विद्यया विन्दतेऽमृतम्।४।
इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीरा प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।५।

की है । ब्रह्मके कारण देवताओंकी विजय है, परन्तु देवता लोग इसे अपनी ही विजय समझकर अपनी महिमा समझने लगे, यह भूल गये कि हमारी महिमाका कारण 'ब्रह्म' है । वे ऐसे देखने लगे जैसे ये हमारी ही विजय है, हमारी ही महिमा है ।१।

देवताओंकी इस बातको 'ब्रह्म'ने जान लिया । वह उनमेंसे निकल खड़ा हुआ——उसने अपनी शक्तिको उनमेंसे खींच लिया, और 'यक्ष' के रूपमें उनके सामने आकाशमें आखड़ा हुआ । देवताओं-को उसे देख समझ न पड़ा कि यह 'यक्ष' कौन है ? ।२।

वे अग्निसे कहने लगे, हे जातवेदम् ! इसका पता लगाओ, ये यक्ष कौन है ? अग्निने कहा, बहुत अच्छा ।३।

अग्नि यक्षके सम्मुख दौड़कर आ पहुंचा । यक्षने पूछा——तू कौन है ? अग्निने कहा, 'मैं अग्नि हूं, मैं जातवेदस् हूं' ।४।

यक्षने पूछा, तुझमें क्या शक्ति है ? अग्निने उत्तर दिया, पृथिवीमें जो-कुछ है वह सब-कुछ मैं जला सकती हूं, राख कर सकती हूं ।५।

यक्षने अग्निके सम्मुख एक तिनका रख दिया । कहा, इसे जलाओ तो ! अग्नि अपने सम्पूर्ण बलसे लपका किन्तु उस तिनकेको न जला सका । बस, वहींसे वह लौट पड़ा । बोला, मैं नहीं जान सका, यह यक्ष कौन है ? ।६।

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त ।
त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति । १ ।
तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति । २ ।
तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति । ३ ।
तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीत्यग्निर्वा
अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति । ४ ।
तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति । ५ ।
तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं
स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति । ६ ।

अब देवताओंने वायुसे कहा, हे वायु ! इसका पता लगाओ, यह यक्ष कौन है । वायुने कहा, बहुत अच्छा ।७।

वायु यक्षके सम्मुख दौड़कर आ पहुचा । यक्षने पूछा—तू कौन है ? वायुने कहा, 'मैं वायु हू, मैं मातरिश्वा हू !' ।८।

यक्षने पूछा, तुझमें क्या शक्ति है ? वायुने उत्तर दिया, पृथिवीमें जो-कुछ है, चाहू तो मैं सब-कुछ समेटकर उडा ले जाऊ ! ।९।

यक्षने वायुके सम्मुख एक तिनका रख दिया । कहा, इसे अपनी जगहसे हिलाकर दिखाओ तो ! वायु अपने सम्पूर्ण बलसे लपका परन्तु उस तिनकेको न हिला सका । बस, वहींसे लौट पड़ा । बोला, मैं नहीं जान सका, यह यक्ष कौन है ? ।१०।

अब देवताओंने इन्द्रसे कहा, हे मघवन् ! इसका पता लगाओ, यह यक्ष कौन है ? इन्द्रने कहा, बहुत अच्छा । इन्द्र यक्षके सम्मुख दौड़कर पहुचा, परन्तु यक्ष इन्द्रसे तिरोहित हो गया, छिप गया ।११।

इन्द्र उस आकाशमें 'यक्ष'को ढूढने लगा । ढूढते-ढूढते उसे एक स्त्री दिखाई दी, अत्यन्त शोभायमान, हिमके समान शुभ्र—'उमा' उसका नाम । (उमा दो अक्षरोसे बना है—'उ' तथा 'मा' । 'उ' का अर्थ है 'क्या' और 'मा' का अर्थ है 'नहीं' । उमाका अर्थ हुआ 'क्या नहीं' ! 'क्या है या नहीं'—यह तर्क का, बुद्धि का काम है,

---

अथ वायुमब्रुवन्वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति । ७ ।
तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीति वायुर्वा
अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति । ८ ।
तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वमाददीय यदिदं पृथिव्यामिति । ९ ।
तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न
शशाकादातुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति । १० ।
अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति ।
तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे । ११ ।

इसलिये उमाका अर्थ है—'बुद्धि'। उमाके तिरोहित होनेपर इन्द्र अर्थात् 'जीव'की उमा, अर्थात् 'बुद्धि'से बातचीत हुई।) **इन्द्रने उमासे पूछा—ये यक्ष कौन था ? ।१२।**

('अग्नि' तथा 'वायु'—ये दोनो इस कथानकमें भौतिक-शक्तियो-के प्रतिनिधि-तत्त्व है। 'अग्नि' दृश्यमान् भौतिक-तत्त्व (Perceptibl physical element) है, 'वायु' अदृश्यमान् भौतिक-तत्त्व (Imper



इन्द्र, अग्नि, वायु, यक्ष, उमा

ceptible physical element) है । परन्तु दोनो अचेतन है, जड है । 'इन्द्र'का अर्थ है—जीवात्मा, अर्थात् चेतन-जगत् (Spiritual element) । 'अचेतन' तथा 'चेतन'-जगत् ब्रह्मकी शक्तिके कारण ही महिमाशाली हैं—इस बातको 'अग्नि'-'वायु' तथा 'इन्द्र'ने, जो क्रमश अचेतन तथा चेतन जगत्के प्रतिनिधि है, भुला दिया । अचेतन तो जड है इसलिये यक्षने एक तिनका सामने रखकर 'अग्नि' तथा 'वायु'के घमण्डको शिथिल कर दिया, परन्तु चेतनको—जीवात्माको—'इन्द्र'को यह समझानेकेलिये कि उसकी विजय, उसकी महिमा भी ब्रह्मके ही कारण है उसके सामनेसे स्वय हट गया, परन्तु 'उमा'को, अर्थात् 'बुद्धि'को भेज दिया । हृदयके आकाशमे जो यक्ष तिरोहित होगया था उसका पता उमाने इन्द्रको, अर्थात् बुद्धिने जीवात्माको दिया ।)

चतुर्थ खण्ड

उमाने कहा—'यह यक्ष ब्रह्म था । जो विजय है, जो महिमा है, ब्रह्मकी है, तुम्हारी नही—ऐसा समझो ।' तब देवताओको पता चला कि यह 'यक्ष' तो 'ब्रह्म' था ।१।

अग्नि, वायु, इन्द्र अन्य देवताओकी अपेक्षा बढे-चढे है, इसलिये बढे-चढे है क्योकि इन्होने मानो छूकर, अत्यन्त समीपसे, सबसे प्रथम जाना कि यह जो हमारे सामने था ब्रह्म है ।२।

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमाना
मुमा॑ᳪ हैमवती ता॑ᳪ होवाच किमेतद्यक्षमिति । १२ ।

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये
महीयध्वमिति ततो हैव विदाचकार ब्रह्मेति । १ ।

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान्यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते
ह्येनन्नेदिष्ठ पस्पृशुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदाचकार ब्रह्मेति । २ ।

इन्द्र तो अग्नि तथा वायुकी अपेक्षा भी बढा-चढा है क्योंकि उसने ब्रह्मको, मानो छूकर, बहुत निकटसे, सबसे प्रथम जाना कि चेतन जगत् भी ब्रह्मके कारण ही महिमाशाली है ।३।

(अग्नि तथा वायु दोनो जड-जगत्के प्रतिनिधि है। अग्नि दीखता है, अत दृश्य जड-जगत्का प्रतिनिधि है, वायु नही दीखता, अत अदृश्य जड-जगत्का प्रतिनिधि है। इन्द्र जीवात्माका नाम है, अत वह चेतनका प्रतिनिधि है। जड-चेतनकी शक्ति ब्रह्मके कारण है। सबसे प्रथम अग्नि तथा वायुकी शक्तिया हमे ब्रह्मका परिचय कराती है। कैसी है ये महान् शक्तिया ? अगर अग्नि तथा वायुकी शक्ति इनकी अपनी नही, किसी दूसरेकी है, तो वह कितना महान् होगा ! अग्नि तथा वायुकी महानता ही हमे ब्रह्मकी सूचना नही देती, इनका द्वन्द्व होना भी ब्रह्मका सूचक है। अग्नि गर्मीको तथा वायु सर्दीको सूचित करती है। अग्नि-वायु, सर्दी-गर्मी, शीतोष्ण आदि द्वन्द्व ब्रह्मने ही उत्पन्न किये। एकतामे अनेकता उत्पन्न ही नही हो सकती अगर उसे कोई उत्पन्न करनेवाला न हो। एकता (Unity) से अनेकता (Diversity) का प्रारभ जब हुआ, तब पहले-पहल एकसे दो पैदा हुए होगे, और दोसे अनेक, अत 'द्वन्द्व' (Duality), अर्थात् द्वित्व, उस एकके अत्यन्त निकट है, क्योकि एकके सबसे नजदीक दो है। इन्द्र—जीवात्मा—तो ब्रह्मकी ही तरह चेतन है, अत वह सबकी अपेक्षा ब्रह्मके अत्यन्त निकट है।)

उस ब्रह्मका आदेश—उसका बखान—तो ऐसे ही है जैसे विद्युत् चमकती है और छिप जाती है, जैसे आख झपकी मारती है और इसी बीचमे कुछ देख जाती है। वह दीखता ऐसे है जैसे विद्युत्की चमक—आई और ओझल हो गई, हम देखते ऐसे है जैसे आखकी झपक—खुली और बन्द हो गई। यक्ष भी तो ऐसे ही दीखा। सामने

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान्स ह्येनन्नेदिष्ठं
पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ।३।

आया, और तिरोहित होगया, इन्द्रने देखा और फिर ढूढने लगा। यह आधिदैविक उपाख्यान हुआ। 'आधिदैविक'का अर्थ है देवताओके सबधमें। अग्नि, वायु, इन्द्र—ये देवता है—दिव्य गुणोवाली शक्तिया है, इन देवताओको आधार बनाकर ब्रह्मकी चर्चा हुई।४।

अब 'अध्यात्म' उपाख्यान कहते है—अग्नि, वायु आदि भौतिक-जगत्के सम्बन्धमें नहीं, परन्तु अध्यात्म-जगत्के सम्बन्धमें, अर्थात् इस मनुष्य-शरीरके सबधमें उपाख्यान कहते है। ऐसा जो प्रतीत होता है कि मन जाता है, और दूर-दूर चला जाता है, हर क्षण या तो बीतेहुएको 'स्मरण' करता है, या आगेकेलिये नवीन 'सकल्प' करता है—इसका कारण भी ब्रह्म ही है।५।

(उपनिषदोमे 'आधिदैविक'का अर्थ 'सृष्टि', अर्थात् 'ब्रह्माड' (Macrocosm) तथा 'अध्यात्म'का अर्थ 'पुरुष-शरीर', अर्थात् 'पिड' (Microcosm) से है। आधिदैविक और अध्यात्म, ब्रह्माड तथा पिड—इन दोनोमे एक ही नियम काम कर रहे है—इस बातको उपनिषदोमे जगह-जगह कहा है। 'अध्यात्म'-शब्दका अर्थ उपनिषदोमे आत्मा-सम्बन्धी नही, परन्तु आत्मा जिस शरीरमे अधिष्ठित है, उस शरीरसे—पिडसे है। आधिदैविक (ब्रह्माड)का वर्णन करते-करते अध्यात्म (पिड)का, और अध्यात्म (पिड)का वर्णन करते-करते आधिदैविक (ब्रह्माड)का वर्णन करना उपनिषदोकी अपनी शैली है।)

वह 'ब्रह्म' 'वन' है—वन अर्थात् भक्तिके योग्य। उसकी 'वन'-नामसे या 'वन'में—एकात जगलमें—उपासना करनी चाहिये। वह जो इस रूपमें ब्रह्मको जानता है, उसे चाहता है, उसकी भक्ति करता है, सब उसे चाहने लगते है, उसके भक्त हो जाते है।६।

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीन्न्यमीमिषदा३ इत्यधिदैवतम्।४।

अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं सङ्कल्पः।५।

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं
वेदाऽभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति।६।

शिष्यने कहा, 'महाराज ! उपनिषद्का उपदेश दीजिये'। गुरु कहते हैं, 'तुझे हमने उपनिषद्का उपदेश कर दिया। हमने तुझे ब्रह्म-संबंधी उपनिषद्का उपदेश दे दिया'।७।

इसप्रकार जो ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करता है उसकी 'प्रतिष्ठा'—बुनियाद—तीन बातोंपर होती है—'तप', 'दम' तथा 'कर्म'। मनुष्यमें जो शक्ति है उसमें कुछ संभालकर रख ली जाती है, अपने नियन्त्रणमें लेली जाती है, काममें नहीं लायीजाती, कुछ काममें लायीजाती है। जो नियन्त्रणमें लेलीजाती है, अर्थात् काममें नहीं लायीजाती है, वह या शारीरिक है, या मानसिक। शारीरिक नियन्त्रण (Physical Control) को 'तप' कहते हैं, मानसिक नियन्त्रण (Mental Control) को 'दम' कहते हैं। जो शक्ति काममें लायी जाती है उसे 'कर्म' कहते हैं। ब्रह्म-ज्ञानकी प्रतिष्ठा, आधार-स्तंभ, उसकी नींव ये तीन—तप-दम-कर्म—हैं। बातें ही बनानेका नाम 'ब्रह्म-ज्ञान' नहीं, कर्म उसका आवश्यक अंग है। जिस चीज़की 'प्रतिष्ठा'—नींव—होती है, आधार (Foundation) होता है, उसपर 'आयतन'—इमारत (Structure) भी खड़ी होती है। वह आयतन है 'वेद', वेदोंके सब 'अंग', और 'सत्य'! 'तप', 'दम' और 'कर्म'की नींवसे जो इमारत उठेगी उसका रूप होगा वेद अर्थात् 'ज्ञान' तथा 'सत्य'का सम्मिश्रण।८।

जो 'ब्रह्म-विद्या' को इस रूपमें जानता है वह पापका अपहरण करके अनन्त उत्तम स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है, अवश्य प्रतिष्ठित होता है।९।

(हमारे जीवनकी नींवमे 'तप', 'दम' और 'कर्म' हों, इस नींवपर जो इमारत खड़ी हो वह 'ज्ञान' तथा 'सत्य'की हो—यह 'ब्रह्म-विद्या' का यथार्थ-रूप है।)

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद्ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति।७।
तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्।८।
यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानम् (न)न्ते
स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति।९।

कठोपनिषत्

प्रथम वल्ली

(नचिकेता तथा मृत्युका उपाख्यान)

वाजश्रवस् नामक ऋषिको मुक्तिकी कामना हुई। उन्होने अपना सम्पूर्ण धन-धान्य दान कर दिया। उनका नचिकेता नामक पुत्र था ।१।

वह बालक ही था परन्तु दक्षिणमें जिस प्रकारकी गौए ले जाई जा रही थीं उन्हें देखकर उसके हृदयमें श्रद्धाने प्रवेश किया और उसने विचारा—।२।

ये गौए किसी समय भरपेट जल पीती थी, परन्तु अब स्वयं पानी-तक नहीं पी सकतीं, कभी भरपेट घास खाती थी, परन्तु अब घासतक नही चर सकतीं, जो अपना पूरा दूध दे चुकी है, जिनमें अब दूध ही नहीं, जिनकी इन्द्रिया शिथिल हो चुकी है—ऐसी गौओका दान देने-वाला आनन्दरहित लोकोमें जाता है ।३।

उसने अपने पितासे कहा, तात! मुझे किसे दोगे? पिता चुप रहा। फिर उसने दूसरी वार पूछा, तीसरी वार पूछा। पिताने उत्तर दिया—तुझे 'मृत्यु'को दूंगा ।४।

ॐ। उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस। १।

तं ह कुमारं सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाविवेश सोऽमन्यत। २।

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत्। ३।

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति।
द्वितीयं तृतीयं तं होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति। ४।



नचिकेता पितासे पूछता है, मुझे किसे दोगे ?

नचिकेता सोचने लगा—"मैं अपने साथियोंमेंसे बहुतोंमें प्रथम रहता हूं, बहुतोंमें मध्यम रहता हूं, बिल्कुल निकम्मा तो हूं नहीं। 'यम'को—'मृत्यु'को—मुझसे आज क्या करना है ?" ।५।

मरनेसे जो भय उत्पन्न हुआ उसका वह स्वयं समाधान करता है—"जो तुझसे पहले हो चुके हैं उन्हें देख, जो तेरे पीछे होंगे उन्हें देख।

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः ।
किं स्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति । ५ ।

यह 'मर्त्य'—मरनेवाला मनुष्य—अन्नकी तरह पैदा होता है, पकता है, नष्ट हो जाता है, और फिर उत्पन्न हो जाता है" ।६।

नचिकेता वैश्वानर—अग्नि—की भांति देदीप्यमान था, ब्राह्मण था। वह अतिथिके रूपसे यमाचार्यके घरोंमें प्रवेश करता है। उन घरोंमें वैवस्वत—यमाचार्यके पुत्रादि—जल आदि लाते हैं, पूछ-ताछ करते हैं और उसे शान्त करते हैं ।७।

जिस छोटी बुद्धिवाले मनुष्यके घरमें ब्राह्मण विना भोजनके रहता है वह उसका सब-कुछ हर लेता है। जो बातें निश्चित हैं उनके पानेकी मनुष्यको 'आशा' होती है, जो अनिश्चित हैं उनकी 'प्रतीक्षा' होती है। ऐसे व्यक्तिके आशा-प्रतीक्षा दोनो फल नष्ट हो जाते हैं। साधु पुरुषोंकी संगति और मीठी वाणीका फल भी नष्ट हो जाता है। 'इष्ट' अर्थात् जो यज्ञादि उसने किये हैं, और 'आपूर्त' अर्थात् जो कुए, बावली, धर्मशाला आदि उसने बनवाए हैं इन सबका फल हरा जाता है। पुत्र और पशु—जो-कुछ उसका है सब बेकार जाता है ।८।

यमाचार्य जब आये तो उन्होंने कहा—"हे नमस्कारके योग्य ब्राह्मण, हे अतिथि, तीन राततक विना भोजनके तूने मेरे घरमें वास किया है, तुझे मेरा नमस्कार हो। तुम्हारी पूछ-ताछ की गई थी पर फिर भी तुमने स्वयं मेरी प्रतीक्षामें भोजन नहीं किया। तो भी मैं पापका भागी न होऊं इसलिये भोजन न करनेके बदले मुझसे तीन वर माग लो" ।९।

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे ।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः । ६ ।
वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।
तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् । ७ ।
आशाप्रतीक्षे सङ्गतं सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान् ।
एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे । ८ ।
तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व । ९ ।



यमाचार्य कह रहे है, हे नचिकेता, तीन वर माग

(नचिकेताका अर्थ है 'न जाननेवाला'—'जिज्ञासु'। 'यम'का अर्थ है—'मृत्यु'। आचार्यको आलकारिक रूपमे 'मृत्यु' तथा जिज्ञासुको 'नचिकेता' कल्पित करके यह सवाद चल रहा है। मृत्यु प्राचीनकालके किसी आचार्यका, गुरुका नाम नही है, मृत्यु इस सवाद-का एक पात्र है। वैदिक-साहित्यमे आचार्यको प्राय मृत्युका नाम दिया गया है—ऋग्वेदके ब्रह्मचर्यसूक्तमे कहा है—'आचार्यो मृत्यु'। आचार्यके सम्मुख अपनेपनको मिटा देना होता है, इसलिये आचार्य

मृत्यु है। आचार्य मृत्यु ही नही, मृत्युके साथ जैसे जन्म जुडा रहता है, वैसे आचार्य शिष्यके अपनेपनको मारकर उसे दूसरा जन्म देता है, इसलिये वैदिक-साहित्यमे लिखा है कि आचार्य शिष्यको तीन दिन और तीन रात गर्भमे धारण करके उसे नया जन्म देता है। नचिकेता भी तीन दिन-रात विना खाये-पिये मृत्युके यहा रहा, ऐसे ही रहा जैसे ब्रह्मचारी आचार्यके गर्भमे रहता है, अपने पिछले रूपको मारकर, और नये जन्मकी तय्यारीमे।)

नचिकेताने पहला वर मागा—"हे मृत्यो ! मेरा पिता गौतम शान्त-सकल्प हो, प्रसन्न-मन हो, क्रोध-रहित हो, और जब मै आपके पाससे अपने पिताके पास लौटू तो मुझसे प्रसन्न होकर बोले। तीनो वरोमेंसे पहला वर तो मै यह मागता हू" ।१०।

यमाचार्यने वर देते हुए कहा—"तेरा पिता-उद्दालक वा अरुण-का पुत्र—मृत्युके मुखसे तुझे छूटाहुआ देखकर जैसे पहले तुझसे प्रसन्न था वैसा ही प्रसन्न होगा। तुझे मृत्युके मुखसे छुटाहुआ देखकर क्रोधरहित होकर सुखकी नीद सोयेगा" ।११।

अब नचिकेता दूसरा वर मागता है—"स्वर्ग-लोकमें किसी प्रकारका भय नही है, न वहा तू है, न जरावस्था—इन दो ही-से तो मनुष्य डरता है, वहा मृत्युसे भी भय नहीं, वृद्धावस्थासे भी भय नहीं। स्वर्ग-लोकमें भूख-प्यास इन दोनो प्रवाहोको तर लेते है, द्वन्द्वोसे ऊपर उठ जाते है, शोक पीछे रह जाता है, आनन्द-ही-आनन्द रह जाता है" ।१२।

"हे यमाचार्य ! आप उस स्वर्ग प्राप्त करानेवाली 'अग्नि' को

शान्तसकल्प सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो ।
त्वत्प्रसृष्ट माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणा प्रथम वर वृणे ।१०।
यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्ट ।
सुख रात्री शयिता वीतमन्युस्त्वा ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ।११।
स्वर्गे लोके न भय किचनास्ति न तत्र त्व न जरया बिभेति ।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ।१२।

जानते हैं। हे मृत्यो ! मैं श्रद्धा-पूर्वक पूछता हूं, आप मुझे उसका उपदेश दें। जो स्वर्गलोकमें जाते हैं उन्हें अमृतत्व---अमरता---प्राप्त होती है इसलिये 'स्वर्ग-साधक अग्नि' का आप उपदेश दीजिये। द्वितीय वरसे मैं यही मांगता हूं" ।१३।

यमाचार्य बोले--"हे नचिकेत ! मैं उस 'स्वर्ग-साधक अग्नि'को जानता हूं। मैं कहूंगा, तू समझ। उसके द्वारा अनन्त-लोककी प्राप्ति होती है, उन लोकोंकी वह आधार है। परन्तु हां, यह समझ ले कि वह 'अग्नि' गुहामें निहित है---उसका जानना-समझना एक रहस्यको समझनेके समान है" ।१४।

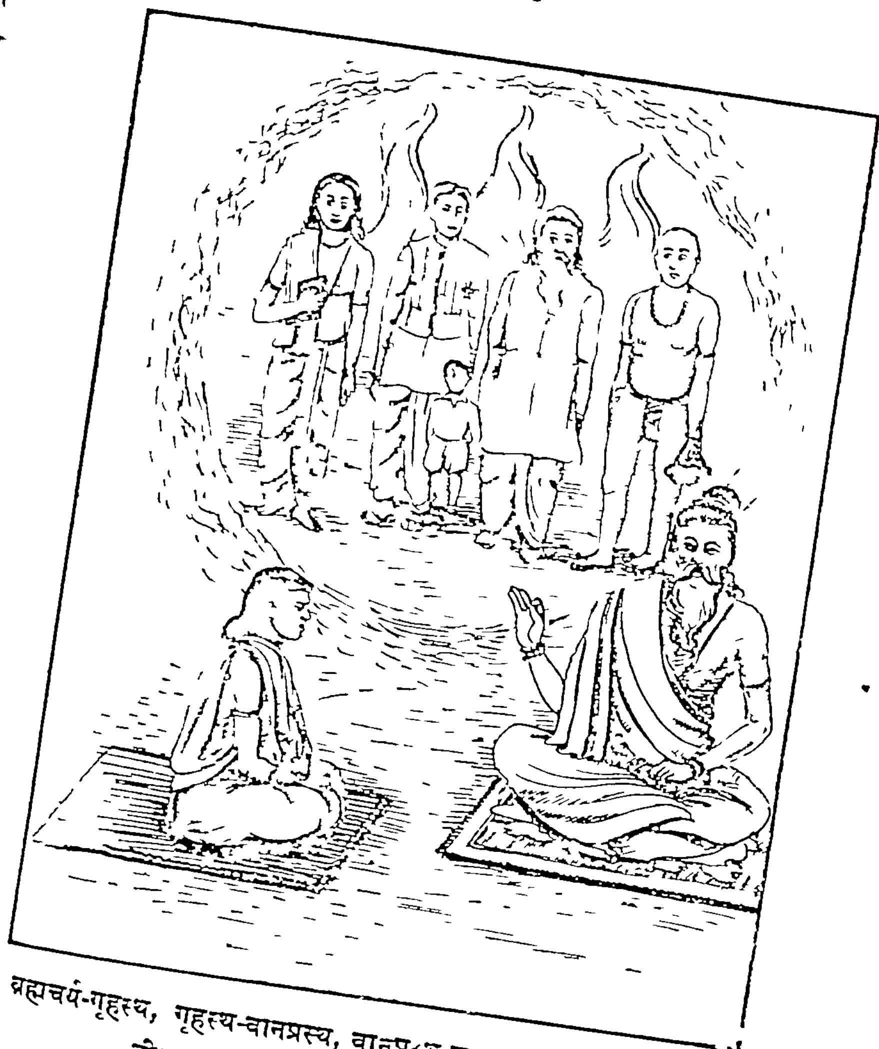
यमाचार्यने नचिकेताको लोककी, अर्थात् स्वर्गलोककी साधक उस 'आदि-अग्नि'का उपदेश दिया। उस अग्निके लिये जो-जो ईंटें चाहियें, जितनी चाहियें, जिस प्रकारकी चाहियें---सब कहा। नचिकेताने भी आचार्यने जो-कुछ कहा था वह ठीक-ठीक वैसे ही सुना दिया। निचकेताकी इस कुशाग्र-बुद्धिको देखकर आचार्य बहुत सन्तुष्ट हुए और उन्होंने कहा---।१५।

महात्मा यम अत्यन्त प्रसन्न होकर नचिकेताको कहने लगे---"आज तुझे एक और वर देता हूं। यह 'अग्नि' तेरे ही नामसे प्रसिद्ध होगी। ले, अनेक रंगोंवाली इस मालाको ग्रहण कर।" यह कहकर आचार्यने स्वर्ग-साधक अग्निका नाम 'नाचिकेत-अग्नि' रख दिया और उसे एक माला दी ।१६।

स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वं श्रद्दधानाय मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण ।१३।
प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ।१४।
लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ।१५।
तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ।१६।

किी
ाप्त
ीय

को
प्ति
ह
ी



ब्रह्मचर्य-गृहस्थ, गृहस्थ-वानप्रस्थ, वानप्रस्थ-सन्यास—इन तीन सन्धियोसे तीन स्वर्ग-साधक अग्निया उत्पन्न हो रही है

जो 'त्रि-नाचिकता' होगा, अर्थात् 'नाचिकेत-अग्नि' की ब्रह्मचर्य, स्थ, वानप्रस्थ—इन तीन आश्रमोमें उपासना करेगा, वह तीनों ायोमेंसे गुजरकर, तीनो कर्मोको करके, जन्म और मृत्युको तर ा। ये तीन 'सन्धि' तथा तीन 'कर्म' क्या है ? जब ब्रह्मचारी में प्रवेश करता है तो इन दोनो आश्रमोके बीचकी सन्धिमेंसे जाता है, जब गृहस्थी वानप्रस्थमें प्रवेश करता है तब गहस्थ

तथा वानप्रस्थकी सन्धिमेंसे गुजरता है, जब वानप्रस्थसे सन्यासमें प्रवेश करता है तब वानप्रस्थ तथा सन्यासकी सन्धिमेंसे गुजरता है। इन तीन सन्धियोमेंसे गुजरना, इन्हें पार कर जाना ही तीन कर्म है। जो इन तीन सन्धियोमेंसे नही गुजरता वह किसी-न-किसी एक आश्रम-में अटक जाता है। इसप्रकार प्रत्येक सन्धिमेंसे गुजरनेसे एक-एक 'स्वर्ग-साधक-अग्नि' उत्पन्न होती है। अग्नि उत्पन्न ही सन्धिसे—दो वस्तुओके मेलसे—होती है। एक-एक सन्धिके बाद एक-एक 'नाचि-केत-अग्नि' प्रकट होती है जो मनुष्यको स्वर्ग, अर्थात् अमृतकी ओर ले जाती है। इसप्रकार तीन सन्धियोमेंसे गुजरकर 'त्रि-नाचिकेत-अग्नि' की साधना होती है। इन तीन अग्नियोमेंसे गुजरकर जो जीवन-क्रम बनता है वह 'ब्रह्म-यज्ञ' कहाता है। जो व्यक्ति दिव्य गुणोसे युक्त, स्तुतिके योग्य 'ब्रह्म-यज्ञ'को जान जाता है, उसके विषयमें निश्चय कर लेता है, वह अत्यन्त शान्तिको प्राप्त होता है। १७।

(स्वर्गकी साधक कौन-सी अग्नि है ? क्या वह जिससे यज्ञ करते है, या कोई और ? यमाचार्य कहते है कि यज्ञ-यागादिकी अग्नि से स्वर्ग नही प्राप्त होता। स्वर्ग-साधक अग्नि वह है जो 'ब्रह्म-यज्ञ' की तरफ लेजाती है। 'ब्रह्म'का अर्थ है, महान् होना, बढना, अपना विस्तार करना। वही मनुष्य 'ब्रह्म-यज्ञ' करता है जो अपना विस्तार करता है, अपने जीवनको सकुचित नही होने देता। यज्ञमे अग्नि होती है, तो इस 'ब्रह्म-यज्ञ' मे, व्यक्तिके महान् होनेमे कौन-सी अग्नि है ? वह अग्नि तीन सन्धियोमेसे गुजरनेसे उत्पन्न होती है, जिसे यमाचार्य-ने 'त्रि-नाचिकेत-अग्नि'का नाम दिया है। सन्धिसे, दोके सयोगसे अग्नि उत्पन्न होती है, बिना सन्धिके अग्नि नही उत्पन्न होती। ब्रह्म-चर्य तथा गृहस्थका जहा मेल है, जहा सन्धि है, वहासे जो गुजर गया उसने 'ब्रह्म-यज्ञ'की एक अग्नि सिद्ध करली। जीवनकी वास्तविक कठि-

---

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति। १७।

नाई सन्धिमेसे गुजरना है। गृहस्थी विचार ही करता रह जाता है कि वानप्रस्थी बने, वानप्रस्थी विचार ही करता रह जाता है कि सन्यासी बने। जिसमे नचिकेताकी आग है वही सन्धिको पार करता है, नही तो सन्धिके इधर या उधर ही रह जाता है। इसप्रकार जो तीन सन्धियोमेसे गुजर जाता है वह तीन अग्नियोको सिद्ध कर लेता है, वह 'त्रि-नाचिकेत-अग्नि'को, अर्थात् 'ब्रह्मयज्ञ'को पूर्ण कर लेता है। चारों आश्रमोमेसे गुजरना ही वास्तविक 'ब्रह्म-यज्ञ' है, उसीसे मनुष्य महान् होता है क्योकि वह तीन अग्नियोमे तप चुकता है।)

तीनो नाचिकेत-अग्नियोको जो इसप्रकार जान जाता है, और नाचिकेत-अग्निका चयन करता है, वह आगेसे मृत्युके पाशोको काट-कर, शोकसे पार होकर, स्वर्ग-लोकमें आनन्दसे रहता है।१८।

हे नचिकेत! स्वर्ग-साधक जिस अग्निकी तूने अपने दूसरे वरसे जिज्ञासा की थी उसका तुझे उपदेश दे दिया। इस अग्निको लोग तेरे ही नामसे कहा करेंगे। हे नचिकेत! अब तू तीसरा वर माग।१९।

अब नचिकेता तीसरा वर मागता है—"मनुष्यके मर जानेपर जो जिज्ञासा रहती है, कोई कहते है मरनेपर भी मनुष्य बना रहता है, कोई कहते है नहीं बना रहता—आपसे शिक्षा पाकर मै इसका समा-धान जानना चाहता हू। मैने जो वर मागने है उनमें तीसरा वर यही है"।२०।

यमाचार्य उत्तर देते है—"बड़े-बडे विद्वानोने भी इस विषयमें पहले जिज्ञासा की है। इस बातका जानना आसान नही है। यह

त्रिणाचिकेतस्त्रय मेतद्विदित्वा य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान्पुरत प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।१८।
एष तेऽग्निर्नचिकेत स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व।१९।
येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनु शिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीय :।२०।

वडा अणु-धर्म है, सूक्ष्म-विषय है। हे निचिकेता, दूसरा ही कोई वर माग। मुझे इस विषयमें वाधित न कर, इस विषयको छोड दे" ।२१।

नचिकेता कहने लगा—"यह सच है कि वडे-वडे विद्वानोंने भी इस विषयमें जिज्ञासा की, और यह समस्या ऐसी है जिसे, हे मृत्यु! तू भी कह रहा है कि सुगमतासे समझ नहीं पड सकती। मृत्युके अनन्तर क्या होता है—इस प्रश्नका उत्तर स्वय मृत्युके अतिरिक्त कौन दे सकता है? इसलिये तेरे सिवा इस प्रश्नका उत्तर भी कौन दे सकेगा? ऐसी अवस्थामें इस वरके समान तो दूसरा कोई वर हो ही नही सकता" ।२२।

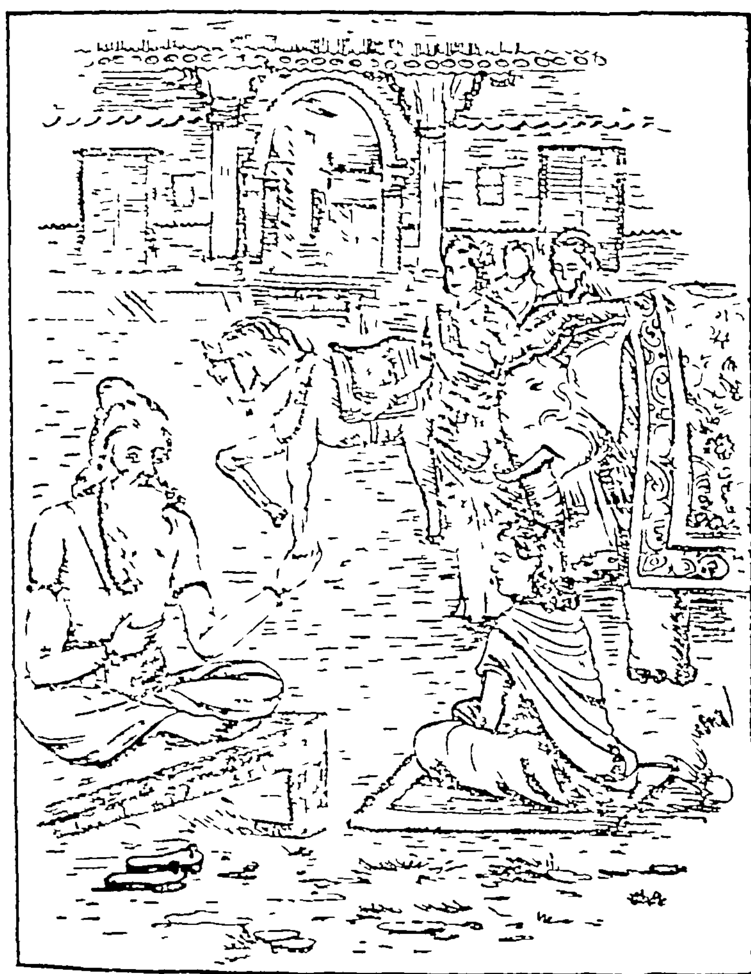
यमने कहा—"सौ-सौ वर्षकी आयुवाले पुत्र-पौत्रोको माग, अनेक पशुओको माग, हाथी, सुवर्ण, घोडे माग, वडी-वडी जमीनें, जायदादें माग, जवतक जीना चाहे तवतकका जीवन माग" ।२३।

"अगर इस वरके बराबर तू कोई चीज़ समझता है—धन-धान्य, दीर्घ-जीवन—वह माग। हे नचिकेता! तू पृथिवीके वडे भागपर शासन करना चाहे, तो वह माग। जितनी कामनाए है वे तेरी इच्छा-मात्रसे पूर्ण होजाय, ऐसा चाहे तो वह माग" ।२४।

"मर्त्य-लोकमें जो भी दुर्लभ कामनाए है सबको बेखटके माग। ये स्त्रिया है, रथोसहित, गाजे-बाजेसहित। ऐसी स्त्रिया मनुष्योको

देवैरत्रापि विचिकित्सित पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्म ।
अन्य वर नचिकेतो वृणीष्व मामोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ।२१।
देवैरत्रापि विचिकित्सित किल त्व च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ।२२।
शतायुष पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतन वृणीष्व स्वय च जीव शरदो यावदिच्छसि ।२३।
एतत्तुल्य यदि मन्यसे वर वृणीष्व वित्त चिरजीविका च ।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामाना त्वा कामभाज करोमि ।२४।

प्राप्त नहीं हो सकतीं। मैं इन्हें तुझे दूंगा। इनके साथ सुख भोग, परन्तु हे नचिकेता, 'मरण'के विषयमें प्रश्न मत कर" ।२५।



हे नचिकेता, हाथी-घोडे माग, मरणकी बात मत पूछ

नचिकेताने उत्तर दिया--"हे अन्तक ! हे मृत्यो ! ये सुख-भोग मनुष्यकेलिये 'श्वोभाव' है---आज है, कल नहीं। ये इन्द्रियो

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामाँश्छन्दत प्रार्थयस्व।
इमा रामा मरथा सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।
आभिर्मत्प्रत्ताभि परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ।२५।

के तेजको क्षीण कर देते हैं। इन भोगोंको भोगनेकेलिये सारा-का-सारा जीवन भी बहुत-थोडा है। ये हाथी-घोडे, ये नाचना-गाना अपने ही पास रख, ये मुझे नहीं चाहियें" ।२६।

"मनुष्य धनसे तृप्त नहीं होसकता। अगर हमने तेरा दर्शन कर लिया, तेरे रहस्यको समझ लिया, तो धन-धान्य सब प्राप्त होजायगा। हे मृत्यु, जितना तू चाहेगा उतना ही तो हम जीसकेंगे—ज्यादा तो नहीं। मैं तो वही वर मांगता हूं" ।२७।

"अगर जीर्ण न होनेवाली, अमृत-अवस्थाको प्राप्त करके, इससे उल्टी, जीर्ण होनेवाली, मरणावस्थाको कोई जान-बूझकर प्राप्त करे, तो वह नीच नहीं तो क्या है? इस विचारका ध्यान करके सौन्दर्य तथा रमणके आमोद-प्रमोदवाले दीर्घ-जीवनमें भी किसका चित्त लग सकता है?" ।२८।

"हे मृत्यो! जिस बातको जाननेकेलिये सब लोग जिज्ञासा करते हैं, जिसकेलिये महान् 'साम्पराय'—यम-नियमादि—किये जाते हैं, मृत्युके बाद उस आत्माका जो रूप है, वही हमें बताइये। मैंने जो वर मांगा है, जो हमारी बातचीतसे अब और अधिक गूढ होगया है, नचिकेता तो उससे अतिरिक्त अन्य कोई वर नहीं मांगता" ।२९।

द्वितीय वल्ली

यमाचार्यने फिर कहा—'श्रेय'-मार्ग अन्य है, 'प्रेय'-मार्ग अन्य है। ये दोनों भिन्न-भिन्न प्रयोजनोंसे पुरुषको बांधते हैं। इनमेंसे 'श्रेय'

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ।२६।
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ।२७।
अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ।२८।
यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ।२९।

को ग्रहण करनेवालेका भला होता है, जो 'प्रेय'का वरण करता है वह लक्ष्यसे हट जाता है ।१।

'श्रेय' तथा 'प्रेय'—ये दोनो भावनाए मनुष्यके सामने आती है। धीर-पुरुष इन दोनोकी परीक्षा करता है, छान-बीन करता है। धीर-पुरुष वह है जो कोई काम जल्दीमे नही करता, तत्काल फल नहीं देखता। वह 'प्रेय'की अपेक्षा 'श्रेय'का ही वरण करता है। मन्द-बुद्धि व्यक्ति 'योग-क्षेम'—कुशल-मगल—सुख-चैन—के लिये, आरामसे जीवन बितानेके लिये 'प्रेय'का वरण करता है ।२।

हे नचिकेता, तूने खूब सोच-विचारकर, 'प्रिय' तथा 'प्रियरूप'—'मन' तथा 'इन्द्रिय'को खींचनेवाली—कामनाओको त्याग दिया है। सोनेकी इस साकरमें तू नही फसा जिसमें बहुत-से लोग तो जकड़े ही जाते हैं ।३।

ये दोनो—अविद्या तथा विद्या—एक-दूसरेसे दूर है, विपरीत है, उल्टे है, विलक्षण है। हे निचिकेता ! मै यह मान गया कि तू विद्याकी चाहना करनेवाला है, 'श्रेय-मार्ग'का पथिक है, तुझे तरह-तरहकी कामनाए ललचा नहीं सकीं, तूने 'प्रेय-मार्ग'पर चलना पसन्द नहीं किया ।४।

ससारके लोग अविद्यामें फसे हुए, सासारिक भोगोमें पडे हुए, अपनेको धीर और पडित माने फिरते है। टेढे रास्तोसे इधर-उधर

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषँ सिनीत ।
तयो श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते । १ ।
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सपरीत्य विविनक्ति धीर ।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योग-क्षेमाद्वृणीते । २ ।
स त्व प्रियान्प्रियरूपाँश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षी ।
नैता सृङ्का वित्तमयीमवाप्तो यस्या मज्जन्ति बहवो मनुष्या । ३ ।
दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।
विद्याभीप्सिन नचिकेतस मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त । ४ ।

भटकते हुए ये मूढ ऐसे जा रहे हैं जैसे अन्धा अन्धेको रास्ता दिखा रहा हो ।५।

जो बडा होकर भी वुद्धिका बच्चा ही है, धनके मोहसे जो दूसरी कोई बात सोच ही नहीं सकता, ऐसे प्रमादीको 'साम्पराय'—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—'यम-नियम'—पसन्द नहीं आते । वह यह मान बैठा है कि यही लोक है, परलोक नही है । ऐसा व्यक्ति बार-बार मेरे चगुलमें आ फसता है, बार-बार मरता है, बार-बार पैदा होता है ।६।

बहुतोको तो वह सुननेको भी नहीं मिलता, बहुत-से लोग उसे सुनते हैं, पर फिर भी कुछ जान नही पाते, उसका कहनेवाला विरला है, उसको पानेवाला कोई कुशल ही है, कुशल गुरुके उपदेशसे कोई विरला ही उसे जान पाता है ।७।

उसका कितना भी चिन्तन क्यो न करे, साधारण गुरुके उपदेशसे उसे नहीं जान सकते । दूसरेके बतलाए बिना कोई उसके ज्ञानमें आगे नहीं बढ सकता । वह अणु-प्रमाण है, सूक्ष्म है, इसलिये 'अणीयान्' और 'अतर्क्य' है—'इन्द्रियोसे' देखा नहीं जा सकता, और 'तर्कसे' जाना नहीं जा सकता ।८।

जो बुद्धि मैंने तुझे दी है वह तर्क-वितर्कसे हटा मत देना । हे प्रिय शिष्य ! उस ब्रह्मका ज्ञान तभी होता है जब कोई अन्य—कोई

अविद्यायामन्तरे वर्तमाना स्वय धीरा पण्डित मन्यमाना ।
दन्द्रम्यमाणा परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा ।५।
न सापराय प्रतिभाति बाल प्रमाद्यन्त वित्तमोहेन मूढम् ।
अय लोको नास्ति पर इति मानी पुन पुनर्वशमापद्यते मे ।६।
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य शृण्वन्तोऽपि बहवो य न विद्यु ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्ट ।७।
न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमान ।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ।८।

गुरु—उसका उपदेश देता है—तू धैर्यवाला है, सत्यका खोजनेवाला है—इसलिये तुझे वह बुद्धि मिल गई है। हे नचिकेता! हमारे लिये तो कोई पूछनेवाला हो, जिज्ञासु हो, तो तेरे जैसा हो।९।

मैं जानता हू कि यह धन-सम्पत्ति अनित्य है। जो वस्तुए स्वयं 'अध्रुव' है, अस्थिर है, उनसे वह 'ध्रुव', स्थिर ब्रह्म नही प्राप्त हो सकता। इसी कारण मैंने 'नाचिकेत-अग्नि'का चयन किया है, तीनो सन्धियोको पार किया है, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास-आश्रमोमेंसे गुज़रा हू। इसप्रकार अनित्य द्रव्योसे ही नित्यको मैंने पा लिया है। वैसे तो अनित्यसे नित्यकी प्राप्ति नही हो सकती, परन्तु अगर 'नाचिकेत-अग्नि'का चयन किया जाय, नचिकेतामें जो अग्नि जल उठी थी वह हममें भी प्रदीप्त हो उठे, और चारो आश्रमोमेंसे प्रत्येक आश्रमके अनुभवसेजो नवीन आत्म-ज्योति मिले उसे अपना पथ-प्रदर्शक बनाया जाय, तो अनित्य ससारसे भी नित्यकी प्राप्ति हो सकती है।१०।

तूने कामनाओको पूर्ण करनेकी उमगोको, धनी होनेके कारण मिलनेवाले सम्मानको, कभी समाप्त न होनेवाले कर्म-काडको, निर्भीकताकी सीमाको, अर्थात् राजा-महाराजा बननेके प्रलोभनको, चारोतरफसे उच्च-ध्वनिसे होनेवाले जय-जय नादको—सबतरहकी प्रतिष्ठाको, आखोसे देखकर, हे धीर नचिकेता, धीरताकेसाथ छोड दिया।११।

उसके दर्शन कठिनतासे होते है। वह गूढसे भी गूढ है। वह दुर्गम गुफाओमें छिपा बैठा है। वह सबसे पुरातन है। उसे 'अध्यात्म-योग' से प्राप्त कर सकते है—'अध्यात्म-योग', अर्थात् इन्द्रियोका ऐसा

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ।९।
जानाम्यहँ शेवधिरित्यनित्य न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ।
ततो मया नचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ।१०।
कामस्याप्ति जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारम् ।
स्तोमं महदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।११।

चलन जिससे वे विषयोकी तरफ जानेके वजाय आत्माकी तरफ चलें। उस देवताको जब मनुष्य मान जाता है तव धीर हो जाता है, हर्ष तथा शोक दोनोको छोड देता है, द्वन्द्वोसे ऊपर उठ जाता है।१२।

मैने जो कुछ कहा है उसे 'श्रवण' करके, सुननेके वाद उसे ग्रहण अर्थात् 'मनन' करके, ग्रहण करनेके वाद उसे वढाकर—उतनेतक ही सीमित न रहकर उसका 'निदिध्यासन' करके, वह 'अणु'—सूक्ष्म ब्रह्म—प्राप्त होता है, सब धर्मोंका भी वही लक्ष्य है। उस आनन्द-दायक 'ब्रह्म'को प्राप्त करके फिर आनन्द-ही-आनन्द मिलता है। हे नचिकेता, मै समझता हू कि तेरा द्वार खुल गया है—अव तेरे सम्मुख कोई रुकावट नही रही।१३।

नचिकेताने कहा—"धर्मसे, अधर्मसे, कृतसे, अकृतसे, भूतसे, भव्यसे—जो ससारकी प्रत्येक वस्तुसे भिन्न है, जिसे आप देखते है उसका आप मुझे उपदेश दीजिये"।१४।

आचार्यने कहा—"जिस शब्दका सब वेद वार-वार वर्णन करते है, सब तप जिसको पुकारते है, जिसको चाहनामें ब्रह्मचर्यका अचरण करते है, सक्षेपमें वह शब्द तुझे वतलाता हू—वह शब्द 'ओ३म्'—यह है"।१५।

"यह 'ओ३म्' एक अक्षर है, परन्तु यही ब्रह्म है, यही सबसे

त दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्ट गुहाहित गह्वरेष्ठ पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देव मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।१२।
एतच्छ्रुत्वा सपरिगृह्य मर्त्यं प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।
स मोदते मोदनीय हि लब्ध्वा विवृत सद्म नचिकेतस मन्ये।१३।
अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद।१४।
सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपासि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य चरन्ति तत्ते पद सग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।१५।

परे है, इसी अक्षरको जानकर जो कोई कुछ चाहता है उसे वह प्राप्त हो जाता है" ।१६।

"इसीका सबसे श्रेष्ठ सहारा है, इसीका सबसे अन्तिम सहारा है। इसी सहारेको जानकर ब्रह्मलोकमें मनुष्य महान् हो जाता है" ।१७।

ब्रह्मका वर्णन करनेके बाद अब आत्माका वर्णन करते हुए यमाचार्य कहते हैं--"यह चेतन जीव न उत्पन्न होता है, न मरता है, न यह किसी कारणसे उत्पन्न हुआ है, न पहले कभी हुआ था। यह अजन्मा है, नित्य है, निरन्तर है, पुरातन है---शरीरके मरनेपर भी यह नहीं मरता" ।१८।

"अगर कोई मारनेवाला यह समझता है कि मैं मार रहा हूं, अगर कोई मरनेवाला यह समझता है कि मैं मर गया हू---वे दोनो नहीं जानते, न यह मारता है, न मरता है" ।१९।

ब्रह्म तथा आत्मा---ब्रह्माड तथा पिड---का वर्णन करनेके बाद इनके आपसके सबधके विषयमें आचार्य कहते हैं---"जीवात्मा अणु है, सूक्ष्म है, परमात्मा अणुसे भी अणु है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है। सूक्ष्ममें स्थूल नहीं रह सकता, स्थूलमें सूक्ष्म रह सकता है। वह सब जगह है क्योंकि वह अणुसे भी अणु, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि वह इतना छोटा है। वह तो महान्से भी महान् है। वह गुफामें रहता है, परन्तु पहाडकी गुफामें नहीं, इसी जीव-रूपी जन्तुकी हृदय-रूपी गुफामें छिपा बैठा है।

एतद्ध्येवाक्षर ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षर परम् ।
एतद्ध्येवाक्षर ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् । १६ ।
एतदालम्बन श्रेष्ठमेतदालम्बन परम् ।
एतदालम्बन ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते । १७ ।
न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नाय कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्य शाश्वतोऽय पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे । १८ ।
हन्ता चेन्मन्यते हन्तु हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नाय हन्ति न हन्यते । १९ ।

उसे कर्मोंके जालमें, दुनियांके गोरखधधोंमें फसाहुआ व्यक्ति नहीं देख सकता, निष्काम-कर्मवाला ही उसे देख सकता है, जो वीत-शोक हो, जिसे किसी प्रकारका दु ख न हो। परमात्माकी महिमाको उस 'धाता'—ससारके धारणकरने-वाले—के प्रसादसे ही, उस प्रभुकी कृपासे ही जाना जासकता है" ।२०।

"वह एक जगहपर आसीन होताहुआ, एक जगहपर ठहराहुआ भी दूर-से-दूर पहुच जाता है, आसीन होनेकी बात छोडो, वह अगर सो भी रहा हो, तो भी सब जगह पहुचा होता है; विना मस्ती के भी मस्त उस देवको मेरे सिवा और कौन जान सकता है" ? ।२१।

"शरीर-धारियोंमें जो बिना शरीरके मौजूद है, अस्थिर पदार्थों-में जो स्थिर-रूपसे वर्त्तमान है, जो महान् है, विभु है, आत्मा है—उसे मनन-पूर्वक जानकर धीर-पुरुष सोच-विचारमें पडकर दु ख नहीं मनाते" ।२२।

"आत्मा वडे-वडे भाषणोंसे नहीं मिलता, तर्क-वितर्कसे नहीं मिलता, वहुत-कुछ पढने-सुननेसे नहीं मिलता। जिसको यह वर लेता है वही इसे प्राप्त कर सकता है, उसके सामने आत्मा अपने स्वरूपको खोलकर रख देता है" ।२३।

"जो व्यक्ति दुराचारसे हटा नही, जो अशान्त है, जो तर्क-वितर्कमें

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतु पश्यति वीतशोको धातु प्रसादान्महिमानमात्मन ।२०।

आसीनो दूर व्रजति शयानो याति सर्वत ।
कस्त मदामद देव मदन्यो ज्ञातुमर्हति ।२१।

अशरीर शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्त विभुमात्मान मत्वा धीरो न शोचति ।२२।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न वहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनू स्वाम् ।२३।

उलझा हुआ है, जो चंचल-चित्तवाला है वह उसे प्राप्त नहीं कर सकता। उसे तो 'प्रज्ञान'द्वारा प्राप्त किया जा सकता है" ।२४।

वह है कहां ? इसका उत्तर आचार्य देते हैं—"संसार दो शक्तियोंका परिणाम है—'विधायक' (Constructive) तथा 'विनाशक' (Destructive)—बनानेवाली तथा तोड़नेवाली। विधायक-शक्तियां भी दो तरहकी हैं—'आध्यात्मिक' (Spiritual) तथा 'भौतिक' (Physical)। 'आध्यात्मिक-विधायक-शक्ति'-का नाम 'ब्रह्म' है, 'भौतिक-विधायक-शक्ति'का नाम 'क्षत्र' है। जिस आत्माके सम्मुख विश्वकी दोनों प्रकारकी विधायक-शक्तियां—'ब्रह्म' तथा 'क्षत्र'—ओदनकी तरह हैं, भातकी तरह हैं, वह इन दोनोंको एक ग्रासमें निगल सकता है, उसके विषयमें कौन जान सकता है कि वह कहां है ? इन विधायक-शक्तियोंके अतिरिक्त विश्वमें विनाशक-शक्ति भी है, उसका नाम 'मृत्यु' है। जैसे भातमें घी सींचा जाता है, और उसे मजेमें उड़ाया जाता है, इसी तरह मृत्युको भी जो बड़े स्वादसे चट कर सकता है उसके विषयमें कौन जान सकता है कि वह कहां है ?" ।२५।

तृतीय वल्ली

ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं कि 'पञ्चाग्नि', अर्थात् पांच यज्ञोंको करनेवाले 'कर्मकाण्डियों' तथा 'त्रि-नाचिकेत', अर्थात् यमाचार्यने जिन तीन नाचिकेत-अग्नियोंका उपदेश दिया है उनका सेवन करनेवाले 'ज्ञानकाण्डियों'में छाया और आतपका-सा अन्तर है। जो सिर्फ बाह्य यज्ञोंमें लगा रहता है वह तो मानो छायामें लगा हुआ है। तीन नाचिकेत-

---

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।२४।
यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ।२५।

अग्नियोका सेवन ही वास्तविक प्रकाशका सेवन है। ये दोनो अपने-अपने दृष्टिकोणसे 'ऋत' का पान करते है। 'ऋत' अर्थात् 'सत्य'—'यथार्थ-ज्ञान'। जिस तत्त्वको यथार्थ-ज्ञान समझेहुए हैं उसीमें ये दोनो लगे रहते है, दोनो परम-श्रेष्ठ बुद्धिरूपी गुहामें प्रविष्ट है, परन्तु कर्मकाडी तथा ज्ञानकाडियो में भेद छाया और आतपका-सा है।१।

जो लोग यज्ञ-यागादिमें इसलिये लगेहुए है कि भव-सागरको तरकर पार जाना चाहते है, अभय, परब्रह्मको पाना चाहते है, उनके लिये वास्तविक पुल तो कर्मकाड नही, परन्तु 'नाचिकेत-अग्नि' अर्थात् ज्ञानकाड ही है। उसे हम प्राप्त कर सकें।२।

आत्मा रथी है, रथका मालिक है, शरीर एक रथ है, बुद्धि सारथी है—साईस है, मन लगाम है।३।

इन्द्रिय घोडे है, इन्द्रियोके विषय वे मार्ग है जिनपर इन्द्रिय-रूपी घोडे जाते है। मनीषी लोग कहते है कि जब आत्मा, इन्द्रियां तथा मन मिलकर कोई काम करते है तब मनुष्य 'भोक्ता' कहलाता है।४।

जो विज्ञान-रहित है, उसका मन सदा आत्मासे अयुक्त रहेगा। उसकी इन्द्रिया भी वशमें नहीं रहती, जैसे दुष्ट घोड़े सारथिके वशमें नहीं रहते।५।

ऋत पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहा प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेता। १।

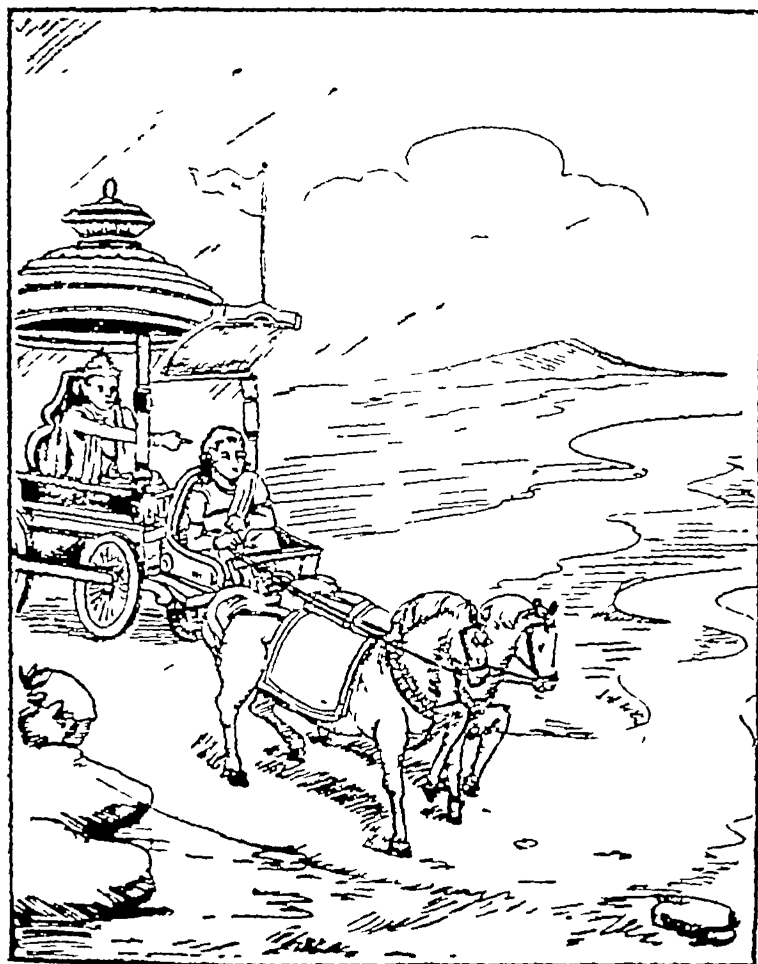
य सेतुरीजानानामक्षर ब्रह्म यत्परम्।
अभय तितीर्षता पार नाचिकेत शकेमहि। २।

आत्मान रथिन विद्धि शरीर रथमेव तु।
बुद्धि तु सारथि विद्धि मन प्रग्रहमेव च। ३।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयास्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्त भोक्तेत्याहुर्मनीषिण। ४।

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथे। ५।

जो विज्ञानवाला है, जिसका मन आत्मासे जुडा रहता है, उसकी इन्द्रियां वशमें रहती हैं, जैसे अच्छे घोडे सारथिके वशमें रहते हैं ।६।



आत्मा रथी है, इन्द्रिया घोडे हैं, विषय मार्ग है

जो विज्ञान-रहित है, जिसका मन आत्मासे युक्त नहीं, जो सदा अपवित्र विचारोको ही सोचता है, वह उस उच्च-पदको, जिसमें

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः । ६ ।

आत्मा मालिक बनकर रथको चलाये, नही प्राप्त कर सकता। घोडे ही उसके रथके मालिक बन जाते है और उसे ससारमें भटकाते फिरते है, वह जन्म-मरणके चक्करमें उलझा फिरता।७।

जो विज्ञानवाला है, जिसका आत्मा मनके साथ नहीं परन्तु मन आत्माके साथ लगा है, जो पवित्र विचारोको सोचता है, वह उस उच्च पदको प्राप्त कर लेता है जिससे फिर उत्पन्न नहीं होता।८।

जिसका 'विज्ञान' सारथि है,—कोचवान है, जो मनरूपी लगामको अपने हाथमें रखता है, वह इस ससार-रूपी मार्गका पार पा लेता है, वह विष्णुके परम पदको, परम धामको प्राप्त करलेता है, वह परमात्मातक पहुच जाता है।९।

अन्तर्जगत्, अर्थात् 'पिड'में इन्द्रियोकी अपेक्षा उनके विषय—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द—दूर है। इन्द्रियां दीखती है, ये दीखते नहीं, इन्द्रिया स्थूल है, ये सूक्ष्म है। विषयोकी अपेक्षा मन परे है। मनकी अपेक्षा वुद्धि परे है। मनका काम 'सकल्प-विकल्प' करना है, वुद्धिका काम 'निश्चय' करना है। बुद्धिकी अपेक्षा आत्मा महान् परे है, अत्यन्त दूर है।१०।

वाह्य-जगत्, अर्थात् 'ब्रह्माड'के दो रूप है—एक दृश्य, जो दीख रहा है, इसे 'व्यक्त' कहते है, 'महत्' कहते है, 'विकृति' कहते है, दूसरा अदृश्य, जो दृश्यसे पहले था, जिसमें सत्त्व-रज-तम साम्यावस्थामें थे, इसे 'अव्यक्त' कहते है, 'प्रकृति' कहते है। वाह्य-जगत्के

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्क सदाऽशुचि।
न स तत्पदमाप्नोति स ँसार चाधिगच्छति।७।
यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्क सदा शुचि।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते।८।
विज्ञानसारथिर्यस्तु मन प्रग्रहवान्नर।
सोऽध्वन पारमाप्नोति तद्विष्णो परम पदम्।९।
इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च पर मन।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्पर।१०।

'महत्', अर्थात् 'व्यक्त' (विकृति) की अपेक्षा 'अव्यक्त' (प्रकृति) परे है, और अपेक्षा 'पुरुष'—परमात्मा—और भी परे है। पुरुषसे परे कुछ नहीं अव्यक्तको है—वह हद्द है जानेकी वह अन्तिम सीमा है।११।

परमात्मा इन सब भूतोमें—अन्तर्जगत् तथा वाह्य-जगत्में—छिपाहुआ प्रकट नही होता। सूक्ष्मदर्शी लोग 'अग्र-बुद्धि'से आगे-आगे चलनेवाली सूक्ष्मबुद्धिसे—उसका दर्शन करते है।१२।

(यमाचार्यने नचिकेताको वतलाया कि 'पिड'मे इन्द्रियोकी डोर पकडकर आगे-आगे चले—'अग्र-बुद्धि' से काम ले, और 'ब्रह्माडमे' प्रकृतिके पच महाभूतोकी डोर पकडकर आगे-आगे चले—'अग्र-बुद्धि' से काम ले। जो इस प्रकार चलेगा उसे इन्द्रियोके पीछे छिपाहुआ 'आत्मा' और प्रकृतिके पीछे छिपाहुआ 'परमात्मा' नजर आ जायगा। जीवनकी यात्रा जिसमे आत्मा रथी है, शरीर रथ है, और इन्द्रिय घोडे है, पिडमे आत्मातक और ब्रह्माडमे परमात्मातक पहुचनेकेलिये है। हमलोग तो अभी यात्राके मार्गपर ही नही चले। पिडमे हम अभी इन्द्रियोमे अटके हुए है—आत्मातक कव पहुचेगे, ब्रह्माडमे पचमहाभूतोमे अटकेहुए है, इस जीवन-यात्रामे परमात्मातक कव पहुचेगे ?)

ज्ञानी व्यक्तिको चाहिये कि वाणी आदि इन्द्रियो तथा मनको एकाग्र करे, और इन्हें 'ज्ञानात्मा'के साथ जोड दे, ज्ञानात्माको 'महान्-आत्मा'के साथ जोड दे, महानात्माको 'शान्तात्मा'के साथ जोड दे। 'ज्ञानात्मा'-'महानात्मा'-'शान्तात्मा'का क्या अर्थ हुआ ? ससारमें 'ज्ञान' भी है, 'अज्ञान' भी है। इन्द्रिया तथा मन 'ज्ञान' के साथ भी जुड सकते है, 'अज्ञान'के साथ भी। 'अज्ञान'के साथ

महत परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुप पर ।
पुरुपान्न पर किंचित्सा काष्ठा सा परा गति ।११।
एप सर्वेपु भूतेपु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि ।१२।

जुडना 'अविद्या'की तरफ जाना, 'प्रेय'की तरफ जाना है। 'ज्ञान'-के साथ जुडना 'विद्या'की तरफ जाना, 'श्रेय'की तरफ जाना है। मनुष्य उन्नतिके मार्गपर तभी चलने लगता है जब 'ज्ञान'के साथ अपने आत्माका सम्बन्ध जोडता है, 'अज्ञान'के साथ नही। इसीका अर्थ 'ज्ञानात्मा'के साथ जुडना है। आत्माके साथ 'ज्ञान'का सम्बन्ध हुआ, तो वह 'महान्' होने लगता है, महान् होनेपर ही आत्मामें 'शान्ति' आती है—इसलिये 'ज्ञानात्मा', 'महानात्मा' तथा 'शान्तात्मा'—आत्माके विकासके ये तीन क्रम है।१३।

उठो, जागो, जिन शान्तात्मा महात्माओको परमात्माका वरदान मिल चुका है उनकी शरणमें पहुचो, और उनसे ब्रह्म-विद्याका बोध प्राप्त करो। यह मार्ग तेज कियेहुए छुरेकी धारके समान लाघना कठिन है। कवि लोग कहते है कि वह मार्ग दुर्गम है।१४।

वहा शब्द नही, स्पर्श नहीं, रूप नहीं, रस नहीं, गन्ध नहीं, उत्पत्ति-विनाश नहीं। वह नित्य है, अनादि है, अनन्त है, महान् है, सबसे परे है, ध्रुव है—निश्चल है, एक-रस है। मनुष्य जब उसे निश्चित रूपमें जान लेता है तब मृत्युके मुखसे छूट जाता है।१५।

यह नचिकेता-सम्बन्धी सनातन उपाख्यान है। मृत्युने इसे कहा है। इसे जो मेधावी कहता है और सुनता है वह ब्रह्म-लोकमें महिमाको प्राप्त करता है।१६।

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि । १३ ।
उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति । १४ ।
अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते । १५ ।
नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम् ।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते । १६ ।

ब्रह्म-ज्ञानियोकी सभामें जो इस परम-गुह्य कथानकको एकाग्र-चित्त होकर, स्वय उनकी सभामे जाकर या उन्हें श्रद्धा-पूर्वक अपने यहा निमन्त्रित करके सुनाता है उसे अनन्त फल प्राप्त होता है, अनन्त फल प्राप्त होता है ।१७।

चतुर्थ वल्ली

स्वयभू, अर्थात् परमात्माने इन्द्रियोको बाहरकीतरफ जानेवाला बनाया है, इसीलिये मनुष्य बाहरकीतरफ देखता है, अन्दर–आत्मा–कीतरफ नहीं । अमृतको चाहनेवाला कोई धीर पुरुष ही होता है जो विषयोसे आंखें मूद लेता है और मुडकर आत्माको देखता है ।१।

भोले लोग बाहर फैलीहुई कामनाओके पीछे दौडते है, वे आगे-आगे जाती है, हाथ नही आती, ये पीछे-पीछे भागते है, पकड नहीं पाते । कामनाओको तो ये क्या पाते, मृत्युका जाल चारोतरफ फैला पडा है, उसीमें जा उलझते है । धीर लोग अमृतत्वको जानकर अध्रुवोमें, अर्थात् स्थिर वस्तुओमें, ध्रुवकी, अर्थात् स्थिरकी याचना नहीं करते ।२।

रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, मैथुन—इनकी स्वतन्त्र कोई सत्ता नहीं है । वह जो इन सबको चला रहा है, अगर इनमेंसे अपना हाथ खींचले, तो इनका तो ज्ञान भी नहीं हो सकता । उसीके कारण इनका ज्ञान होता है । वह न रहे, तो क्या कुछ भी बच रहता है ? अस्लमें वही 'वास्तविक'-सत्ता (Ultimate reality) है ।३।

य इम परम गुह्य श्रावयेद्ब्रह्मसंसदि ।
प्रयत श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पत इति । १७ ।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीर प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् । १ ।

पराच कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।
अथ धीरा अमृतत्व विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते । २ ।

येन रूप रस गन्ध शब्दान्स्पर्शाश्च मैथुनान् ।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते, एतद्वै तत् । ३ ।

सोनेके बाद जब मनुष्य जागता है, तो कैसे समझता है कि मैं वही हू, जो सोया था ? जागनेके बाद जब वह सोने लगता है, तो कैसे समझता है कि मैं सोकर उठनेपर वही-का-वही रहूगा? इन दोनो ओर-छोरको जैसे मनुष्य देख लेता है, इसीमे, आत्माकी महानताको, विभुताको पा लेता है । जो धीर आत्माकी महानताको जान जाता है वह शोकमें नहीं पडता क्योकि क्षुद्रता ही दु खका, शोकका कारण है, महानतामें दु ख नहीं, शोक नही ।४।

यह जीवात्मा मधुको चखनेवाला है । यह मिठासकीतरफ जाता है । विषयोकी मिठासके पीछे कटुता छिपी है, ब्रह्मकी मिठास उत्तरोत्तर मीठी होती जाती है । जीवात्माके इस स्वभावको जो निकटसे जान जाता है, वह अपने भूत और भविष्यत्का स्वामी हो जाता है, और फिर उसे आत्म-ग्लानि नहीं होती । अस्लमें यथार्थ-सत्ता इन्द्रियोकी नहीं, आत्माकी है ।५।

आत्माका वर्णन करनेके अनन्तर परमात्माका वर्णन करते है—ससारकी रचना 'तप'से हुई। 'ऋत च सत्य चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत्' —ऋत तथा सत्य भी पहले-पहल 'तप' से ही हुए । जब भी कोई कार्य करना होता है, तब 'तप'की आवश्यकता होती है। बिना 'तप' के—यू ही, आसानी से—कुछ नहीं होता । क्रियाका उग्र-रूप ही 'तप' है । सृष्टिकी जब रचना हुई, तब एक 'क्रिया' ही तो हुई । जैसा हमने अभी कहा, तीव्र-क्रियाका नाम ही 'तप' है, अत 'तप' सृष्टिकी रचनामें सबसे प्रथम था, परन्तु वह ब्रह्म तो 'तप'से भी पूर्व था । क्योकि उसीने तो 'क्रिया', अर्थात् 'तप' किया । 'तप'के बाद जब सृष्टि बनी, तब पहले वायवीय (Gaseous) अवस्था थी,

---

स्वप्नान्त जागरितान्त चोभा येनानुपश्यति ।
महान्त विभुमात्मान मत्वा धीरो न शोचति । ४ ।
य इम मध्वद वेद आत्मान जीवमन्तिकात् ।
ईशान भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते, एतद्वै तत् । ५ ।

उसमें जीवन-तत्त्व नही रह सकता था । उसके बाद आग्नेय (Ignitious) अवस्था आयी, उसमे भी जीवन-तत्त्व नही रह सकता था । तदनन्तर जलीय (Acqueous) अवस्था आई, उसमें जीवन-तत्त्व रह सकता था । 'तप' से 'जड' जगत् का—वायवीय तथा आग्नेय जगत्का—विकास हुआ । ब्रह्म 'तप' से भी पहले था । विकास होते-होते जब जल बना तब 'चेतन' जगत्के उत्पन्न होनेका समय आया, परन्तु वह ब्रह्म उस 'जल' से भी पूर्व था जिसमें जीवन-तत्त्व अपना विकास पा सकता था । अत वह 'तप' तथा 'जल' दोनोसे पूर्व था, वह जड-चेतन सबसे पहले था । वह पञ्चभूतोके साथ गुहामें घुसा बैठा है । वह कही दूर नही बैठा, यहीं हमारे सामने—जो-कुछ इन्द्रियोसे दीख पडता है वही उसकी गुफा है, उसीमें छिपा बैठा है, हमसे मानो आख-मिचौनी खेल रहा है, हमारी दौड़-धूपका मजा ले रहा है । इन पञ्च-भूतोकी उसने ओट लेरखी है, बैठा तो वह इन्हींके साथ है, यही उसकी गुफाए है—इस प्रकार जो देख लेता है, वह कह उठता है, अरे, वह तो यह बैठा है ।६।

ससारमें 'पुरुष' तथा 'स्त्री' ये दो तत्त्व है । पुरुष-रूपमें ब्रह्म का वर्णन करनेके बाद स्त्री-रूपमें उसका वर्णन करते है । वह देवतामयी ब्रह्म-शक्ति अदिति है, मातृ-तुल्य है । वह प्राणायामसे प्रकट होती है । प्राणायाम एकाग्रताका सबसे बडा साधन है । प्राणायामसे ही इन्द्रियोको मनके साथ, और मनको आत्माके साथ नियुक्त किया जा सकता है । बिना प्राणायामके इन्द्रिया दुष्ट घोडोकी तरह इधर-उधर भागने लगती है । प्राणायाम करते समय कोई व्यक्ति दुश्चिन्तन नहीं कर सकता । प्राणायाम 'मन'को 'आत्मा'के साथ बाधनेवाली रस्सी है । वह भगवती इन पञ्चमहाभूतोके साथ उन्हीको गुहा बनाकर छिपी बैठी है । उसने इनकी ओट लेरखी है, बैठी वह यहीं

य पूर्वं तपसो जातमद्भ्य पूर्वमजायत ।
गुहा प्रविश्य तिष्ठन्त यो भूतेभिर्व्यपश्यत, एतद्वै तत् । ६ ।

है, हमारे सामने ही, कहीं दूर नहीं, हमारे सामने बैठी हमसे आँख-मिचौनी खेल रही है। जो उसे भूतोंमें छिपा देखलेता है, वह कह उठता है, अरे वह तो यह रहा।७।

जैसे अरणियोंमें अग्नि होती है, दीखती नहीं, और उसे प्रकट करनेकेलिये उनका रगडना जरूरी है, जैसे गर्भिणीका गर्भ सुरक्षित होता है, वह दीखता नहीं परन्तु गर्भिणीका ध्यान सदा उसीकीतरफ लगा रहता है, इसी प्रकार जागरूक मनुष्य प्रतिदिन स्तुतिके योग्य ब्रह्माग्निको इन पञ्चमहाभूतोंकी रगडसे ही पैदा करते रहते हैं, और सदा उसीकीतरफ ध्यान लगाये रहते हैं। ऐसे लोग 'हविष्मान्' होते हैं। उनके पास जो-कुछ होता है उसे वे 'हवि' समझते हैं, जो-कुछ हाथमें होता है उसे 'हवि'की तरह छोडनेकेलिये हर समय तैयार रहते हैं, किसी चीजसे चिपटते नहीं। जैसे यज्ञाग्निमें सब-कुछ 'स्वाहा' कहकर डाल दिया जाता है, वैसे ब्रह्माग्निमें वे सब-कुछ समर्पित करनेको उद्यत रहते हैं। जिसका ध्यान करके वे ऐसा करते हैं वही 'ब्रह्म' है।८।

हमारे लिये सबसे महान् शक्ति सूर्य है। इसका उदय उसीसे होता है, इसका अन्त भी उसीमें हो जाता है। वही इसको पैदा करता है, वही इसे समाप्त कर देता है। सूर्यका प्रतिदिनका उदयास्त होना भी उसीके द्वारा होता है। सब देवताओंने उसीके चरणोंमें सिर झुकायाहुआ है—सब उसीके सामने अर्पित हैं। उससे बढकर कोई नहीं है। वही 'ब्रह्म' है।९।

या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत, एतद्वै तत् । ७ ।
अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभि ।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्नि, एतद्वै तत् । ८ ।
यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
तं देवा सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन, एतद्वै तत् । ९ ।

जो शक्ति यहां काम कर रही है, वही वहां भी काम कर रही है, जो वहां काम कर रही है, वही यहा भी काम कर रही है। ससारमें दूर-से-दूर कही भी चले जाओ सब जगह एक ही हाथकी छाप है, सब जगह उसीका सिक्का चल रहा है। जो व्यक्ति ससारकी इस एकताको नहीं समझता, जो यह समझता है कि संसारमें कहीं कोई शक्ति काम कर रही है, कही कोई—जो इस प्रकार नाना-भावकी कल्पना करता है—वह मृत्युके मुंहमें कदम रख देता है।१०।

मनकेद्वारा उस एक-तत्वकी प्रतीति होती है, इन्द्रियोद्वारा नहीं। इन्द्रियोमे जो 'नानात्व'—अनेकता—दिखाई देती है वह यथार्थ नही है। एकताका दर्शन ही जीवन है, अनेकताका दर्शन ही मृत्यु है। जो नानात्व ही देखता है, एकत्व नही देखता, वह मृत्युके मुहमें कदम रखदेता है (बृहदा० ४-४-१९)।११।

आत्माके मध्यमें परमात्मा बैठा है। कैसे ?—'अगुष्ठमात्र', अर्थात् अगूठेकी तरह! जैसे मुट्ठीमें चारोतरफ़से घिराहुआ अंगूठा। अथवा 'अंगुष्ठमात्र'—अर्थात्, अंगूठे जितना। आत्मामें सारा-का-सारा परमात्मा कैसे समा जायगा ? हम अपने आत्मामें परमात्माके जितने स्वरूपको जान पाते हैं वह इतना है मानो हमने उसका अगूठा पकड़ लिया। ठीक ऐसे जैसे बालक अपने पिताकी उगली पकड़कर समझता है कि उसने अपने पिताको—सम्पूर्ण पिताको—पकड़ रखा है। वही भूत और भविष्यत्का स्वामी है। उसे जानकर फिर मनुष्यको ग्लानि नहीं होती। ससारके तो हरेक पदार्थसे किसी-न-किसी समय ग्लानि हो ही जाती है। जिसके ज्ञानसे ग्लानि नही होती वही 'ब्रह्म' है।१२।

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। १०।
मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्यो स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति। ११।
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते, एतद्वै तत्। १२।

वही ब्रह्म सब जगह है, यहा भी, वहा भी—सब जगह वही है। जब सब जगह वही है, तो अगुष्ठ-मात्र अर्थात् थोडा-सा भी उसका ज्ञान सम्पूर्णका ही ज्ञान है। वह एक ज्योतिके समान है—ऐसी ज्योति जिसमें कहीं धूआ नही, विकार नहीं। वह भूत और भव्यका स्वामी है, वही आज है, वही कल है, वही सदा है। यही 'ब्रह्म' है।१३।

पर्वतकी ऊची चोटियोपर बरसाहुआ पानी जैसे पर्वतके भिन्न-भिन्न भागोमें नाले बनकर दौडने लगता है, एक ही पानी अनेक धाराओमें वह निकलता है, और लोग यह समझने लगते है कि ये जल एक नहीं अनेक है, इसीप्रकार इन्द्रियोके भिन्न-भिन्न धर्मोको देखकर मनुष्य समझने लगता है कि ससारमें एकता नहीं, अनेकता है, और उस अनेकताको पानेकेलिये उसके पीछे दौडने लगता है।१४।

जैसे शुद्ध जलको शुद्ध जलमें डाल दें, तो वह शुद्ध रहता है, अशुद्धमें डाल दें, तो अशुद्ध हो जाता है, इसीप्रकार शुद्ध आत्मा शुद्ध-स्वरूप परमात्माके साथ मिल जाय, तो शुद्ध-स्वरूप हो जाता है, अशुद्ध ससारमें मिल जाय, तो अशुद्ध-स्वरूप हो जाता है। हे गौतम ! आत्माकी ऐसी ही गति है।१५।

पञ्चमी वल्ली

जो अजन्मा साधु-पुरुष शरीरको एक ऐसी नगरी समझता है जिसमें दो आख, दो कान, दो नाक, एक मुख, एक तालु, एक नाभि, एक मल त्यागनेकी इन्द्रिय, और एक मूत्रेन्द्रिय—ये ग्यारह द्वार है, जिनसे विषयोकी तरफ़ बाहर ही नहीं, आत्माकी तरफ़ अन्दर भी

अङ्गुष्ठमात्र पुरुषो ज्योतिरिवाधूमक ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्व, एतद्वै तत् । १३ ।
यथोदक दुर्गे वृष्ट पर्वतेषु विधावति ।
एव धर्मान्पृथक् पश्यस्तानेवानुविधावति । १४ ।
यथोदक शुद्धे शुद्धमासिक्त तादृगेव भवति ।
एव मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम । १५ ।

जा सकते है, वह अपने अनुष्ठानसे इस ससारमें शोकमें नही पडता, और जब शरीर छोडता है तब शोकसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है। आत्माका यही रूप है ।१।

जीवात्मा 'हस' है, 'वसु' है, 'होता' है, 'अतिथि' है। 'हस' जिस प्रकार शुद्ध, पवित्र स्थानमें रहता है, वैसे हस-रूप जीव शुद्ध-ब्रह्ममें निवास करता है। 'वसु' जैसे अन्तरिक्षमें निवास करते है, वैसे वसु-रूप जीव हृदयके अन्तरिक्षमें निवास करता है। 'होता' जैसे वेदि के सामने बैठकर अग्निहोत्र करता है, वैसे होतृ-रूप जीव तीनो नाचिकेत-अग्नियोका चयन करता है। 'अतिथि' जैसे दुरोणको – आश्रमकी कुटियाको – अपना समझकर नही बैठ जाता, अतिथिके रूपमें रहता है और चल देता है, वैसे ही अतिथि-रूप जीव इस नर-देहको सदाके लिये अपना समझकर नही बैठ रहता। जो जीवात्मा अपनेको 'हस', 'वसु', 'होता' और 'अतिथि' समझकर जीवन बिताता है वह उत्तरोत्तर विकास करता जाता है। वह 'नर-देह'में वास करता है, नरसे अच्छे 'वर-देह' में वास करता है, उससे भी अच्छे 'ऋत-देह'में वास करता है, और 'ऋत-देह'से भी उत्कृष्ट देह 'व्योम-देह'में वास करता है। जीव-जन्तु जलमें उत्पन्न होते है, पृथिवीपर उत्पन्न होते है, अन्तरिक्षके जलमें उत्पन्न होते है, पर्वतोपर उत्पन्न होते है। जिस प्रकार जन्तुओ-में विकास-क्रम है, ऊचा, उससे ऊचा, और उससे भी ऊंचा—यह क्रम है, वैसे मनुष्योमें भी 'नर-देह', 'वर-देह', 'ऋत-देह' और 'व्योम-देह' यह विकास-क्रम है। यह विशाल नियम सम्पूर्ण विश्वमें काम कर रहा है ।२।

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतस ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते, एतद्वै तत् ।१।
हसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ।२।

(जीवनमे 'हस'की तरह रहनेका अभ्यास करनेवालेको कहा जा सकता है कि यह 'नर-देह' मे वास कर रहा है, इससे नीचा तो पशु-समान है। यह ब्रह्मचर्यकी अवस्था है। इसके बाद दूसरी अवस्था आती है जब मनुष्य 'वसु'की तरह जीवनमे वास करता है। वसु अन्तरिक्षके उस तारक-मडलको कहते है जिनमे प्राणियोका वास है। जो वसुकी तरह रहता है, वसता ही नही, वसाता भी है, दूसरोका भी ध्यान करता है, वह मानो नर-देहमे उत्तम शरीरमे वास करता है, और उसीको 'वर-देह' कहा है। यह 'गृहस्थ'की अवस्था है। तीसरी अवस्था 'होता' की आती है। इस अवस्थामे मनुष्य अपने जीवनको हविके समान समझने लगता है। प्रत्येक वस्तुको त्याग देता है, भगवान्के अर्पण कर देता है। यह 'ऋत-देह' है। 'ऋत', अर्थात् 'सत्य'। इस अवस्थामे वह समझ जाता है कि 'विषय' ऋत नही, 'ब्रह्म' ही ऋत है, सत्य है। यह 'वानप्रस्थ' की अवस्था है। अन्तमे वह ससारमे 'अतिथि' की तरह रहने लगता है। इस चौथी अवस्थामे वह 'व्योम-देह' कहाता है। 'व्योम', अर्थात् अन्तरिक्षके समान ऊचा और अपने पास कुछ न रखनेवाला। वह अत्यन्त ऊचा उठ जाता है। यह 'सन्यास'की अवस्था है। इस प्रकार जो आत्माको रथी और शरीरको रथ समझकर, और जीवनको आश्रमोकी यात्रा मानकर इस यात्राको निभाता है, वह 'ज्ञानात्मा'से 'महानात्मा' और 'महानात्मा' से 'शातात्मा' हो जाता है। उसीमे तीनो नाचिकेत-अग्निया प्रदीप्त होती है, और वही 'ब्रह्म-यज्ञ'के वास्तविक अर्थको समझता है।)

लोग समझते है कि जीवन प्राण ही है, परन्तु इस 'प्राण'को भी वही, अर्थात् आत्मा ही ऊपरकी तरफ, और 'अपान'को नीचेकी तरफ धकेलता है। इनके बीचमें वह सुदर जीवात्मा वर्तमान है। सब इद्रिया उसीकी उपासना करती है।३।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपान प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीन विश्वेदेवा उपासते । ३ ।

शरीरमें रहनेवाला 'देही' – जीवात्मा – जब सरकने लगे, देह-मेंसे जब निकलने लगे, तो शरीरमें क्या बच रहता है ? यही तो आत्मा है ।४।

शरीरमें 'प्राण' तथा 'अपान' दो शक्तियां हैं। प्राणका काम 'संचय' (Anabolism) तथा अपानका काम 'विचय' (Ketabolism) करना है। प्राण तथा अपानसे कोई नहीं जीता। किसी और ही शक्तिसे मनुष्य जीता है – ऐसी शक्ति जिसके ये दोनों आश्रित हैं, वही आत्मा है ।५।

हे नचिकेता ! मैं तुझे गुप्त, महान्, सनातन रहस्यको बतलाता हूं कि मरनेके बाद आत्माकी क्या गति होती है ।६।

जिसका जैसा 'कर्म' होता है, जिसका जैसा 'ज्ञान' होता है, उसके अनुसार कोई किसी 'जीव' योनिमें जाकर शरीर धारण कर लेता है, कोई 'स्थाणु'-योनिमें चला जाता है ।७।

'जीवात्मा'-संबंधी रहस्य बतलाकर यमाचार्य 'परमात्मा'के सम्बन्ध-में कहते हैं – सब सोये हुओंमें जो जागता है, और जो वस्तु जैसी होनी चाहिये उसे वैसा ही हर समय निर्माण कर रहा है, वही 'शुक्र' है, वही 'ब्रह्म' है, वही 'अमृत' कहाता है। सब लोक उसीमें आश्रित हैं। उससे कोई बढ़-चढ़कर नहीं है। बस यही ब्रह्म है ।८।

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते, एतद्वै तत् ।४।
न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ।५।
हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ।६।
योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ।७।
य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन, एतद्वै तत् ।८।

जैसे अग्नि प्रत्येक वस्तुके भीतर वर्तमान है परन्तु फिर भी उसने प्रत्येक रूपके अनुरूप अपना रूप बना लिया है, इसी प्रकार सब भूतोका अन्तरात्मा एक ही है जो भीतरसे और बाहरसे प्रत्येक रूपके अनुरूप हुआ-हुआ है ।९।

जैसे वायु प्रत्येक वस्तुके भीतर वर्तमान है परन्तु फिर भी उसने प्रत्येक रूपके अनुरूप अपना रूप बना लिया है, इसी प्रकार सब भूतोका अन्तरात्मा एक ही है जो भीतरसे और बाहरसे प्रत्येक रूपके अनुरूप हुआ-हुआ है ।१०।

सूर्य संसारकी आख है। हमारी आंखोके दोषोसे उसमें कोई लेप नहीं आता। ससारके सब भूतोकी अन्तरात्मा वही एक ब्रह्म है। अन्दर क्या, बाहर भी वही है। आखके दोषसे जैसे सूर्य निर्लेप रहता है, भूतोके दु खोसे वैसे ही ब्रह्म निर्लेप रहता है ।११।

ससार स्वच्छन्द नहीं, किसीके वशमें दीखता है। वही एक 'वशी' है, संसारको वश करनेवाला है। सब भूतोका अन्तरात्मा वही है। एक-रूपको अनेक-रूप बनानेवाला वही है। आत्माके भीतर उसका वास है, वह 'आत्मस्थ' है। आत्मामें बैठे हुए उस ब्रह्मको जो धीर पुरुष देख लेते है, उन्हें निरन्तर सुख प्राप्त होता है, दूसरो-को नहीं ।१२।

नित्योमें वही एकमात्र नित्य है, चेतनोमें वही एकमात्र चेतन है, अनेको में वही एक है, ससारकी कामनाए भी तो उसीकी रचना

अग्निर्यथैको भुवन प्रविष्टो रूप रूप प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूप रूप प्रतिरूपो बहिश्च । ९ ।
वायुर्यथैको भुवन प्रविष्टो रूप रूप प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सवभूतान्तरात्मा रूप रूप प्रतिरूपो बहिश्च । १० ।
सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषै ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदु खेन बाह्य । ११ ।
एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एक रूप बहुधा य करोति ।
तमात्मस्थ येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषा सुख शाश्वत नेतरेषाम् । १२ ।

है। उसका वास आत्माके भीतर है। उसे जो धीर पुरुष देख पाते हैं उन्हींको निरन्तर शांति प्राप्त होती है, दूसरोंको नहीं।१३।

वह ब्रह्म 'अनिर्देश्य' है, नही कहा जा सकता कि वह 'यह' रहा, परन्तु अगर कुछ कहा जा सकता है तो वही-कुछ कहा जा सकता है जो ऊपर कहा है। उसे हम कैसे जानें? वह कुछ-कुछ तो सभीको भासता है। हां, कभी-कभी उसका विशेष भास होने लगता है।१४।

हमें उसका भास क्या होगा? वह तो इतना भासमान है कि वहां सूर्यका प्रकाश फीका पड़ जाता है। वहां चन्द्र और तारे प्रकाश-हीन हो जाते हैं, विद्युत् भी उसके प्रकाशके सामने फीकी है, फिर इस अग्निका तो कहना ही क्या? उसीकी आभासे, उसीके प्रकाशसे सूर्य, चन्द्र, तारे, विद्युत् तथा अग्नि प्रकाश देते हैं, उसीके प्रकाश-से स्वयं प्रकाशित हो रहे हैं।१५।

षष्ठी वल्ली

यह मनुष्यका शरीर तो एक सनातन 'अश्वत्थ' है-- (अ=नहीं, श्व=कल) आज है, कल नही। यह उल्टा टंगा हुआ वृक्ष है। अगर मनुष्यको उल्टा लटका दिया जाय तो सिर की जटाएं जड़की तरह और हाथ-पैर वृक्षकी शाखाओंकी तरह फैल जाते हैं। इस शरीरमें क्यों रमता है, इस देहको तो पेडकी तरह जड समझ--वास्तविक-सत्ता यह नही, वह है। वही 'शुक्र' है, वही 'ब्रह्म' है, वही

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।१३।
तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा।१४।
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।१५।

'अमृत' कहाता है। सब लोक उसीमें आश्रित है। उससे बढकर कोई नहीं। यही ब्रह्म है।१।

यह संसार यूं ही नहीं आ टपका, कहींसे निकला है। इसमें गति दिखलाई देती है। शरीरमें जीवनकी गति, जगत्‌में भौतिक-गति। यह सब गति प्राणके कारण है। यह 'प्राण-शक्ति' न हो तो शरीर तथा जगत् दोनों जड हैं। प्राण भी स्वयं गति नहीं करता, उसे भी कोई गति देता है। इस प्राणके सिरपर भी कोई भयानक शक्ति मानो वज्र लेकर खड़ी है। इसप्रकार जो ब्रह्मको वज्र-रूप जानते हैं वे अमृत हो जाते हैं।२।

उसीके भयसे अग्नि तपती है, उसीके भयसे सूर्य तपता है, इन्द्र, वायु उसीके भयसे काम करते हैं। मृत्यु भी उसीके भयसे भागा फिरता है।३।

शरीरके छूट जानेसे पहले – इस जन्ममें – अगर उसे जान लिया, तो इस सृष्टिके बाद नये सिरेसे जब सृष्टि उत्पन्न होगी तभी जीवात्मा शरीर धारण करता है, पहले नहीं, अथवा 'सर्ग-लोक'–'स्वर्ग-लोक'–में शरीर धारण करता है, इसमें नहीं (केन २-५, बृहदा० ४-४-१४) ।४।

ब्रह्मके दर्शन 'आत्म-लोक'में, 'पितृ-लोक'में, 'गन्धर्व-लोक' और 'ब्रह्म-लोक'में होते हैं। अपने आत्मामें, अर्थात् 'आत्म-लोक'

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन, एतद्वै तत् ॥ १ ॥
यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २ ॥
भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ३ ॥
इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः ।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥

में उसके दर्शन ऐसे होते हैं जैसे दर्पणमें कोई प्रतिबिम्ब देखता है। पितृ-लोक अपने बडो-बूढो-बुजुर्गोका लोक है। 'पितृलोक'से, अर्थात् बडे-बूढोके सहारे उसके दर्शन ऐसे होते हैं जैसे कोई स्वप्नमें किसी वस्तुको देखता है। गन्धर्व-लोक ज्ञानियोका लोक है। 'गन्धर्व-लोक' में, अर्थात् ज्ञानी-पुरुषोके सहारे उसके दर्शन ऐसे होते हैं जैसे जलकी लहरोमें कोई चीज भिन्न-भिन्न प्रकारसे दीखती है। ब्रह्म-लोक ध्यानियोका लोक है। 'ब्रह्म-लोक'में, अर्थात् ध्यानी-पुरुषोकी सहायतासे ब्रह्मके दर्शन ऐसे होते हैं जैसे धूप और छाहको कोई अलग-अलग देख लेता है, वह जगत् और ब्रह्मको छाया और आतपकी तरह बिल्कुल स्पष्ट – साफ-साफ – देखने लगता है।५।

आत्मा उत्पन्न नहीं होता, इन्द्रिया आत्मासे पृथक् उत्पन्न हुई हैं। इन्द्रियोका उदय होता है, अस्त होता है, आत्माका नही। इस प्रकार जो इन्द्रियोको आत्मा नहीं समझता, इन्द्रियोको आत्मासे पृथक् समझता है, वह धीर पुरुष शोकाकुल नही होता।६।

इन्द्रियोसे मन उत्तम है, मनसे बुद्धि उत्तम है, बुद्धिसे महत्-तत्त्व उत्तम है, महत्-तत्त्वसे अव्यक्त, अर्थात् प्रकृति उत्तम है।७।

अव्यक्तसे पुरुष, अर्थात् 'ब्रह्म' उत्तम है, वह व्यापक है, अलिंग है। उसे जानकर यह जन्तु दुःखसे मुक्त हो जाता है, और अमृतत्व प्राप्त कर लेता है।८।

यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके। ५।
इन्द्रियाणा पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानाना मत्वा धीरो न शोचति। ६।
इन्द्रियेभ्य पर मनो मनस सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्। ७।
अव्यक्तात्तु पर पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
य ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्व च गच्छति। ८।

आखोसे देखनेके लिये उसका रूप ठहरता नहीं । आंख उसी-के रूपपर टिकना चाहती है, परन्तु टिकते ही जिसपर वह टिक रही होती है वह उसका रूप नहीं होता । आख उसपर टिकते-टिकते नही टिक पाती, हाथ उसे पकडते-पकडते नहीं पकड पाते । मनीषी लोग आखसे और हाथसे नही, हृदयसे और मनसे उसे पकड पाते है । जो यह बात जान जाते है वे अमृत हो जाते है ।९।

जब पाचो ज्ञानेन्द्रियां मनके साथ स्थिर हो जाती है, भागती नहीं फिरती, ठहर जाती है, और मन निश्चल बुद्धिके साथ आ मिलता है, उस अवस्थाको 'परम-गति' कहते है ।१०।

इन्द्रियोकी स्थिर धारणाको 'योग' कहते है । जिसकी इन्द्रियां स्थिर हो जाती है वह अप्रमत्त हो जाता है, प्रमादहीन हो जाता है—सावधान हो जाता है । योगका अभिप्राय है——'प्रभव' तथा 'अप्यय' । शुभ सस्कारोकी उत्पत्ति 'प्रभव' कहाता है, तथा अशुभ सस्कारों का नाश 'अप्यय' कहाता है ।११।

वह वाणीसे, मनसे, आखोसे नही पाया जा सकता । 'वह है'—इसके सिवा उसे कैसे पाया जा सकता है ?।१२।

'वह है' या 'नहीं है'—इन दोनोकी तात्त्विक-विवेचना करके 'वह है'——यह कहकर ही उसे पाया जाता है । जिसने 'अस्ति'—'वह

न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषी मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति । ९ ।
यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहु परमा गतिम् । १० ।
ता योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ । ११ ।
नैव वाचा न मनसा प्राप्तु शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथ तदुपलभ्यते । १२ ।

है'–इसप्रकार उसे प्राप्त कर लिया है, उसका तात्त्विक-विवेचन शुद्ध विवेचन है ।१३।

मनुष्यके हृदयमें जो कामनाए हैं वे जब छूट जाती हैं तब 'मर्त्य' 'अमृत' हो जाता है और यहीं, इस जन्ममें, ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है ।१४।

मनुष्यके हृदयमें जो गाठें हैं, वे जब टूट जाती हैं, तब 'मर्त्य' 'अमृत' हो जाता है, यह मरण-धर्मा अमर हो जाता है–यही शास्त्रोका उपदेश है ।१५।

हृदयकी एक-सौ-एक नाडिया हैं, उनमेंसे एक मूर्धा–सिर–की ओर निकलगई है। मृत्युके समय उस नाड़ीसे जो ऊपरको उत्क्रमण करता है वह अमृतत्वको प्राप्त करता है, बाकीकी सौ नाडिया साधारण व्यक्तियोके उत्क्रमणके समय काम आती हैं। ब्रह्म-निष्ठ व्यक्तिके प्राण मूर्धासे निकलते हैं, दूसरोके अन्य मार्गोसे। (प्रश्न ३-६,७, छा० ८, ६, बृहदा० ४-२-३) ।१६।

प्राणिमात्रके हृदयमें आत्मा है, उस आत्माके भीतर 'पुरुष'–ब्रह्म – छिपा बैठा है, वह आत्माका भी 'अन्तरात्मा' है। वह अगुष्ठमात्र है, मानो वह सिर्फ ब्रह्मका अगूठा है। जैसे अगूठेसे पकडकर किसीको बाहर खीचा जाता है, वैसे हमारी भीतरी गुफामें छिपकर बैठे ब्रह्मको खींचकर बाहर ले आये, ठीक ऐसे जैसे मूजमें दबी सींकको

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयो ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभाव प्रसीदति । १३ ।
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता ।
अथमर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते । १४ ।
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थय ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्धयनुशासनम् । १५ ।
शत चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासा मूर्धानमभिनि सृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति । १६ ।

खींचकर बाहर निकाला जाता है। वही 'शुक्र' है, वही 'अमृत' है, वही 'शुक्र' है, वही 'अमृत' है ।१७।

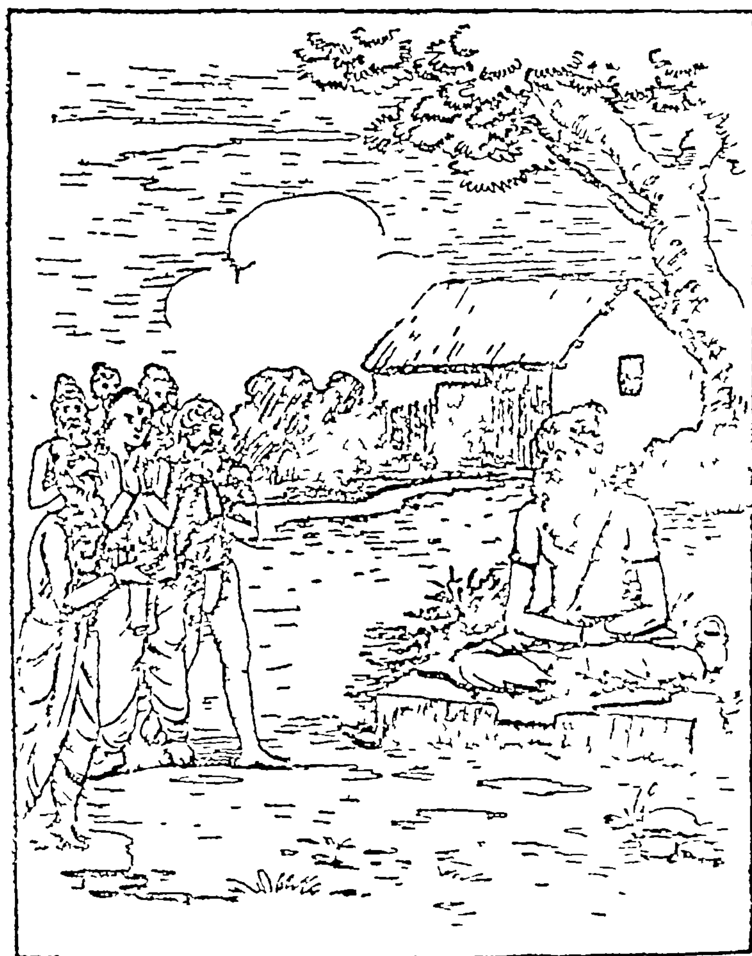
मृत्युने नचिकेताको जिस 'विद्या' तथा सम्पूर्ण 'योगविधि' का उपदेश दिया उसे पाकर नचिकेता ब्रह्म-युक्त तथा मल-विहीन हो गया, मृत्युसे रहित होगया। दूसरा भी जो कोई इस अध्यात्म-विद्या को जानेगा वह नचिकेताके सदृश ही हो जायगा ।१८।

अङ्गुष्ठमात्र पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनाना हृदये सन्निविष्ट ।
त स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीका धैर्येण ।
त विद्याच्छुक्रममृत त विद्याच्छुक्रममृतमिति । १७ ।
मृत्युप्रोक्ता नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेता योगविधि च कृत्स्नम् ।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभृद्विमृत्युरन्योऽप्येव यो विदव्यात्ममेव । १८ ।

प्रश्नोपनिषत्

प्रथम प्रश्न

भरद्वाजके गोत्रमें उत्पन्न सुकेशा, शिबिका पुत्र सत्यकाम, सौर्यका पुत्र गार्ग्य, अश्वलका पुत्र कौशल्य, भृगुगोत्रमें उत्पन्न वैदर्भि



६. जिज्ञासु ब्रह्मकी खोजमें पिप्पलादके पास पहुंचे

तथा कत्यका पुत्र कबन्धी—ये छ जिज्ञासु थे। उन्होने यह तो समझ लिया था कि ससारमें अन्तिम सत्ता ब्रह्म ही है—वे 'ब्रह्मपर' थे। इसीलिये उनकी ब्रह्ममें निष्ठा थी, उसे पानेकी उत्कठा थी—वे 'ब्रह्मनिष्ठ' भी थे। वे हाथमें समिधा लेकर ब्रह्मकी खोजमें प्रसिद्ध आचार्य पिप्पलादके पास पहुचे ।१।

उन्हें पिप्पलाद ऋषिने कहा—तुम लोग तपस्वी तो हो, परन्तु एक साल और 'तप', 'ब्रह्मचर्य' और 'श्रद्धा'-पूर्वक मेरे समीप निवास करो। उसके बाद अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार प्रश्न करना। अगर हम उन प्रश्नोका उत्तर जानते होगे तो सब-कुछ बतला देंगे ।२।

(शरीरकी साधनाका नाम 'तप' है, मनकी साधनाका नाम 'ब्रह्मचर्य' ह। मन या तो सकल्प-विकल्पमे उलझा रहता है, या इनममे निकलकर किसी सत्य-निश्चयपर पहुच जाता है। सकल्पविकल्पमेंसे, तर्ककी उलझनमेसे निकलकर सत्यकी खोजके लिये डट जानेको 'श्रद्धा' कहा जाता है। पिप्पलाद ऋषिने ब्रह्म-ज्ञानके लिये 'तप', 'ब्रह्मचर्य' तथा 'श्रद्धा'को आवश्यक बतलाया है। केन उपनिषद्मे ब्रह्म-ज्ञानकी प्रतिष्ठा 'तप', 'दम' तथा 'कर्म'—ये तीन कहे गये है। 'तप' शारीरिक-साधना है, 'दम' मानसिक-साधना है। 'ब्रह्मचर्य' भी तो मानसिक-साधनाका नाम है। इसलिये 'तप' और 'दम' कहना या 'तप' और 'ब्रह्मचर्य' कहना एक ही बात है। इसीलिये ब्रह्मचारीके लिये कहा गया है कि वह तप करे—

ॐ सुकेशा च भारद्वाज शैब्यश्च सत्यकाम सौर्यायणी च गार्ग्य कौशल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भि कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठा पर ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्त पिप्पलादमुपसन्ना । १ ।
तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सवत्सर सवत्स्यथ यथाकाम यथाकाम प्रश्नान्पृच्छत
यदि विज्ञास्याम सर्वं ह वो वक्ष्याम इति । २ ।

अर्थात् मानसिक-साधनाके साथ-साथ शारीरिक-साधना करे। 'ब्रह्म-ज्ञानी'के आधार 'तप', 'दम' और 'कर्म' हैं, 'ब्रह्मज्ञानके जिज्ञासु' के आधार 'तप', 'ब्रह्मचर्य' और 'श्रद्धा' हैं। 'जिज्ञासु' श्रद्धाको लेकर आता है, 'ब्रह्म-ज्ञानी'को श्रद्धाकी आवश्यकता नही रहती—वह 'कर्म' करने लगता है।)

साल बीत जानेपर कत्यका पुत्र कबन्धी ऋषिके समीप आया, और पूछा—"भगवन्! सृष्टिके प्रारभमे प्रजा—अर्थात् जो-कुछ भी उत्पन्न हुआ-हुआ है—किससे उत्पन्न होता है?" ।३।

ऋषिने उत्तर दिया—"चराचर जगत्के स्वामी प्रजापतिको जब प्रजाकी उत्पत्तिकी कामना हुई, तो उसने 'तप' किया। तप करनेके बाद उसने 'मिथुन'को—जोडेको—उत्पन्न किया। ये मिथुन हैं—'रयि' तथा 'प्राण'। उसने कहा कि मेरी भिन्न-भिन्न प्रकारकी प्रजाको 'रयि' तथा 'प्राण' ही उत्पन्न करेंगे ।४।

(ब्रह्मने जब सृष्टिकी रचना प्रारभ की तब पहले-पहल क्रिया (Activity) शुरू हुई होगी। यह 'क्रिया' जब अपने उग्र-रूप (Climax)पर आई, उस समयकी अवस्थाका नाम 'तप' है। इसीलिये कहा कि प्रजापतिने 'तप' किया। 'तप'के बाद 'मिथुन' हुआ। इसका क्या अर्थ है? सृष्टिमे अनेकता (Multiplicity) है। यह अनेकता 'द्वित्व' (Duality)के बिना नही आ सकती, यह द्वित्व ही 'मिथुन' है। अत सृष्टिका प्रारभ 'द्वित्व' अर्थात् 'मिथुन'से हुआ, और यह 'मिथुन' 'तप'के बाद हुआ। उस 'द्वित्व'मे जो दो शक्तिया है, वे है 'रयि' तथा 'प्राण'।

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ भग-
वन्कुतो ह वा इमा प्रजा प्रजायन्त इति । ३ ।
तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापति
स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते ।
रयिं च प्राण चेत्येतौ मे बहुधा प्रजा करिष्यत इति । ४ ।

'प्राण' धन-शक्ति (Positive) है, 'रयि' ऋण-शक्ति (Negative) है, 'प्राण' भोक्तृ-शक्ति है, 'रयि' भोग्य-शक्ति है, 'प्राण' कर्तृत्व-शक्ति (Active) है, 'रयि' कर्म-शक्ति (Passive) है।)

आदित्य प्राण-शक्ति है, चन्द्रमा रयि-शक्ति है। भोक्तृ-शक्तिको बढ़ानेवाला सूर्य है, भोग्य-शक्तिको बढ़ानेवाला चन्द्रमा है। सूर्य तथा चन्द्र प्राण तथा रयि है, और इन्हीके संयोगसे विविध प्रकारकी सृष्टि होती है। प्राण एक सूक्ष्म तत्त्व है, उसीका साक्षात् रूप सूर्य है, रयि भी एक सूक्ष्म तत्त्व है, उसीका साक्षात् रूप चन्द्र है। अथवा, यह जो-कुछ 'मूर्त' तथा 'अमूर्त' संसारमें दीखता है, यह-सब 'रयि' ही है, भोग्य ही है, इस-सबकी तुलनामें 'प्राण'तो वह 'ब्रह्म' ही है, क्योंकि ब्रह्म (प्राण) ही इस मूर्त-अमूर्त-रूप जगत् (रयि)का भोक्ता है, उसके लिये यह सब भोग्य है। ब्रह्म 'प्राण' है; मूर्त तथा अमूर्त जगत् 'रयि' है। जो-कुछ मूर्तिमान् है सब रयि है। इस दृष्टिसे सूर्य भी 'रयि' है। सूर्य संसारमें भोक्तृ-शक्ति उत्पन्न करता है, इसलिये 'प्राण' है, परन्तु ब्रह्मके सम्मुख सूर्य भी भोग्य हो जाता है, ब्रह्म उसका भोक्ता है, इस दृष्टिसे सूर्य जो 'प्राण' है ब्रह्मके लिये मानो 'रयि' हो जाता है।५।

('प्राण' तथा 'रयि' ये दोनो सापेक्षिक शब्द है। 'सूर्य' प्राण है, परन्तु इसे भी तो रचा गया है, रचनहारकी दृष्टिसे यह 'रयि' है। 'चन्द्र' रयि है, परन्तु यह भी तो अपनी सृष्टि रचता है, इस दृष्टिसे यह 'प्राण' है। प्रत्येक वस्तुमे 'प्राण' तथा 'रयि'का सम्मिश्रण है।)

सूर्य उदय होनेपर पूर्व दिशामें प्रवेश करता है। पूर्व दिशामें सूर्यकी जो 'प्राण-शक्ति' है उसे वह अपनी किरणोंमें डाल देता है। इसीप्रकार दक्षिण दिशामें, पश्चिम दिशामें, उत्तर दिशामें, नीचे-

---

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा
एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयि ।५।

ऊपर, इन दिशाओंके बीचकी दिशाओंमें—अपनी जिस 'प्राण-शक्ति'-से सूर्य सब-कुछ प्रकाशित करता है उस सारी प्राण-शक्तिको वह अपनी किरणोंमें डाल देता है। सूर्य अपनी प्राण-शक्तिको किरणोंमें डाल देता है, और किरणें विश्वके कोने-कोनेमें पहुंचकर प्राण-शक्तिका सर्वत्र वितरण करती हैं।६।

उदय होनेवाला सूर्य एक अग्नि है, परन्तु यह अग्नि 'प्राण'-शक्ति है। यह प्राण-शक्ति सम्पूर्ण विश्वको अपने-अपने काममें चलनेकी प्रेरणा देती है, यह प्राण-शक्ति विश्वरूप है, सम्पूर्ण विश्वका रूप हो रही है, इस प्राण-शक्तिसे ही विश्वका रूप बना हुआ है। ऋचाओंने भी ऐसा ही कहा है।७।

सूर्य 'विश्वरूप' है — संसारमें जो रूप है सूर्यकी प्राण-प्रद किरणोंके ही कारण है ; वह 'हरिण' है—किरणोंवाला है , 'जात-वेदस्' है—प्रत्येक उत्पन्न हुए पदार्थमें विद्यमान है क्योंकि उसीकी प्राणदातृ किरणोंसे सब बना है , 'परायण' है—प्राणियोंका परम आश्रय है ; एकमात्र ज्योति है , तप रहा है , सहस्र रश्मियोंवाला है , सैकड़ों प्रकारसे वर्तमान है—उसीसे ईंट पकती है, उसीसे अंकुर फूटता है, पौदा जमता है, अनाज तथा फल पकता है ; सूर्य प्रजाओंका प्राण बनकर उदय होता है।८।

सूर्यद्वारा ही संवत्सरका, कालका विभाग होता है। यह काल मानो प्रजापति है। काल ही में तो सब जीते-मरते हैं। संवत्सरके दो भाग हैं। छः मासतक सूर्य दक्षिण दिशाकी तरफ़ जाता है, इस

अथादित्य उदयन्यत्प्राची दिश प्रविशति तेन प्राच्यान्प्राणान्रश्मिषु संनिधत्ते यद्दक्षिणा यत्प्रतीची यदुदीची यदधो यदूर्ध्व यदन्तरा दिशो यत्सर्व प्रकाशयति तेन सर्वान्प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते। ६।
स एष वैश्वानरो विश्वरूप प्राणोऽग्निरुदयते। तदेतदृचाऽभ्युक्तम्। ७।
विश्वरूप हरिण जातवेदस परायण ज्योतिरेक तपन्तम्।
सहस्ररश्मि शतधा वर्तमान प्राण प्रजानामुदयत्येष सूर्य। ८।

समयको 'दक्षिणायन' कहते हैं, छ मासतक वह उत्तर दिशाकी तरफ जाता है, इस समयको 'उत्तरायण' कहते हैं। जो लोग 'इष्टा-पूर्त' (यज्ञ-यागादि 'इष्ट' है, कूआ-बावडी-अनाथालयादि बनवाना 'आपूर्त' है) को ही अपना कृत्य या लक्ष्य समझते है, यह सब-कुछ करके जो फल-लाभकी इच्छा रखते हैं, वे चन्द्र-लोकको जीत लेते हैं, भोग्य-पदार्थोंकी उनके पास बहुतायत होती है क्योंकि चन्द्र भोग्य-पदार्थोंका प्रतिनिधि है। इसप्रकार ससारके भोगोमें चित्त रखनेवाले बार-बार जन्म-मरणके चक्रमें चक्कर लगाते है। उनकी पुत्र-पौत्रोंकेलिये इच्छा बनी रहती है। उनका मार्ग 'दक्षिणायन' मार्ग है, इसे 'रयि-मार्ग' भी कह सकते हैं, यह 'पितृयाण' मार्ग है। सूर्य जब दक्षिण दिशामें जाता है तब मनुष्यमें भोगकी प्रवृत्तिकी भावना प्रबल हो जाती है, उस समय ससारमें बादल उमडने लगते हैं, अन्धेरा छा जाता है, वर्षा होने लगती है। परन्तु जब सूर्य उत्तर दिशाकी तरफ जाता है तब मनुष्यमें त्यागकी, निवृत्तिकी भावना प्रबल हो जाती है, यह 'देवयान' मार्ग है। उस समय आकाश स्वच्छ हो जाता है, सूर्य-का प्रकाश चारोतरफ चमकने लगता है। दक्षिणायन तथा उत्त-रायण तो छ-छ मास रहते ही है, परन्तु अपने हृदयमें उत्तरायण-को हर समय बनाये रखना ही मनुष्यका लक्ष्य है। जो इसप्रकार नहीं कर सकते उनके जीवनमें दक्षिणायनकी अवस्था छा जाती है, वे रयि-मार्गपर, प्रवृत्ति-मार्गपर चल देते हैं, उनके हृदयमें घर-गृहस्थी बसाकर, पुत्र-पौत्र उत्पन्न करनेकी इच्छा प्रबल होती है, उनका मार्ग 'पितृयाण' अर्थात् पिता-पितामह बननेका मार्ग है।९।

जो दक्षिणायनको छोडकर उत्तरायण-मार्गसे चलते है, जो प्रवृत्ति-मार्गको छोडकर निवृत्ति-मार्गका आश्रय लेते है, वे 'तप',

---

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिण चोत्तर च।
तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव
लोकमभिजयन्ते। त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेत ऋषय
प्रजाकामा दक्षिण प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्य पितृयाण। ९।

'ब्रह्मचर्य', 'श्रद्धा' और 'विद्या' के सहारे आत्माको ढूढ लेते है । जैसे 'इष्टापूर्त'के पीछे दौडनेवाले 'चन्द्र-लोक'को जीत लेते है, वैसे 'आत्मा'को ढूढनेवाले 'आदित्य-लोक'को जीत लेते है । चन्द्र-लोक रयि-प्रधान है, आदित्य-लोक प्राण-प्रधान है । चन्द्र-लोक दक्षिणायन (Rightists)-मार्ग है , आदित्य-लोक उत्तरायण-(Leftists)-मार्ग है । चन्द्र-लोकका जीवन सकाम-जीवन है, प्रेय-मार्ग है; आदित्य-लोकका जीवन निष्काम-जीवन है, श्रेय-मार्ग है । आदित्य-लोक, उत्तरायण या आत्माको ढूढनेका मार्ग ही वह मार्ग है जिधर प्राण-शक्ति मनुष्यको खीचती है, चाहे वह उधर चले चाहे न चले, यह अमृत-मार्ग है, अभय-मार्ग है, यही परम-मार्ग है, अन्य मार्ग भटकानेवाले है । इस सीधे रास्तेपर जो चल देता है, वह लौटकर नहीं आता, अन्य मार्गोंपर चलनेवाले भटक जाते है अत लौट-लौटकर इसी मार्गपर फिर-फिर आते है, जो भटक जायगा वही तो लौटेगा । यह मार्ग 'निरोध-मार्ग' है, इसपर चलनेवाला आगे चलकर रुक जाता है, उसे फिर चलनेकी जरूरत नहीं रहती । ठीक मार्गपर चलनेवालेका ही चलना रुक सकता है, जो ठीक मार्ग-पर नही चला वह तो चलता ही रहेगा, उसके चलनेका 'निरोध' कभी नही होगा क्योकि वह लक्ष्यपर कभी नही पहुचेगा । सूर्य अथवा सवत्सर प्रजापति है, उसके विषयमें किसीने एक श्लोक कहा है वह यह है—।१०।

सवत्सर (सूर्य) एक पितर है । पाच ऋतु उसके पाच पाव है, बारह मास बारह आकृतिया है, द्यु-लोकका परला आधा हिस्सा ही इसकी पुरी है नगरी है—वहा वह शयन कर रहा है । वह 'विचक्षण'—सबको ऊपरसे देखनेवाला पितर—सात चक्रोवाले, छ अरोवाले रथपर

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मान-मन्विष्यादित्यमभिजयन्ते एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभय-मेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः । १० ।

बैठा है – ऐसा ये, वे और अन्य लोग कहते हैं । रथके सात चक्र सूर्यकी सात रंगोवाली किरणें हैं । जैसे एक-एक चक्रमें अनेक अरे होते हैं वैसे एक-एक किरणमें छ अरे कहे गये हैं, किरणके ये छ अरे एक-एक किरणकी छ-छ सहायक किरणें हैं ।११।

प्रजापतिने सृष्टि उत्पन्न की और 'प्राण' तथा 'रयि'को उत्पन्न किया । प्रजापति कोई व्यक्ति-विशेष नहीं है । जहा-जहां प्रजोत्पत्ति है वहा-वहा प्रजापतिका ही रूप है, और वहा-वहा 'प्राण' तथा 'रयि' है । सवत्सर (सूर्य) प्रजापति है, मास भी प्रजापति है क्योकि सवत्सर तथा मास दोनोमें प्रजाकी उत्पत्ति होती है । मासमें कृष्ण-पक्ष है, शुक्ल-पक्ष है । कृष्ण-पक्ष 'रयि' है, शुक्ल-पक्ष 'प्राण' है । इसीलिये ऋषिलोग शुक्ल-पक्षमें ही यज्ञ-यागादि करते हैं, क्योकि शुक्ल-पक्ष 'प्राण'का प्रतिनिधि है, दूसरे लोगोके काम कृष्ण-पक्षमें होते हैं जो 'रयि'का प्रतिनिधि है । 'प्राण'का उपासक अपने जीवनमें हर समय शुक्ल-पक्ष बनाये रखता है , 'रयि'का उपासक हर समय कृष्ण-पक्षमें रहता है ।१२।

दिन-रात भी प्रजापतिके ही रूप हैं इसलिये इसमें भी 'प्राण' तथा 'रयि' है । दिन 'प्राण' है, रात 'रयि' है । दिनमें जो रति करते हैं उनके प्राण सूख जाते है, रातमें जो रति करते हैं वे मानो ब्रह्मचर्य-पूर्वक ही रहते हैं क्योकि रात्रि 'रयि' है, और रति तो 'रयि' है ही– रयिके रयिके साथ मेलसे हानि नही होती ।१३।

पञ्चपाद पितर द्वादशाकृति दिव आहु परे अर्धे पुरीषिणम् ।
अथेमे अन्य उ परे विचक्षण सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति । ११ ।
मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयि ।
शुक्ल प्राणस्तस्मादेते ऋषय शुक्ल इष्ट कुर्वन्तीतर इतरस्मिन् । १२ ।
अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव
रयि प्राण वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या सयुज्यन्ते
ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या सयुज्यन्ते । १३ ।

अन्न भी प्रजापतिका ही रूप है। अन्नसे ही वीर्य उत्पन्न होता है। उसीसे प्रजा उत्पन्न होती है ।१४।

जो प्रजापति-व्रत करते हैं वे पुत्र-पुत्री अर्थात् सन्तानोत्पत्ति करते हैं। वे दक्षिणायन, रयि-मार्ग, पितृयाण, प्रवृत्ति-मार्गके पथिक हैं। ब्रह्म-लोक तो उनका है जो 'तप', 'ब्रह्मचर्य' तथा 'सत्य'मे निष्ठ हैं। वे उत्तरायण, प्राण-मार्ग, देवयान, निवृत्ति-मार्गके पथिक हैं ।१५।

शुद्ध, निर्मल ब्रह्म-लोक तो उनका है जिनमें कुटिलता नही, अनृत नही, माया नहीं ।१६।

द्वितीय प्रश्न

कात्यके पुत्र कबन्धीके प्रश्नके बाद भृगुगोत्रमें उत्पन्न वैदर्भि पिप्पलाद ऋषिसे पूछने लगा—"भगवन् ! प्रजा किससे 'उत्पन्न' होती है, इस प्रश्नका तो आपने उत्तर दे दिया। अब कृपा करके यह बतलाइये कि उत्पन्न होनेके बाद इस प्रजाको कौन देव 'धारण' करते हैं, कौन इस प्रजाको 'प्रकाशित' करते हैं, इन देवोमें कौन सबसे मुख्य है ? सृष्टिका 'धारण' किस शक्तिसे है, किस शक्तिके कारण यह सृष्टि टिकी हुई है ? सृष्टिका 'प्रकाशन' किस शक्तिसे है, किस शक्तिके कारण यह सृष्टि अपने वर्तमान विकसित स्वरूपमें पहुची है ? अगर इसप्रकारकी अनेक शक्तियां हैं तो उनमें मुख्य कौन-सी है ?" ।१।

पिप्पलाद ऋषिने उत्तर दिया—सृष्टि दो प्रकारकी है—जड और चेतन। इन दोनोको 'वाण' कहा जाता है। 'वाण'का अर्थ है, 'वा न अन' अर्थात् जिसका जीवन निश्चित न हो, जो है, और न भी

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ।१४।
तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते।
तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ।१५।
तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ।१६।
अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ भगवन्कत्येव देवाः प्रजां विधा-
रयन्ते, कतर एतत्प्रकाशयन्ते कः पुनरेषां वरिष्ठ इति ।१।

रहे। संस्कृतमें 'अन'का अर्थ है 'प्राण', 'वा'का अर्थ है—'शायद'। इस वाण-रूप जड-चेतन सृष्टिको कोई इसप्रकार धारण करता है जैसे छप्परको नीचे गिरनेसे एक वल्ली रोके रहती है, अपने ऊपर टिकाये रखती है। 'ब्रह्माड'के जड-जगत्के विषयमें आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी एक-दूसरेसे झगडने लगे और कहने लगे कि हम इसका धारण कर रहे है, 'पिड'के चेतन-जगत्के विषयमें वाणी, मन, चक्षु तथा श्रोत्र झगडने लगे, और जोर-जोरसे कहने लगे कि हम इसका धारण कर रहे है।२।

इन्हें झगडते देखकर सर्व-श्रेष्ठ 'प्राण'ने कहा—मूर्खतामें मत पडो। मै अपनेको पाच भागोमें विभक्त करके 'वाण'रूप जडचेतन-जगत्को जैसे छप्परको वल्ली धारण करती है वैसे धारण कर रहा हू (केन ३, बृहदा० १-३, ३-१)।३।

'ब्रह्माड'के जड-जगत्के पृथिवी-जल आदि पाचो महाभूतोने और 'पिड'के चेतन-जगत्की पाचो इन्द्रियोने 'प्राण'की इस बातमें अश्रद्धा प्रकट की, माननेसे हिचकिचाहट दिखलाई। प्राण भी अपना अभिमान रोक न सका। वह उत्क्रमण करने ही लगा, निकलने ही लगा कि दूसरे सब भी निकलते नजर आने लगे, वह ठहर गया तो दूसरे भी सब ठहर गये। जैसे शहदकी मक्खियोकी रानी-मक्खी (Queen bee)के उड जानेपर सब मक्खिया उड जाती है, उसके बैठ जानेपर सब बैठ जाती है, इसीप्रकार 'ब्रह्माड'के पाचो महाभूत तथा 'पिड'की पाचो इद्रिया प्रीति-पूर्वक प्राणकी स्तुति करने लगी।४।

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निराप पृथिवी वाड्मनश्चक्षु श्रोत्र च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्वाणमवष्टभ्य विधारयाम।२।
तान्वरिष्ठ प्राण उवाच, मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मान प्रविभज्यैतद्वाणमवष्टभ्य विधारयामीति। तेऽश्रद्दधाना बभूवु।३।
सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्त सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एव वाड्मनश्चक्षु श्रोत्र च ते प्रीता प्राण स्तुन्वन्ति।४।

प्राण ही अग्निके रूपमें ताप दे रहा है, प्राण ही सूर्यके रूपमें प्रकाश दे रहा है, प्राण ही बादलके रूपमें जल बरसा रहा है, प्राण ही धनके रूपमें दान दे रहा है, प्राण ही वायुके रूपमें जीवन दे रहा है, प्राण ही पृथिवीके रूपमें आश्रय दे रहा है, प्राण ही रयिके रूपमें भोग्य-जगत्को उत्पन्न कर रहा है। संसारमें जो मरण-धर्मा 'सत्-असत्' है, जो अमरण-धर्मा 'अमृत' है—सब प्राण है।५।

(इस दृष्टिसे 'प्राण' ही के सहारे 'रयि' टिकी हुई है। रयि-में जो भोग्य-शक्ति है वह प्राणद्वारा ही निहित है। भोग्य न हो, तो भोक्ता हो सकता है, भोक्ता न हो, तो भोग्य नहीं हो सकता, 'रयि' न हो, तो 'प्राण' रह सकता है, 'प्राण' न हो, तो रयि नहीं रह सकती। भोक्ताकी ही यथार्थ-सत्ता है, भोग्यकी नहीं। प्रथम प्रश्नमें 'प्राण' तथा 'रयि' की स्थापना करनेके बाद इस प्रश्नमें ऋषि कहते हैं कि इन दोनोंमें मुख्यता 'रयि' की नहीं, 'प्राण' की, अर्थात् भोक्ताकी है।)

रथके चक्रकी नाभिमें जैसे अरे लगे रहते हैं, वैसे प्राणमें सब स्थित हैं। ऋक्, यजु, साम—अर्थात् संपूर्ण ज्ञान-काण्ड एवं यज्ञ—अर्थात् संपूर्ण 'कर्मकाण्ड' प्राणकी साधनाके लिये ही है। संसारको थामनेवाली भौतिक-शक्ति 'क्षत्र' है, आत्मिक-शक्ति 'ब्रह्म' है। ये दोनों भी प्राण-शक्तिपर ही आश्रित हैं।६।

हे प्राण! तू प्रजापतिका रूप है। गर्भमें तू ही विचरण करता है, उत्पन्न होनेपर तू ही उत्पन्न होता है। हे प्राण! संपूर्ण प्रजाएं उपहार ला-लाकर तेरे ही चरणोंमें रखती हैं। तू ही अपनी भिन्न-भिन्न प्राण-शक्तियोंके द्वारा जड़-चेतन-जगत्को थामे हुए है।७।

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष
वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥५॥
अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥६॥
प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे।
तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥७॥

हे प्राण ! 'देवो' (गुणोमे बडो)में तू अग्निसे भी अधिक दिव्य-गुणोवाला है ; 'पितरो' (आयुसे बडो)में किसी पिताके सन्तान उत्पन्न होनेपर उसे जो पहला उल्लास होता है वह तू ही है, अथर्वांगिरस् 'ऋषियो' (गुण तथा आयु दोनोसे बडो)का जो सत्य-चरित है वह भी तू ही है ।८।

हे प्राण ! अपने तेजसे तू ही 'इन्द्र' है , अपने रक्षणसे तू ही 'रुद्र' है ; तू ही ससारकी ज्योतियोके स्वामी 'सूर्य'के रूपमें अन्तरिक्षमें विचरण कर रहा है ।९।

हे प्राण ! जब तू वर्षा करता है तब आनन्दसे विभोर तेरी प्रजाएं सब-तरफ खडी मन-ही-मन कह उठती है, अब भरपूर अन्न होगा ।१०।

हे प्राण ! नीच-से-नीच पुरुष—'व्रात्य'—तेरा ही रूप है, उच्च-से-उच्च एकमात्र 'ऋषि' भी तेरा ही रूप है , तू ससारका 'अत्ता' है, भोक्ता है, हम तेरे 'आद्य'को, भोग्यको पहुचानेवाले है—तू भोक्ता और हम भोग्य है , तू विश्वका पति है , प्राण-रूप दीखनेवाली वायुका भी तू ही पिता है ।११।

हे प्राण ! तेरा जो रूप वाणीमें जाकर ठहरा हुआ है, जो श्रोत्र और जो चक्षुमें है, तेरा जो रूप मनमें फैल रहा है, उसे कल्याणकारी बना, उत्क्रमण मत कर—मेरी प्राण-शक्तिका किसी अगमें ह्रास न हो ।१२।

देवानामसि वह्नितम पितृणा प्रथमा स्वधा ।
ऋषीणा चरित सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि । ८ ।
इन्द्रस्त्व प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता ।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्व ज्योतिषा पति । ९ ।
यदा त्वमभिवर्षस्यथेमा प्राण ते प्रजा ।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्न भविष्यतीति । १० ।
व्रात्यस्त्व प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पति ।
वयमाद्यस्य दातार पिता त्व मातरिश्वन । ११ ।
या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि ।
या च मनसि सतता शिवा ता कुरु मोत्क्रमी । १२ ।

पृथिवी, द्यु तथा अन्तरिक्ष — इन तीनों लोकोंमें जो-कुछ भी स्थित है, सब प्राणके ही वसमें है। हे प्राण ! जैसे माता पुत्रकी रक्षा करती है, ऐसे ही तू हमारी रक्षा कर। हमें 'श्री' — भौतिक-ऐश्वर्य — तथा 'प्रज्ञा' — मानसिक तथा आत्मिक-ऐश्वर्य — का प्रदान कर।१३।

तृतीय प्रश्न

द्वितीय प्रश्नमें यह बताया कि प्रजा, अर्थात् जो-कुछ उत्पन्न हुआ है, उसे 'रयि' नहीं, 'प्राण' धारण करता है। यह सुननेके बाद अश्वलका पुत्र कौशल्य पिप्पलाद ऋषिसे पूछने लगा—"भगवन् ! यह 'प्राण' जो सब उत्पन्न हुए पदार्थोंको धारण करता है, स्वयं कहांसे उत्पन्न होता है ? इस शरीरमें यह किस प्रकार आता है ? अपने भिन्न-भिन्न विभाग करके शरीरमें किस प्रकार स्थित है ? किस प्रकार यह शरीरमेंसे निकलता है ? बाह्य-संसारको यह प्राण किस प्रकार धारण करता है, और आत्माको इस शरीरमें यह किस प्रकार धारण करता है ?"।१।

ऋषिने उत्तर दिया—बड़े प्रश्न पूछ डाले तूने, खैर, तू ब्रह्मिष्ठ है, इसलिये तेरे प्रश्नोंका उत्तर देता हूं।२।

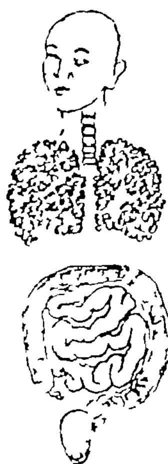
जिस प्राणके विषयमें तूने पूछा उसकी उत्पत्ति 'आत्मा'से होती है। जैसे पुरुषके साथ छाया लगी है इसी प्रकार 'आत्मा'-के साथ 'प्राण' लगा है। पुरुषसे छायाकी उत्पत्ति है, आत्मासे प्राणकी उत्पत्ति है। मनके कियेसे वह इस शरीरमें आता है। मनकी

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् ।
मातेव पुत्रान्रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति ।१३।
अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ । भगवन्कुत एष प्राणो
जायते कथमायात्यस्मिञ्छरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं
प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ।१।
तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ।२।

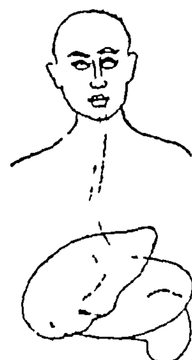
वासनाए ही रस्सी बनकर आत्माको शरीरमें खींच लाती है, आत्मा शरीरमें आया नही कि प्राण चलने लगा ।३।

जैसे सम्राट् अपने अधीन कर्मचारियोंको अपने-अपने काममें नियुक्त करता है, किसीको इस तथा किसीको उस ग्राममें अधिष्ठाता बनाता है, इसी प्रकार यह प्राण अन्य प्राणोंको पृथक्-पृथक् अपने-अपने काममें नियुक्त करता है ।४।

गुदा तथा उपस्थ भागमें 'अपान'–'अप + अन'–नीचेकी तरफ जीवन–(Alimentary system), चक्षु-श्रोत्र-मुख-नासिकामें स्वयं 'प्राण'–'प्र + अन'–(Respiratory system); शरीरके मध्य-भागमें 'समान'–'सम + अन'–(Digestive system) प्रतिष्ठित होता है । समान द्वारा ही शरीरमें आहुतिके रूपमें पडा हुआ अन्न सम करके – एक-रस बनाकर – सब जगह पहुचाया जाता है जिससे शरीरमें सात ज्योतिया जग उठती हैं । दो आख, दो नाक,



प्राण तथा अपान



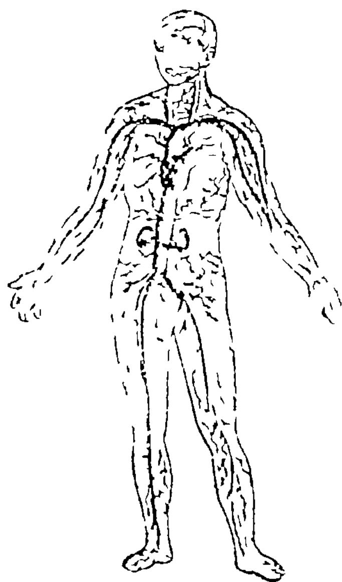
समान

आत्मन एष प्राणो जायते । यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे । ३ ।

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते एतान्ग्रामानेतान्ग्रामान-धितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरा प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते । ४ ।

दो कान तथा एक मुख – ये सात शरीरकी ज्योतियां हैं जिन्हें समान-द्वारा रस मिलता है ।५।

आत्माका निवास हृदयमें है। इस हृदयके साथ मुख्य-मुख्य १०१ नाडियां हैं। इनमेंसे एक-एकसे सौ-सौ शाखाएं फूटी हैं। उन शाखाओं-से भी एक-एकसे बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखाएं फूटी हैं। हृदयसे लेकर इस सम्पूर्ण 'रक्त-संचारिणी-संस्थान' (Circulatory system) में 'व्यान'–'वि+अन'–विचरता है (कठ ६-१६, छान्दोग्य ८-६, बृहदा० ४-२-३) ।६।



व्यान



उदान

हृदयसे एक नाडी (Carotid artery) ऊर्ध्व-देशको, मस्तिष्कको जाती है। उसमें 'उदान'–'उद+अन'–ऊपर या नीचेको

पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ।५।
हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ।६।

तरफ जीवन–रहता है। पुण्य कार्य करनेसे हृदयमें बैठेहुए आत्माको उदान 'पुण्य-लोक'में लेजाता है, पाप-कर्म करनेसे आत्माको उदान 'पाप-लोक'में लेजाता है, दोनो प्रकारके कर्म करनेसे आत्माको उदान 'मनुष्य-लोक'में लेजाता है (तैत्तिरीय १-६, ऐतरेय १-३-१२) ।७।

'पिंड'में प्राणापान आदिका वर्णन करनेके अनन्तर अब 'ब्रह्मांड'में प्राणापान आदिका वर्णन करते हैं। बाह्य-जगत्में प्राण ही आदित्य-रूप होकर उदय होता है। आदित्यकी प्राण-शक्ति ही चक्षुकी प्राण-शक्तिको अनुगृहीत करती है। चक्षुका प्राण पिंडका प्राण है, आदित्यका प्राण ब्रह्मांडका प्राण है। चक्षु इस पिंडका सूर्य है, सूर्य इस ब्रह्मांडका चक्षु है–दोनोमें तादात्म्य है। जैसे सूर्य ऊपर है, पृथिवी नीचे है, वैसे प्राण ऊपर और अपान नीचे है। सूर्यके साथ 'प्राण' का सम्बन्ध है, पृथिवीके साथ 'अपान' का। पृथिवीमें जो देवता है वह पुरुषमें अपान है। पृथिवीका देवता कौन है ? जो इसे नीचेकी तरफ खींचता है, वही तो इसका देवता है, उसीसे तो पृथिवी टिकी हुई है, नहीं तो सूर्यके खिंचावसे उसीसे जा टकराती। बाह्य-जगत्में अपान ही गुरुत्व-रूप होकर स्थितिका कारण है। पृथिवीकी अपान-शक्ति ही शरीरकी अपान-शक्तिकी प्रतिनिधि है। सूर्य तथा पृथिवी-के बीच जो अन्तर है, इन दोनोके बीच जो आकाश है, वही समान है। वायु व्यान है।८।

शरीरमें जैसे उदान है वैसे बाह्य-जगत्में तेज है। पिंड तथा ब्रह्मांडके पांचो प्राणोका वर्णन करनेके बाद फिर पिंडकी तरफ आते

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति
पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् । ७ ।
आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं
प्राणमनुगृह्णानः । पृथिव्यां या देवता सैषा
पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः । ८ ।

हुए ऋषि कहते हैं कि उदानद्वारा आत्मा शरीरसे निकलता है। जब-तक शरीरमें तेज रहता है तबतक आत्मा उदानकी सहायतासे शरीरमें ही रहता है। जब शरीरका तेज शांत हो जाता है तब इन्द्रियां बाहर फिरना छोडकर मनमें जा टिकती हैं और मनुष्य पुनर्जन्मकी तय्यारी करने लगता है। शरीरका 'उदान' बाह्य-जगत्के 'तेज'का प्रतिनिधि है। जो प्राण-शक्ति शरीरमें उदानका काम करती है, वही बाह्य-जगत्में तेजका काम करती है। जैसे बाह्य-जगत्में जब तेज अस्त होने लगता है तब सारी सृष्टि मानो मरकर नये दिनकी तय्यारी करने लगती है, वैसे शरीरका तेज जब शांत हो जाता है तब उदानकी सहायतासे आत्मा पुण्य-कर्मोंके कारण पुण्य-लोकमें, पाप-कर्मोंके कारण पाप-लोकमें, उभय-कर्मोंके कारण मनुष्य-लोकमें जाता है।९।

मृत्युके समय जिसप्रकारका 'चित्त' होता है, उसीप्रकारका चित्त 'प्राण'के पास पहुचता है। प्राण अपने तेजके साथ आत्माके पास पहुचता है। 'प्राण' ही 'तेज', 'चित्त' और 'आत्मा'को अपने 'संकल्पों' के अनुसारके लोकमें लेजाता है। ये 'तेज'-'चित्त'-'आत्मा' क्या हैं? इन तीनोंका 'प्राण'के साथ क्या सम्बन्ध है? प्राणकी दो शक्तियां हैं—शारीरिक तथा मानसिक। प्राणकी शारीरिक-शक्ति उसका 'तेज' है, प्राणके तेजसे ही तो शरीर क्रिया करता है। प्राणकी मानसिक-शक्ति उसका 'चित्त' है, इस चित्तके द्वारा ही संकल्प-विकल्प होता है। शरीरसे कूच करते समय प्राण अपने 'तेज' और 'चित्त'को साथ लेकर चलता है, परन्तु इस शरीरमें रहतेहुए इसका जैसा तेज और चित्त हो चुका होता है वैसे ही लोकमें जा सकता है। चलते समय आत्मा भी कूच करता है क्योंकि आत्मा और प्राण तो साथ-साथ ही रहते हैं। इस प्रकार प्राण शरीरसे कूच करतेहुए अपने शारीरिक (तेज), मानसिक (चित्त) तथा आत्मिक (आत्मा)—

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः ।
पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः । ९ ।

इन तीनो आधारोको साथ लेकर चल देता है। आत्मा शरीरमेंसे निकलता जिस मार्गसे है उसे उपनिषत्कारने 'उदान'-मार्ग कहा है। यह वह मार्ग है जो हृदयकी उस नाडीसे चलता है जो मस्तिष्कमें जाकर खुलती है और जिसे 'कॅरोटिड आर्टरी' कहते है ।१०।

जो विद्वान् प्राणके सबधमें यह सब-कुछ जानता है, वह मृत्युके बाद भी अमर हो जाता है, उसका वशोच्छेद नहीं होता ।११।

प्राणके विषयमें जो यह जानता है कि इसकी उत्पत्ति कहासे होती है, इसके भिन्न-भिन्न पाच स्थान कौन-कौनसे है, यह किस प्रकार ससारमें सब जगह व्याप रहा है, यह शरीरमें तथा बाह्य-जगत्में, अर्थात् पिंड तथा ब्रह्माडमें किस प्रकार तादात्म्य स्थापित किये हुए है—वह अमृतको चख लेता है, अमृतको चख लेता है ।१२।

चतुर्थ प्रश्न

प्राण कहासे उत्पन्न होता है, शरीरमें कहा-कहां स्थित है, कैसे आता है, कैसे जाता है, इसका मनुष्य-शरीर तथा बाह्य-जगत्से क्या सम्बन्ध है—इन प्रश्नोके उत्तर सुननेके बाद सौर्यका पुत्र गार्ग्य पूछने लगा—"भगवन्! कौन सोता है, कौन जागता है, कौन स्वप्न देखता है, किसे सुख होता है, यह सब किसमें प्रतिष्ठित है, कौन इन सबका आधार है?" ।१।

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्त
सहात्मना यथासकल्पित लोक नयति । १० ।
य एव विद्वान्प्राण वेद न हास्य प्रजा
हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोक । ११ ।
उत्पत्तिमायतिं स्थान विभुत्व चैव पञ्चधा ।
अध्यात्म चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते विज्ञायामृतमश्नुत इति । १२ ।
अथ हैन सौर्यायणी गार्ग्य पप्रच्छ । भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि
स्वपन्ति, कान्यस्मिन् जाग्रति, कतर एष देव स्वप्नान्पश्यति,
कस्यैतत्सुख भवति, कस्मिन्नु सर्वे सप्रतिष्ठिता भवन्तीति । १ ।

पिप्पलाद ऋषिने उत्तर दिया—सूर्य जब अस्त होने लगता है, तो सब किरणें उस तेजोमडलमें सिमिटकर एक हो जाती है, जब वह फिर उदय होता है, तब वे भी दिग्दिगन्तमें चल पडती हैं। इसी-प्रकार, यह सब-कुछ, उस परम-देव, अर्थात् इन्द्रियोंका जो मुखिया है—हमारा 'मन'—उसमें एक हो जाता है। मनरूपी सूर्यकी इन्द्रिया किरणें है। मनके अस्त होने, अर्थात् सोनेके समय, ये सिमिटकर एक हो जाती है, और इसीसे, सोते समय पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूघता है, न चखता है, न छूता है, न बोलता है, न पकडता है, न आनन्द लेता है, न मल-मूत्र त्यागता है, न चलता है। ऐसी अवस्था-में हम कहते है कि वह सो रहा है।२।

कौन जागता है? जैसे नगरमें पाच अग्निया सदा जला करती है, वैसे इस शरीर-रूपी नगरीमें पाचो प्राण-रूपी अग्निया सदा जगती रहती है। सोते समय भी पाचों प्राण नही सोते, वे चला ही करते हैं। बाह्य-जगत्में जैसे 'गार्हपत्य' आदि पाच अग्निया है, वैसे शरीरमें कौन-सी अग्निया हैं? 'गार्हपत्याग्नि' सबकी आधार है, यह शरीरके आधार-रूप निम्न-भागमें स्थित मानो 'अपान' है, 'अन्वाहार्यपचनाग्नि' वह अग्नि है जो गार्हपत्यसे रसोईघरमें भोजन पकानेके लिये लाई जाती है, यह मानो 'व्यान' है, 'आहवनीयाग्नि' वह अग्नि है जो गार्हपत्यसे अग्निहोत्रके लिये प्रणीत होती है, यह प्रणयनके कारण मानो 'प्राण' है।३।

तस्मै स होवाच, यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत् सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते।२। प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद् गार्हपत्यात् प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः।३।

जिसप्रकार यज्ञमें एक-दूसरेके पीछे आहुतिपर 'आहुति' पडती है, इसीप्रकार शरीरमें 'समान' का काम उच्छ्वास तथा निःश्वास-रूपी आहुतियोंको डालकर शरीरमें समता रखना है। जिसप्रकार यज्ञमें 'यजमान' यज्ञ करता है, इसीप्रकार शरीरमें 'मन' यजमान है। जिसप्रकार यज्ञका 'इष्ट-फल' होता है, यह इष्ट-फल ही शरीरमें मानो 'उदान' है। उदान ही तो आत्माको पुण्य-लोक, पाप-लोक या मनुष्य-लोकमें लेजाता है। ये ही इष्ट हैं। यह उदान मन-रूपी यजमानको दिन-दिन ब्रह्मकी तरफ लेजाता है।४।

(पाचो अग्नियो तथा पाच प्राणोकी समता दिखाते-दिखाते ऋषिने तीन अग्नियो तथा तीन प्राणोकी—गार्हपत्य, अन्वाहार्यपचन, आहवनीयकी अपान, व्यान तथा प्राणके साथ समता दिखाई, परन्तु यह दिखाते-दिखाते उनका ध्यान शरीर तथा यज्ञकी समताकी तरफ चला गया। इसलिये 'समान' तथा 'उदान'की समता उन्होंने अग्नियोसे करनेके स्थानमे यज्ञमे कर दी। शरीर मानो एक यज्ञ हो रहा है, निरन्तर यज्ञ जिसमे यजमान, आहुति, इष्ट-फल सभी है। बाहरके यज्ञकी अपेक्षा अन्दरका यज्ञ महान् है।)

कौन स्वप्न देखता है? स्वप्नमें यह दिव्य-गुणवाला मन ही महिमाका अनुभव करता है, यह मन ही स्वप्न देखता है। जो जागते समय देखा है उसे सोते समय भी ऐसे देखता है जैसे प्रत्यक्ष देख रहा हो, जो जागते समय सुना है उसे सोते समय भी ऐसे सुनता है जैसे जागते हुए ही सुन रहा हो, देश-देशान्तरमें जो अनुभव किया है, उसे वार-वार स्वप्नमें अनुभव करता है। जो देखा है, जो नहीं भी देखा, जो सुना है, जो नहीं भी सुना, जो अनुभव किया है, जो नहीं

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः।
मनो ह वाव यजमान इष्टफलमेवोदानः
स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति। ४।

भी अनुभव किया—सत्-असत्—वह सब सब देखता है, और मनुष्य ही नहीं सभी प्राणी देखते हैं ।५।

किसे सुख होता है ? निद्राकी दशामें जीवात्मा सत्त्व, रज, तम—इन तीनोंमेंसे किसी एकसे अभिभूत हो सकता है, कोई एक अवस्था प्रबल हो सकती है। जब निद्राकी अवस्थामें सतोगुण प्रधान होता है तब जीवात्मा तेजसे अभिभूत होता है। उस समय वह स्वप्न नहीं देखता। उस समय इस शरीरमें ही उसे सुख हो रहा होता है। तभी तो सात्त्विक-निद्राके पीछे मनुष्य तरोताजा हो जाता है, यह कहता है, बड़े सुखसे सोया। अगर निद्रामें रजोगुण प्रधान हो जाय, तो वह सोकर उठनेपर अपनेको दुःखी अनुभव करता है, हृदय धड़कता है, बेचैनी होती है। अगर निद्रामें तमोगुण प्रधान हो, तो उठनेपर शरीर हल्का होनेके बजाय भारी हो जाता है, चित्तमें ग्लानि होती है, सोनेपर भी ऐसा लगता है मानो एक क्षणको नहीं सोया। ये सब अवस्थाएं आत्माकी नहीं, शरीरकी ही होती हैं ।६।

('सुषुप्ति' तथा 'समाधि' दोनों अवस्थाओंमें जीव तथा ब्रह्म एक-दूसरेके सम्पर्कमें आ जाते हैं। 'सुषुप्ति' दशा इसप्रकारकी है जैसे कोई राजाके पास तो बैठा हो परन्तु सो रहा हो, उसे राजाके पास बैठे होनेका कोई ज्ञान न हो। 'समाधि' दशा ऐसी है जैसे कोई राजाके पास बैठा जाग रहा हो, उसे यह अनुभव हो कि वह राजाके पास बैठा है। कितना भेद है इन दोनों अवस्थाओंमें, परन्तु यह भेद मानसिक-अनुभतिका है, बाह्य-दृष्टिसे तो दोनों दशाएं एक-सी हैं।)

यह सब किसमें प्रतिष्ठित है ? हे सौम्य ! जैसे पक्षी वृक्षमें वास बना लेते है, उसमें प्रतिष्ठित रहते है, इसीप्रकार इन्द्रिया, मन, प्राण आदि सब आत्मामें प्रतिष्ठित है ।७।

स्थूल-पृथिवी, सूक्ष्म-पृथिवी, स्थूल-जल, सूक्ष्म-जल, स्थूल-तेज, सूक्ष्म-तेज, स्थूल-वायु, सूक्ष्म-वायु, स्थूल-आकाश, सूक्ष्म-आकाश—अर्थात् सम्पूर्ण 'भौतिक-जगत्'—या 'ब्रह्माड', आख, आखके विषय, श्रोत्र, श्रोत्रके विषय, घ्राण, घ्राणके विषय, रस, रसके विषय, त्वचा, त्वचाके विषय, वाणी, वाणीके विषय, हाथ, हाथके विषय, उपस्थ, उपस्थके विषय, पायु, पायुके विषय, पाव, पावके विषय, मन, मनके विषय, बुद्धि, बुद्धिके विषय, अहकार, अहकारके विषय, चित्त, चित्तके विषय, शरीरका तेज और जो-कुछ चमकता है, प्राण और प्राणद्वारा जो-कुछ धारण होता है—अर्थात् सम्पूर्ण 'आध्यात्मिक जगत्'—या 'पिड' ।८।

इन सबका वही पुरुष, विज्ञानमय (Super Consciousness) आत्मा द्रष्टा है, श्रोता है, स्प्रष्टा है, घ्राता है, रसयिता है, मन्ता है, बोद्धा है, कर्ता है । वह विज्ञानात्मा (Super Consciousness) परम अक्षर आत्मा (Eternal Principle) में प्रतिष्ठित होता है ।९।

स यथा सोम्य वयासि वासोवृक्ष सप्रतिष्ठन्ते ।
एव ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि सप्रतिष्ठते । ७ ।
पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्य च श्रोत्र च श्रोतव्य च घ्राण च घ्रातव्य च रसश्च रसयितव्य च त्वक् च स्पर्शयितव्य च वाक् च वक्तव्य च हस्तौ चादातव्य चोपस्थश्चानन्दयितव्य च पायुश्च विसर्जयितव्य च पादौ च गन्तव्य च मनश्च मन्तव्य च बुद्धिश्च बोद्धव्य चाहकारश्चाहङ्कर्तव्य च चित्त च चेतयितव्य च तेजश्च विद्योतयितव्य च प्राणश्च विधारयितव्य च । ८ ।
एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष । स परेऽक्षर आत्मनि सप्रतिष्ठते । ९ ।

हे सौम्य ! जो छाया-रहित, शरीर-रहित, रुधिर-रहित, शुभ्र, अक्षरको जान लेता है वह उस परम, अक्षर ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। वह पूर्ण हो जाता है, सर्वज्ञ हो जाता है। कहा भी है ।१०।

हे सौम्य ! जो विज्ञानमय आत्मा उस अक्षर ब्रह्म (Super Conscious Eternal Principle) को जान लेता है जिसमें सब इन्द्रियां, सब प्राण और सब महाभूत प्रतिष्ठित हैं, ठहरे हुए हैं, वह सर्वज्ञ हो जाता है, और पूर्ण ब्रह्ममें प्रविष्ट हो जाता है ।११।

('रयि' तथा 'प्राण'से इस उपनिषद्को प्रारम्भ किया। 'रयि'की अपेक्षा 'प्राण'के महत्त्वको बतलाया। अब इस प्रश्नमें प्राणकी अपेक्षा भी 'मन', 'आत्मा' तथा 'ब्रह्म'के महत्त्वको दिखा दिया।)

पंचम प्रश्न

कौन सोता है, कौन जागता है, कौन स्वप्न देखता है, किसे सुख होता है, यह सब-कुछ किसमें प्रतिष्ठित है—ये सब पूछनेके बाद शिबिका पुत्र सत्यकाम पूछने लगा—"हे भगवन् ! जो व्यक्ति जीवनभर ओंकारका ध्यान करे वह ऐसे ध्यानसे किस लोकको जीत लेता है ?" ।१।

पिप्पलाद ऋषिने उत्तर दिया—हे सत्यकाम ! ब्रह्मके दो रूप हैं—एक 'पर-ब्रह्म' दूसरा 'अपर-ब्रह्म'। योगी लोग जो इस संसारके विषयोंसे परे है, उस—पर—की उपासना करते हैं, वे 'पर-ब्रह्म'के उपासक हैं, संसारी लोग संसारके विषयोंके भीतर—अपर—की उपासना करते हैं, सांसारिक सुखोंकी इच्छासे पूजा-पाठ, यज्ञ-

(ओकारकी एकमात्राके ध्यानसे यह पार्थिव-जगत्, अर्थात् 'पृथिवी-लोक' तथा इसके भोग-ऐश्वर्य, द्विमात्राके ध्यानसे सोम-लोक, अर्थात् 'चन्द्र-लोक' तथा उसकी सौम्यता, त्रिमात्राके ध्यानसे 'सूर्य-लोक' तथा उसका तेज इसी मनुष्य-शरीरमें प्राप्त हो जाते हैं। पृथिवीका ऐश्वर्य, चन्द्रकी सौम्यता, सूर्यका तेज ओकारके ध्यानसे. ऋक्, यजु, सामसे प्राप्त होते हैं—यह इस सबका आशय है ।)

ओकारकी तीन मात्राए हैं, तीन हिस्से हैं । तुम उसका कितना ध्यान करते हो ? थोडा-बहुत करते हो, तब तो वह एक मात्राका ध्यान है ! बहुत-कुछ करते हो, तब वह द्वि-मात्राका ध्यान है ! उसीके ध्यानमें रहते हो, तब त्रि-मात्राका ध्यान है ! इन मात्राओका ध्यान, 'मृत्युमान्' है । जिस मात्रामें, अर्थात् जिस अशतक उसका ध्यान होता है उसी मात्रामें, उसी अशतक, ससार ध्यानीके लिये मर जाता है । इन मात्राओका प्रयोग ही ऐसा करना चाहिये जिससे ससारका जो रूप हमारे लिये मर जाना चाहिये वह वास्तवमें मर जाय। आत्माके एक तरफ ससारके विषय है, दूसरी तरफ ब्रह्म है । अभीतक हमारे लिये ससार जीवित है, ब्रह्म मृत है। ओकारकी मात्राका ध्यान ससारको हमारे लिये मृत बना देता है, ब्रह्मको जीवित बना देता है । ये मात्राए एक-दूसरेसे सटी हुई हैं । एक मात्राके ध्यानसे अगली मात्रापर भक्त स्वय पहुच जाता है, ये एक-दूसरेसे अलग हो ही नहीं सकतीं। जो ज्ञानी अपनी बाह्य, आभ्यन्तर तथा मध्यम क्रियाओमें 'त्रिमात्र-ओकार'का सम्यक् प्रयोग करता है वह कपमान नही होता, अपने मार्गसे विचलित नहीं होता ।६।

(बाह्य-क्रियाए शरीरकी क्रियाए है, आभ्यन्तर-क्रियाए मनकी क्रियाए है, मध्यम क्रियाए वे हैं जो मन तथा शरीरके बीचकी है,

---

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्य प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ता ।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञ । ६ ।

कुछ मानसिक है, कुछ शारीरिक। क्रियाकी इन तीनो अवस्थाओ-मे ज्ञानी तथा ध्यानीको त्रि-मात्राकी ही उपासनामे रहना चाहिये।)

ऋक्से 'पृथिवी'के भोग-ऐश्वर्य प्राप्त होते है, यजुमे अन्त-रिक्षके 'चन्द्र'-लोकवाले सौम्य-गुण प्राप्त होते है, सामसे कविलोग कहते है कि 'सूर्य'का तेज प्राप्त होता है। अगर कोई 'ओकार'को साधन बनाये, तो ऋक्, यजु, सामकी सहायताके बिना, 'ओकार'की उपासनासे ही ये-सब प्राप्त हो जाते है। 'ओकार'की उपासनासे उपासक उस 'शात', 'अजर', 'अमृत', 'अभय', 'पर'-ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।७।

षष्ठ प्रश्न

ओकारके ध्यानमे 'पृथिवी', 'चन्द्र' तथा 'सूर्य'—इन तीनो लोकोको जीत सकते है, यह सुननेके बाद भरद्वाजके गोत्रमें उत्पन्न सुकेशा पूछने लगा—"भगवन्! एक समय हिरण्यनाभ नामक कोसल-देशके राजकुमारने मुझे आकर पूछा, सोलह कलाओवाले पुरुषको जानते हो? कुमारको मैने कहा, मै उसे नहीं जानता, जानता होता तो तुझे क्यो न बतला देता। जो व्यक्ति असत्य बोलता है वह समूल सूख जाता है, इसलिये मै झूठ नहीं बोल सकता। मेरा कथन सुनकर वह राजकुमार चुपचाप रथपर चढकर चल दिया। हे भगवन्! मै वही प्रश्न आपसे पूछता हू। वह सोलह कलाओवाला पुरुष कहा है?"।१।

ऋग्भिरेत यजुर्भिरन्तरिक्ष सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते तमोकारे-णैवायननेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभय पर चेति। ७।
अथ हैन सुकेशा भारद्वाज पप्रच्छ। भगवन्हिरण्यनाभ कौसल्यो राज-पुत्रो मामुपेत्यैत प्रश्नमपृच्छत। षोडशकल भारद्वाज पुरुष वेत्थ, तमह कुमारमब्रुव नाहमिम वेद। यद्यहमिममवेदिष कथ ते नावक्ष्यमिति। समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति तस्मान्नार्हाम्यनृत वक्तुम्। स तूष्णी रथमारुह्य प्रवव्राज। त त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति। १।

पिप्पलाद ऋषिने कहा—हे सौम्य ! वह पुरुष जिसमें सोलह कलाओका प्रादुर्भाव होता है इसी शरीरके भीतर है ।२।

(सोलहो कलाओवाला भगवान् कही बाहर नही, हमारे ही अन्दर बैठा है । उपनिषद्मे बार-बार इस बातको दोहराया गया है कि भगवान्का वास बाहर नही, अन्दर है—हमारे ही अन्दर—'अगुष्ठ-मात्र पुरुषो मध्ये आत्मनि तिष्ठति'।)

ब्रह्म कलामय है । सोलहो कला उसकी है । ब्रह्मकी अगर पुरुषके रूपमें कल्पना करें तो उस पुरुष-रूप ब्रह्मकी सोलहो कलाओमे ही मनुष्य-शरीर बना है । जीवात्माने चितन किया कि किसके निकल जानेसे मै शरीरमेंसे निकल जाऊगा, किसके शरीरमें प्रतिष्ठित होनेसे प्रतिष्ठित होऊगा ? पुरुष-रूप ब्रह्मकी सोलहो कलाओके निकल जानेसे, जिनसे यह मनुष्य-शरीर बना है, मै भी इस शरीरमें नहीं रह सकता, यह उसे ज्ञात हुआ, इसलिये जैसे जीवात्मा इस शरीरमें रहता है, वैसे ही सोलहो कलाओवाला पुरुष—ब्रह्म—भी इसी शरीर में वास करता है ।३।

वे सोलह कलाए कौन-सी है ? पुरुषने पहले-पहल प्राणका सर्जन किया । प्राणद्वारा श्रद्धा, पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश, इद्रिया, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम—इन १६ कलाओका सर्जन किया, उन सोलहो कलाओका जिनसे 'ब्रह्माड' तथा 'पिड'का निर्माण होता है । (क्योकि इन सोलहोसे 'ब्रह्माड' तथा 'पिड'का निर्माण होता है अत कल्पना की गई है कि मानो ये सोलहो कलाए उसी ब्रह्मका शरीर है । इन कलाओवाला वह

तस्मै स होवाच । इहैवान्त शरीरे सोम्य स
पुरुषो यस्मिन्नेता षोडशकला प्रभवन्तीति । २ ।
स ईक्षाचक्रे । कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो
भविष्यामि, कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति । ३ ।

ब्रह्म कही बाहर थोडे-ही रहता है—इसी मनुष्यके देह ही मे तो अपनी सोलहो कलाओके सहित वह वास कर रहा है। फिर उसे बाहर क्यो ढूढना ?) ।४।

(पुरुष-रूप ब्रह्मकी, जो इसी मनुष्य-शरीरमे विद्यमान है, ऊपर कही गई सोलह कलाए है। कलाका अर्थ है–'अग'। ब्रह्मकी अगर एक पुरुषके रूपमे कल्पना करे, तो ये उसके १६ अग है। इनका क्रम-पूर्वक वर्णन नही किया गया, सोलह अगोका परिगणन-मात्र कर दिया गया है। ये हो, तो पुरुष-रूपमे कल्पित ब्रह्मका शरीर बनता है, न हो, तो नही बनता। ब्रह्म भोक्ता है, इसलिये सबसे पहले तो भोक्तृ-रूप 'प्राण'को उत्पन्न किया ही, परन्तु फिर उन सबको उत्पन्न किया जिनका प्राणने भोग करना है। यह सब उत्पत्ति 'तप'के विना नही हो सकती क्योकि तपका अर्थ ही 'उग्र-क्रिया' है। तभी जहा-जहा सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन आया है, वहा-वहा यह भी कहा है, उसने 'तप' किया। विना तपके कुछ नही होता। तपके साथ सृष्टिमे 'श्रद्धा' भी है। श्रद्धाका अर्थ है, सत्यमे धारणा–'श्रत्' अर्थात् 'सत्य', 'धा' अर्थात् 'धारण करना'। ससारकी प्रत्येक वस्तुका विकास सत्यकी तरफ है। अगर कही असत्य प्रबल भी दीखता है तो सामयिक है, वह अपनी प्रतिक्रियाको उत्पन्न कर रहा होता है। इसलिये सृष्टिकी आधार-भूत कला, वह कला जो ब्रह्मके शरीरका अश है, 'श्रद्धा' है। 'श्रद्धा'का अर्थ है यह विश्वास कि ससारके प्रवाहकी दिशा 'सत्य'की तरफ है, असत्यकी तरफ नही। 'प्राण', 'तप' और 'श्रद्धा' के बाद पच-महाभूतोकी उत्पत्ति हुई। एक-एक महाभूत एक-एक इन्द्रियके साथ सम्बद्ध है, अत महाभूतोकी उत्पत्तिके बाद 'इन्द्रियो'की उत्पत्ति हुई। इन्द्रियोका जीवन मानसिक-दृष्टिसे मनपर और शारीरिक-दृष्टिसे अन्नपर निर्भर है। अत 'मन' तथा 'अन्न'की भी उत्पत्ति हुई।

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धा खं वायुर्ज्योतिराप पृथिवीन्द्रिय
मनोऽन्नमन्नाद्वीर्य तपो मन्त्रा कर्म लोका लोकेषु च नाम च । ४ ।

अन्नका वास्तविक-तत्त्व 'वीर्य' है क्योकि अन्नका बहुत-सा हिस्सा तो मल-मूत्र बनकर फेक ही दिया जाता है, अत अन्नसे बननेवाला अन्नका मूल-तत्त्व वीर्य भी पुरुषकी सोलह कलाओमेसे एक है । शरीरकी रचनाके बाद मनुष्य शारीरिक तथा मानसिक-कार्य करता है— शारीरिक-कार्य 'कर्म' है, मानसिक-कार्य 'मन्त्र' है । कर्म तथा मन्त्र के अतिरिक्त सृष्टिमे नाम-रूप (Name and form) भी है, रूपको ऋषिने 'लोक' शब्दसे कहा है, नामको 'नाम' शब्दसे ही । इसप्रकार इन सोलह कलाओसे ब्रह्मकी पुरुषके रूपमे कल्पना की गई है । यह पुरुष अन्य कही नही, इस मनुष्य-देहके भीतर ही है, इसे पानेकेलिये दूर-दूर भटकनेकी आवश्यकता नही ।)

जैसे ये नदिया बह रही है, समुद्रकी तरफ जा रही है, समुद्रतक पहुचकर अस्त हो जाती है, उनका नाम-रूप छिन्न-भिन्न हो जाता है, बस इतना ही कहा जाता है कि यह समुद्र है, ऐसे ही उस द्रष्टा ब्रह्मकी ये सोलह कलाए है, ये पुरुष-रूप ब्रह्मकी तरफ ही जा रही है, उसतक पहुचकर ये अस्त हो जाती है, इनका नाम-रूप छिन्न-भिन्न हो जाता है, पुरुष-मात्र रह जाता है । ये सोलह कलाए उसीसे उत्पन्न हुई है, परन्तु वह स्वय कला-रहित है, अमृत है । जब ये कलाए उसमें अस्त हो जाती है, तो कलाओवाला 'सकल' (स+कल) कलाओसे रहित 'अकल' (अ+कल) हो जाता है, अमृत हो जाता है ।५।

जैसे रथकी नाभिमें अरे लगे होते है, ऐसे ही जिस ब्रह्ममें कलाए प्रतिष्ठित है, उस जाननेयोग्य पुरुषका ज्ञान प्राप्त करो, तभी तुम्हें मृत्यु किसी प्रकारकी व्यथा नही देगी ।६।

स यथेमा नद्य स्यन्दमाना समुद्रायणा समुद्र प्राप्यास्त गच्छन्ति भिद्येते तासा नामरूपे समुद्र इत्येव प्रोच्यते । एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमा षोडशकला पुरुषायणा पुरुष प्राप्यास्त गच्छन्ति भिद्येते चासा नाम-रूपे पुरुष इत्येव प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति । तदेष श्लोक । ५ ।

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिता ।
त वेद्य पुरुष वेद यथा मा वो मृत्यु परिव्यथा इति । ६ ।

पिप्पलाद ऋषि उन छहो जिज्ञासुओको सम्बोधित करके कहने लगे—"मै उस 'पर-ब्रह्म'के विषयमें इतना ही जानता हूं। इससे परे वह है भी नहीं" ।७।

वे जिज्ञासु ऋषिकी स्तुति करने लगे और कहने लगे कि आप हमारे पिता है, आप ही हमें अविद्या-रूपी नदीके परले किनारे लगानेवाले है। आप परमऋषि है, आपको बार-बार नमस्कार हो, बार-बार नमस्कार हो ।८।

तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्पर ब्रह्म वेद नात परमस्तीति । ७ ।
ते तमर्चयन्तस्त्व हि न पिता योऽस्माकमविद्याया पर
पार तारयनीति । नम परमऋषिभ्यो नम परमऋषिभ्य । ८ ।

मुण्डकोपनिषत्

[ब्रह्म-विद्याका उपदेश]

प्रथम-मुण्डक—(प्रथम खण्ड)

ब्रह्मा देवताओंमें सबसे पहले कभी हुआ था, विश्वके सामाजिक सगठनको करनेवाला, देवताओंके द्वारा ही संसारकी रक्षा करने-वाला। उसने सब विद्याओंकी आधार 'ब्रह्म-विद्या'का अपने ज्येष्ठ पुत्र 'अथर्वा'को उपदेश दिया ।१।

ब्रह्माने जिस 'ब्रह्म-विद्या'का अथर्वाको उपदेश दिया, अथर्वाने प्राचीन-कालमें उसका अगी-नामक ऋषिको उपदेश दिया । अगीने उसका भारद्वाजगोत्री सत्यवाहको उपदेश दिया । पिछला अगलेको जो उपदेश देता गया उसी उपदेशको भारद्वाजने अगिराको दिया ।२।

कालान्तरमें शौनक नामका एक जिज्ञासु हुआ । उसकी बडी-बडी अट्टालिकाए थीं । वह अगिराके पास शिष्टाचार-पूर्वक पहुचा और पूछने लगा, हे भगवन् ! किसके जाननेसे यह सब-कुछ जाना जाता है ? ।३।

ॐ ब्रह्मा देवाना प्रथम सबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह । १ ।
अथर्वणे या प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वा ता पुरोवाचागिरे ब्रह्मविद्याम् ।
स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् । २ ।
शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरस विधिवदुपसन्न पप्रच्छ ।
कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिद विज्ञात भवतीति । ३ ।

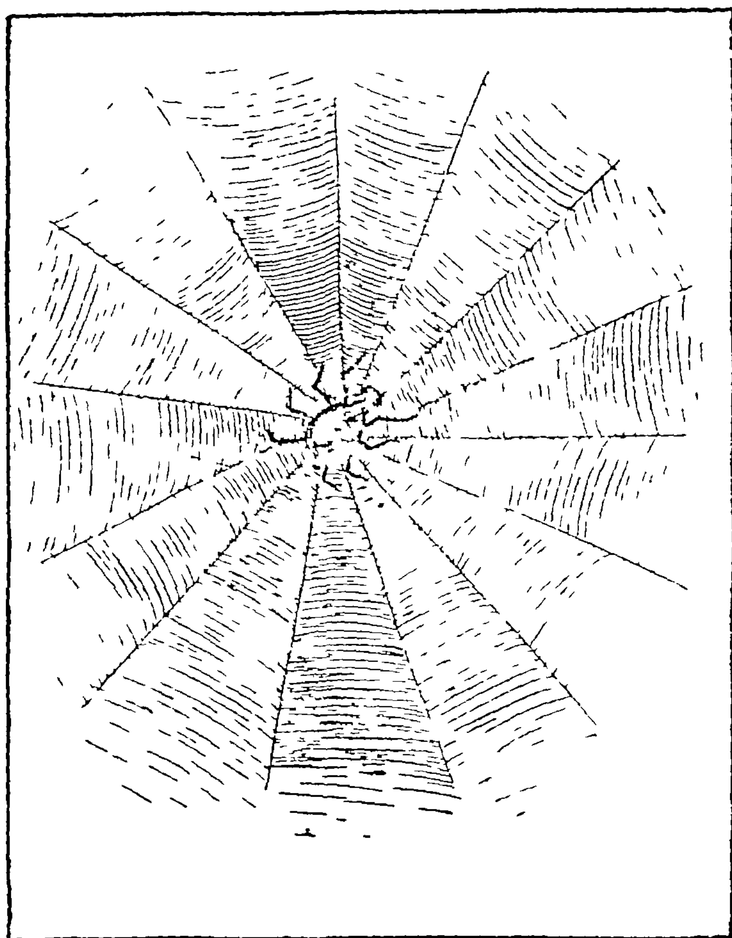
अंगिराने शौनकसे कहा--ब्रह्मवित् लोग यह कहते रहे हैं कि दो विद्याओंको जानना चाहिए--'परा' तथा 'अपरा' ।४।

इनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष्का ज्ञान 'अपरा' (Scientific Knowledge) विद्या है, जिस विद्यासे उस अक्षर ब्रह्मका ज्ञान हो वह 'परा' (Spiritual Knowledge) विद्या है। ('अपरा-विद्या' (Scientific Knowledge) को, ईशोपनिषद्में भी 'अविद्या', तथा 'परा-विद्या' (Spiritual Knowledge) को 'विद्या' कहा गया है।) ।५।

'परा'-विद्यासे जिस अक्षर ब्रह्मका ज्ञान होता है वह देखा नहीं जा सकता, ग्रहण नहीं किया जा सकता, उसका कोई वंश नहीं, वर्ण नहीं, उसके आंख-कान नहीं, हाथ-पांव नहीं। वह नित्य है, विभु है, सब जगह पहुंचा हुआ है किंतु सूक्ष्म है, अव्यय है, सब भूतोंका कारण है। धीर लोग 'परा'-विद्यासे उस ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेते हैं ।६।

जैसे मकड़ी अपने शरीरके भीतरसे जालेका सृजन करती है और फिर उसे समेट लेती है, जैसे पृथिवीमें ओषधियां उत्पन्न होती हैं, जैसे जीवित पुरुषके शरीरसे केश-लोम निकलते हैं, इसीप्रकार अक्षर ब्रह्मके प्रकृति-रूपी शरीरसे विश्व हो जाता है ।७।

तस्मै स होवाच । द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म
यद्ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा च ।४।
तत्रापरा, ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं
निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते ।५।
यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् ।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ।६।
यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम् ।७।



जैसे मकडी जालेका सृजन करती है वैसे ही ब्रह्म इस सृष्टिका

अक्षर ब्रह्मसे यह विश्व कैसे हुआ ? ब्रह्मने तप किया, 'तप' अर्थात् 'उग्र-क्रिया' (Activity in Climax) से ब्रह्म बढने लगा, विश्व-के रूपमें विकसित होने लगा। विकसित होते-होते 'अन्न'तक उसका विकास हो गया। ब्रह्मके विश्व-रूपमें विकासका आदि 'तप' है, अन्त 'अन्न' है। अन्न ऐसी वस्तु है जो प्राण, मन, सत्य, लोक, कर्म और कर्ममें

रहनेवाले अमृत, अर्थात् ऐसा कर्म जिसमें अमृत निहित है—इन सबको उत्पन्न करता है। अन्नसे ही सब चलता है।८।

वह सर्वज्ञ है। वह सब जगह पहुचा हुआ है। उसका 'तप' क्या है? 'ज्ञान' ही उसका तप है। हमारा तप कैसे प्रकट होता है?—'क्रिया'के रूपमें। उसका 'तप' कैसे प्रकट होता है?—'ज्ञान'के रूपमें। इसलिये उसके लिये 'ज्ञान' ही 'तप' है। उसीके विकाससे यह बृहत्, नाम-रूपवाला जगत्, और यह अन्न जिससे सब व्यवहार चल रहा है, उत्पन्न होता है।९।

प्रथम-मुडक—(द्वितीय खण्ड)

'अपरा-विद्या'का अर्थ है 'कर्म-काड', अथवा 'रूढिवाद'। 'परा-विद्या का अर्थ है 'ज्ञान-काड'। 'अपरा-विद्या'के अनुयायी कर्म-काडी, यज्ञ-यागादि करनेवाले, ब्रह्मको प्राप्त करनेका साधन यज्ञोको, रूढियोको वतलाते हैं। इस सवधमें अगिराने शौनकको कहा—

कर्म-काडियोका कहना है कि ऋषि लोगोने वेदमन्त्रोमें जिन कर्मो, अर्थात् यज्ञोका वखान किया है, वे ही सत्य-मार्ग हैं। त्रेता-युगमें उन्हीं कर्मोका विस्तार होता था। हे सत्य-सकल्पवालो! उन्हींके अनुसार दृढतासे आचरण करो। तुम अपने पुरुषार्थसे जिस लोकका निर्माण करना चाहते हो, उसमें तुम्हारा यही रास्ता है, इसी सत्य-मार्गपर दृढतासे कदम वढाये चलो।१।

जव हव्यका वाहन करनेवाली अग्नि प्रदीप्त हो उठती है,

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात्प्राणो मन सत्य लोका कर्मसु चामृतम्।८।
य सर्वज्ञ सर्वविद्यस्य ज्ञानमय तप।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्न च जायते।९।
तदेतत्सत्य मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यस्तानि त्रेताया वहुधा सततानि।
तान्याचरथ नियत सत्यकामा एष व पन्था सुकृतस्य लोके।१।

ज्वालाए लपटें मारने लगती है, तब बीचमे, श्रद्धासे आज्यभागाहुती नामकी दो आहुतिया डाली जाती है ।२।

अगर अग्निहोत्र उक्त पकारका न हो—न अग्नि ही प्रदीप्त हो, न श्रद्धा-पूर्वक आहुतिया ही दी जाय—अगर अग्निहोत्र दर्शेष्टि-रहित हो, पूर्णमासेष्टि-रहित हो, चातुर्मासेष्टि-रहित हो, नवान्नेष्टि-रहित हो, अतिथि-पूजा-रहित हो, आहुति-रहित हो, वैश्वदेव-यज्ञ-रहित हो, अर्थात् विधि-रहित हो, तो उक्त सातो प्रकारकी विधियोसे रहित होनेके कारण वह उसके सात लोकोके पुण्यको समाप्त कर देता है, उस यज्ञसे कोई पुण्य-फल नही मिलता ।३।

लपटें मारती हुई 'यज्ञाग्नि-रूपी' देवीकी सात जिह्वाए है, वे जिह्वाए है, 'काली', 'कराली', मनके समान वेगसे उठनेवाली 'मनोजवा', रक्त-वर्णवाली 'सुलोहिता', धूम्रयुक्त 'सुधूम्रवर्णा', चिनगारियोवाली 'स्फुलिगिनी', भिन्न-भिन्न रूपोवाली 'विश्वरूपी' ।४।

जो याज्ञिक ठीक-ठीक समयपर यज्ञाग्नि की इन दीप्त जिह्वा-रूप-ज्वालाओमें आहुतिया देता रहता है, उसे सूर्यकी रश्मिया उस लोकमें ले जाती है जहा देवताओके पतिका एकमात्र अधिवास है ।५।

तेजोमय आहुतिया सूर्यकी रश्मियोके साथ यजमानको 'आइये'-'आइये'—ऐसी मीठी वाणी बोलती हुई, उसकी स्तुति करती हुई,

---

यदा लेलायते ह्यर्चि समिद्धे हव्यवाहने ।
तदाज्यभागावन्तरेणाहुती प्रतिपादयेच्छ्रद्धया हुतम् । २ ।
यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जित च ।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमासप्तमास्तस्य लोकान्हिनस्ति । ३ ।
काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा ।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वा । ४ ।
एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकाल चाहुतयो ह्याददायन् ।
तन्नयन्त्येता सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवाना पतिरेकोऽधिवास । ५ ।

उसे वहन करके ले जाती है, और कहती है, तुम्हारे सुकृतसे यह पुण्य 'ब्रह्म-लोक' तुम्हें प्राप्त हुआ है ।६।

यज्ञके विषयमें याज्ञिक लोग, ऊपर जो-कुछ कहा गया है, यह सब-कुछ कहते हैं, परन्तु अंगिरा ऋषिका कथन है कि भव-सागर-को पार करनेके लिये ये यज्ञ-रूप प्लव, ये यज्ञ-यागादिके वेडे, अदृढ हैं, बिल्कुल ढीले हैं । ये 'अपरा-विद्या' हैं, विद्या क्या, ये अविद्या हैं। इनमें १८ प्रकारके कर्म कहे गये हैं, परन्तु ये सब कर्म 'अवर' हैं, श्रेष्ठ नहीं हैं । जो मूढ व्यक्ति इन यज्ञीय-कर्मोंको श्रेय मानकर आनन्द मनाते फिरते हैं, वे बार-बार जरा तथा मृत्युके बन्धनमें फसते हैं।७।

अविद्यामें पड़े हुए, अपनेको धीर और पंडित मानते हुए मूर्ख लोग ऐसे फिरते हैं जैसे अन्धेको अन्धा रास्ता दिखा रहा हो, और ठोकरें खा रहा हो ।८।

भिन्न-भिन्न प्रकारसे अविद्यामें पडे हुए, बडे होकर भी बालक-की-सी बुद्धि रखनेवाले लोग, अपनेको कृतार्थ मानकर अभिमानसे फूले फिरते हैं । जिस काममें लगे होते हैं उसमें इतने अनुरक्त हो जाते हैं कि यह नहीं जान पाते कि कर क्या रहे हैं । उसीसे दुःखमें आतुर होकर दीन-दुनियासे हाथ धो बैठते हैं, और सब तरहसे नीचे जा गिरते हैं ।९।

मूढ-लोग इष्टापूर्तको, यज्ञ-यागादि तथा दानादिको सब-कुछ समझ बैठते हैं । कहते हैं, हमने सब अच्छे काम कर लिये, वे इससे

एह्येहीति तमाहुतय सुवर्चस सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमान वहन्ति ।
प्रिया वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष व पुण्य सुकृतो ब्रह्मलोक ।६।
प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवर येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्यु ते पुनरेवापि यन्ति ।७।
अविद्यायामन्तरे वर्तमाना स्वय धीरा पण्डितमन्यमाना ।
जघन्यमाना परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा ।८।
अविद्याया बहुधा वर्तमाना वय कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बाला ।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुरा क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ।९।

अन्य कुछ श्रेय जानते ही नहीं। सुकृतसे जो सुख प्राप्त होता है, उसकी तो मानो वे पीठको ही छू पाते है, और इस हीनतर लोकमें आ पहुचते है, क्योकि यज्ञ-यागादि वास्तविक 'सुकृत' नहीं है।१०।

वास्तविक 'सुकृत' कौन करता है? जो शात-चित्त, विद्वान् जगलमे भिक्षा-वृत्तिसे जीवन-निर्वाह करतेहुए 'तप' (शारीरिक-साधना) और 'श्रद्धा' (आत्मिक-साधना)-पूर्वक रहते है, वे सब मलोसे शुद्ध होकर सूर्यद्वारा वहा पहुचते है जहा अमृत, अव्ययात्मा पुरुष है।११।

(सूर्य शुद्धताका प्रतिनिधि है। अन्य किसी भी वस्तुमे अशुद्धता-की सम्भावना हो सकती है, सूर्यमे नही। जो शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक-दृष्टिसे सर्वथा शुद्ध हो जाते है, वे सूर्यके, अर्थात् विलक्षण-शुद्धताके मार्गपर चल देते है। इस सूर्य-मार्गद्वारा ही वे परमात्माको पाते है। ससारकी किसी वस्तुमे उनकी आसक्ति नही होती। जो यज्ञ-यागादि, दान-पुण्यादिमे अनुरक्त रहते है, वे कर्मफलके बन्धनमे बधे रहते है, शुद्ध नही हो पाते, 'ससार'को तो पाजाते है, 'अमृत'को नही पा सकते। इस प्रकरणमे सूर्य-मार्गका अर्थ उत्तरायण-मार्ग भी हो सकता है। छान्दोग्य (४-१५, ५-१०) मे देवयान तथा पितृयाण-मार्गोंका वर्णन है। देवयान सूर्य-मार्ग है, यही उत्तरायण-मार्ग है। ब्रह्मज्ञानियोका कहना है कि ब्रह्म-लोक पृथिवीके उत्तरमे है। जब सूर्य भी पृथिवीके उत्तरमे आ जाता है, उस समय—उत्तरायण-कालमे—प्राण त्यागनेसे जीव सूर्यके द्वारसे होता हुआ सीधा ब्रह्म-लोक पहुच जाता है।)

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठ नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढा ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेम लोक हीनतर वा विशन्ति । १० ।
तप श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वासो भैक्षचर्या चरन्त ।
सूर्यद्वारेण ते विरजा प्रयान्ति यत्रामृत स पुरुषो ह्यव्ययात्मा । ११ ।

यज्ञ-याग, दान-पुण्य—इन कर्मोसे, अर्थात् सकाम-भावनासे किये गये कर्मोसे जो सुख-ऐश्वर्य प्राप्त होते है, इनकी परीक्षा करके ब्राह्मण-वृत्तिके मनुष्यके हृदयमें ससारी विषयोसे उदासीनता आ जाती है, और वह समझ जाता है कि 'अकृत'को 'कृत'से नही पाया जा सकता। यज्ञ-यागादि सब 'कृत' है, तभी इन्हें 'क्रतु' कहा गया है। 'कृत'से 'कृत' ही पाया जा सकता है, जिसकी उत्पत्ति है और विनाश है वही मिल सकता ह। 'कृत'से 'अकृत' नहीं मिलता। ब्रह्म तो 'अकृत' है, उसकी उत्पत्ति नही, विनाश नहीं। 'अकृत'को 'अक्रतु' ही पा सकता है—'तमक्रतु पश्यति'। उस 'अक्रतु'को जानने-केलिये समित्पाणि होकर, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरुके चरणोमें उप-स्थित होना आवश्यक है।१२।

इसप्रकार श्रद्धा-पूर्वक जब कोई जिज्ञासु चित्तमें शाति लेकर, इन्द्रियोको कल्याण-मार्गपर लगाकर गुरुके निकट पहुचता है, तब वह विद्वान्, जिस 'ब्रह्म-विद्या'द्वारा अक्षर पुरुषका तात्त्विक-ज्ञान हो सकता है, उस ब्रह्म-विद्याका सत्य उपदेश दे देता है।१३।

द्वितीय-मुण्डक—(प्रथम खड)

यह सत्य उपदेश यह है। जैसे प्रचण्ड, प्रदीप्त अग्निसे एक ही प्रकारकी सहस्रो चिनगारिया पैदा होती है, हे सौम्य! इसीप्रकार अक्षरसे 'पुरुष' और 'भाव', अर्थात् 'चेतन' और 'जड'-जगत्—ये दो प्रकारकी सत्ताए उत्पन्न होती है, और उसीमें फिर लौट जाती है।१।

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृत कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठम्। १२।
तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षर पुरुष वेद सत्य प्रोवाच ता तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्। १३।
तदेतत्सत्य यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गा सहस्रश प्रभवन्ते सरूपा।
तथाक्षराद्विविधा सोम्य भावा प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति। १।

'जड' की व्याख्या करनेकी आवश्यकता न समझकर ऋषि 'चेतन'की—विराट्-पुरुषकी—व्याख्या करतेहुए कहते है—वह 'पुरुष' दिव्य-आभायुक्त होताहुआ भी अमूर्त है, बाहर होताहुआ भी अन्दर है, ससारको उत्पन्न करताहुआ भी स्वय उत्पन्न नहीं होता; प्राणका सचार करतेहुए भी स्वय अप्राण है, सब मनोको प्रेरणा देतेहुए भी उसका अपना मन नही, वह अक्षर है परन्तु उसका शुभ्र-रूप तो अक्षरसे भी परेसे भी परे है ।२।

प्राण, मन, सब इन्द्रिया, आकाश, वायु, ज्योति, जल, विश्वका धारण करनेवाली पृथिवी उसीसे उत्पन्न होती है ।३।

जैसे मनुष्य-शरीरमें आत्मा है, वैसे पंच-महाभूतोमें परमात्माका वास है, वह सब भूतोका अन्तरात्मा है । यह संसार उस विराट्-पुरुषका शरीर है । अग्नि उसका मूर्धा है, मस्तिष्क है । जैसे मस्तिष्क-द्वारा ज्ञानहोता है, वैसे अग्निद्वारा जहा चाहें वहीं हम अन्धकारको दूर कर सकते हैं । सूर्य अपने निश्चित समयपर उदित-अस्त होता है, परन्तु अग्निका उपयोग अन्धकारको दूर करनेके लिये हर समय किया जा सकता है । चन्द्र तथा सूर्य उसकी दो आखें हैं । दिशाए उसके श्रोत्र है । विस्तृत ज्ञान-रूपी वेद उसकी वाणी है । वायु प्राण है । विश्व उसका हृदय है । पृथिवी पाव है ।४।

जिस विराट्-पुरुषके लिये सूर्य समिधा-रूप है, अर्थात् जैसे समिधा प्रदीप्त नहीं होती, वैसे जिस तेजके पुंज भगवान्के सम्मुख सूर्य जैसा दीप्तिमान् तेजका पुंज समिधाकी तरह तेज-हीन है, उसी

दिव्यो ह्यमूर्त पुरुष सबाह्याभ्यन्तरो ह्यज ।
अप्राणो ह्यमना शुभ्रो ह्यक्षरात्परत पर । २ ।
एतस्माज्जायते प्राणो मन सर्वेन्द्रियाणि च ।
ख वायुर्ज्योतिराप पृथिवी विश्वस्य धारिणी । ३ ।
अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिश श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदा ।
वायु प्राणो हृदय विश्वमस्य पद्भ्या पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा । ४ ।

विराट्-पुरुषसे अग्नि उत्पन्न हुई है। चन्द्र जैसे पृथिवीमें वर्षाका सिंचन करता है और उससे ओषधियां उत्पन्न होती है, पुरुष जैसे स्त्रीमें वीर्यका सिंचन करता है और उससे प्रजा उत्पन्न होती है, इसीतरह विराट्-पुरुषसे ही सब-कुछ प्रसूत हुआ है ।५।

उसी विराट्-पुरुष से ऋक्, यजु, साम प्रकट होते हैं। इन तीनो वेदोमें 'दीक्षा' लेकर, 'यजमान' 'संवत्सर'तक, 'यज्ञ' तथा अन्य सब 'क्रतु' अर्थात् कर्म करता है, और 'दक्षिणा' देकर उन 'लोकों'को प्राप्त होता है जिनमें 'सोम' और 'सूर्य' अपना प्रकाश देते हैं। ये दीक्षा, यजमान, सवत्सर, यज्ञ, सब क्रतु, दक्षिणा, लोक, सोम, सूर्य—सब उसी विराट्-पुरुषसे उत्पन्न हुए हैं ('सोम और सूर्य प्रकाश देते हैं' का अभिप्राय 'सोम'से दक्षिणायन तथा 'सूर्य'से उत्तरायण—मुडक १-२-११ तथा छान्दोग्य ५-१०—से है।) ।६।

देव, साध्य तथा मनुष्य—ये तीन कोटिके उच्च-जीव हैं। जो पिछले जन्ममें साधना कर चुकनेके कारण दिव्य-गुणोको पाकर उत्पन्न हुए हैं, वे 'देव', जिन्होने साधनाद्वारा इस जन्ममें दिव्य-गुण प्राप्त किये हैं, वे 'साध्य', जो साधारण गुणोंवाले हैं, वे 'मनुष्य'। ये तीनो उसी विराट्-पुरुषसे उत्पन्न हुए हैं। पशु, पक्षी भी उसीसे उत्पन्न हुए हैं। प्राण, अपान, व्रीहि, यव; तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य, और इनकी विधि—सब उसीसे हैं ।७।

मनुष्य-शरीरमें दो आख, दो कान, दो नाक और एक मुख—ये सात लोक हैं, जो मानो सात गुफाएं हैं। इन गुफाओमें प्रविष्ट हुए प्राण

तस्मादग्नि समिधो यस्य सूर्य सोमात्पर्जन्य ओषधय पृथिव्याम् ।
पुमान् रेत सिञ्चति योषितायां बह्वी प्रजा पुरुषात्सम्प्रसूता । ५ ।
तस्मादृच साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च ।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोका सोमो यत्र पवते यत्र सूर्य । ६ ।
तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूता साध्या मनुष्या पशवो वयांसि ।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्य ब्रह्मचर्य विधिश्च । ७ ।

विचरते है । एक-एकमें एक-एक प्राण है, अत सातोमें सात-सात प्राण है । ये सातो प्राण उसीसे उत्पन्न होते है । इन सातो गुफाओमें प्राण-यज्ञ हो रहा है, सात होम हो रहे है, जिनमें विषय-रूपी सात समिधाए पड रही है, और इन समिधाओके जलनेसे ज्ञान-रूपी सात अग्निया ज्योति दे रही है । ये सब उसी विराट्-पुरुषसे है ।८।

इसीसे समुद्र, पर्वत है, इसीसे छोटे-बडे सिन्धु, नदी-नाले बह रहे है, इसीसे ओषधिया, इसीसे ओषधियोका रस उत्पन्न होता है । यह जगत् पाच महाभूतोके साथ विराजमान है । इन सबका अन्तरात्मा वही है ।९।

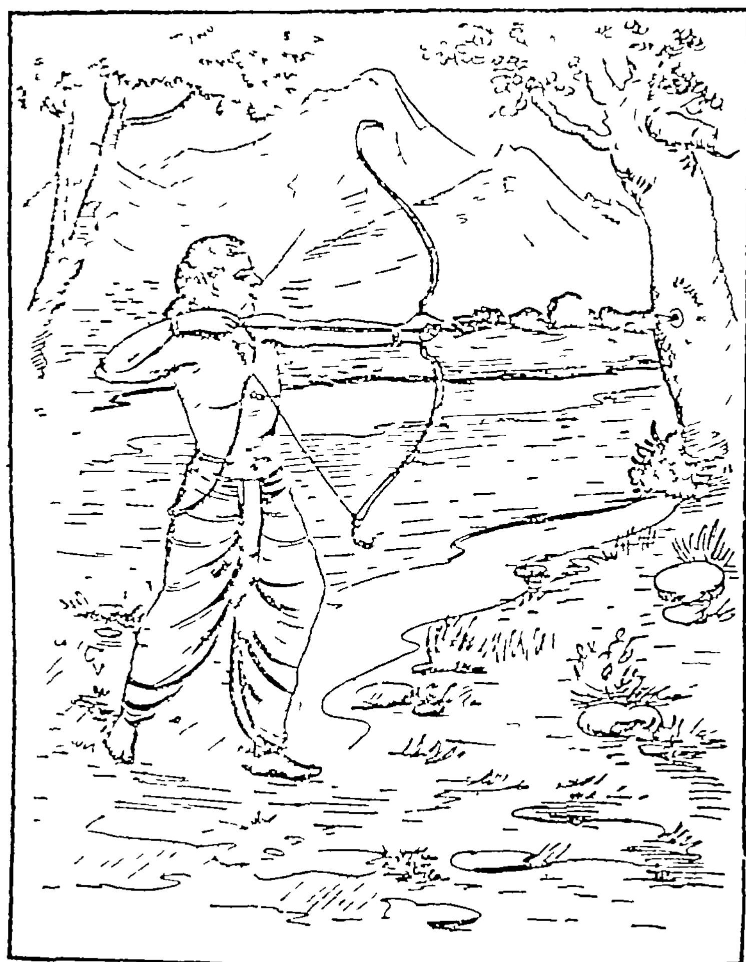
हे सौम्य ! यह विश्व उसी पुरुषमें है। कर्म, तप, ब्रह्म और परम अमृत सब उसीमें है, और उसीसे है । गुहामें छिपेहुए उसको जो जान लेता है वह अविद्याकी गाठको जिसने हमें बाध रखा है काट डालता है ।१०।

द्वितीय-मुण्डक——(द्वितीय खड)

वह गुहामें छिपा है, परन्तु फिर भी प्रकट रूपमें हमारे सामने ही पडा है, कहते है वह महान् है, परन्तु हमारे आत्म-समर्पणके लिये उसके पाव तो यही हमारे सामने इस पृथिवीके रूपमें समर्पित है । हे जड-चेतन-जगत् ! तुम यह जान लो कि वह विज्ञानसे परे है, सत्-असत् दोनोसे वरेण्य है, अर्थात् बेहतर है, प्रजाओमें वह वरिष्ठ, अर्थात् सबसे बढा-चढा है ।१।

सप्त प्राणा प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिष समिध सप्त होमा ।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिता सप्त सप्त । ८ ।
अत समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धव सर्वरूपा ।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा । ९ ।
पुरुष एवेद विश्व कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।
एतद्यो वेद निहित गुहाया सोऽविद्याग्रन्थि विकिरतीह सोम्य । १० ।
आवि सनिहित गुहाचर नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम् ।
एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्य पर विज्ञानाद्यद्वरिष्ठ प्रजानाम् ।१।

हे सोम्य ! जो प्रकाशमान है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है, परन्तु जिसमें स्थूलसे भी स्थूल लोक निहित है, इन लोकोमें जिनका वास है व प्राणी भी जिसमें निहित है, वही अक्षर ब्रह्म है, वही प्राण है, वही वाणी है, वही मन है, वही सत्य है, वही अमृत है, हे सोम्य ! यह जान ले कि वही तेरा लक्ष्य है, उसीको तूने वीधना है ।२।



प्रणव धनुष हैं—ब्रह्म लक्ष्य है, उसीको तूने वींधना है

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिंल्लोका निहिता लोकिनश्च ।
तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः ।
तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि । २ ।

हे सोम्य ! 'उपनिषद्'-रूप महान् अस्त्र-रूपी धनुषको ग्रहण करके, 'उपासना'-रूप तेज शरका सन्धान करके, 'भगवान्'-रूप लक्ष्यमें लगे चित्तसे धनुषको खींचकर, 'अक्षर'-रूप लक्ष्यका वेध कर डाल ।३।

प्रणव धनुष है, आत्मा शर है, ब्रह्म लक्ष्य है। अप्रमत्त होकर इस लक्ष्यका वेध करे, फिर जैसे शर लक्ष्यमय हो जाता है, वैसे आत्मा ब्रह्ममय हो जायगा ।४।

द्यु, पृथिवी, अन्तरिक्ष—अर्थात् यह विशाल 'ब्रह्माड', एव मन तथा सभी प्राण—अर्थात् यह छोटा 'पिंड', उसी ब्रह्ममें ताने-बानेकी तरह ओत-प्रोत है। उसी एक आत्माको पहिचानो, अन्य बातें करना छोड दो। दु खमय भव-सागरसे पार होकर अमृततक पहुचनेका वही पुल है ।५।

जैसे भिन्न-भिन्न अरे रथकी नाभिमें जुडे होते है, जैसे भिन्न-भिन्न नाडिया हृदयमें सहत होजाती है, वैसे ही अनेक रूपोमें प्रकट होनेवाला वह विराट्-पुरुष हमारे हृदयके भीतर ही विचरता है। उस आत्माका ओकारके रूपमें ध्यान करो, तुम्हारा कल्याण होगा, गाढान्धकारके भी परले पार ले जानेका यही साधन है ।६।

जो सर्वज्ञ है, सर्ववित् है—सब जगह विद्यमान है, जिसकी महिमा भू-लोकमें तथा दिव्य ब्रह्मपुर—ब्रह्मकी नगरी—व्योम-लोकमें

धनुर्गृहीत्वौपनिषद महास्त्र शर ह्युपासानिशित सधयीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्य तदेवाक्षर सोम्य विद्धि । ३ ।
प्रणवो धनु शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्य शरवत्तन्मयो भवेत् । ४ ।
यस्मिन्द्यौ पृथिवी चान्तरिक्षमोत मन सह प्राणैश्च सर्वै ।
तमेवैक जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुचथामृतस्यैष सेतु । ५ ।
अरा इव रथनाभौ सहता यत्र नाड्य ।
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमान ।
ओमित्येव ध्यायथ आत्मान स्वस्ति व पराय तमस परस्तात् । ६ ।

हो रही है, जो आत्मा इन सब स्थानोमें प्रतिष्ठित है, जो मनोमय है, जो प्राग और शरीरका नेता है, जो अन्नमें भी प्रतिष्ठित है, धीर लोग हृदय (Emotion) तथा मस्तिष्क (Intelligence) के मेलसे उसका दर्शन करते है। सृष्टिमें जो आनन्दकी, अमृतकी झलक है--आनन्दरूप अमृत यद्विभाति--वह उसीकी झलक दीख रही है।७।

'हृदय'की सव गाठे (Emotional Complexes) टूट जाती है, मस्तिष्कके सब सशय छिन्न-भिन्न हो जाते है, मनुष्य जिन नाना कर्मोमें व्याकुलतासे भागा फिरता है वे छूट जाते है, जब उसका पर और अवर--ओर-छोर--दीख जाता है।८।

हिरण्मय कोश--सोनेका खजाना--जो तुम्हें दीखता है, इससे दूर एक आध्यात्मिक सुवर्णका खजाना है। दुनियाके खजानेका सिक्का मैला है, कलदार है, उस खजानेका सिक्का निर्मल है, निष्कल है। तुम इस सोनेकी चमकसे चकाचौंध हो रहे हो, उसे देखो, जो शुभ्र है, ज्योतियोकी ज्योति है। ससारमें रमनेवाले इन खजानोके गीत गाते है, आत्माको जाननेवाले उस खजानेको जानते है जिसकी चमकके बराबर दुनियामें कोई चमक ही नहीं।९।

उसकी ज्योतिके सम्मुख सूर्यकी ज्योति क्षीण हो जाती है, चन्द्र, तारे, विद्युत् वहा तेजोहीन हो जाते है, इस आगका तो कहना

य सर्वज्ञ सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठित।
मनोमय प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदय सनिधाय।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृत यद्विभाति। ७।
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसशया।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे। ८।
हिरण्मये परे कोशे विरज ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्र ज्योतिषा ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदु। ९।

ही क्या ? उसकी ज्योतिके पीछे ही सब प्रकाशित होते है, उसके प्रकाशसे ही यह सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित हो रहा है।१०।

अमृत ब्रह्म ही सामने है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दक्षिणमें है, ब्रह्म ही उत्तरमें है, नीचे ब्रह्म है, ऊपर ब्रह्म है, यह सम्पूर्ण विश्व--ससारमें जो-कुछ भी वरिष्ठ है, सब ब्रह्म-ही-ब्रह्मका प्रसार है, उसीका विस्तार है ।११।

तृतीय-मुण्डक--(प्रथम खड)

दो पक्षी है, सुदर पखोवाले, साथ-साथ जुडे हुए, एक-दूसरेके सखा। एक ही वृक्षको सब ओरसे घेरे हुए है वे। उनमेंसे एक वृक्षके फलको बडे स्वादसे चख रहा है, दूसरा बिना चखे सब-कुछ देख रहा है। जीवात्मा तथा परमात्मा ही दो पक्षी है, प्रकृति ही वृक्ष है, कर्म-फल ही वृक्षका फल है। जीवात्माको कर्मफल मिलता है, परमात्मा प्रकृतिमें सक्त हुए बिना सम्पूर्ण विश्वका द्रष्टा है (श्वेताश्वतर ४।६ मे यही भाव है।) ।१।

प्रकृति-रूपी वृक्ष तो एक ही है, परन्तु जीवात्मा तो उसके फलको देखकर बेबस हो जाता है, सामर्थ्यहीन हो जाता है, उसीके खानेमें निमग्न हो जाता है, और पीछे अपनी मूर्खतापर पछताने लगता है। और परमात्मा ? परमात्मा प्रकृति-रूपी वृक्षके फलको नही खाता, और फिर भी भोक्ता बना हुआ है, सम्पूर्ण प्रकृति उसीकी उपासनामें

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।१०।
ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ।११।
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।१।



जीव प्रकृतिका भोग करता है, ब्रह्म साक्षीचेता है

लीन है। जीवात्मा जब परमात्माकी इस महिमाको देख लेता है, तब शोक करना, पछताना छोड देता है ।२।

जब जीवात्मा द्रष्टा बनकर, बृहत् विश्वके कारण, इसके स्वामी, इसके कर्ता, प्रकाश-स्वरूप पुरुषको देख लेता है, तब वह विद्वान्

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः । २ ।

होकर पुण्य-पापको छोडकर, शोक, मोह, राग, द्वेषसे अलग होकर, परम समताको प्राप्त कर लेता है ।३।

विद्वान् पुरुष यह जान लेता है कि सृष्टिमें जो पच-महाभूतोकी आभा छटक रही है, यह वास्तवमें उस ब्रह्मकी उत्पन्न कीहुई प्राण-शक्ति ही अठखेलिया कर रही है—यह सोचकर वह अधिक नहीं बोलता । उसकी क्रीडाका क्षेत्र प्रकृति नही रहती, आत्मा हो जाता है, उसकी रति प्रकृतिमें नही, आत्मामें हो जाती है, आत्म-ज्ञानमें लग जानेसे वह क्रिया-हीन नही हो जाता, पहलेसे अधिक क्रियावान् हो जाता है । ब्रह्मवादियोंमें ऐसा व्यक्ति उच्च-कोटिका माना जाता है ।४।

वह आत्मा नित्यके ‘सत्य’से, ‘तप’से, ‘सम्यक्-ज्ञान’से और ‘ब्रह्मचर्य’से पाया जा सकता है । शरीरके भीतर ही वह शुभ्र ज्योतिर्मय रूपमें विद्यमान है । यति लोग राग-द्वेपादि दोषोका क्षय करके उसे देख पाते है ।५।

सत्यका ही विजय होता है, अनृतका नहीं । ‘देवयान-पन्था’—देवकी तरफ जानेवाला मार्ग सत्यसे बना है । आप्तकाम-ऋषि जिस मार्गसे चलते हैं, जहा पहुचते है, वह सत्यका ही परम-धाम है ।६।

वह स्वय महान् है, दिव्य है, अचिन्त्य-रूप है, परन्तु सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वस्तुमें भी प्रकाशित हो रहा है । वह दूर-से-दूर है, परन्तु देखनेवालोके लिये निकट-से-निकट अन्तरात्माकी गुफामें मौजूद है ।७।

यदा पश्य पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीश पुरुप ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जन परम साम्यमुपैति । ३ ।
प्राणो ह्येप य सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी ।
आत्मक्रीड आत्मरति क्रियावानेप ब्रह्मविदा वरिष्ठ । ४ ।
सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येप आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्त शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो य पश्यन्ति यतय क्षीणदोपा । ५ ।
सत्यमेव जयति नानृत सत्येन पन्था विततो देवयान ।
येनाक्रमन्त्यृपयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परम निधानम् । ६ ।
बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूप सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतर विभाति ।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहित गुहायाम् । ७ ।

वह आखसे नहीं देखा जा सकता, दूसरेकी वाणीके उपदेशसे वह नहीं मिलता, अन्य इद्रियोसे भी उसका ग्रहण नही होता, तपोसे और भिन्न-भिन्न प्रकारके क्रिया-कर्मोसे भी वह हाथ नही आता। क्या ज्ञानसे वह मिल सकता है ? ज्ञानसे तो नहीं, परन्तु ज्ञानके प्रसादसे शुद्ध अन्त करणवाला व्यक्ति निष्कल ब्रह्मका ध्यान करता हुआ उसे देख पाता है ।८।

('ज्ञान' और 'ज्ञानके प्रसाद'मे क्या भेद है ? 'ज्ञान' मनुष्यको मार्ग दिखाता है, एक मार्ग नही अनेक, परन्तु 'ज्ञानका प्रसाद' तब मिलता है, जब अनेक मार्ग देखकर मनुष्य एक मार्गको ज्ञान-पूर्वक चुन लेता है, नही तो ज्ञान ही मनुष्यके लिये शातिके बजाय अशातिका कारण हो जाता है। ज्ञान-प्रसादसे 'निष्कल' ब्रह्म दीख जाता है। ब्रह्मको 'निष्कल' कहा है। कलाका अर्थ है—भाग, हिस्सा। चन्द्रकी कलाएँ होती है, उसके भाग होते है। भाग या हिस्सा उसी वस्तुका होता है, जो सीमित हो, परिमित हो। ब्रह्म सीमित नही, परिमित नही, इसलिये उसकी कला भी नही, वह निष्कल है।)

आत्मा स्थूल नहीं, अणु है, सूक्ष्म है, अत. उसका ज्ञान इन्द्रियोसे नहीं, चित्तसे ही हो सकता है, परन्तु कठिनाई यह है कि चित्तमें प्राण अपने पाच रूपोको लेकर आ घुसा है, और चित्तको आत्माकी तरफ नहीं जाने देता, अपनी तरफ, जिस शरीरमें पांचो प्राणोका भोग चल रहा है उसकी तरफ खींचता है। प्रभुकी सम्पूर्ण प्रजाका चित्त-रूपी मनका प्राणोके धागेमें ओत है, अर्थात् पिरोया हुआ है। आत्माकी तरफ जानेके बजाय, चित्त, प्राणोकी तरफ, शरीरके भोगो-की तरफ चल रहा है। चित्त-रूपी मनकेको प्राणोके धागेमेंसे निकाल कर आत्माके धागेमें पिरोनेकी आवश्यकता है। आत्माके धागेमें पिरोये जानेपर चित्त शुद्ध हो जाता है, निर्मल हो जाता है, और प्राणोकी

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान.। ८।

तरफ खिंचनेके स्थानमें दर्पणकी तरह विशुद्ध हो जाता है, चित्तके विशुद्ध हो जाने पर उसमें आत्माकी आभा दीख पडती है ।९।

संसारी लोग भोगोकी तरफ भाग रहे है, परन्तु अगर संसारकी विभूतियोकी कामना हो, तो भी ब्रह्म-ज्ञानीके चरणोमें ही जानेकी आवश्यकता है, क्योंकि अन्त करण शुद्ध हो जानेके पश्चात् आत्मज्ञ जिस-जिस लोकमें जानेका मानस-संकल्प करता है, या जो-जो कामना करता है, उसी-उसी लोकमें वह पहुंच जाता है, और उसकी वही-वही कामना पूर्ण हो जाती है ।१०।

तृतीय-मुण्डक—(द्वितीय खंड)

जिस ब्रह्म-ज्ञानीका अभी वर्णन किया वह ब्रह्मके परम-धामको जानता है । ब्रह्मके उस परम-धामके कारण ही यह विश्व शुभ-रूपमें भास रहा है । इस विश्वका तेज उस ब्रह्मका ही तेज है । जो धीर, कामना-रहित होकर उस पुरुप-रूप ब्रह्मकी उपासना करते है, वे योनिसे योनिमें चक्कर लगानेके मार्गको लाघ जाते है ।१।

जो व्यक्ति कामनाओंको ही सब-कुछ माने बैठा है, उन्हींकी आराधना करता है, वह उन कामनाओसे भिन्न-भिन्न योनियोमें उत्पन्न होता है । जिस व्यक्तिके लिये कामनाए पर्याप्त हो चुकी है, बहुत हो चुकी है, अब उनमें वह नही फसा हुआ, वह 'कृतात्मा' हो जाता है, उसका सब ध्यान 'आत्मा'में लग जाता है, और उसकी

"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राण पञ्चधा संविवेश ।
प्राणैश्चित्त सर्वमोत प्रजाना यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा । ९ ।
य य लोक मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्व कामयते यांश्च कामान ।
त त लोक जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञ ह्यर्चयेद्भूतिकाम । १० ।
स वेदैतत्परम ब्रह्म धाम यत्र विश्व निहित भाति शुभ्रम् ।
उपासते पुरुष ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीरा । १ ।

सब कामनाए यहीं लीन हो जाती है । कामनाए बनी रहें, लीन न हो, इसीलिये तो भिन्न-भिन्न योनियोका द्वार देखना पडता है ।२।

आत्मा बडे-बडे भाषणोसे नही मिलता, तर्क-वितर्कसे नही मिलता, बहुत-कुछ पढने-सुननेसे नही मिलता । जिसको यह वर लेता है, वही इसे प्राप्त कर सकता है, उसके सामने आत्मा अपने स्वरूपको खोलकर रख देता है ।३।

आत्माको शारीरिक बलसे हीन व्यक्ति प्राप्त नही कर सकता, मानसिक प्रमादमें पडा हुआ व्यक्ति भी इसे प्राप्त नहीं कर सकता, अलिग-'तप'——प्रयोजन-हीन-तपस्या——करनेवाला भी इसे प्राप्त नहीं कर सकता । जो यह सब-कुछ जानता-बूझता इन उपायोसे उसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है, उसे आत्मा तो प्राप्त क्या होना था, आत्मा उससे पीठ फेरकर अपने ब्रह्म-धाममें जा छिपता है, उसके सामने प्रकट ही नहीं होता ।४।

ज्ञानसे तृप्त, आत्माराधनमें दिन-रात लगे हुए, वीतराग, प्रशात ऋषि, आत्माको प्राप्त करके, अपने आत्माको परमात्मासे जोड देते हैं । परमात्मा सब जगह पहुचनेवाला है, वे अपनेको परमात्माके साथ सब ओरसे जोड लेते है, फिर परमात्माके साथ-साथ जहा वह पहुचता है, वहा आत्मा भी जा पहुचता है । जब पल्ला उसके साथ बाध दिया तब उससे छुडा कौन सकता है ? ।५।

कामान्य कामयते मन्यमान न कामभिर्जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सव प्रविलीयन्ति कामा । २ ।
नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनु स्वाम् । ३ ।
नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिंगात् ।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वान्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम । ४ ।
सप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ता कृतात्मानो वीतरागा प्रशान्ता ।
ते सवग सर्वत प्राप्य धीरा युक्तात्मान सवमेवाविशन्ति । ५ ।

जो 'वेदान्त' (Religion) और 'विज्ञान' (Science) से जीवनके लक्ष्यको निश्चित-रूपसे जान गये है, जो ससारमें 'सन्यास' (Detachment) और 'योग' (Attachment) से यति हो गये है, जो शुद्धान्त करण है, वे परम-'अन्तकाल' में परम-'अमृत' होकर ब्रह्म-लोकमें चले जाते है, और बन्धनोसे मुक्त हो जाते है ।६।

उनकी पन्द्रहो कलाए (पाच ज्ञानेन्द्रिया, पाच कर्मेन्द्रिया तथा पाच प्राण) समाप्त हो जाती है, सोलहवा निष्कल आत्मा रह जाता है, उनकी इन्द्रिया अपने कारणोमें लीन हो जाती है, उनके कर्म भी नि शेष हो जाते है, और विज्ञानमय 'आत्मा' (Super Consciousness) अव्यय 'परमात्मा' (Eternal Principle) में जा पहुचता है । उस अव्यय-ब्रह्ममें सब एक हो जाते है ।७।

जैसे नदिया बहती है, और बहते-बहते अपना-अपना पृथक् नाम और रूप छोडकर समुद्रमें अस्त हो जाती है, इसीप्रकार विद्वान् पुरुष नाम-रूपसे छूटकर परे-से-परे दिव्य-पुरुषके निकट पहुच जाता है ।८।

जो उस परम-ब्रह्मको जान जाता है, वह मानो ब्रह्म ही हो जाता है, उसके कुलमें भी कोई ब्रह्मको न जाननेवाला नही रहता । हृदय तथा मस्तिष्ककी भीतरी गुफाओमें जो ग्रथिया (Complexes) पडी रहती है, उनसे छूटकर वह अमृत हो जाता है, शोकको तर जाता है, पापको तर जाता है ।९।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था सन्यासयोगाद्यतय शुद्धसत्त्वा ।
ते ब्रह्मलोकेपु परान्तकाले परामृता परिमुच्यन्ति सर्वे । ६ ।
गता कला पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रति देवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति । ७ ।
यथा नद्य स्यन्दमाना समुद्रेऽस्त गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्त परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम् । ८ ।
स यो ह वै तत्परम ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति ।
तरति शोक तरति पाप्मान गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति । ९ ।

ऋचाओमें भी कहा है—ब्रह्मनिष्ठ क्रियाशील श्रोत्रिय जगह-जगह न भटककर श्रद्धा-पूर्वक स्वयं किसी एक ब्रह्म-ज्ञानी ऋषिके चरणोमें उपस्थित होते है। इसप्रकार ऋषिके पास जो जिज्ञासु स्वयं पहुचते है, जो विधि-पूर्वक इस व्रतको अपने सिरपर ही लेते है, दूसरो-का सहारा नहीं लेते, उन्हें 'ब्रह्म-विद्या'का उपदेश दे ।१०।

किसी पुरातन-कालमे अंगिरा ऋषिने उक्त तथ्योका उपदेश दिया था । संकल्प-शक्ति-हीन व्यक्ति इस पाठको नही पढ सकता । उन परम ऋषियोको नमस्कार हो, नमस्कार हो ।११।

(इस उपनिषद्मे 'परा' तथा 'अपरा' विद्याका वर्णन करते हुए यह बतलाया है कि यज्ञ-यागादि 'कर्मकाड' अपरा-विद्या है—इनसे पर-ब्रह्म प्राप्त नही होता, ईश्वर-प्रणिधान आदि 'ज्ञान-काड' परा-विद्या है—इसीसे ब्रह्म प्राप्त होता है । और, वास्तवमे 'अपरा' तो अविद्या है, 'परा' ही यथार्थमे विद्या है—क्योकि परासे ही ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त होता है। ब्रह्मसे ही जगत्का विस्तार होता है—इसका क्या अर्थ ? । यह विस्तार कैसे होता है ? इसमे दृष्टात दिया है—जैसे मकडी अपने-मेसे जाल बना डालती है, और फिर समेट लेती है । वेदान्ती इसका अर्थ अद्वैत-परक करते है, द्वैत-वादी द्वैत-परक। मकडी अपनेमेसे जो जाला निकालती है, वह अपने शरीरमेसे ही तो निकालती है, अपने ही मेसे, अपने आत्म-तत्त्वमेसे तो नही निकालती । ब्रह्म भी अपने शरीरमेसे, और प्रकृति ही उसका शरीर है, इस विश्वकी रचना कर डालता है । इसी द्वैतभावके आधारपर दो पक्षी है, जो प्रकृति-रूपी वृक्षपर रहते है—यह विचार, जो इसी उपनिषद्मे है, समझमे आ सकता है ।)

तदेतदृचाऽभ्युक्तम् ।
क्रियावन्त श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठा स्वय जुव्हत एकर्षि श्रद्धयन्त ।
तेषामेवैता ब्रह्मविद्या वदेत शिरोव्रत विधिवद्यैस्तु चीर्णम् । १० ।
तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिरा पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते ।
नम परमऋषिभ्यो नम परमऋषिभ्य । ११ ।

माण्डूक्योपनिषद्में वर्णित शरीरमें 'जीव' तथा प्रकृतिमें 'ब्रह्म'के स्वरूपका चित्रमें वर्णन

प्रथम 'अवस्था' या 'स्थान'—जाग्रत्	द्वितीय 'अवस्था' या 'स्थान'—स्वप्न	तृतीय 'अवस्था' या 'स्थान'—सुषुप्ति	चतुर्थ 'अवस्था'—तुरीय
शरीर तथा प्रकृतिकी जो 'जाग्रतावस्था' है वह जीव तथा ब्रह्मका 'जागरित-स्थान' है।	शरीर तथा प्रकृतिकी जो 'स्वप्नावस्था' है वह जीव तथा ब्रह्मका 'स्वप्न-स्थान' है।	शरीर तथा प्रकृतिकी जो 'सुषुप्तावस्था' है वह जीव तथा ब्रह्मका 'सुषुप्त-स्थान' है।	अदृष्ट
जाग्रत्-स्थानमें जीव तथा ब्रह्म 'बहिष्प्रज्ञ' (Extrovert) होते हैं।	स्वप्न-स्थानमें जीव तथा ब्रह्म 'अन्तःप्रज्ञ' (Introvert) होते हैं।	सुषुप्त-स्थानमें जीव 'प्रज्ञ' (Consciousness) तथा ब्रह्म 'प्रज्ञानघन' (Concentric Consciousness) है।	अचिन्त्य
जाग्रत्-स्थानमें जीव तथा ब्रह्मका शरीर 'वैश्वानर' है। (क) जीवका शरीर 'वैश्वानर' है, अर्थात् उसमें 'व्यक्तित्व' (Individuality) पैदा हो जाता है, (ख) ब्रह्मका शरीर 'वैश्वानर' है, अर्थात् उसके शरीर—'प्रकृति'—में 'व्यक्तत्व' (Definiteness) आ जाती है।	स्वप्न-स्थानमें जीव तथा ब्रह्मका शरीर 'तैजस्' है। (क) जीवका शरीर 'तैजस्' है, अर्थात् स्वप्नमें तेजोमय-मन (Sub conscious) जाग उठता है। (ख) ब्रह्मका शरीर तैजस है, अर्थात् इस समय प्रकृति 'हिरण्यगर्भ' (Nebula) अवस्थामें है।	सुषुप्त-स्थानमें जीव तथा ब्रह्मका शरीर 'प्राज्ञ' है। (क) जीवका शरीर प्राज्ञ = प्र + अज्ञ (Unconscious) है। (ख) ब्रह्मका शरीर—प्रकृति प्राज्ञ—अज्ञानावस्थामें (Indefinite) है।	अव्यवहार्य
जाग्रत्-स्थानमें जीव शरीरद्वारा और ब्रह्म प्रकृतिद्वारा 'स्थूल-भुक्' कहाता है।	स्वप्न-स्थानमें जीव शरीरद्वारा और ब्रह्म प्रकृतिद्वारा 'प्रविविक्तभुक्' कहाता है।	सुषुप्त-स्थानमें जीव शरीरद्वारा तथा ब्रह्म प्रकृतिद्वारा 'आनन्दभुक्' कहाता है।	अग्राह्य
जाग्रत्-स्थानमें जीव तथा ब्रह्म दोनों 'सप्ताङ्ग' तथा 'एकोनविंशति मुख' हैं।	स्वप्न-स्थानमें जीव तथा ब्रह्म दोनों 'सप्ताङ्ग' तथा 'एकोनविंशति मुख' हैं।	सुषुप्त-स्थानमें जीव तथा ब्रह्म दोनों 'चेतोमुख' हैं।	अव्यपदेश्य
			निर्गुण
			नेति, नेति
अ (प्रथम पाद)	उ (द्वितीय पाद)	म् (तृतीय पाद)	अमात्र (चतुर्थ पाद)
'अ'-'उ'-'म्'—यह 'जीव' तथा 'ब्रह्म' का त्रिमात्र रूप, सगुण-रूप, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिका रूप है।			जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिसे परे जीव तथा ब्रह्मका तुरीय, अमात्र, निर्गुण रूप है।

माण्डूक्योपनिषत्

'ओम्'—यह एक छोटा-सा अक्षर है, परन्तु निखिल संसार इसी एक अक्षरकी व्याख्या है, भूत-वर्तमान-भविष्यत्—सब ओंकारका ही विस्तार है। जो भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्—इन तीनों कालोंमें नहीं समाता, जो त्रिकालातीत है, वह भी ओंकारका ही प्रसार है।१।

यह सम्पूर्ण विश्व—'ब्रह्माण्ड'—ब्रह्म है, अर्थात् ब्रह्मका ही विस्तार है, इसीप्रकार हम-सबका यह 'पिंड' भी ब्रह्म है, अर्थात् जैसे ब्रह्माण्डमें ब्रह्मका विस्तार विश्व है, वैसे ब्रह्मकी भांति पिंडमें जीवका विस्तार शरीर है। 'आत्मा'के, अर्थात् ब्रह्माण्डमें 'ब्रह्म' तथा पिंडमें 'जीवात्मा'के चार पाद हैं, अर्थात् इन दोनोंकी अनुभूतिके चार स्थान हैं, चार जगह हैं, जहां इन्हें पाया जासकता है।२।

'आत्मा', अर्थात् 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म'का प्रथम-पाद, प्रथम-स्थान वह है जिसे हम 'शरीर' तथा 'प्रकृति'की जागृतावस्था कहते हैं। जब चेतना अन्दरसे बाहर आती है तब शरीरकी जागृतावस्था होती है। 'जागृतावस्था'में 'चेतना' भीतरसे निकलकर 'जाग्रत्-स्थान'में आजाती है। कौन-सी चेतना? 'जीव'की चेतना शरीरमें, और 'ब्रह्म'की चेतना विश्वमें, प्रत्यक्ष-रूपमें आबैठती है। जागती हुई अवस्थामें, 'जीव'केलिये 'शरीर' तथा 'ब्रह्म'केलिये 'प्रकृति' ही, उसका स्थान है, जगह है, यहीं इन्हें ढूंढा जासकता है, पाया जासकता है। मानो उस समय ब्रह्म, जीवकी तरह, अन्दरसे बाहर आबैठता है।

ओमित्येतदक्षरमिदँ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव ।१।

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ।२।

उस अवस्थामें जीव अपना कार्य-क्षेत्र शरीरको बना लेता है, ब्रह्म इस विशाल प्रकृतिको। फिर जहा कोई काम कर रहा होगा, वहीं तो उससे मिला जा सकेगा। शरीरमें हम झट जीवात्माको पा लेंगे, प्रकृतिमें ब्रह्मको। शरीर 'जागृतावस्था'में तभी तो आता है, जब जीवात्मा 'जाग्रत्-स्थान'में आबैठता है, तब शरीरकी ओट हटा देनेसे ही जीवात्मा मानो नजर आजाता है। प्रकृति भी तो इस सुदर रूपमें तभी प्रकट होती है, जब विश्वकर्माके रूपमें ब्रह्म हमारे सामने आबैठता है। वह हमारे इतना निकट आबैठता है कि प्रकृतिकी ओट हटाते ही वह मानो हमें दीखने लगता है। जैसे 'जीवात्मा' जब जाग्रत्-'स्थान'में आबैठता है तब 'बहि प्रज्ञ' होता है, अन्दरकी तरफ नहीं बाहरकी तरफ उसका ध्यान होता है, वैसे 'ब्रह्म' जब सृष्टिको रचकर उसमें मानो आबैठता है तब, उस अवस्थामें, वह भी 'बहि प्रज्ञ' है। ब्रह्म तत्त्वत प्रज्ञारूप है। प्रज्ञा जब विकासकी तरफ चल पडती है तब अन्दरसे बाहरकी ओर चलती है, अत विकसित सृष्टिके रूपमें वह 'बहि प्रज्ञ' कहाता है। जैसे 'जीवात्मा'के जाग्रत्-स्थानमें आबैठनेपर सिर, आख, कान, वाणी, फेफडे, हृदय तथा पाव—ये सात अग है, वैसे 'ब्रह्म'के विकसित सृष्टिके रूपमें प्रकट होनेपर—'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ, दिश श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदा, वायु प्राणो हृदय विश्वमस्य, पद्भ्या पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा' (मुण्डक)—अग्नि सिर है, सूर्य-चन्द्र आखें है, दिशाए कान है, वेद वाणी है, वायु फेफडे है, विश्व हृदय है, पृथिवी पाव है। 'जीवात्मा'की तरह 'ब्रह्म'के भी बहि प्रज्ञावस्थामें ये सात अग है, अत जाग्रत्-स्थानमें जीव तथा ब्रह्म दोनोको 'सप्ताग' कहा है। अगोका काम ससारका भोग करना है, भोगका प्रतिनिधि मुख है, जिससे खाया जाता है। जीवात्माके पास भोगके १९ साधन है, इसके १९ मुख है जिनसे यह ससारको भोगता है। ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, ५ प्राण ये १५ 'बाह्य-करण' तथा ४ 'अन्त करण' (मन,

बुद्धि, चित्त, अहकार)––ये १९ मुख है जिनसे जीवात्मा ससारका भोग करता है। ब्रह्म भी, ससारके सम्पूर्ण प्राणियोके इन १९ मुखो-से 'जाग्रत्-स्थान'में बैठकर 'बहि प्रज्ञावस्था'में, जीवात्माकी तरह इन प्राणियोद्वारा स्थूल-ससारका भोग कर रहा है––इसलिये वह भी 'स्थूलभुक्' है। जाग्रत्-स्थानमें बैठाहुआ जीवात्मा विश्वके व्यष्टि-रूप, अर्थात् एक-एक व्यक्तिरूप नर-नारी (Individuality)के रूपमें है, इसलिये जीवात्माकी यह अवस्था 'वैश्वानर' कहाती है, ब्रह्म भी बहि प्रज्ञावस्थामें समष्टिरूप नर-नारायणके रूपसे ही प्रकट होता है, अर्थात्, सब नर-नारियोके अलग-अलग शरीर मिलकर उसका एक विश्व-शरीर बनता है जो 'वैश्वानर' है, अत ब्रह्मकी इस अवस्थाको भी 'वैश्वानर' ही कहा जाता है।३।

(जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति––ये तीन अवस्थाए है जिनका सभीको अनुभव है। ये अवस्थाए शरीरकी है, जीवात्माकी नही। जीवात्माकी तो सदा एक ही अवस्था रहती है, शरीरकी अवस्थाए बदलती रहती है। 'जागृतावस्था' शरीरकी है, 'जाग्रत्-स्थान' जीवात्माका है। 'अवस्था' तथा 'स्थान'मे भेद है। जब शरीर 'जागृत-अवस्था'मे होता है, तब जीवात्मा 'जाग्रत्-स्थान'मे होता है, जब शरीर 'स्वप्नावस्था' मे होता है, तब जीवात्मा 'स्वप्न-स्थान'मे होता है, जब शरीर 'सुषुप्ता-वस्था'मे होता है, तब जीवात्माका 'सुषुप्त-स्थान' है। सृष्टिकी भी विकृतिके रूपमे कार्य-रूप सृष्टि (जागृतावस्था), महत्-अहकार-पचतन्मात्रके रूपमे कारण-रूप सृष्टि (स्वप्नावस्था), सत्त्व-रज-तमकी साम्यावस्था-रूप सृष्टि (सुषुप्तावस्था)––ये तीन अवस्थाए है, और इन तीन अवस्थाओके कारण ब्रह्मके भी जाग्रत्-स्थान, स्वप्न-स्थान तथा सुषुप्त-स्थान––ये तीन 'स्थान' है। 'जीवात्मा'की तथा 'ब्रह्म'की 'अवस्था' तो एक ही रहती है, परन्तु इनकी क्रिया-शक्तिके

जागरितस्थानो बहि प्रज्ञ सप्ताङ्ग एकोनविंश-
तिमुख स्थूलभुग्वैश्वानर प्रथम पाद।३।

'स्थान' बदलते रहते हैं। जिस स्थानमें इनकी क्रिया (Function) हो रही है, वही इनका स्थान है। जीवात्माकी जब जाग्रत्-स्थान में क्रिया हो रही है, तब इसका जाग्रत्-स्थान है, जब स्वप्न-स्थान में क्रिया हो रही है, तब इसका स्वप्न-स्थान है, जब सुषुप्त-स्थान में क्रिया हो रही है, तब इसका सुषुप्त-स्थान है। इसीप्रकार ब्रह्म की जब सृष्टिकी रचनामें क्रिया हो रही है, तब उसका जाग्रत्-स्थान है, जब सृष्टिके निर्माणका आयोजन (Planning) हो रहा है, तब उसका स्वप्न-स्थान है, जब सृष्टि विलीन हो गई है, तब उसका सुषुप्त-स्थान है। इन तीनों स्थानोंसे निकलकर जीवात्मा तथा ब्रह्म जब अपने स्वरूपमें होते हैं, तब वह तुरीय-स्थान है। शरीरकी जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति——इन तीन अवस्थाओंके कारण जैसे 'जीवात्मा' तीन स्थानोंमें रहता है, और इन तीनोंमेंसे निकल जानेके बाद अपने शुद्ध चौथे स्थानमें आ पहुंचता है, वैसे ही 'ब्रह्म' प्रकृतिकी तीन अवस्थाओं के कारण जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति——इन तीन स्थानोंमें रहता है, और इन तीनोंमेंसे निकल जानेके बाद अपने शुद्ध चौथे स्थानमें आ पहुंचता है। ब्रह्मका तीन स्थानोंका रूप 'सगुण' है, चौथे स्थानका रूप 'निर्गुण' है। 'सगुण' रूपोंमेंसे जाग्रत्-स्थानके उसके रूपका ध्यान सबसे आसान है क्योंकि सृष्टिके चमत्कारको देखकर ब्रह्मकी महिमाका कौन वर्णन नहीं करेगा? परन्तु जाग्रत्-स्थानके 'बहिःप्रज्ञ', 'वैश्वानर', 'स्थूल-भुक्', 'सप्तांग', 'एकोनविंशति-मुख' ब्रह्मका बखान उसके सिर्फ चतुर्थांशका, एक पादका वर्णन है। अपने आत्माके सम्बन्धमें क्योंकि सबको अपने भीतर प्रतिदिन जागृत्, स्वप्न, सुषुप्त-स्थानोंका अनुभव होता है, अतः उस अनुभवके आधारपर ऋषिने ब्रह्म-ज्ञानका अनुभव जिज्ञासुको दिया है।)

'आत्मा', अर्थात् 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म'का द्वितीय-पाद, द्वितीय-स्थान वह है जिसे हम 'शरीर' तथा 'प्रकृति'की स्वप्नावस्था कहते हैं। शरीरकी स्वप्नावस्था तभी होती है जब जीवात्मा जाग्रत्-स्थान से हटकर, वहां क्रिया (Function) न करके, स्वप्न-'स्थान'में क्रिया-

शील हो जाता है। शरीरकी जब 'स्वप्नावस्था' होती है, तब जीवात्माका 'स्वप्न-स्थान' होता है। उस समय जीवात्मा 'बहि प्रज्ञ' (Extrovert)से हटकर 'अन्त प्रज्ञ' (Introvert) हो जाता है, बाहरसे उसका ध्यान हटकर अन्दरकी तरफ चला जाता है। बहि-प्रज्ञावस्थामें वह अपने 'सप्ताग' शरीरसे—सिर, आख, कान, वाणी, फेफडे, हृदय, पादसे—और 'एकोनविंशति' मुखसे—भोगके साधन १९ उपकरणोसे—ससारका भोग करता था, स्वप्न-स्थानमें, अन्त प्रज्ञा-वस्थामें भी उसके 'सप्ताग-शरीर' तथा 'एकोनविंशति मुख' बने रहते है, भेद इतना आजाता है कि जहा जाग्रत्-स्थानमें बैठकर जीवात्मा स्थूल-शरीरसे और स्थूल-इन्द्रियोसे भोग करता था वहा स्वप्न-स्थानमें आकर सूक्ष्म शरीरसे और सूक्ष्म-शरीरकी इन्द्रियोसे भोग करता है। यह भोग स्थूल-जगत्का भोग नही है, विचार-मय-जगत्का भोग है, विवेकके जगत्का, इसलिये इस स्थानमें आत्मा 'स्थूल-भुक्' न होकर, 'प्रविविक्त-भुक्' कहाता है। इस अवस्थामें बाह्य-ससार विचारके ससारमें आबैठता है। जैसे जाग्रत्-स्थानमे जीवात्माका शरीर 'वैश्वानर' (Individuality) है, भिन्न-भिन्न नरोके शरीर ही आत्माके शरीर है, वैसे स्वप्न-स्थानमे जीवात्माका शरीर 'तैजस्' है, तेजसे बनाहुआ (Astral) है। जीवात्माका जाग्रत्-स्थानमे 'स्थूल-शरीर' है, इसे 'वैश्वानर' कहते है, स्वप्न-स्थानमें 'सूक्ष्म-शरीर' है, इसे 'तैजस्' कहते है। 'तैजस्' इसलिये कहते है क्योकि शरीर जब सो जाता है, स्वप्नावस्थामें चलाजाता है, तब जीवात्माका यथार्थ तेजोमय रूप जो शरीरके अन्धकारमय आवरणसे ढका हुआ था, चमक उठता है। सुषुप्त-स्थानमें जीवात्माका 'कारण-शरीर' है, इसे 'प्राज्ञ' कहते है, इसे 'प्राज्ञ' क्यो कहते है—इसका आगे वर्णन आयेगा। वस्तुत्वमें ये शरीर जीवात्माके नहीं है, इन शरीरोमें क्रिया करनेके कारण ये उसके शरीर कहाते है, जब जीवात्मा इन तीनोमेंसे छूट जाता है तब वह अपने शुद्ध रूपमें आता है, वह उसका तुरीय-स्थान है। जैसे जीवात्माका जाग्रत्-स्थानमे

हट आनेपर स्वप्न-स्थान है, वैसे ब्रह्मका कार्य-रूप सृष्टिसे हटकर कारण-रूप सृष्टिमें क्रिया करते समय स्वप्न-स्थान है। जब ब्रह्म स्वप्न-स्थानमें होता है तब सम्पूर्ण स्थूल-सृष्टि सूक्ष्म-रूपमें उसके विचारमें होती है, अग्नि, सूर्य-चन्द्र, दिशाए, वेद, वायु, विश्व, पृथिवी —ये सातो अग जैसे स्थूल-जगत्में ब्रह्मके अग है, वैसे बीज-रूपमें भी ब्रह्मके अग बने होते है, और वह विवेकमें, विचारमें, इन अगोद्वारा विश्वका उपभोग कर रहा होता है। जैसे मकान बनानेवाला मकान बनानेसे पहले सम्पूर्ण रचनाको मनमें बना लेता है, ईट-पत्थरका मकान बननेसे पहले नक्शेका मकान, विचारका मकान मानो बन चुका होता है, मकान बनानेवाला अपने विवेकमें ही विचारमें बने मकानका आनन्द भोग चुका होता है, वैसे ही ब्रह्म ससारकी रचना करनेसे पूर्व स्वप्न-स्थानमें बैठकर अपने विचारमें, विवेकमें, बिना विश्वकी रचना किये विश्व-रचनाका आनन्द भोग लेता है, इसलिये उसे भी जीवात्माकी तरह 'प्रविविक्तभुक्' अर्थात् 'विचार या विवेकमें जिसने भोग लिया'—यह कहा है। स्वप्न-स्थानमें जीवात्माकी तरह ब्रह्मका शरीर तैजस् है, तेजसे बना है। इसीको वेदमें 'हिरण्यगर्भ' कहा है। सृष्टिके प्रारभमें, जब कार्यावस्थामें सृष्टि नही आई थी, साम्यावस्था से तो आगे चल पडी थी परन्तु अभी कारणावस्थामें ही थी, उस समय सबसे प्रथम 'हिरण्यगर्भ' उत्पन्न हुआ—'हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे'। कारणावस्थामें सृष्टिका जो रूप था उसीको 'हिरण्यगर्भ' कहा गया है। यह 'हिरण्यगर्भ' (Nebula) तेजोमय पिड था, इसीका नाम महत्, अहकार, पचतन्मात्र है, यही ब्रह्मका स्वप्नावस्थाका तैजस् शरीर था। स्वप्न-स्थानके इस 'अन्त प्रज्ञ', 'तैजस्', 'प्रविविक्त-भुक्', 'सप्ताग', 'एकोनविंशति-मुख' ब्रह्मका बखान उसके द्वितीय पादका, दूसरे चतुर्थांशका वर्णन है।४।

स्वप्नस्थानोऽन्त प्रज्ञ सप्ताग एकोनविंशतिमुख
प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीय पाद ।४।

'आत्मा', अर्थात् 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म'का तृतीय-पाद, तृतीय-स्थान वह है जिसे हम 'शरीर' तथा 'प्रकृति'की सुषुप्तावस्था कहते है। शरीरकी सुषुप्तावस्था तभी होती है जब जीवात्मा जाग्रत्-स्थानसे हट-कर, वहा क्रिया (Function) न करके, सुषुप्ति-'स्थान'में क्रियाशील हो जाता है। शरीरकी जब 'सुषुप्त-अवस्था' होती है, तब जीवात्माका 'सुषुप्त-स्थान' होता है। उस सोयी हुई अवस्थामें शरीर किसी प्रकार-की कामना नहीं करता, किसी प्रकारका स्वप्न भी नही देखता। उपनिषत्कारने शरीरकी उस अवस्थाको 'प्राज्ञ'-अवस्था कहा है। 'प्राज्ञ'का अर्थ है 'प्र+अज्ञ', अर्थात् 'अत्यन्त अज्ञानकी अवस्था'। सुषुप्तावस्थामें शरीर जड हो जाता है, अत्यन्त अज्ञानावस्थामें होता है, शरीर और जीवात्माका सबध होता हुआ भी एक प्रकारसे टूट जाता है। शरीरमें जितनी चेतनता है, ज्ञान है, सब जीवात्माके कारण है, अत सुषुप्तावस्थामें जब शरीरसे सबध तोडकर, जीवात्मा अपनी शक्तिको बाहर बखेरनेके स्थानमें अपने अदर खीच लेता है, अपनी शक्तियोको 'एकीभूत' कर लेता है, शरीरसे मानो अलग-सा कर लेता है, तब जीवात्मा तो 'प्रज्ञानघन', अर्थात् ज्ञानकी घनावस्था-में आपहुचता है, और शरीर 'प्राज्ञ' (प्र+अज्ञ), अर्थात् अत्यन्त अज्ञानकी अवस्थामें आपहुचता है। जागृतावस्थामें शरीरको 'वैश्वा-नर' कहा गया है, स्वप्नावस्थामें 'तैजस्', और सुषुप्तावस्थामें 'प्राज्ञ' कहा गया है। शरीरके विपरीत जीवात्माका यथार्थ-रूप तो 'प्रज्ञ' (प्र+ज्ञ) अर्थात् विशेषरूपसे ज्ञानवाला है, वह ज्ञानरूप है, चेतनारूप है। शरीरकी जागृतावस्थामें प्रज्ञा बाहर भ्रमण कर रही होती है, अत उस समय जीवात्मा 'बहि प्रज्ञ' (Extrovert) कहाता है, शरीरकी स्वप्नावस्थामें प्रज्ञा अन्दर भ्रमण करती है, अत उस समय जीवात्मा 'अन्त प्रज्ञ' (Introvert) कहाता है। शरीरकी सुषुप्तावस्था में प्रज्ञा एकीभूत हो जाती है, घनीभूत हो जाती है, अत उस समय जीवात्मा 'प्रज्ञानघन' (Concentric Consciousness) कहाता है। जाग्रत्-स्थानमें बैठे हुए जीवात्माके भोगके साधन 'सप्ताग'

और 'एकोनविंशति' मुख थे, स्वप्न-स्थानमें भी जीवात्मा इन्हीं अगो और मुखोसे सस्कारोके रूपमें वह भोग करता है, परन्तु सुषुप्त-स्थानमे आकर तो उसके सस्कार तक शात हो जाते है। उस समय जीवात्माके भोगका साधन अपनी 'चेतना'-मात्र रह जाती है, अत सुषुप्त-स्थानमें आनेपर जीवात्माको 'चेतोमुख', अर्थात् 'चेतना ही जिसके भोगका साधन है, और कोई अग नही'—ऐसा कहा है। सुषुप्तावस्थामें शरीर तो ज्ञानरहित हो जाता है, परन्तु जीवात्मा सुषुप्त-स्थानमें आकर अपने रूपमें समा जाता है, ज्ञानरूप हो जाता है, आनन्दमय हो जाता है, आनन्दका ही उपभोग करता है, अत उस समय जीवात्माको 'आनन्द-भुक्' कहते है। तभी सुषुप्तावस्थासे निकलकर मनुष्य कहता है, बडे आनन्दसे सोया। शरीरकी सुषुप्तावस्थामें जीवात्माको जो आनन्द प्राप्त होता है, उसीका जागनेपर मनुष्य स्मरण-सा करता है, और कहता है, ऐसी आनन्दमय निद्रा तो कभी आई ही नही! यह आनन्द कौन-सा है? जीवने सुषुप्तिमें कोई काम तो किया नहीं, कोई भोग भोगा नही, जिसे स्मरण करके यह कह रहा हो कि आनन्द आया। हा, शरीरकी सुषुप्तावस्थामें एक बात हुई। जीवात्माका शरीरसे सबध छूट गया, शरीर ही नही, मनसे भी सबध छूट गया। शरीर तथा मनसे जो सबध छूटा, उस समय यह अपने आपेमें, अपने रूपमे आया—उसी अपनेपनका स्मरण कर यह आनन्द का अनुभव करता है। शरीरके साथ सबध जोडनेमें जो सुख-दुख होता है, वह शरीरका सुख-दुख है, जीवात्माका अपना नहीं, शरीरसे सबध छूटनेमें केवल सुख-ही-सुख है, वह जीवात्माका अपने स्वरूपमें आनेका सुख है। जागनेपर उसीको यह स्मरण करता है। जीवात्माकी तरह ब्रह्म भी इन तीनो स्थानोमें समय-समयपर क्रिया (Function) करता है। रची हुई सृष्टि उसका जाग्रत्-'स्थान' है, सृष्टि-रचनाका सम्पूर्ण आयोजन उसका स्वप्न-'स्थान' है, और जब ब्रह्म सृष्टिमेंसे अपनी रचना-रूप शक्तिको खींच लेता है वह प्रलयावस्था उसका सुषुप्ति-'स्थान' है। 'स्थूल-सृष्टि', 'सूक्ष्म-सृष्टि', 'प्रलय'—ये तीनो, प्रकृतिकी

जागृत-'अवस्था', स्वप्न-'अवस्था', सुषुप्त-'अवस्था' है। प्रकृतिकी इन तीनो अवस्थाओंमें ब्रह्म अपनी 'स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया'से कार्य करता है। जब प्रकृतिकी जागृतावस्थामें वह कार्य करता है तब ब्रह्मका जाग्रत्-'स्थान' है, जब प्रकृतिकी स्वप्नावस्थामे वह कार्य करता है तब ब्रह्मका स्वप्न-'स्थान' है, जब प्रकृतिकी सुषुप्तावस्थामें वह कार्य करता है तब ब्रह्मका सुषुप्त-'स्थान' है। ये तीनो उसके 'सगुण' रूप हैं। जब हम उसके उस रूपका ध्यान करते हैं, जो प्रकृति-की तीनो अवस्थाओसे पृथक् है, वह उसका चतुर्थ-रूप है, तुरीय-रूप है, निर्गुण-रूप है। जैसे जीवात्मा 'प्रज्ञ' (प्र+ज्ञ) तथा 'प्रज्ञान-घन' है, शरीर 'प्राज्ञ' (प्र+अज्ञ) है, वैसे ब्रह्म भी 'प्रज्ञ' तथा 'प्रज्ञान-घन' (प्र+ज्ञान+घन) है, प्रकृति 'प्राज्ञ' (प्र+अज्ञ) है—प्रकृति भी सुषुप्तावस्थाके मनुष्य-शरीरकी तरह ज्ञान अर्थात् चेतनारहित है। ज्ञानमें और चेतनामें आधारभूत कोई भेद नहीं है। 'ज्ञान' जब क्रिया करने लगता है, प्रकट होने लगता है, तब 'चेतना' कहलाता है। चेतना-हीन होनेका 'ज्ञान अथवा अनुभव न होना'—यही तो अर्थ होता है। 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म'—ये दोनो 'प्रज्ञ' हैं, अर्थात् ज्ञानवाले हैं, अर्थात् चेतनावाले हैं, 'शरीर' तथा 'प्रकृति'—ये दोनो 'प्राज्ञ' हैं, 'प्र+अज्ञ' हैं, ज्ञानवाले नहीं हैं, अर्थात् चेतनावाले नही हैं। सुषुप्ति-स्थानमें आकर ब्रह्म अपने 'प्रज्ञानघन', अर्थात् घनीभूत चेतनाके रूपमें, अर्थात् 'चेतोमुख'-रूपमें आजाता है, 'बहिप्रज्ञ'से 'अन्तःप्रज्ञ', और अन्तःप्रज्ञसे 'प्रज्ञानघन'-रूपमें एकीभूत हो जाता है। उस समय वह आनन्दमय होता है, आनन्दका ही भोग करता है, 'आनन्द-भुक्' हो जाता है। सुषुप्त-स्थानके इस 'एकीभूत', 'प्रज्ञानघन', 'चेतोमुख', 'आनन्दमय', 'आनन्दभुक्' ब्रह्मका बखान उसके तृतीय-पादका, तीसरे चतुर्थांशका वर्णन है।५।

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूत प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुख प्राज्ञस्तृतीय पाद । ५ ।

उक्त तीन स्थानोमें निवास करनेवाले जिस ब्रह्मका वर्णन किया गया है, वह 'सर्वेश्वर' है, 'सर्वज्ञ' है, 'सर्वान्तर्यामी' है, सबका कारण है, भूतोकी उत्पत्ति तथा प्रलय उसीसे होती है। इन तीन स्थानोमें रहनेवाला ब्रह्म 'सगुण' ब्रह्म है ।६।

'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म'के तीन 'सगुण' रूपोके अतिरिक्त चौथा 'निर्गुण' रूप भी है, यह चतुर्थ-पाद है, जीवात्मा तथा ब्रह्मका तुरीय-स्थान है । इस रूपमें वह अन्त प्रज्ञ नही होता, बहि प्रज्ञ नही होता, उभय-प्रज्ञ नही होता, प्रज्ञानघन नही होता, प्रज्ञ नहीं होता, अप्रज्ञ भी नहीं होता । जीवात्माको शरीरमें और ब्रह्मको प्रकृतिमें क्रिया करते समय ही तो ये अवस्थाए होती है । जब जीवात्माको शरीरकी, और ब्रह्मको प्रकृतिकी तीनो अवस्थाओसे अलग करके उसके शुद्ध स्वरूपमें देखे, तो 'ज्ञान'को आधार बनाकर अप्रज्ञ, प्रज्ञ, प्रज्ञानघन, उभयप्रज्ञ, अन्त प्रज्ञ, बहि प्रज्ञ---ये अवस्थाए न जीवात्मा-की रहती है, न ब्रह्मकी । जीवात्माके शरीरके साथ, और ब्रह्मके प्रकृतिके साथ सयोगसे ही ये अवस्थाए प्रकट होती है, अन्यथा नहीं । जीवात्मा तथा ब्रह्मका चतुर्थ-पाद इन सब अवस्थाओसे पृथक् है। वह अदृष्ट है, अव्यवहार्य है, अग्राह्य है, उसका लक्षण नही हो सकता, चिन्तन नहीं हो सकता, निर्देश नही हो सकता । तो क्या उसका कुछ वर्णन हो भी सकता है ? हा, इतना कहा जा सकता है कि वहा ससार-का सब प्रपच उपशम हो जाता है, वह शान्त अवस्था है, शिव अवस्था है, अद्वैत अवस्था है, प्रपचके उपशमके कारण उस अवस्थामें केवल 'आत्मा'की सत्ता ही सार रूपमें रह जाती है। शरीरके प्रपचके पीछे 'जीवात्मा' ही सार वस्तु है, ससारके प्रपचके पीछे 'ब्रह्म' ही सार वस्तु है ।'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म' ही आत्म-तत्त्व है, उसे ही जानना चाहिये ।७।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष
योनि सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम । ६ ।

नान्त प्रज्ञ न बहि प्रज्ञ नोभयत प्रज्ञ न प्रज्ञानघन न प्रज्ञ नाप्रज्ञम ।
अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसार
प्रपञ्चोपशम शान्त शिवमद्वैत चतुर्थ मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेय । ७ ।

अक्षरो और मात्राओमें उस आत्म-तत्त्वका वर्णन किया जाय, तो उसे 'ओंकार' कहते हैं। अक्षर और मात्रामें कोई खास भेद नही है। अक्षर ही मात्रा है, मात्रा ही अक्षर है। वे अक्षर वा मात्राएं 'अकार', 'उकार' तथा 'मकार' हैं।८।

'अकार' प्रथम मात्रा है। यह 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म'के जाग्रत्-स्थानकी, जिसका 'वैश्वानर'-शरीर कहा गया है, प्रतिनिधि है। जो जाग्रत्-स्थानवाले जीवात्माको तथा ब्रह्मको जानता है, उसकी उपासना करता है, वह सब कामनाओको 'आप्नोति', अर्थात् प्राप्त कर लेता है। 'आप्नोति'का 'अ' ओंकारका 'अकार' है। वह सब स्थानोमें 'आदि'-स्थान, मुख्य-स्थान, प्राप्त करता है। 'आदि'का 'अ' ओंकारका 'अकार' है। 'ओंकार'की 'अकार'-मात्राका ध्यान जाग्रत्-स्थानके जीवात्मा तथा ब्रह्मका ध्यान है।९।

'उकार' द्वितीय मात्रा है। यह 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म'के स्वप्न-स्थानकी, जिसका 'तैजस्'-शरीर कहा गया है, प्रतिनिधि है। जो स्वप्न-स्थानवाले जीवात्मा तथा ब्रह्मको जनता है, उसकी उपासना करता है, उसका 'उत्कर्ष' होता है, वह अपने कुलमें तथा समाजमें ज्ञानका विस्तार करता है। 'उत्कर्ष'का 'उ' ओंकारका 'उकार' है। वह 'उभय'-स्थिति प्राप्त करता है, जहा दो पक्ष हो वहा वह दोनो पक्षोमें आदर प्राप्त करता है, उसकी दोनो पक्षोकेलिये 'समान' स्थिति हो जाती है। 'उभय'का 'उ' ओंकारका 'उकार' है। 'ओंकार' की 'उकार' मात्राका ध्यान स्वप्न-स्थानके जीवात्मा तथा ब्रह्मका ध्यान है। जो इसप्रकार 'उकार'की उपासना करता है उसके कुलमें 'अब्रह्मवित्'—'ब्रह्मको न जाननेवाला'—नही होता।१०।

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा
मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति । ८ ।
जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वाद्वा-
ऽऽप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद । ९ ।
स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै
ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद । १० ।

'मकार' तृतीय मात्रा है। यह 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म'के सुषुप्त-स्थानकी, जिसको 'प्राज्ञ'-शरीर कहा गया है, प्रतिनिधि है। जो सुषुप्त-स्थानवाले जीवात्मा तथा ब्रह्मको जानता है, उसकी उपासना करता है, वह सम्पूर्ण विश्वको 'मिनोति'—उसे माप लेता है—उसका थाह पाजाता है। 'मिनोति'का 'म' ओंकारका 'मकार' है। वह विश्वकी 'इति'—इसका अन्त—भी पालेता है। जैसे 'म्' व्यञ्जनोंका अन्तिम अक्षर है वैसे सुषुप्तावस्था प्रकृतिकी 'इति', अर्थात् अन्तिम अवस्था है। जो इस प्रकार 'मकार'की उपासना करता है वह सम्पूर्ण संसारकी थाह पालेता है, अन्त पालेता है।११।

मात्रा-रहित 'ओंकार' चतुर्थ है। जैसे शरीरकी जागृतावस्था, स्वप्नावस्था तथा सुषुप्तावस्थामेंसे निकलकर जीवात्मा अपने चतुर्थ रूपमें आजाता है, जैसे प्रकृतिकी जागृतावस्था, स्वप्नावस्था तथा सुषुप्तावस्थामेंसे निकलकर ब्रह्म अपनी तुरीयावस्थामें आजाता है, वैसे अ, उ, म्—इन जागृत्, स्वप्न सुषुप्त अवस्थाओंकी प्रतिनिधि तीन मात्राओंसे पृथक् ओंकारका अमात्र रूप भी है। वह रूप व्यवहारमें नहीं आता, वह शिव है, अद्वैत है, वहां संसारके प्रपञ्चका उपशमन हो जाता है। ओंकारका यह अमात्र रूप, 'आत्मा'का—अर्थात् 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म'का—तात्त्विक रूप है, इस रूपमें ओंकार मानो आत्मा ही है। जो ओंकारके इस रूपको जानता है, वह बाहर न भटककर आत्म-ज्ञानद्वारा अन्तरात्मामें प्रवेश कर जाता है।१२।

(जिस वस्तुको हम नहीं जानते उसके जाननेके दो उपाय हैं। पहला उपाय तो यह है कि ज्ञातद्वारा हम अज्ञातको जानें। जो बालक नदीको नहीं जानता उसे एक छोटा-सा नाला दिखाकर कहा

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा
मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद। ११।
अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार
आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद। १२।

जा सकता है कि यह नाला अगर बहुत बडा हो जाय, तो उसे नदी कहा जाता है। ब्रह्मको जाननेके लिये भी 'ज्ञात'से 'अज्ञात'का आश्रय लिया गया है। हम अपने विषयमे कुछ जानते है—यह 'ज्ञात' है। जो पिडमे है, वही ब्रह्माडमे है—इसप्रकार 'अज्ञात'को हम अपनेसे जान जाते है। अर्थात् 'जीवात्मा'के ज्ञानसे 'ब्रह्म'का ज्ञान हो सकता है—यह उपनिषत्कारका कथन है।

'ज्ञात'से 'अज्ञात'को जाना जा सकता है, तो हम 'पिड'से 'ब्रह्माड'को, 'जीव'से 'ब्रह्म'को कैसे जाने? वह उपाय क्या है? हम किसी वस्तुके तात्त्विक-रूपको तभी जान सकते है जब उसकी 'रचना' (Structure) तथा उसके 'कार्य' (Function)का हमे ज्ञान हो। ऋषिने जीवात्माकी 'रचना' तथा 'कार्य'का माण्डूक्यमे वर्णन किया है, और जीवात्माकी 'रचना' तथा उसके 'कार्य'के वर्णनमे 'ब्रह्म'की 'रचना' तथा उसके 'कार्य'का निर्देश किया है।

जीवात्मा तथा ब्रह्मकी तात्त्विक-रचनाका तो कुछ पता नही। वह रूप अदृष्ट है, अचिन्त्य है, अव्यवहार्य है, निर्गुण है। उस रूपकी तो 'नेति-नेति'मे ही चर्चा हो सकती है, वहा तो गुरु मौन हो जाता है, और मौनमे ही सब-कुछ कह जाता है। परन्तु उस अदृष्ट, अचिन्त्य, अव्यवहार्य तथा निर्गुण रूपके अलावा उसका दृष्ट, चिन्त्य, व्यवहार्य तथा सगुण रूप भी है। वह रूप, वह 'रचना' (Structure) क्या है? ऋषिका कहना है कि इस रूपमे, इस 'रचना'मे ब्रह्म 'प्रज्ञानघन' (Concentric Consciousness) है। इस अवस्थामे विकासोन्मुख ब्रह्म 'अन्त प्रज्ञ' (Introvert) तथा 'बहि प्रज्ञ' (Extrovert) इन दो अवस्थाओमे जाता है, ठीक इसतरह जैसे जीवात्मा। प्रज्ञामय ब्रह्म बाहरकी तरफ जाताहुआ सृष्टिकी रचना करता है, अन्दरकी तरफ लौटताहुआ अपने रूपमे प्रतिष्ठित होता है, बाहरकी तरफ जाताहुआ सुषुप्त-स्थानसे स्वप्न-स्थानमे, और स्वप्न-स्थानसे जाग्रत-स्थानमे जाता है, अन्दरकी तरफ लौटताहुआ जाग्रतसे स्वप्न और

स्वप्नसे सुषुप्त-स्थानमे लौट आता है। सुषुप्त-स्थानमे आकर उसका प्रकृतिसे ऐसा सपर्क रह जाता है, जैसे सुषुप्त-अवस्थामे जीवात्माका शरीरसे। जीवात्माके हम जितने रूप देख पाते है सब शरीरसे किसी-न-किसी तरह रले-मिले है, इसी प्रकार ब्रह्मके भी हम जितने रूप देख पाते है सब प्रकृतिसे रले-मिले है। केवल सुषुप्तावस्थामे कुछ ऐसा रूप भास-सा जाता है, जो शरीरके साथ रहते हुए भी शरीरसे अलग-सा है। जागृत तथा स्वप्नावस्थामे तो शरीर तथा जीवात्माका बन्धन ऐसा जकडा हुआ-सा रहता है कि इन दोनोको अलग किया ही नही जा सकता। केवल सुषुप्तावस्था ऐसी अवस्था है जब इन दोनोका बन्धन, इन दोनोकी जकडन शिथिल-सी हो जाती है। तब शरीर तथा जीवात्मा साथ-साथ रहते हुए भी जरा एक दूसरेसे अलग-से हो जाते है। इस अवस्थामे शरीरका असली रूप प्रकट हो जाता है। वह बोल नही सकता, सुन नही सकता, हिल नही सकता, अनुभव नही कर सकता, जड पडा रहता है। इस समय जीवात्मा का क्या रूप है? इस अवस्थासे लौट आनेपर हम कहते है, बडा आनन्द आया। यह आनन्द किसे आया? शरीर तो जड पडा हुआ था, उसे तो कोई अनुभव था ही नही। उस समय जीवात्माके शरीरसे अलग होनेपर उसे अपने आनन्दमय रूपका ज्ञान हुआ था, उसीकी अब स्मृति हो रही है। इस अलग-से रूपको बिल्कुल अलग कर लिया जाय तो आत्माका शुद्ध रूप झलकने लगता है। ब्रह्मके ज्ञानका भी यही मार्ग है। प्रकृतिकी जागृतावस्थामे, कार्य-रूप-सृष्टिमे तो ब्रह्म तथा प्रकृति रले-मिले रहते है, ठीक ऐसे जैसे जागृतावस्थामे शरीर तथा जीवात्मा, परन्तु सुषुप्तावस्थामे ब्रह्म प्रकृतिके साथ रहता हुआ भी अलग-सा होता है, उसे बिल्कुल अलग करके देखा जाय, तो वही उसका तात्त्विक रूप है।

यह तो 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म'की 'सूक्ष्म-रचना'--(Fine structure) है—ये दोनो 'प्रज्ञानघन' है, अर्थात् सुषुप्तिसे हमे पता चलता है कि जब शरीरसे जीवात्मा और प्रकृतिसे ब्रह्म अलग हो जाते है, तब

उनकी सूक्ष्म-रचनाका आधार-भूत तत्त्व 'प्रज्ञा' (Consciousness) दीख पडने लगता है। परन्तु इनकी 'स्थूल-रचना' (Grosser structure) क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि स्थूल-रचना 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म'की नही है, 'शरीर' तथा 'प्रकृति'की है, परन्तु क्योकि शरीर तथा प्रकृतिकी स्थूल-रचनाके करनेवाले क्रमश जीवात्मा तथा ब्रह्म है, अतः इस स्थूल-रचनाको जीवात्मा तथा ब्रह्मकी ही रचना कह दिया गया है। सुषुप्तावस्थामे जीवात्माकी रचना तो 'प्रज्ञ' (प्र+ज्ञ—Consciousness) है, शरीरकी रचना 'प्राज्ञ' (प्र+अज्ञ—Unconscious) है। इस 'प्राज्ञ' (प्र+अज्ञ—Unconscious) का वर्णन वर्तमान मनोविश्लेषणवादके प्रवर्तक फ्रॉयडने बहुत विस्तारसे किया है। इस प्राज्ञ (Unconscious) को सम्मुख रखकर 'अज्ञात-चेतना के मनोविज्ञान' (Psychology of the Unconscious) का जन्म हुआ है। यह स्मरण रहे कि 'अज्ञात-चेतना' (Unconscious) का वर्णन आत्माका वर्णन नही है, यह शरीरका ही वर्णन है, मनुष्यके स्नायु-तन्तुओ (Nervous System) मे अज्ञात-रूपसे जो क्रिया-कलाप चलता है, उसका वर्णन है। जीवात्मा 'प्रज्ञ'=प्र+ज्ञ (Conscious) तथा 'शरीर' 'प्राज्ञ'=प्र+अज्ञ (Unconscious) है, एक चेतन दूसरा जड, एक ज्ञानमय, दूसरा अज्ञानमय, एक विद्या, दूसरा अविद्या—इन दोनोके सयोगमे विश्व विकासके मार्गपर चलता है। सुषुप्तावस्थासे जब शरीर स्वप्नावस्थामें आता है तब जीवात्मा 'अन्त प्रज्ञ' तथा शरीर 'तैजस्' हो जाता है। जीवात्माका 'प्रज्ञ' रूप 'अन्त प्रज्ञ' रूप-मे बदल जाता है, शरीरका 'अज्ञ' रूप 'तैजस्' रूपमे बदल जाता है, कुछ ज्ञान न होनेके स्थानमे, कुछ प्रकाश न होनेके स्थानमे, ज्ञान होने लगता है, प्रकाश होने लगता है, परन्तु इस प्रकाशमे स्पष्टता नही होती। इसी प्रकाशको 'तैजस्' कहा है। स्वप्नावस्थासे जब शरीर जागृतावस्थामे आता है तब जीवात्मा 'अन्त प्रज्ञ'से 'बहि प्रज्ञ' हो जाता है, और शरीर 'तैजस्'से 'वैश्वानर' हो जाता है, भिन्न-भिन्न नरोके रूपमे दीख पडता है। आत्माके कारण जैसे शरीरकी ये तीन स्थूल रच-

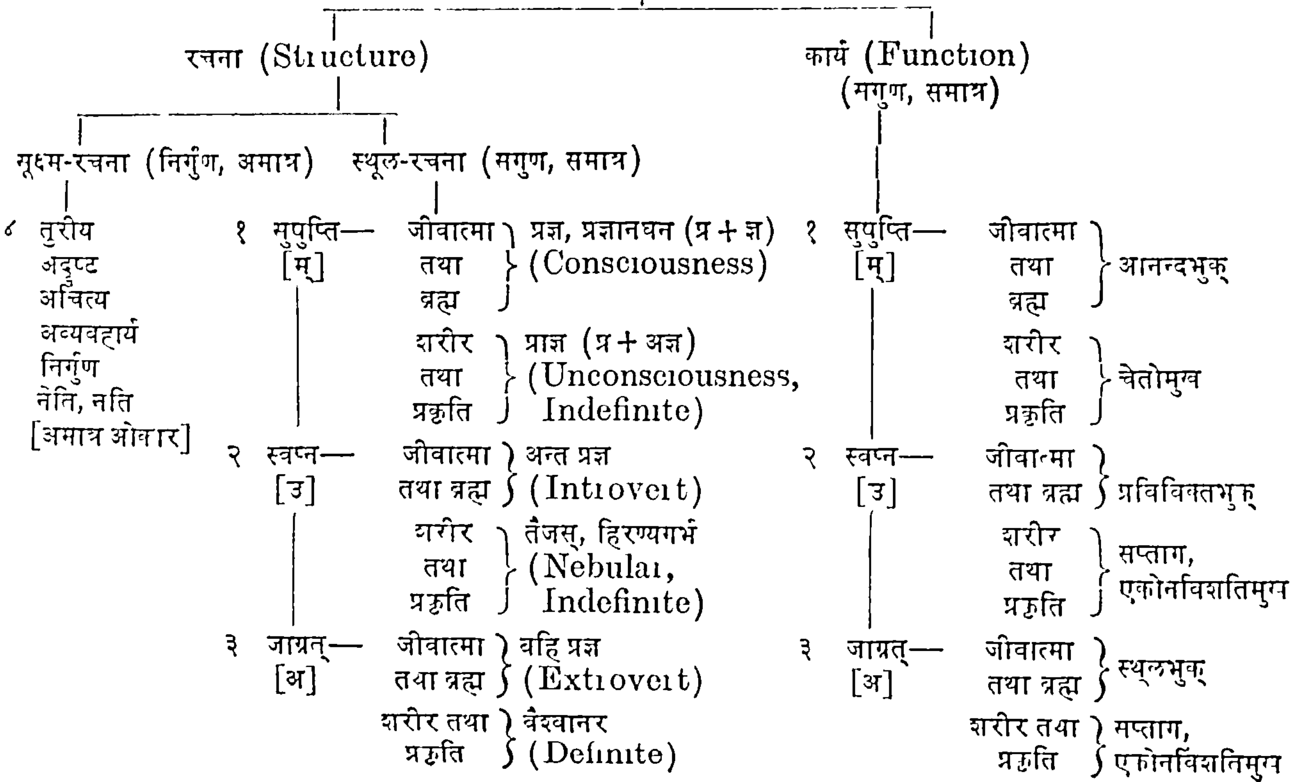
नाए (Grosser Structures) है, वैसे परमात्माके कारण प्रकृति-की भी सुपुप्तावस्थामे 'अज्ञ' (Indefinite), स्वप्नावस्थामे 'तैजस्' अथवा हिरण्यगर्भ (Nebular) तथा जागृतावस्थामे 'वैश्वानर' (Definite)--ये तीन स्थूल रचनाए है।

'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म'की सूक्ष्म-'रचना' तथा स्थूल-'रचना' (Finer and Grosser Structure)के बाद इन दोनोके 'कार्य' (Function) का जानना आवश्यक है। 'जीव' तथा 'ब्रह्म'की 'रचना' (Structure) क्या है ? सूक्ष्म-रचना 'प्रज्ञानघन', तथा स्थूल-रचना, जो वास्तव-मे शरीर तथा प्रकृतिकी है, परन्तु जीव तथा ब्रह्ममे आरोपित हो जाती है, जाग्रत्मे 'वैश्वानर', स्वप्नमे 'तैजस्', सुषुप्तिमे 'प्र + अज्ञ' है। 'जीव' तथा 'ब्रह्म'के 'कार्य' (Function) है—जाग्रत्मे 'स्थूल-भुक्', स्वप्नमे 'प्रविविक्त-भुक्', सुषुप्तिमे 'आनन्द-भुक्'। जागृता-वस्थामे जीवात्मा तथा ब्रह्मका कार्य स्थूल-जगत्मे है, अत ऋषिने इन दोनोकी उस अवस्थाको 'स्थूल-भुक्' कहा है। स्वप्नावस्था वह है जब बाहरसे ध्यान टूटकर अन्दर चला जाता है—चाहे वह अवस्था इच्छा-पूर्वक हो (Voluntary), चाहे अनिच्छा-पूर्वक (Involuntary)। अनिच्छा-पूर्वक स्वप्नावस्थामे स्वप्न आते है, उनमे सिलसिला नही होता, तरतीब नही होती, परन्तु अगर इच्छा-पूर्वक बाहरसे ध्यान खीचकर अन्दरकी तरफ ले जाय, तो मनुष्य विचार-मग्न हो जाता है, सिलसिलेवार, तरतीबवार विचार कर सकता है। असलमे ध्यानकी उसी अवस्थामे वह अपने कार्योका आयोजन (Planning) करता है। यह अवस्था भी 'स्वप्नावस्था' है, इस अवस्थाको ऋषिने 'प्रविविक्त-भुक्' कहा है। 'विविक्त' शब्द 'विवेक' से बना है। इस अवस्थामे स्थूल रूपमे ससारका भोग करनेके स्थानमे विवेकद्वारा, विचार-मय जगत्मे ससारका भोग होता है। स्वप्ना-वस्थाके बाद सुषुप्तावस्थामे जीवात्मा तथा ब्रह्म 'आनन्द-भुक्' कहे गये है। सुषुप्तावस्थामे जीवात्माका शरीरसे, और ब्रह्मका प्रकृतिसे

संबंध होते हुए भी टूट-सा जाता है। सुषुप्तिसे उठकर मनुष्य कहता है, आनन्दमें सोया। सुषुप्तिमें शरीर और आत्माके संबंधके टूटनेसे जो आनन्दकी अनुभूति होती है, उसीका जागनेपर स्मरण-सा रह जाता है। यह आनन्द 'निषेधात्मक' (Negative) है। शरीरसे जीवात्मा के संबंधके ढीला होते ही आनन्दका अनुभव होता है। अगर शरीरसे ढीलापन बढ़ता जाय, और जीवात्मा शरीरसे अलग होकर ब्रह्मके साथ वैसा संबंध स्थापित कर ले जैसा शरीरके साथ स्थापित किया था, तब तो 'निश्चयात्मक' (Positive) आनन्द प्राप्त होगा—यही ब्रह्मानन्द है। सुषुप्तावस्थासे जागनेपर अनुभव होनेवाला आनन्द ब्रह्मके उस आनन्दमय रूपकी तरफ संकेत करता है, जो सुषुप्तावस्थामें जीवात्माके शरीरके साथ संबंधके टूटनेके समय प्रादुर्भूत होता है। यह आनन्द जीवात्माके शरीरकेसाथ सम्बन्ध टूटनेसे उत्पन्न हुआ, इसीलिये यह 'निषेधात्मक' है। अगर शरीरकेसाथ संबंध टूटनेके बाद जीवात्माका ब्रह्मकेसाथ संबंध जुड़ जाय, तो 'निषेधात्मक'-आनन्द 'निश्चयात्मक'-आनन्दमें बदल जायगा।

इसप्रकार जीवात्माद्वारा ब्रह्मके 'रचना' (Structure) तथा 'कार्य' (Function)का ज्ञान करानेके बाद ऋषिने उसे ओंकारकी अ-उ-म् इन तीन मात्राओं पर घटा दिया है। ओंकारकी अ-उ-म्—इन तीन मात्राओंद्वारा ब्रह्मके 'सगुण', तथा ओंकारके अमात्रद्वारा उसके 'निर्गुण' रूपकी उपासना करनी चाहिये।)

माण्डूक्योपनिषद्में 'आत्म-तत्त्व', अर्थात् जीवात्मा तथा परमात्माकी जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-तुरीय—इन चार अवस्थाओंका वर्णन छान्दोग्य (८-१०) तथा बृहदारण्यकोपनिषद् (४-२, ३ तथा ७-१)में वर्णित अवस्थाओंके अनुसार ही पाया जाता है। माण्डूक्यके वर्णनको चित्र में इस उपनिषद्के शुरूमें दिया गया है। एक दूसरा चित्र यूं भी बनाया जा सकता है—


आत्म-तत्त्व, अर्थात जीव तथा ब्रह्म
रचना (Structure)
कार्य (Function)
(सगुण, समात्र)
सूक्ष्म-रचना (निर्गुण, अमात्र)
स्थूल-रचना (सगुण, समात्र)
४ तुरीय
अदृष्ट
अचिंत्य
अव्यवहार्य
निर्गुण
नेति, नति
[अमात्र ओंकार]
१ सुषुप्ति— [म्]
जीवात्मा तथा ब्रह्म
प्रज्ञ, प्रज्ञानघन (प्र + ज्ञ) (Consciousness)
शरीर तथा प्रकृति
प्राज्ञ (प्र + अज्ञ) (Unconsciousness, Indefinite)
२ स्वप्न— [उ]
जीवात्मा तथा ब्रह्म
अन्त प्रज्ञ (Introvert)
शरीर तथा प्रकृति
तैजस्, हिरण्यगर्भ (Nebular, Indefinite)
३ जाग्रत्— [अ]
जीवात्मा तथा ब्रह्म
वहि प्रज्ञ (Extrovert)
शरीर तथा प्रकृति
वैश्वानर (Definite)
१ सुषुप्ति— [म्]
जीवात्मा तथा ब्रह्म
आनन्दभुक्
शरीर तथा प्रकृति
चेतोमुख
२ स्वप्न— [उ]
जीवात्मा तथा ब्रह्म
प्रविविक्तभुक्
शरीर तथा प्रकृति
सप्ताग, एकोनविंशतिमुख
३ जाग्रत्— [अ]
जीवात्मा तथा ब्रह्म
स्थूलभुक्
शरीर तथा प्रकृति
सप्ताग, एकोनविंशतिमुख

तैत्तिरीय उपनिषत्

[शिक्षाध्याय प्रथम वल्ली]

शिक्षाध्यायका प्रथम अनुवाक्

मित्र, वरुण, अर्यमा हमारे लिये कल्याणकारी हो, इन्द्र, बृहस्पति, महा-पराक्रमी विष्णु हमारे लिये कल्याणकारी हो। ब्रह्मको नमस्कार हो, हे वायु, तुझे नमस्कार हो, तू मानो प्रत्यक्ष, साक्षात् ब्रह्म है। मैं तुझे ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा, ऋत कहूँगा, सत्य कहूँगा। हे वायु-रूप प्रत्यक्ष ब्रह्म! मेरी रक्षा करो, मुझे उपदेश देनेवाले मेरे गुरुकी रक्षा करो, मेरी रक्षा करो, ब्रह्मका निर्वचन करनेवाले गुरुकी रक्षा करो।

शिक्षाध्यायका द्वितीय अनुवाक्

अब 'शिक्षा'की व्याख्या करेंगे। शिक्षा 'शब्दों' द्वारा दी जाती है, शब्दोंकी उत्पत्ति 'वर्णों' से होती है। अ, आ, इ, ई तथा क, ख, ग, घ आदि 'वर्ण' है। वर्णोंके ज्ञानके बाद 'स्वर', अर्थात् उच्चारणका ज्ञान होना आवश्यक है। 'वर्ण-ज्ञान'का अर्थ है अक्षरोंका ज्ञान, 'स्वर-ज्ञान'का अर्थ है कौन-सा वर्ण कैसे बोला जाता है—इसका ज्ञान स्वर-ज्ञान है। कई बालक 'स' को 'फ' और 'त' को 'ट' बोलने लगते हैं। उनका स्वर ठीक नहीं होता। जैसे 'वर्ण' का ज्ञान कराना आवश्यक है, वैसे 'स्वर'का ज्ञान कराना भी उतना ही आवश्यक है। वर्ण तथा स्वर-ज्ञानके बाद 'मात्रा'का ज्ञान कराया जाता है।

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्।

ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत—इन मात्राओका ज्ञान शब्दोच्चारणमें सहायक होता है । कई बालक ह्रस्वको जगह दीर्घ और दीर्घको जगह ह्रस्व मात्राका प्रयोग कर देते है । वर्ण, स्वर, मात्राके ज्ञानके बाद मात्राओ-का 'बल' जानना आवश्यक है । संस्कृतके ज्ञानमें मात्राओका अपना-अपना बल है । 'आ'की मात्राका बल शब्दको स्त्री-लिंगी बना देता है—जैसे 'स' का अर्थ है 'वह पुरुष', 'सा' का अर्थ है 'वह स्त्री', 'औ'की मात्राका बल एक वस्तुको दो बना देता है—जैसे 'तौ' का अर्थ है 'वे दोनो'। 'आ' की मात्राका बल एकको अनेक बना देता है—जैसे 'गता' का अर्थ है—'वे सब गये' । इसके बाद 'शब्द-ज्ञान'में 'साम'—अर्थात् समता (Harmony) से उच्चारण करना आना चाहिये, ऊचे-नीचे बोलनेका ढग आना चाहिये । वर्ण, स्वर, मात्रा, बल और सामके ज्ञानके अनन्तर शब्दोका 'सन्तान' प्रारभ हो जाना है, शब्दोसे वाक्य और वाक्योसे ग्रन्थ बन जाते है । यही शब्दोका सन्तान है, फैलाव है । इसप्रकार वर्णोसे प्रारभ करके वर्णोकी सन्तान तक पहुंच जानेमें ही सब शिक्षा समा जाती है ।१।

शिक्षाध्यायका तृतीय अनुवाक्

शब्द-ज्ञान कराकर गुरु-शिष्य दोनो मिलकर कहते है—'सह नौ यश सह नौ ब्रह्मवर्चसम्'—हम दोनोका यश एक-साथ बढे, हम दोनोका ब्रह्म-तेज एक-साथ बढे ।

अभी कहा कि 'वर्णो'से प्रारभ करके 'वर्णोकी सन्तान'तक पहुच-जाना ही शिक्षा है । 'वर्णोकी सन्तान'का अर्थ है, वर्णोका आपसमें मिलना-जुलना। वर्णोके इस मेल-जोलको ही 'संहिता' कहते है । जैसे माता-पिताके मेलसे सन्तान होती है, वैसे वर्णोके मेलसे, उनकी 'संहिता'-से 'शिक्षा' प्रारभ होती है ।

ॐ शीक्षा व्याख्यास्याम । वर्ण स्वर । मात्रा बलम् ।
साम सन्तान । इत्युक्त शीक्षाध्याय । १ ।

'सहिता'से 'ज्ञान'का उदय होता है, पाच 'महा-सहिता'से 'उपनिषद्-ज्ञान'का उदय होता है। कठ-उपनिषद्में यमने भी नचिकेताको सन्धिमेंसे गुजरनेका उपदेश दिया है। 'सहिता', यह 'सधि'का ही दूसरा नाम है। इन महा-सहिताओका पांच प्रकारसे वर्णन किया जा सकता है—अधिलोक, अधिज्यौतिष्, अधिविद्य, अधिप्रज तथा अध्यात्म। जैसे वर्णोकी सधि होती है, सहिता होती है, वैसे इन पाच स्थानोमें, पाच अधिकरणोमें महासन्धि, महा-सहिता होती है। जैसे वर्णोकी सधिसे ज्ञानका उदय होता है, वैसे लोकमें, ज्योतिषमें, विद्यामें, प्रजामें तथा आत्मामें जो महा-सधिया होती है, उनसे ब्रह्म-ज्ञानका उदय होता है।१।

लोकमें महा-सधिया क्या है? जैसे वर्णोमें एक 'पूर्व' वर्ण होता है, एक 'उत्तर' वर्ण होता है, इन वर्णोमें अवकाश अर्थात् 'सन्धि' हो सकती है, और यह अवकाश किसी अक्षरसे पुर कर दियाजाता है, जिसे 'सधान' कहते है, वैसे लोकोमें 'पृथिवी' पूर्व-रूप है, 'द्यौ' उत्तर-रूप है, 'आकाश' सन्धि है, 'वायु' सन्धान है, पृथिवी और द्युको मिलानेवाला है, इनको सहिता करनेवाला है। वर्णोकी सहिताकी तरह यह लोकोकी महा-सहिता है। ये लोक मानो एक-एक वर्ण है। जैसे भिन्न-भिन्न वर्णोकी सधिसे एक अभिन्न शब्द उत्पन्न होता है, वैसे इन भिन्न-भिन्न लोक-रूपी वर्णोकी महासन्धिसे अभिन्न ब्रह्म-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।२।

ज्योतिषमें महा-सधिया क्या है? प्रकाशका आदि-कारण 'अग्नि' है, प्रकाशकी चरम-सीमा 'आदित्य' है, अत 'अग्नि' पूर्व-रूप है, 'आदित्य' उत्तर-रूप है। अग्नि और आदित्य जब तपते है, तो इनके मेलसे जल उत्पन्न

सह नौ यश । सह नौ ब्रह्मवर्चसम् । अथात सहिताया उपनिषद व्याख्यास्याम । पचस्वधिकरणेषु । अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम् । ता महासहिता इत्याचक्षते । १ ।
अथाधिलोकम् । पृथिवी पूर्वरूपम् । द्यौरुत्तररूपम् ।
आकाश सधि । वायु सधानम । इत्यधिलोकम । २ ।

होता है, तभी घोर ग्रीष्मके बाद वर्षा आती है, इसलिये 'जल' सन्धि है। जलकी अभिव्यक्ति विद्युत्से होती है, अत 'विद्युत्' सन्धान है। वर्णोंकी सहिताकी तरह यह ज्योतिर्मय पिडोकी महा-सहिता है। ये ज्योतिष्-पिण्ड मानो एक-एक वर्ण है, जैसे भिन्न-भिन्न वर्णोंकी सधिसे एक अभिन्न अक्षर उत्पन्न होता है, वैसे अग्नि, आदित्य, जल, विद्युत्--इन भिन्न-भिन्न पिडो की सन्धिसे, इनकी महा-सहितासे अभिन्न ब्रह्म-ज्ञान उत्पन्न होता है।३।

विद्यामें महा-सधिया क्या है? विद्याका उद्गम-स्थान 'आचार्य' है, विद्याका लक्ष्य शिष्य है, 'अन्तेवासी' है, अत 'आचार्य' पूर्व-रूप है, 'अन्तेवासी', अर्थात् शिष्य उत्तर-रूप है। गुरु-शिष्यका मेल विद्याद्वारा होता है, अत 'विद्या' सन्धि है, विद्याकी अभिव्यक्ति 'प्रवचन'से होती है, अत 'प्रवचन' सन्धान है। वर्णोंकी सहिताकी तरह यह विद्याकी महा-सहिता है। विद्याके क्षेत्रके आचार्य, अन्तेवासी, विद्या तथा प्रवचन मानो एक-एक वर्ण है। जैसे भिन्न-भिन्न वर्णोंकी सन्धिसे एक अभिन्न अक्षर उत्पन्न होता है, वैसे आचार्य, अन्तेवासी, विद्या तथा प्रवचनकी महा-सधिसे, महा-सहितासे ब्रह्म-ज्ञान उत्पन्न होता है।४।

प्रजामें महा-सधिया क्या है? 'माता' पूर्व-रूप है, 'पिता' उत्तर-रूप है, 'प्रजा' सन्धि है, 'प्रजनन' सन्धान है। ये महा-सहिताए सब-की-सब ब्रह्मज्ञान का ही उपदेश कर रही है।५।

अपने आत्मामें, अपने शरीरमें महा-सधिया क्या है? 'कर्मेन्द्रिया' पूर्व-रूप है, 'ज्ञानेन्द्रिया' उत्तर-रूप है, कर्मेन्द्रियो तथा ज्ञानेन्द्रियोके बीचमें 'वाणी' है, यह सधि है, जिह्वाद्वारा वाणी अभिव्यक्त होती है, अत 'जिह्वा' सन्धान है। ज्ञानेन्द्रियो, कर्मेन्द्रियो, वाणी तथा जिह्वा-

---

अथाधिज्योतिषम्। अग्नि पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्।
आप सन्धि। वैद्युत सन्धानम्। इत्यधिज्योतिषम्। ३।
अथाधिविद्यम्। आचार्य पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्।
विद्या सन्धि। प्रवचनं सन्धानम्। इत्यधिविद्यम्। ४।
अथाधिप्रजम्। माता पूर्वरूपम्। पितोत्तररूपम्।
प्रजा सन्धि। प्रजननं सन्धानम्। इत्यधिप्रजम्। ५।

का समन्वय, इनकी महा-संहिता (Great co-ordination) ब्रह्म-ज्ञानका उपदेश कर रही है।६।

संसारमें सब जगह 'संहिता' है, 'समन्वय' है, हरेक वस्तुका ऐसा मेल-जोल है जैसे वे एक-दूसरेके लिये ही गढी गई है। यह समन्वय (Co-ordination. Adjustment) अक्षरो तथा शब्दोमे ही नही, विश्वकी सभी रचनाओमें, पृथिवी और द्युमें, अग्नि और सूर्यमें, आचार्य और शिष्यमें, माता और पितामें, शरीरकी इन्द्रियोमे, सभी जगह पाया जाता है। जो इस महा-संहिताको, विश्वके महान् समन्वयको जानता है वह प्रजा, पशु, ब्रह्म-तेज, अन्न, स्वर्गलोक—सभीसे समन्वित हो जाता है।७।

(इस उपनिषद्मे कहा गया है कि 'समन्वय' ही सबसे बडी शिक्षा है। संसारमे सब जगह 'समन्वय' है। आचार्यने शिष्यको जिस 'महासंहिता'—Great adjustment—का उपदेश दिया है, उसे चित्ररूपमे यू प्रकट कर सकते है—

अधिकरण	पूर्व-रूप	उत्तर-रूप	सन्धि	सन्धान
अधिलोक	पृथिवी	द्यौ	आकाश	वायु
अधिज्योतिष	अग्नि	सूर्य	जल	विद्युत्
अधिविद्य	आचार्य	शिष्य	विद्या	प्रवचन
अधिप्रज	माता	पिता	प्रजा	प्रजनन
अध्यात्म	कर्मेन्द्रिय	ज्ञानेन्द्रिय	वाणी	जिह्वा

इन पाचोमेसे एक-एकको लेकर विचार करे, तो उनमे जो महा-संहिताका भाव दीख पडता है, एक-दूसरेके साथ ऐसा संबंध दीख पडता है कि मानो वे गढ-गढकर एक-दूसरेके लिये रची गई है, यही उपनि-

---

अथाध्यात्मम्। अधरा हनुः पूर्वरूपम्। उत्तरा हनुरुत्तररूपम्। वाक् संधिः। जिह्वा संधानम्। इत्यध्यात्मम्। ६।

इतीमा महासंहिताः। य एवमेता महासंहिता व्याख्याता वेद। संधीयते प्रजया पशुभिः। ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्ग्येण लोकेन। ७।

पद्का महान् ब्रह्म-ज्ञान है। समारका इतना महान् समन्वय (Adjustment, Co-ordination), इतनी 'महान्-महिना' नास्तिक-से-नास्तिकको 'ब्रह्म'-ज्ञान करा देती है।)

शिक्षाध्यायका चतुर्थ अनुवाक्

जो छदोमें ऋषभ-छन्दकी भाति विश्वरूप है, जैसे सब छन्द ऋषभ-छन्दमें समा जाते है वैसे सब रूप जिसके रूपमें समा जाते है, जो छदोमेंसे झरे हुए अमृतमेंसे आविर्भूत होता है, वह इन्द्र, मेधासे मेरा पालन करे। मै अमृतके दिव्य गुणोको धारण करू। मेरा शरीर बलवान् हो। मेरी जिह्वा मधुमें सनी हो। कानोसे मै खूब सुनू। हे इन्द्र! तू ज्ञानका कोश है, खजाना है, मेधासे चारोतरफसे घिरा हुआ है। मै जो-कुछ सुनू उसकी मै रक्षा भी कर सकू—ऐसी मुझे शक्ति दे।१।

मेरी मेधा नवीन ज्ञानका आवाहन करती रहे, उसका विस्तार करती रहे, अपनेको शीघ्र-शीघ्र बढाती रहे। मुझे वस्त्र, गाय आदि पशु तथा अन्न-पान सदा प्राप्त रहे। इन सब वस्तुओसे मै श्रीमान् रहू। मुझे लोमश पशु भी प्राप्त हो, परन्तु न सब धन-धान्योको पाकर भी मै सब-कुछ ब्रह्मार्पण कर दू। मै जो-कुछ पाऊ, उसे देशके युवकोकी पालना में लुटा दू। चारोतरफसे ब्रह्मचारी लोग मुझे घेर लें, विशेषकर ब्रह्मचारी ही मुझे घेरें, खूब घेरें। इन्द्रियोका दमन करनेवाले, अन्त करणको शात रखनेवाले ब्रह्मचारी मुझे प्राप्त हो।२।

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूप। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्सबभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव धारणो भूयासम्। शरीर मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्या भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मण कोशोऽसि मेधया पिहित। श्रुत मे गोपाय। १।
आवहन्ती वितन्वाना। कुर्वाणाऽचीरमात्मन। वासाँसि मम गावश्च। अन्नपाने च सर्वदा। ततो मे श्रियमावह। लोमशा पशुभि सह स्वाहा। आ मा यन्तु ब्रह्मचारिण स्वाहा। वि मा यन्तु ब्रह्मचारिण स्वाहा। प्र मा यन्तु ब्रह्मचारिण स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिण स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिण स्वाहा। २।

ब्रह्मचारियोमें ही नहीं, जन-समुदायमें भी मैं यश-रूप हो जाऊ, धनी पुरुषोमें मैं श्रेष्ठ माना जाऊं। हे ऐश्वर्यरूप भगवान्! मैं तुझमें समा जाऊ, तू मुझमें समा जाय। तू सहस्र शाखाओवाला है, यह विश्व मानो विशाल वृक्ष है, एक-एक वस्तु उसकी शाखा-पशाखा है, ये सब तेरे नाना रूप हैं। मैं तेरे इन रूपोमेंसे किसीमें भी समा जाऊ और इस प्रकार तुझमें समाकर अपनेको शुद्ध करु। हे धाता! जैसे जल नीचेको वेगसे बहते हैं, जैसे मास वर्षोमें वेगसे विलीन होते जाते हैं, ऐसे ही चारोतरफसे ब्रह्मचारी मेरी तरफ उमड पडें। हे भगवन्! आप विश्रामके स्थान हैं, जो भी प्राणी जीवनके मार्गपर चल रहा है उसे पहुचना आप तक ही है, इसलिये मुझे प्रकाश दीजिये ताकि अन्धकार के कारण मैं मार्गमें भटक न जाऊ, आप मुझे प्राप्त हो, अगर मैं भटक भी जाऊ, तो भी आप मुझे ठीक रास्तेपर डाल दें।३।

शिक्षाध्यायका पचम अनुवाक्

'भू'-'भुव'-'सुव'—ये तीन व्याहृतिया हैं। महाचमस् ऋषिके पुत्रको एक चौथी व्याहृतिका ज्ञान था, वह व्याहृति है, 'मह'। 'मह' ब्रह्म है, आत्मा है, अन्य देवता 'मह'के अग हैं। 'भू'का अर्थ है, यह लोक, 'भुव'का अर्थ है, अन्तरिक्ष लोक, 'सुव' का अर्थ है, अन्तरिक्षसे ऊपर-का लोक, 'मह' का अर्थ है, आदित्य-लोक। आदित्यसे ही अन्य तीनो लोक प्रकाशित होते हैं।१।

यशो जनेऽसानि स्वाहा। श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा।
त त्वाभग प्रविशानि स्वाहा। स मा भग प्रविश स्वाहा।
तस्मिन् सहस्रशाखे। नि भगाह त्वयि मृजे स्वाहा।
यथाप प्रवता यन्ति। यथा मासा अहर्जरम्। एव मा ब्रह्मचारिण।
धातरायन्तु सर्वत स्वाहा। प्रतिवेशोऽसि प्र मा भाहि प्र मा पद्यस्व।३।
भूर्भुव सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतय। तासामु ह स्मैता चतुर्थीम्।
माहाचमस्य प्रवेदयते। मह इति। तद्ब्रह्म। स आत्मा। अङ्गान्यन्या देवता।
भूरिति वा अय लोक। भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोक।
मह इत्यादित्य। आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते।१।

'भू' अग्नि है, 'भुव' वायु है, 'सुव' आदित्य है, 'मह' चन्द्र है। चन्द्रकी ज्योतिसे ही सब ज्योतियोकी महिमा है, अन्य ज्योतियोमें उष्णता है, चन्द्रकी ज्योतिमें शीतलता है, इसलिये चन्द्रकी ज्योतिमे सब ज्योतियोकी महिमा है।२।

'भू' ऋक है, 'भुव' साम है, 'सुव' यजु है, 'मह' ब्रह्म है। ब्रह्मसे ही सब वेदोकी महिमा है। 'भू' प्राण है, 'भुव' अपान है, 'सुव' व्यान है, 'मह' अन्न है। अन्नमे ही सब प्राणोकी महिमा बनी रहती है, अन्नकी कमीसे प्राण सूखने लगते है। इस प्रकार चारो व्याहृतियोके चार प्रकारसे अर्थ है, अर्थात् चारो व्याहृतियोके चार-चार अर्थ है। जो इन सोलहोको जानता है, वह ब्रह्मको जानता है, सब देवता ऐसे ज्ञानीके सम्मुख भक्तिके उपहार लाते है।३।

चारो व्याहृतियोके चार-चार अर्थ निम्न चित्रसे स्पष्ट हो जायेगे। इनमे 'महाचमस्'ऋषिको 'मह'-व्याहृतिका जो ज्ञान और उसका जो अर्थ ज्ञात हुआ उसे उपनिषत्कारने विशेष माना है –

भू	पृथिवी	अग्नि	ऋक्	प्राण
भुव	अन्तरिक्ष	वायु	साम	अपान
सुव.	द्युलोक	आदित्य	यजु	व्यान
मह	आदित्य	चन्द्रमा	ब्रह्म	अन्न

शिक्षाध्यायका षष्ठ अनुवाक्

हृदयके भीतर जो आकाश है, उसमें पुरुषका निवास है। वह पुरुष मनोमय है, अमृत है, हिरण्मय है। तालुके भीतर स्तनकी तरह जो लट-

---

भूरिति वा अग्नि । भुव इति वायु । सुवरित्यादित्य ।
मह इति चन्द्रमा । चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते । २ ।
भूरिति वा ऋच । भुव इति सामानि । सुवरिति यजूंषि । मह इति
ब्रह्म । ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते । भूरिति वै प्राण । भुव
इत्यपान । सुवरिति व्यान । मह इत्यन्नम् । अन्नेन वाव सर्वे प्राणा
महीयन्ते । ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा । चतस्रश्चतस्रो व्याहृतय ।
ता यो वेद । स वेद ब्रह्म । सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति । ३ ।

कता है, वह इन्द्र अर्थात् जीवात्माकी योनि है। यह जीव, केशोका जहा अन्त है, वहातक जीवन पहुंचाता है—वहातक वरतता है। जिस प्रकार योनि गर्भके निकलनेका मार्ग है, उसी प्रकार मुक्तात्माके लिये सुषुम्ना नाडी, जो काकु (Uvula) मे से गुजरकर, कपालको भेदकर, बालो का जहा अन्त है वहासे जाती है, वह सुषुम्ना नाडी आत्माके शरीरमेंसे निकलनेका मार्ग है (ऐतरेय १-३-१२, प्रश्न ३-७, छौन्दोग्य ८-६) ।१।

इसप्रकार जो मुक्त होता है, वह कपालोको भेदकर, पिछले अनुवाक्में जिन 'भू'-'भुव'-'स्व'-'मह'—इन चार व्याहृतियोका वर्णन किया गया है—उनका ही रूप हो जाता है। यह शरीर तत्त्वोका बना है। मरनेपर तत्त्व तत्त्वोमें मिल जाते है। 'भू', अर्थात् उसके पिडकी अग्नि ब्रह्माडकी अग्निमें मिल गई, 'भुव', अर्थात् उसके पिडकी प्राण-वायु ब्रह्माडकी वायुमें मिल गई, 'स्व', अर्थात् उसके पिडका आदित्य—चक्षु आदि इद्रिया—ब्रह्मांडके आदित्यमें मिल गई, 'मह', अर्थात् उसकी पिडकी महत्ता, उसका व्यक्तित्व विश्वकी, ब्रह्माडकी महान् विभूतिमें समा गया। अथवा, 'भू', 'भुव', 'सुव', 'मह'—इन चार व्याहृतियो का जो उसे ज्ञान प्राप्त हो गया था, उसके फल-स्वरूप वह 'अग्नि', 'वायु', 'आदित्य' और 'ब्रह्म'में जाकर प्रतिष्ठित हो जाता है। 'भू'का सबध 'अग्नि'से है। 'भू' व्याहृतिको जिसने जीवनमें आत्मसात् कर लिया है, वह मृत्युके समय, इसके फलस्वरूप, 'अग्नि-रूप' हो जाता है, अर्थात् तेजस्वी हो जाता है। 'भुव'का संवध 'वायु'से है। 'भुव' व्याहृतिको जिसने जीवनमें आत्मसात् कर लिया है, वह मृत्युके समय, इसके फल-स्वरूप, 'वायु-रूप' हो जाता है, अर्थात् वधन-रहित हो जाता है। 'सुव'-का सबध 'आदित्य' से है। 'सुव' व्याहृतिको जिसने जीवनमें

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाश । तस्मिन्नय पुरुषो मनोमय ।
अमृतो हिरण्मय । अन्तरेण तालुके । य एष स्तन इवावलम्बते ।
सेन्द्रयोनि । यत्रासौ केशान्तो विवर्तते । व्यपोह्य शीर्षकपाले । १ ।

आत्मसात् कर लिया है, वह मृत्युके समय, इसके फल-स्वरूप, 'आदित्य-रूप' हो जाता है, अर्थात् महान् तेजस्वी हो जाता है। 'मह' का संबंध 'ब्रह्म'से है। 'मह' व्याहृतिको जिसने जीवनमें आत्मसात् कर लिया है, वह मृत्युके समय, इसके फल-स्वरूप, 'ब्रह्म-रूप' हो जाता है अर्थात् सब तरहसे महान्-ही-महान् हो जाता है। अब तक वह बंधा हुआ था, दूसरोंकी महानतासे महत्ता प्राप्त करता था, अब अपनी महत्तासे महान् कहाता है, अब उसे अपना राज्य—स्वराज्य—प्राप्त हो जाता है। उसे मनका स्वामित्व, वाणी, चक्षु, श्रोत्र, विज्ञानका प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है। अबतक जो उसका क्षुद्र रूप था उसे छोडकर वह अग्नि, वायु, आदित्य—यह ब्रह्मका विशाल रूप धारण कर लेता है। अबतक हृदयके आकाशमें उसका वास था, अब भूलोकके महान् आकाशको वह अपना शरीर बना लेता है, सत्य उसका आत्मा हो जाता है, प्राण हो जाता है, विश्राम-स्थान हो जाता है। आनन्द ही उसका मन हो जाता है, शांति ही उसकी सम्पत्ति हो जाती है, वह अमृत हो जाता है। चार व्याहृतियोंके अनुष्ठानद्वारा क्षुद्र जीवनसे महान् जीवनमें परिणत होनेकी यह प्रक्रिया है। हे प्राचीन योग्य! प्राचीन-कालसे, जन्म-जन्मान्तरसे योग्यतावाले संस्कारी शिष्य! इसप्रकारके जीवनकी उपासना कर।२।

शिक्षाध्यायका सप्तम अनुवाक्

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, दिशाएं, अवान्तर दिशाएं—यह एक पंचक, अर्थात् पांचका जोडा है। अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, नक्षत्र—यह दूसरा पंचक है। जल, ओषधि, वनस्पति, आकाश, आत्मा—यह तीसरा पंचक है। ये तीनों पंचक ब्रह्माण्डमें हैं, अतः ये 'अधिभूत'-पंचक कहाते हैं।

भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति । भुव इति वायौ । सुवरित्यादित्ये । मह इति ब्रह्मणि । आप्नोति स्वाराज्यम् । आप्नोति मनसस्पतिम् । वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः । श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः । एतत्ततो भवति । आकाशशरीरं ब्रह्म । सत्यात्म प्राणारामं मन आनन्दम् । शान्तिसमृद्धममृतम् । इति प्राचीनयोग्योपास्स्व । २ ।

इसीप्रकार पिडमें भी पचक है, और मनुष्य-शरीरमे होनेके कार
'अध्यात्म'-पचक कहाते हैं । प्राण, व्यान, अपान, उदान, समा
यह एक पचक है । चक्षु, श्रोत्र, मन, वाक्, त्वक्—यह दूसरा पचक
चर्म, मास, स्नायु, अस्थि, मज्जा—यह तीसरा पचक है । ब्रह्माड
पिडके इन तीन-तीन पचकोकी गणना करके ऋषिने कहा—ये सब
पाच ही हैं । एक पचकसे दूसरे पचककी पालना होती है, ब्रह्म
तथा पिण्डका आपसमें सबध है । इस सृष्टिमें 'ब्रह्माड' (Macroco
तथा 'पिड' (Microcosm) का एक-दूसरेसे समन्वय है ।१।

शिक्षाध्यायका अष्टम अनुवाक्

'ओम्' ही ब्रह्म है, 'ओम्' ही यह सब-कुछ है, ससार 'ओम्'क
अनुकृति है, गुरु शिष्यको पाठ सुनानेकेलिये जब कहता है, तब
'ओम्' कहकर ही पाठ सुनाता है, 'ओम्' कहकर सामका गान क
है । शास्त्र-पाठ 'ओम्'से, और समाप्ति 'शसोम्'—'शोम्'—से होत
अध्वर्यु 'ओम्' कहकर यजुर्वेदका पाठ करता है, ब्रह्मा 'ओम्'से परम
की स्तुति करता है, और 'ओम्' कहकर ही अग्निहोत्र प्रारभ क
अनुज्ञा देता है । ब्राह्मण प्रवचन करते समय 'ओम्'का प्रयोग कर
और कहता है कि मै ब्रह्मको प्राप्त करू, इसप्रकार वह ब्रह्मको
प्राप्त कर लेता है ।१।

पृथिव्यन्तरिक्ष द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशा । अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा
नक्षत्राणि । आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा । इत्यधिभूतम् ।
अथाध्यात्मम् । प्राणो व्यानोऽपान उदान समान । चक्षु श्रोत्र मनो
वाक् त्वक् । चर्म मांसं स्नावास्थि मज्जा । एतदधिविधाय
ऋषिरवोचत् । पाङ्क्तं वा इदं सर्वम् । पाङ्क्तेनैव पाङ्क्तं स्पृणोतीति ।
ओमिति ब्रह्म । ओमितीदं सर्वम् । ओमित्येतदनुकृति ह स्म वा
अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति । ओमिति सामानि गायन्ति । ओं
शोमिति शस्त्राणि शंसन्ति । ओमित्यध्वर्यु प्रतिगर प्रतिगृणाति ।
ओमिति ब्रह्मा प्रसौति । ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति । ओमिति

शिक्षाध्यायका नवम अनुवाक्

'ऋत'का पालन करे, परन्तु स्वाध्याय और प्रवचनको न भूले; 'सत्य'का पालन करे, परन्तु स्वाध्याय और प्रवचनको न छोडे; 'तप' करे, परन्तु स्वाध्याय और प्रवचनको भी साथ रखे, दम-शम-अग्न्याधान-अग्निहोत्र-अतिथिसेवा-मनुष्यसेवा-प्रजापालन-सन्तानोत्पत्ति-पुत्र-पौत्र-का पालन—सभी कुछ करे, परन्तु स्वाध्याय तथा प्रवचन का त्याग कभी न करे।

'सत्य' ही सब-कुछ है, यह सत्यवाक् रथीतरके पुत्रका कहना है, 'तप' ही सब-कुछ है, यह तपस्वी पुरुशिष्टके पुत्रका कथन है, 'स्वाध्याय तथा प्रवचन' ही सब-कुछ हैं, यह मुद्गलके पुत्र नाकका कथन है—वह कहता था कि स्वाध्याय ही तप है, प्रवचन ही तप है, परन्तु ऋत, सत्य, तप, दम आदिके साथ स्वाध्याय और प्रवचनको कभी नहीं छोडना चाहिये। ('स्वाध्याय'का अर्थ है—स्वय अध्ययन करना, और 'प्रवचन'का अर्थ है—स्वाध्याय किये हुएका दूसरोको उपदेश देना।) ।१।

शिक्षाध्यायका दशम अनुवाक्

कठ (६-१) में कहा है कि यह शरीर 'उल्टा टगा हुआ वृक्ष' है—'ऊर्ध्वमूलोऽवाङ्शाख'। मै इस शरीर-रूपी वृक्षको ढोये-ढोये फिरता हू। मै इससे पृथक् हू। मेरी कीर्ति इतनी फैले जितनी फैलीहुई पहाडकी पीठ होती है। पर्वतकी चोटीपर जैसे पवित्र हिम होती है, उसीप्रकार

ऋत च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्य च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्र च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुष च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतर। तप इति तपोनित्य पौरुशिष्टि। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्य। तद्धि तपस्तद्धि तप। १।

पवित्रताको लेकर मैं ऊंचा उठूं । मेरे उठनेमें अपवित्रता नहीं, हिमकी-सी पवित्रता सहायक हो । अन्नोंमें मैं अमृतकी भांति होऊं, धनोंमें वर्चस्वी धनकी भांति होऊं, बुद्धिमें क्षीण न होनेवाली अमर मेधाकी भांति होऊं । त्रिशंकु ऋषिके ये वेदको आधार लेकर कहेहुए वचन हैं ।१।

शिक्षाध्यायका एकादश अनुवाक

वेद विद्या पढा चुकनेके अनन्तर आचार्य अन्तेवासीको, शिष्यको अनुशासन करता है, और दीक्षांत-भाषण (Convocation address) देताहुआ कहता है—सत्य बोलना । धर्माचरण करना । स्वाध्यायसे प्रमाद मत करना । आचार्यको जो प्रिय हो वह दक्षिणारूपमें उसे देकर ब्रह्मचर्याश्रमके अनन्तर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना, और प्रजाके सूत्रको मत तोड़ना । सत्य बोलनेसे प्रमाद न करना, धर्माचरणसे प्रमाद न करना, जिस बातसे तुम्हारा भला हो उससे प्रमाद मत करना, अपनी विभूति बढानेमें प्रमाद मत करना, स्वाध्याय और प्रवचनमें प्रमाद मत करना ।१।

संसारमें जो 'देव' हैं, तुमसे 'गुणों'में बढे-चढे हैं, और जो 'पितर' हैं, तुमसे 'आयु'में बडे हैं, उनके प्रति अपने कर्तव्यके पालनमें प्रमाद मत करना । माताको देवी समझना । पिता, आचार्य, अतिथि—इन्हें देव मानना । हमारे जो अनिन्दित कर्म हैं उन्हींका सेवन करना,

---

अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव । ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि । द्रविणं सुवर्चसम् । सुमेधा अमृतोक्षितः । इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम् । १ ।

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । १ ।

दूसरोका नही। जो हमारे सुचरित है उन्हीको उपास्य समझना, दूसरोको नहीं ।२।

हमसे श्रेष्ठ विद्वान् जहा बैठे हो वहा उनके उपदेशको ध्यानसे सुनना, वाद-विवादमें मत पडना। श्रद्धासे देना, अश्रद्धासे भी देना । अपनी बढती श्रीमेंसे देना, श्री न बढ रही हो, तो भी लोक-लाजसे देना। भयसे देना, प्रेमसे भी देना ।३।

ऐसा करतेहुए भी अगर किसी काममें सन्देह उत्पन्न हो जाय, यह समझ न पडे कि 'धर्माचार' क्या है, अथवा किस स्थितिमें कैसे बरतना है, 'लोकाचार' क्या है—यह सन्देह खडा हो जाय, तो तुम्हारे आस-पास के धर्म-कार्यमें स्वत प्रवृत्त, प्रेरणावश प्रवृत्त, अरुक्ष-स्वभावके, सब पहलुओपर विचार करनेवाले ब्राह्मण जैसे बरतें वैसे बरतना। 'विवादास्पद' विषयोमें भी युक्त, आयुक्त, अरुक्ष, धर्मकाम, सदर्शी ब्राह्मणोके पीछे ही चलना। यही आदेश है, यही उपदेश है, यही वेद और उपनिषद्का सार है, यही हमारा अनुशासन है, ऐसा ही आचरण करना, ऐसा ही अनुष्ठान करना ।४।

देवपितृकार्याभ्या न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव ।
आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि,
तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि । यान्यस्माकँ सुचरितानि,
तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि । २ ।
ये के चास्मच्छ्रेयाँसो ब्राह्मणा, तेपा त्वयाऽऽसनेन
प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धया देयम् । श्रिया देयम् ।
ह्रिया देयम् । भिया देयम् । सविदा देयम् । ३ ।
अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् । ये तत्र
ब्राह्मणा समर्शिन । युक्ता आयुक्ता । अलूक्षा धर्मकामा स्यु । यथा
ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथा । अथाभ्याख्यातेपु । ये तत्र ब्राह्मणा
सर्मशिन । युक्ता आयुक्ता । अलूक्षा धर्मकामा स्यु । यथा ते तेपु
वर्तेरन् । तथा तेपु वर्तेथा । एप आदेश । एप उपदेश । एपा वेदो-
पनिपत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् । ४ ।

शिक्षाध्यायका द्वादश अनुवाक

मित्र, वरुण, अर्यमा हमारे लिये कल्याणकारी हो, इन्द्र, बृहस्पति, महान् पराक्रमवाला विष्णु हमारे लिये कल्याणकारी हो। हे ब्रह्म, तुझे नमस्कार है। हे वायु! तुझे नमस्कार है। हे वायु! तू ही प्रत्यक्ष-ब्रह्म है। तुझे ही अपने अध्ययन-कालमें मैने प्रत्यक्ष-ब्रह्म कहा, ऋत कहा, सत्य कहा। हे वायु-रूप प्रत्यक्ष-ब्रह्म! मेरी रक्षा कर, मेरे उपदेष्टा आचार्यकी रक्षा कर, मेरी रक्षा कर, मेरे आचार्यकी रक्षा कर। ओ३म् शांति शांति शांति ।१।

[ब्रह्मानन्द वल्ली]

ब्रह्मानन्द-वल्लीका प्रथम अनुवाक

हम दोनो, अर्थात् गुरु तथा शिष्यकी परमात्मा साथ-साथ रक्षा करे, हम दोनो साथ-साथ भोजन करे, हम दोनो साथ-साथ अपने बलकी वृद्धि करें, हम दोनोका पढा-पढाया तेजस्वी हो, हम आपसमें कभी द्वेष न करें। ओ३म् शांति शांति शांति ।

ब्रह्मका वेत्ता, अन्य व्यक्तियोके लिये जो-कुछ भी परे है, निकट नही दूर है, उसे प्राप्त कर लेता है। कहा भी है—ब्रह्म 'सत्य' है, 'ज्ञान' है, 'अनन्त' है। वह हृदयकी गुहामें छिपा हुआ है, परन्तु साथ ही परम-व्योममे, अन्तरिक्ष-मडलमें वही स्पष्ट दीख रहा है। उसे जो जान लेता है वह सर्वज्ञ ब्रह्मका साथी हो जाता है, और साथी होनेके कारण जैसे ब्रह्मके लिये कोई कामना अपूर्ण नही रह जाती, सब प्रकारसे वह

शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम् । ऋतमवादिषम् । सत्यमवादिषम् । तन्मामावीत् । तद्वक्तारमावीत् । आवीन्माम् । आवीद्वक्तारम् । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।१।

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

तृप्त होता है, वैसे ब्रह्मका साथी होनेके कारण उसके लिये भी कोई कामना अपूर्ण नही रह जाती, वह सब प्रकारसे तृप्त हो जाता है।

उसी ब्रह्मसे आकाश हुआ, आकाशमे वायु, वायुमे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथिवी, पृथिवीसे ओषधिया, ओषधियोमे अन्न, अन्नसे वीर्य, वीर्यसे पुरुष। यह शरीर, अन्न तथा अन्नके रसके अतिरिक्त क्या है? इस शरीरका स्थूल रूप हमें क्या दिखाई देता है? सबसे ऊपर सिर है, दाया भाग है, बाया भाग है, धड है, पूछ है, जहासे प्राणी बैठता है। यह स्थूल-शरीर प्राणीका 'अन्नमय-कोश' है। कहा भी है—(क)

ब्रह्मानन्द-वल्लीका द्वितीय अनुवाक

सब प्रजाओकी अन्नसे ही उत्पत्ति होती है। जो कोई भी प्राणी पृथिवीपर आश्रित है वे अन्नसे ही जीवित रहते है, अन्तमें अन्नमें ही लीन हो जाते है, क्योकि पच-महाभूतोका श्रेष्ठतम रूप अन्न ही है। अन्नको 'सर्वौषध' कहा जाता है, सब ओषधियोका सार अन्नमें है। जो अन्नको ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करते है वे अन्नसे, भोग्य-पदार्थों से जो-कुछ मिल सकता है, उसे पा लेते है। अन्न सब भूतोमे श्रेष्ठ है, तभी इसे 'सर्वौषध' कहा गया है। अन्नसे प्राणी उत्पन्न होते है, उत्पन्न होनेके बाद अन्नसे ही बढते है। अन्न खाया जाता है, परन्तु यह खा भी जाता है। ससार भोगा तो जाता ही है, परन्तु जो भोगोका दास हो जाता है, उसे भोग ही भोग लेते है, उसे अन्न ही खा जाता है। अन्नकी यही व्याख्या है—'अद्यते अत्ति च भूतानि'—यह खाया जाता है, परन्तु खा भी जाता है। इस 'अन्न-रस-मय-कोश'को, इस शरीरको सब-कुछ

ॐ ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाऽभ्युक्ता। सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म। यो वेद निहित गुहाया परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सभूत। आकाशाद्वायु। वायोरग्नि। अग्नेराप। अद्भ्य पृथिवी। पृथिव्या ओषधय। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेत। रेतस पुरुष। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय। तस्येदमेव शिर। अय दक्षिण पक्ष। अयमुत्तर पक्ष। अयमात्मा। इद पुच्छ प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति। (क)

मन समझो। इससे भिन्न, किन्तु इसीके भीतर, इस शरीरका आत्मा, एक अन्य शरीर है, जिसे 'प्राणमय-कोश' कहते हैं। 'अन्नमय-कोश'में 'प्राणमय-कोश' पूर्ण है। जैसे 'अन्नमय-कोश' पुरुषके आकारका है, वैसे 'प्राणमय-कोश' भी पुरुषके ही आकारका है। इस 'प्राणमय-कोश' का सिर प्राण है, दक्षिण-भाग व्यान है, उत्तर-भाग अपान है, धड़ आकाश है, पूछ पृथिवी है—प्राणीके बैठनेका स्थान है। कहा भी है—(ख)

ब्रह्मानन्द-वल्लीका तृतीय अनुवाक

देव, मनुष्य, पशु—सभी प्राणसे ही अनुप्राणित हो रहे हैं। प्राण ही सब भूतोंकी आयु है, इसलिये इसे 'सर्वायु' कहा जाता है। जो प्राणको ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करते हैं, वे अपनी सारी आयुको प्राप्त कर लेते हैं। प्राण ही सब भूतोंकी आयु है, इसलिये उसे 'सर्वायु' कहा गया है। 'प्राणमय-कोश'का वही आत्मा है, जो 'अन्नमय-कोश'का है। इस 'प्राणमय-कोश'से भिन्न, किंतु इसीके भीतर, इस 'प्राणमय-कोश' का आत्मा एक अन्य शरीर है, जिसे 'मनोमय-कोश' कहते हैं। 'प्राणमय-कोश'में 'मनोमय-कोश' पूर्ण है। जैसे 'प्राणमय-कोश' पुरुषके आकारका है, वैसे 'मनोमय-कोश' भी पुरुषके आकारका है। इस 'मनोमय-कोश'

अन्नाद्वै प्रजा प्रजायन्ते। या काश्च पृथिवीँ श्रिता। अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्तत। अन्नँ हि भूताना ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति। येऽन्न ब्रह्मोपासते। अन्नँ हि भूताना ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। अन्नाद्भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यतेऽत्ति च भूतानि। तस्मादन्न तदुच्यत इति। तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय। तेनैष पूर्ण। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वय पुरुषविध। तस्य प्राण एव शिर। व्यानो दक्षिण पक्ष। अपान उत्तर पक्ष। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छ प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति। (ख)

प्राण देवा अनु प्राणन्ति। मनुष्या पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायु। तस्मात्सर्वायुषमुच्यते। सर्वमेव त आयुर्यन्ति। ये प्राण ब्रह्मोपासते। प्राणो हि भूतानामायु। तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। य पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा मनोमय। तेनैष पूर्ण।

का सिर यजु है, दक्षिण-भाग ऋक् है, उत्तर-भाग साम है, धड़ आदेश है, पूछ अथर्व है । कहा भी है--(ग)

ब्रह्मानन्द-वल्लीका चतुर्थ अनुवाक

वाणी जहासे लौट आती है, मन जिसे प्राप्त नही कर सकता, उस आनन्द-रूप ब्रह्मको जो जान लेता है, वह कभी भयभीत नहीं होता । अन्न, प्राण और मनको ब्रह्म मानकर इनकी उपासना करनेवाला ब्रह्म को नहीं पा सकता, भोग्य पदार्थोंको पा लेता है, प्राण-शक्तिको पा लेता है, मानसिक-शक्तिको प्राप्त कर लेता है । जहा से वाणी और मन भी लौट आते है, वहासे ब्रह्मका ज्ञान प्रारंभ होता है ।

'मनोमय-कोश'का वही आत्मा है, जो 'प्राणमय-कोश'का है । इस 'मनोमय-कोश'से भिन्न, किंतु इसीके भीतर, इसका आत्मा, एक अन्य शरीर है, जिसे 'विज्ञानमय-कोश' कहते है । 'मनोमय-कोश'में 'विज्ञान-मय-कोश' पूर्ण है । जैसे 'मनोमय-कोश' पुरुषके आकारका है, वैसे 'विज्ञानमय-कोश' भी पुरुषके आकारका है । इस 'विज्ञानमय-कोश'का सिर श्रद्धा है, दक्षिण-भाग ऋत है, उत्तर-भाग सत्य है, धड़ योग है, पूछ मह है--महानतामें 'विज्ञानमय-कोश'की प्रतिष्ठा है । कहा भी है-(घ)

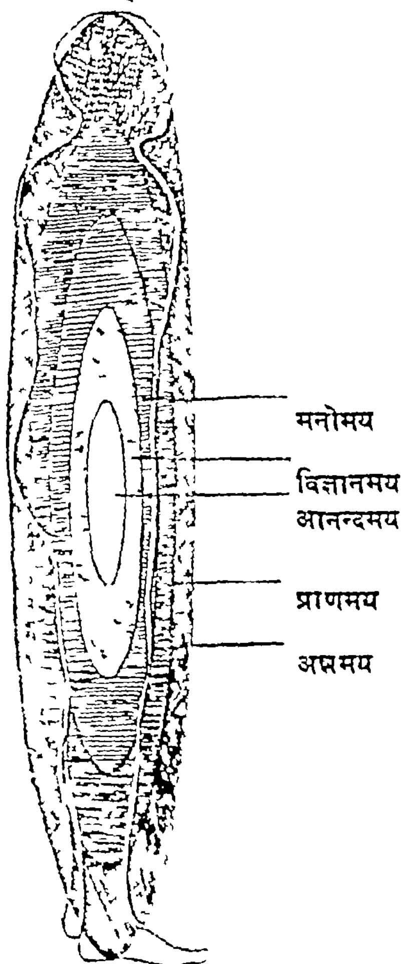
ब्रह्मानन्द-वल्लीका पचम अनुवाक

'यज्ञ', अर्थात् आध्यात्मिक-कार्य, 'कर्म' अर्थात्, लौकिक-कार्य-- ये दोनो विज्ञानसे ही विस्तार पाते है । सब विद्वान लोग 'विज्ञान'को ही

स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधताम् । अन्वय पुरुषविध । तस्य यजुरेव शिर । ऋग् दक्षिण पक्ष । सामोत्तर पक्ष । आदेश आत्मा । अथर्वाङ्गिरस पुच्छ प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति । (ग)

यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह । आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कदाचनेति । तस्यैष एव शारीर आत्मा । य पूर्वस्य । तस्माद्वा एतस्मान्मनो-मयात् । अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय । तेनैष पूर्ण । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधताम् । अन्वय पुरुषविध । तस्य श्रद्धैव शिर । ऋत दक्षिण पक्ष । सत्यमुत्तर पक्ष । योग आत्मा । मह पुच्छ प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति । (घ)

ज्येष्ठ ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करते हैं। जो 'विज्ञान'को ब्रह्म मानकर उससे प्रमाद नहीं करता, वह शरीरके सब पापोंको छोड़कर सब कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। 'विज्ञानमय-कोश'का वही आत्मा



पाँच कोश

है, जो 'मनोमय-कोश' का है। इस 'विज्ञानमय-कोश'से भिन्न, किंतु इसके भीतर इसका आत्मा, एक अन्य शरीर है, जिसे 'आनन्दमय-कोश' कहते हैं। 'विज्ञानमय-कोश'में 'आनन्दमय-कोश' पूर्ण है। जैसे 'विज्ञानमय-कोश' पुरुषके आकारका है, वैसे 'आनन्दमय-कोश' भी पुरुषके आकारका

है। इस 'आनन्दमय-कोश'का सिर प्रिय है, दक्षिण-भाग मोद है, उत्तर-भाग प्रमोद है, धड आनन्द है, पूछ ब्रह्म है। 'आनन्दमय-कोश'में विचरने-वाला 'ब्रह्म'को ही अपना आधार बना लेता है। कहा भी है--(ङ)

पाच कोशो का चित्र

स०	नाम कोश	कोशका सिर	दक्षिण भाग	वाम भाग	धड	आश्रय स्थान	शरीर विशेष
१	अन्नमय कोश	सिर	दाया	बाया	धड	पूछ	स्थूल शरीर
२	प्राणमय कोश	प्राण	कान	अपान	आकाश	पृथिवी	सूक्ष्म शरीर
३	मनोमय कोश	यजु	ऋक्	साम	आदेश	अथर्व	
४	विज्ञानमय कोश	श्रद्धा	ऋत	सत्य	योग	मह	
५	आनन्दमय कोश	प्रिय	मोद	प्रमोद	आनन्द	ब्रह्म	कारण शरीर

(पाच कोशोमे पहला कोश 'अन्नमय-कोश' है। यह शरीर ही 'अन्नमय-कोश' है, और पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश—इन पाच महाभूतोमे बना है। परन्तु यह कोश तो सबसे निचला है, अन्य चार

विज्ञान यज्ञ तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञान देवा सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठ-मुपासते। विज्ञान ब्रह्म चेद्वेद। तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनो हित्वा। सर्वान्कामान्समश्नुत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। य पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्मानन्दमय। तेनैष पूर्ण। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वय पुरुषविध। तस्य प्रियमेव शिर। मोदो दक्षिण पक्ष। प्रमोद उत्तर पक्ष। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति। (ङ)

कोश है, जो इससे ऊपर है। 'अन्नमय-कोश'से ऊंचा, परन्तु इसीके भीतर 'प्राणमय-कोश' है। जैसे 'अन्नमय' पांच महाभूतोंसे बना है, वैसे 'प्राणमय' किससे बना है? उपनिषदोंके अनुसार 'प्राणमय'की रचना 'प्राण-तत्त्व'से हुई है। अगर 'आकाश'को वर्तमान परिभाषामें 'ईथर' माना जाय, तो कहना होगा कि उपनिषदोंके ऋषि 'ईथर'से भी एक सूक्ष्म 'तत्त्व' (Substance)को मानते थे, जिसका नाम 'प्राण-तत्त्व' (Life substance) था। 'ईथर'की तरह यह 'प्राण-तत्त्व' भी विश्वभरमें व्याप्त हो रहा है, और उसीसे हमारा 'प्राणमय-कोश' बना है। 'स्वर्णमय'का अर्थ है स्वर्णसे बना, 'काष्ठमय'का अर्थ है काष्ठसे बना, इसीप्रकार 'प्राणमय'का अर्थ है प्राणसे बना। अथर्ववेदमें भी 'प्राण'को ऐसा ही एक तत्त्व माना है, तभी कहा है—'या ते प्राण प्रिया तनूः' (११-४-५३)। इस 'प्राण-तत्त्व'का स्रोत सूर्यको माना गया है। प्रश्नोपनिषद्में कहा है—'आदित्यो ह वै प्राणः'। 'प्राण-तत्त्व'से सूक्ष्म 'मनस्-तत्त्व' माना गया है। यह भी 'प्राण'से सूक्ष्म होता हुआ सब जगह व्याप्त है और प्राणकी तरह एक 'तत्त्व' (Substance) है। वैशेषिक-दर्शनने 'पृथिव्यप् तेजो वाय्वाकाशो कालो दिगात्मा मनांसि द्रव्याणि'—इस सूत्रमें 'मन'को 'द्रव्य' (Substance) माना है। क्योंकि 'मनस्-तत्त्व' प्रकृतिके अन्य तत्त्वोंकी तरह सूक्ष्म है, और सब जगह व्याप रहा है, इसीलिये मनकी गति शब्दसे भी प्रबल है। उपनिषदोंके इस विचारको कि ईथरकी तरह 'प्राण' और 'मनस्' भी तत्त्व हैं, वर्तमान-युगके वैज्ञानिक सर आलिवर लाज भी मानते थे। उनका कथन था—'My doctrine is that Life exists in space, that Mind is a higher development of that, and I presume that Spirit is a higher development still, but they all exist in space'—अर्थात् 'प्राण' (Life) विश्वभर व्याप रहा है, मन (Mind) उससे विकसित हुआ है, आत्मा (Spirit) मनसे भी अधिक विकसित है, और ये तीनों सब जगह वर्तमान हैं। उपनिषदोंकी परि-

भापामे पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश—प्रकृतिके ये पाच ही तत्त्व नही है, अपितु आकाशसे सूक्ष्म 'प्राण-तत्त्व' है, जिससे 'प्राणमय-कोश' बना है, प्राणसे सूक्ष्म 'मनस्-तत्त्व' है, जिससे 'मनोमय-कोश' बना है, मनस्से सूक्ष्म 'विज्ञान-तत्त्व' है, जिससे 'विज्ञानमय कोश' बना है, विज्ञानसे सूक्ष्म 'आनन्द-तत्त्व' है, जिससे 'आनन्दमय-कोश' बना है। साख्यमे प्रकृतिका जो विकास-क्रम दिया है, उसके साथ इन कोशोका समन्वय स्पष्ट है। 'सत्त्व-रज-तम की साम्यावस्था' ही 'आनन्द-तत्त्व' है, जिससे 'आनन्दमय-कोश' हुआ, 'प्रकृति'-से 'महान्' हुआ, यह 'महत्-तत्त्व' ही 'विज्ञान-तत्त्व' है, जिससे 'विज्ञानमय-कोश' हुआ, 'महत्'से 'अहकार' हुआ, यह 'अहकार-तत्त्व' ही 'मनस्-तत्त्व' है, जिससे 'मनोमय-कोश' हुआ, 'अहकार से 'पचतन्मात्रा' हुई, ये 'पचतन्मात्राए' ही 'प्राण-तत्त्व' है, जिनसे 'प्राणमय-कोश' हुआ, 'पचतन्मात्राओ'से स्थूल 'पच-महाभूत' हुए, ये पाचो महाभूत ही 'अन्न-तत्त्व' है, जिनसे 'अन्नमय-कोश' हुआ। इन पाचो कोशोका अपना-अपना 'लोक' (Plane) है। 'अन्नमय-कोश'से इस 'भू-लोक'मे व्यवहार हो सकता है, अन्य लोकोमे नही, 'प्राणमय-कोश'से 'भुवर्लोक'मे—प्राण-लोकमे—व्यवहार हो सकता है, 'मनोमय-कोश'से 'स्वर्लोक' (Plane)मे व्यवहार हो सकता है। यही क्रम सब लोकोमे है। इसी उपनिषद्की 'भृगुवल्ली'मे बताया गया है कि मनुष्य अपने कोशोमे जिस-जिस लोकमे व्यवहार करता है, उसीको 'ब्रह्म' समझने लगता है, असलमे 'ब्रह्म' इन सब 'लोको' (Planes)से ऊपर है, परे है।)

ब्रह्मानद-वल्लीका षष्ठ अनुवाक

जो ब्रह्मको 'असत्' कहता है, ब्रह्म तो क्या असत् होना है, वह स्वय 'असत्' हो जाता है। जो ब्रह्मको 'सत्' समझता है, वह ब्रह्मकी सत्तासे स्वय 'सत्' हो जाता है। सब सत्ता उसीसे है। 'आनन्दमय-कोश'का वही आत्मा है, जो 'विज्ञानमय-कोश'का है।

असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। अथातोऽनुप्रश्नाः।

ऊपर जो-कुछ कहा गया है, उसे समझ लेनेके अनन्तर, ये प्रश्न तो साधारण-से ही प्रश्न रह जाते हैं। कौन-से प्रश्न ? यह प्रश्न कि मरनेके बाद 'अविद्वान्' ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है या नही, अथवा यह प्रश्न कि मरनेके बाद 'विद्वान्' ब्रह्म-लोकको प्राप्त होता है या नही ? इन प्रश्नोका उत्तर कोशोको समझ लेनेके बाद स्वय मिल जाता है।

हा, सबसे बडा प्रश्न है, ससारकी रचना कैसे हुई ? इस प्रश्नका उत्तर देतेहुए ऋषि कहते हैं—उसने 'कामना' की। क्या कामना की ? मै एकसे अनेक हो जाऊ, प्रजनित हो जाऊ। उसने 'तप' किया। सृष्टि की रचना करनेका अर्थ है 'क्रिया', (Activity)का प्रारभ हो जाना। ब्रह्मकी यह 'क्रिया' बढते-बढते जब उग्र-रूपमें पहुची, तो उसी अवस्था को 'तप' कहते है। 'तप' है—'क्रियाकी उग्र-अवस्था' (Activity in climax)। तप करनेके बाद उसने यह-सब स्रजा। जो-कुछ भी है, उसकी सृष्टि करके—उसे रचकर—उसमें वह अनुप्रविष्ट हो गया। ब्रह्मके सृष्टिमें अनुप्रविष्ट होनेपर ब्रह्मके दो रूप हो गये। एक रूप 'सत्' है, दूसरा 'त्यत्', अर्थात् 'तत्' है। 'सत्' वह, जो दृश्यमान ससार है—यह भी ब्रह्मरूप है, 'तत्' वह, जो 'यह' नही, 'वह' है, अदृश्यमान है, वह भी ब्रह्मरूप ही है। ब्रह्मका एक रूप 'निरुक्त'-रूप है, जिसका निर्वचन हो सकता है, वर्णन हो सकता है, दूसरा 'अनिरुक्त'-रूप है, जिसका निर्वचन, वर्णन नही हो सकता। एक रूप 'निलयन'-रूप है, दूसरेके आश्रय से स्थित है, जैसे पृथिवी सूर्यके आश्रयसे स्थित है, दूसरा 'अनिलयन'-रूप है, स्वाश्रित रूप है, जैसे सूर्य स्वाश्रयसे, अर्थात् बिना किसी दूसरे के सहारे स्थित है। एक रूप 'विज्ञान'-रूप है, चेतन-रूप है, दूसरा 'अविज्ञान'-रूप है, जड-रूप है। एक रूप 'सत्य'-रूप है, कारण-रूप है, दूसरा 'अनृत'-रूप है, कार्य-रूप है। इसप्रकार 'सत्' और 'त्यत्'—'यह' और 'वह'—इन दोनो रूपोके मेलसे 'सत्'का 'स' और 'त्यत्'का 'त्य'

उताविद्वानमु लोक प्रेत्य। कश्चन गच्छती३। आहो विद्वानमु लोक प्रेत्य। कश्चित्समश्नुता३ उ।

सोऽकामयत। बहु स्या प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

भापामे पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश—प्रकृतिके ये पाच ही तत्त्व नही है, अपितु आकाशसे सूक्ष्म 'प्राण-तत्त्व' है, जिससे 'प्राणमय-कोश' बना है, प्राणसे सूक्ष्म 'मनस्-तत्त्व' है, जिससे 'मनोमय-कोश' बना है, मनस्से सूक्ष्म 'विज्ञान-तत्त्व' है, जिससे 'विज्ञानमय कोश' बना है, विज्ञानसे सूक्ष्म 'आनन्द-तत्त्व' है, जिससे 'आनन्दमय-कोश' बना है। सास्यमे प्रकृतिका जो विकास-क्रम दिया है, उसके साथ इन कोशोका समन्वय स्पप्ट है। 'सत्त्व-रज-तम की साम्या-वस्था' ही 'आनन्द-तत्त्व' है, जिससे 'आनन्दमय-कोश' हुआ, 'प्रकृति'-मे 'महान्' हुआ, यह 'महत्-तत्त्व' ही 'विज्ञान-तत्त्व' है, जिससे 'विज्ञानमय-कोश' हुआ, 'महत्'से 'अहकार' हुआ, यह 'अहकार-तत्त्व' ही 'मनस्-तत्त्व' है, जिससे 'मनोमय-कोश' हुआ, 'अहकार'से 'पच-तन्मात्रा' हुई, ये 'पचतन्मात्राए' ही 'प्राण-तत्त्व' है, जिनसे 'प्राणमय-कोश' हुआ, 'पचतन्मात्राओ'से स्थूल 'पच-महाभूत' हुए, ये पाचो महा-भूत ही 'अन्न-तत्त्व' है, जिनसे 'अन्नमय-कोश' हुआ। इन पाचो कोशोका अपना-अपना 'लोक' (Plane) है। 'अन्नमय-कोश'से इस 'भू-लोक'मे व्यवहार हो सकता है, अन्य लोकोमे नही, 'प्राणमय-कोश'से 'भुवर्लोक'मे—प्राण-लोकमे—व्यवहार हो सकता है, मनोमय-कोश' मे 'स्वर्लोक' (Plane) मे व्यवहार हो सकता है। यही क्रम सब लोकोमे है। इसी उपनिपद्की 'भृगुवल्ली'मे बताया गया है कि मनुष्य अपने कोशोमे जिस-जिस लोकमे व्यवहार करता है, उसीको 'ब्रह्म' समझने लगता है, असलमे 'ब्रह्म' इन सब 'लोको' (Planes) से ऊपर है, परे है।)

ब्रह्मानद-वल्लीका पष्ठ अनुवाक

जो ब्रह्मको 'असत्' कहता है, ब्रह्म तो क्या असत् होना है, वह स्वय 'असत्' हो जाता है। जो ब्रह्मको 'सत्' समझता है, वह ब्रह्मकी सत्तासे स्वय 'सत्' हो जाता है। सब सत्ता उसीसे है। 'आनन्दमय-कोश'का वही आत्मा है, जो 'विज्ञानमय-कोश'का है।

असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेन ततो विदुरिति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। य पूर्वस्य। अथातोऽनुप्रश्ना।

ऊपर जो-कुछ कहा गया है, उसे समझ लेनेके अनन्तर, ये प्रश्न तो साधारण-से ही प्रश्न रह जाते हैं। कौन-से प्रश्न? यह प्रश्न कि मरनेके बाद 'अविद्वान्' ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है या नहीं, अथवा यह प्रश्न कि मरनेके बाद 'विद्वान्' ब्रह्म-लोकको प्राप्त होता है या नहीं? इन प्रश्नोंका उत्तर कोशोंको समझ लेनेके बाद स्वयं मिल जाता है।

हां, सबसे बडा प्रश्न है, संसारकी रचना कैसे हुई? इस प्रश्नका उत्तर देतेहुए ऋषि कहते हैं---उसने 'कामना' की। क्या कामना की? मैं एकसे अनेक हो जाऊं, प्रजनित हो जाऊं। उसने 'तप' किया। सृष्टि की रचना करनेका अर्थ है 'क्रिया' (Activity) का प्रारंभ हो जाना। ब्रह्मकी यह 'क्रिया' बढते-बढते जब उग्र-रूपमें पहुची, तो उसी अवस्था को 'तप' कहते हैं। 'तप' है---'क्रियाकी उग्र-अवस्था' (Activity in climax)। तप करनेके बाद उसने यह-सब सृजा। जो-कुछ भी है, उसको सृष्टि करके---उसे रचकर---उसमें वह अनुप्रविष्ट हो गया। ब्रह्मके सृष्टिमें अनुप्रविष्ट होनेपर ब्रह्मके दो रूप हो गये। एक रूप 'सत्' है, दूसरा 'त्यत्', अर्थात् 'तत्' है। 'सत्' वह, जो दृश्यमान संसार है—यह भी ब्रह्मरूप है, 'तत्' वह, जो 'यह' नहीं, 'वह' है, अदृश्यमान है, वह भी ब्रह्मरूप ही है। ब्रह्मका एक रूप 'निरुक्त'-रूप है, जिसका निर्वचन हो सकता है, वर्णन हो सकता है, दूसरा 'अनिरुक्त'-रूप है, जिसका निर्वचन, वर्णन नहीं हो सकता। एक रूप 'निलयन'-रूप है, दूसरेके आश्रय से स्थित है, जैसे पृथिवी सूर्यके आश्रयसे स्थित है, दूसरा 'अनिलयन'-रूप है, स्वाश्रित रूप है, जैसे सूर्य स्वाश्रयसे, अर्थात् बिना किसी दूसरे के सहारे स्थित है। एक रूप 'विज्ञान'-रूप है, चेतन-रूप है, दूसरा 'अविज्ञान'-रूप है, जड-रूप है। एक रूप 'सत्य'-रूप है, कारण-रूप है; दूसरा 'अनृत'-रूप है, कार्य-रूप है। इसप्रकार 'सत्' और 'त्यत्'---'यह' और 'वह'---इन दोनों रूपोंके मेलसे 'सत्'का 'स' और 'त्यत्'का 'त्य'

उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चन गच्छती३। आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चित्समश्नुता ३ उ।

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

मिलकर ब्रह्मका 'स+त्य'-रूप हो जाता है। ब्रह्मका 'सत्' और 'त्यत्' रूप ही ब्रह्माडमें 'सत्य'-रूप कहाता है—'सत्य' शब्द 'सत्'के 'स' और 'त्यत्'के 'त्य'के मेलसे बना है। कहा भी है—(च)

ब्रह्मानद-वल्लीका सप्तम अनुवाक

ब्रह्म 'सत्' था—यह पहले कहा। अब कहते है, यही मान लो पहले 'असत्' था। 'असत्'से 'सत्' हुआ। सृष्टि जब नही थी, तब 'असत्' ही थी। ब्रह्म अपने सत् रूपमें तभी प्रकट होता है, जब सृष्टिकी रचना करता है। जब सृष्टि 'असत्' थी, तो ब्रह्म भी मानो 'असत्' ही था, क्योंकि कुछ भी कर नही रहा था। उस 'असत्' अवस्थासे जब वह सृष्टिको 'सत्'-रूपमें लाया, तब वह स्वय भी 'सत्' अवस्थामें आया। अपने 'सत्'-रूपको उसने स्वय किया। स्वय, अपनी इच्छासे उसने सृष्टिको रचा, और जो-कुछ रचा, सब ठीक-ठीक रचा, इसलिये उसे 'सुकृत' कहते है। जो-कुछ उसने रचा, सब 'सुकृत' था—बिलकुल ठीक रचा गया था। वह तो रस-ही-रस है, फिर जो उसने रचा, वह 'सुकृत' क्यो न होता? वह रस-रूप है, तभी रसको पाकर—जहा कहीं रस मिलता है, उसे पाकर मनुष्य आनन्दमग्न हो जाता है। जहा कहीं जो रस है, उसीका है। अगर आसमानमें रस-ही-रस न भरा हो, तो कौन जीना चाहे, कौन श्वास तक लेना चाहे? वह सब जगह रस भरे हुए है, उसीसे हमें आनन्द मिलता है। जब यह जीव उस अदृश्य, निराकार, अनिर्वचनीय, निराधार ब्रह्ममें बिना किसी भयके प्रतिष्ठित हो जाता है, उसकी गोद में अपना स्थान बना लेता है, तब यह अभय हो जाता है। जब यह जीव

इद ँ सर्वमसृजत। यदिद किच। तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत्। तदनु प्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्त चानिरुक्त च। निलयन चानिलयन च। विज्ञान चाविज्ञान च। सत्य चानृत च। सत्यमभवत्। यदिद किच। तत्सत्यमित्याचक्षते। तदप्येष श्लोको भवति। (च)

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मान ँ स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति। यद्वै तत्सुकृतम्। रसो वै स। रस ँ ह्येवाय लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्ये-

अपनेमें तथा ब्रह्ममें जरा भी अन्तर रखता है, बस, उसी समय 'भय' उठ खड़ा होता है। जो विद्वान् भयको नहीं मानता उसकी विचार-प्रक्रिया तो वही रहेगी जो अभी कही गई। वह रस-मय ब्रह्ममें अपनेको प्रतिष्ठित करेगा, उससे अपना भेद-भाव नहीं रखेगा। कहा भी है—(छ)

ब्रह्मानन्द-वल्लीका अष्टम अनुवाक

उसके भयसे वायु बहती है, उसके भयसे सूर्य उदय होता है, उसके भयसे अग्नि तथा इन्द्र अपना काम करते हैं, पांचवां मृत्यु भी उसीके भयसे भागा फिरता है।

अब 'आनन्द'की मीमांसा करते हैं। कल्पना करो कि एक युवक है, बहुत अच्छा युवक, खूब पढ़ा-लिखा, शासन करनेवाला, दृढ़ और बलवान। अब कल्पना करो कि उसकेलिए सम्पूर्ण पृथिवी धन-धान्यसे पूर्ण हो जाय। उसे जो आनन्द होगा वह 'एक मानुष-आनन्द' (Unit of human happiness) है। इसप्रकारके 'सौ-मानुष-आनन्दों'से एक 'मनुष्य-गन्धर्वानन्द' बनता है। श्रोत्रिय तथा कामनाओंसे असक्त व्यक्तिको ऐसा आनन्द प्राप्त होता है। 'सौ-मनुष्य-गन्धर्वों' का जो आनन्द है, उससे एक 'देव-गन्धर्वानन्द' बनता है। श्रोत्रिय तथा कामनाओंमें असक्त व्यक्तिको ऐसा आनन्द प्राप्त होता है। 'सौ-देव-गन्धर्वों'का जो आनन्द है, वह चिर-कालतक लोक-लोकान्तरोंपर विजय प्राप्त करनेवाले 'पितरों' (Elders) का एक आनन्द है। श्रोत्रिय तथा कामनाओंसे असक्त व्यक्तिको ऐसा आनन्द प्राप्त होता है। जो लोक-लोकान्तरोंपर विजय पानेवाले 'सौ-पितरों'का आनन्द है, वह

वानन्दयाति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य। तदप्येष श्लोको भवति। (छ)

भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति। सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति। युवा स्यात्साधुयुवाध्यापकः। आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्यगन्धर्वाणा-

'अजानज-देवों'का—जन्मसे ही दिव्य-गुणोंवाले व्यक्तियोंका—एक आनन्द है। श्रोत्रिय तथा कामनाओंसे असक्त व्यक्तिको ऐसा आनन्द प्राप्त होता है। जो 'सौ-अजानज-देवों'का आनन्द है, वह कर्मसे देवत्व प्राप्त हुए देवताओंका एक आनन्द है। ऐसे व्यक्ति कर्मसे दिव्य गुणोंको प्राप्त करते हैं। श्रोत्रिय तथा कामनाओंसे असक्त व्यक्तिको ऐसा आनन्द प्राप्त होता है। 'सौ-कर्मदेव'-देवताओंका जो आनन्द है, वह 'देवों' का एक आनन्द है। श्रोत्रिय तथा कामनाओंसे असक्त व्यक्तिको ऐसा आनन्द प्राप्त होता है। 'सौ-देवों'का जो आनन्द है, वह 'इन्द्र'का एक आनन्द है। श्रोत्रिय तथा कामनाओंसे असक्त व्यक्तिको ऐसा आनन्द प्राप्त होता है। 'सौ-इन्द्रों'के आनन्दके बराबर 'बृहस्पति'का एक आनन्द है, 'सौ-बृहस्पतियों'के बराबर 'प्रजापति'का एक आनन्द है, 'सौप्रजापतियों'के आनन्दके बराबर 'ब्रह्म'का एक आनन्द है। श्रोत्रिय तथा कामनाओंसे असक्त व्यक्तिको यह 'ब्रह्मानन्द' प्राप्त होता है।

'पुरुष'में जो है, और 'आदित्य'में जो है—वह एक है। जो यह जानता है, वह इस लोकसे मरकर, 'अन्नमय-कोश' को छोडकर आगे निकल जाता है, 'प्राणमय-कोश'को छोडकर आगे निकल जाता है,

---

मानन्द । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शत मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दा । स एको देवगन्धर्वाणामानन्द । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शत देवगन्धर्वाणामानन्दा । स एक पितृणा चिरलोकलोकानामानन्द । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शत पितृणा चिरलोकलोकानामानन्दा । स एक आजानजाना देवानामानन्द । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमाजानजाना देवानामानन्दा । स एक कर्मदेवानामानन्द । ये कर्मणा देवानपियन्ति । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शत कर्मदेवानामानन्दा । स एको देवानामानन्द । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शत देवानामानन्दा । स एक इन्द्रस्यानन्द । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दा । स एको बृहस्पतेरानन्द । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शत बृहस्पतेरानन्दा । स एक प्रजापतेरानन्द । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शत प्रजापतेरानन्दा । स एको ब्रह्मण आनन्द । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । स यश्चाय पुरुषे । यश्चासावादित्ये । स

'मनोमय-कोश'को छोडकर आगे निकल जाता है, 'विज्ञानमय-कोश' को छोडकर आगे निकल जाता है, 'आनन्दमय-कोश'को छोडकर आगे निकल जाता है। कहा भी है—(ज)

ब्रह्मानन्द-वल्लीका नवम अनुवाक

वाणी जहासे लौट आती है, मन जिसे प्राप्त नही कर सकता, उस आनन्द-रूप ब्रह्मको जो जान लेता है, वह कभी भयभीत नही होता।

जो इसप्रकार आनन्द-रूप ब्रह्मको जानता है, उसे सन्ताप नही होता। किसीको यह सन्ताप होता है कि मैने ठीक नही किया, किसी को यह सन्ताप होता है कि मैने पाप किया। ये दोनो सन्ताप उसे नही होते जो 'ब्रह्मानन्द'में लीन हो जाता है।

जिस किसीकी आखें इन दो बातोकी तरफ खुल जाती है—मैने ठीक नहीं किया, या मैने पाप किया, इन दो बातोपर जो विचार करने लगता है, उसका आत्मा बलवान् हो जाता है, ये दोनो विचार आत्माको बलवान् बना देते है। जो यह बात जान जाता है, वह उपनिषद्के रहस्यको पा जाता है। (झ)

[भृगु वल्ली]

भृगुवल्लीका प्रथम अनुवाक

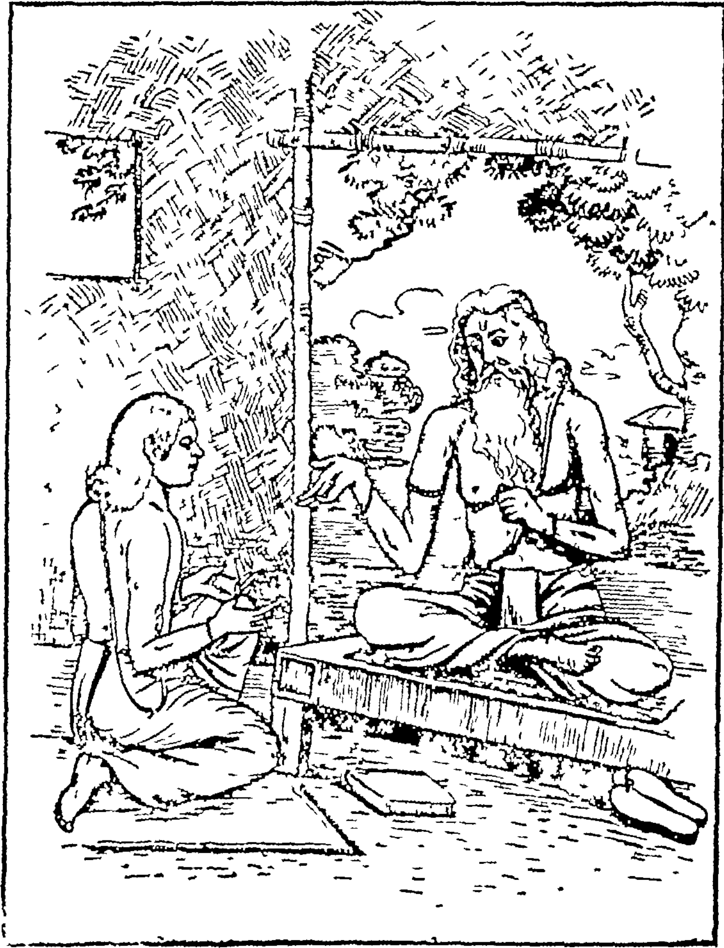
वरुणका पुत्र भृगु अपने पिता वरुणके पास गया, और कहने लगा—भगवन्! ब्रह्मका उपदेश कीजिये। भृगुको वरुणने कहा—अन्न, प्राण,

---

एक। स य एववित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसङ्क्रामति। एत प्राणमयमात्मानमुपसङ्क्रामति। एत मनोमयमात्मानमुपसङ्क्रामति। एत विज्ञानमयमात्मानमुपसङ्क्रामति। एतमानन्दमयमात्मानमुपसङ्क्रामति। तदप्येष श्लोको भवति। (ज)

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चनेति। एत ँ ह वाव न तपति किमह ँ साधु नाकरवम्। किमह पापमकरवमिति। स य एव विद्वानेते आत्मान ँ स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मान ँ स्पृणुते। य एव वेद। इत्युपनिषत्। (झ)

चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी—जिससे ये उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेके बाद जिससे ये जीवित रहते हैं, जिसमें विलीन हो जाते हैं, उसे जानो, वह 'ब्रह्म' है। भृगुने तप किया, और तप करनेके अनन्तर—(ञ)



भृगु अपने पिता वरुणसे ब्रह्मका उपदेश ले रहे हैं

भृगुर्वै वारुणि। वरुण पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तस्मा एतत्प्रोवाच। अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति। तं होवाच। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। (ञ)

भृगुवल्लीका द्वितीय अनुवाक्

यह जाना कि 'अन्न' ब्रह्म है। अन्नसे ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेके बाद अन्नसे जीवित रहते हैं, अन्नमें ही, अर्थात् पञ्च-भूतोंमें ही विलीन हो जाते हैं। यह ज्ञान प्राप्त करनेके अनन्तर वह अपने पिताके पास फिर गया। 'अन्नमय-कोश'को ब्रह्म मानकर, उससे जो प्राप्त करना था, वह भृगुने प्राप्त कर लिया, और पितासे कहा, भगवन्! 'अन्नमय-कोश'के मार्गको मैंने तय कर लिया, अब इससे आगेका उपदेश दीजिये, ब्रह्म-ज्ञान दीजिये। वरुणने कहा, 'तप' करो, और तपसे ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपको जानो। तप ही ब्रह्म है, तपसे ही उसका ज्ञान होता है। उसने फिर तप किया, और तप करनेके अनन्तर—

भृगुवल्लीका तृतीय अनुवाक्

उसने जाना कि 'प्राण' ब्रह्म है। प्राणसे ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेके बाद प्राणसे जीवित रहते हैं, प्राणमें ही अन्तमें विलीन हो जाते हैं। यह ज्ञान प्राप्त करनेके अनन्तर वह अपने पिताके पास फिर गया। 'प्राणमय-कोश'को ब्रह्म मानकर, उससे जो प्राप्त करना था, वह भृगुने प्राप्त कर लिया, और पितासे कहा, भगवन्! 'प्राणमय-कोश'के मार्गको मैंने तय कर लिया, अब इससे आगेका उपदेश दीजिये, ब्रह्म-ज्ञान दीजिये। वरुणने कहा, 'तप' करो, और तपसे ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपको जानो। तप ही ब्रह्म है, तपसे ही उसका ज्ञान होता है। उसने फिर तप किया, और तप करनेके अनन्तर—

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

प्राणो ब्रह्मेतिव्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

भृगुवल्लीका चतुर्थ अनुवाक्

उसने जाना कि 'मन' ब्रह्म है। मनसे ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेके बाद मनसे ही जीवित रहते हैं, मनमें ही अन्तमें विलीन हो जाते हैं। यह ज्ञान प्राप्त करनेके अनन्तर वह अपने पिताके पास फिर गया। 'मनोमय-कोश'को ब्रह्म मानकर, उससे जो प्राप्त करना था, वह भृगुने प्राप्त कर लिया, और पितासे कहा, भगवन्! 'मनोमय-कोश'के मार्गको मैंने तय कर लिया, अब इससे आगेका उपदेश दीजिये, ब्रह्म-ज्ञान दीजिये। वरुणने कहा, 'तप' करो, और तपसे ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपको जानो। तप ही ब्रह्म है, तपसे ही उसका ज्ञान होता है। उसने फिर तप किया, और तप करनेके अनन्तर—

भृगुवल्लीका पञ्चम अनुवाक्

उसने जाना कि 'विज्ञान' ब्रह्म है। 'विज्ञान'से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेके बाद 'विज्ञान'से ही जीवित रहते हैं, विज्ञानमें ही अन्तमें विलीन हो जाते हैं। यह ज्ञान प्राप्त करनेके अनन्तर वह अपने पिताके पास फिर गया। 'विज्ञानमय-कोश'को ब्रह्म मानकर, उससे जो प्राप्त करना था, वह भृगुने प्राप्त कर लिया, और पितासे कहा, भगवन्! 'विज्ञानमय-कोश'के मार्गको मैंने तय कर लिया, अब इससे आगेका उपदेश दीजिये, ब्रह्म-ज्ञान दीजिये। वरुणने कहा, 'तप' करो, और तपसे ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपको जानो। फिर उसने तप किया, और तप करनेके अनन्तर—

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तँ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तँ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

भृगुवल्लीका षष्ठ अनुवाक्

उसने जाना कि 'आनन्द' ब्रह्म है। 'आनन्द'से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेके बाद आनन्दसे ही जीवित रहते हैं, आनन्दमें ही अन्तमें विलीन हो जाते हैं।

भृगु तथा वरुणकी यह विद्या है, जो हृदयाकाशमे प्रतिष्ठित है। जो इस क्रमसे इस विद्याको जानता है, वह भी प्रतिष्ठित हो जाता है, अन्नवान् हो जाता है, अन्नका 'भोक्ता' हो जाता है, प्रजा, पशु तथा ब्रह्म-तेजसे महान् हो जाता है, उसकी कीर्ति विशाल हो जाती है।

(भृगुकी इस सम्पूर्ण कथामे यह दर्शाया गया है कि वह अन्न, प्राण, मनस्, विज्ञान आदि तत्त्वोको क्रमश 'ब्रह्म' मानता गया, और गुरुने हर बार उसे आगे-आगे चलनेको कहा। जब मनुष्य 'अन्नमय' शरीरके क्षेत्रमे रहता है, तब 'अन्न'को ही ब्रह्म समझे रहता है, क्योंकि उस समय वह 'अन्नमय-कोश'से ही सोच-समझ सकता है। जब मनुष्य 'प्राणमय-कोश'के द्वारा सोचने लगता है, तब उसे सर्वत्र प्राण-ही-प्राण व्याप्त दीखता है, और वह 'प्राण'को ही 'ब्रह्म' समझने लगता है। इसीप्रकार आगे-आगे चलते-चलते उसे ज्ञान होने लगता है कि न पचभूत ही ब्रह्म है, न प्राण ब्रह्म है, न मनस्-तत्त्व ब्रह्म है, न विज्ञान-तत्त्व ब्रह्म है। आत्माके ब्रह्म-ज्ञानके विकासमे यही प्रक्रिया है।)

भृगुवल्लीका सप्तम अनुवाक्

अन्नकी निंदा न करे—इसका व्रत कर ले। हरेक 'भोग्य' अन्न है, 'भोक्ता' अन्नाद है। 'प्राण'को अन्न कहा जा सकता है, 'शरीर'को अन्नाद कहा जा सकता है। 'भोक्ता' और 'भोग्य' एक दूसरेके सहारे टिके रहते हैं—प्राणके सहारे शरीर, और शरीरके सहारे प्राण टिका

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। सैषा भार्गवी वारुणी विद्या। परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। स य एवं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।

हुआ है। परन्तु ऊंची दृष्टिसे विचार करनेसे 'भोक्ता' भी भोग्य ही है, शरीर प्राणका भोग करता है, परन्तु शरीर भी तो भोगा ही जाता है, भोग्य ही है। इसप्रकार एक 'अन्न' दूसरे 'अन्न'में प्रतिष्ठित है। संसारके सभी पदार्थ भोग्य है, जो भोक्ता मालूम पडता है वह भी भोग्य ही है, अस्ली भोक्ता तो वही 'ब्रह्म' है। इसप्रकार जो अन्नमें अन्नको प्रतिष्ठित जान लेता है, वह 'अन्नवान्' हो जाता है, 'अन्नाद' हो जाता है, 'भोक्ता' बन जाता है, प्रजा, पशु, ब्रह्म-तेज तथा कीर्तिसे महान् हो जाता है।

भृगुवल्लीका अष्टम अनुवाक्

अन्नका अनादर न करे—इसका व्रत कर ले। 'जल' अन्न है, 'अग्नि' अन्नाद है, 'जल'में 'अग्नि' प्रतिष्ठित है, 'अग्नि'में 'जल' प्रतिष्ठित है। अग्नि-रूप सूर्य जलको खीच लेता है, उसे भोग लेता है, इसलिये अग्नि भोक्ता है, जल भोग्य है, अग्नि अन्नाद, अर्थात् भोक्ता है, जल अन्न, अर्थात् भोग्य है। जलके भीतर भी विद्युत् छिपी रहती है, इसलिये जल भोक्ता है, अग्नि भोग्य है, जल अन्नाद, अर्थात् भोक्ता है, अग्नि अन्न, अर्थात् भोग्य है। परन्तु ऊंची दृष्टिसे विचार करनेसे 'भोक्ता' भी 'भोग्य' ही है, जल अग्निको और अग्नि जलको भोगती है, परन्तु ये दोनो भी तो भोगे ही जाते है। इसप्रकार एक 'अन्न' दूसरे 'अन्न'में प्रतिष्ठित है। संसारके सभी पदार्थ 'भोग्य' है, जो 'भोक्ता' मालूम पडता है, वह भी 'भोग्य' ही है, 'अन्न' ही है, अस्ली 'भोक्ता'—'अन्नाद'—तो वही 'ब्रह्म' है। इसप्रकार जो 'अन्न'में 'अन्न'को प्रतिष्ठित जान लेता

अन्नं न निन्द्यात्। तद्व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।

अन्नं न परिचक्षीत। तद्व्रतम्। आपो वा अन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्।

पुरुषमें जो है, और आदित्यमें जो है—वह एक है। जो यह जानता है वह मरकर, 'अन्नमय'-'प्राणमय'-'मनोमय'-'विज्ञानमय'-'आनन्दमय' कोशोंको लांघकर, कामनाके लोकोंमें निष्कामरूपी होकर विचरने लगता है, और प्रसन्नतासे साम-गान करने लगता है, और कहने लगता है——।५।

अहो ! अहो ! अहो ! मैं अवतक अन्न था, अन्न था, अन्न था—— भोग्य बना हुआ था, भोग्य बना हुआ था, भोग्य बना हुआ था। मैं अब अपने यथार्थ-स्वरूपको समझ गया। मैं अन्नाद हू, अन्नाद हू, अन्नाद हू—— भोक्ता हू, भोक्ता हू, भोक्ता हू। मैं अपनी कीर्तिको स्वय बनानेवाला हू, कीर्तिको स्वय बनानेवाला हू, स्वय बनानेवाला हू। मैं ऋत-स्वरूप ब्रह्मकी सबसे प्रथम उत्पन्नहुई विभूति हू। मैं इन्द्रियोंसे पूर्व हू, अमृतकी नाभि हू, अमृत-स्वरूप हू। जो मुझे देता चला आया है, वही मेरी रक्षा करेगा। मैं जबतक अपनेको 'अन्न'-'अन्न' ही माने रहा, 'भोग्य' ही बना रहा, परन्तु अब मैं इतना अपने स्वरूपमें आ गया हूं कि भोक्ताको भी खा जाऊ, भोक्ताका भी भोक्ता बन जाऊ ! मैं ससारके विषयो में पडा हुआ इनमें इतना उलझ गया कि इनका भोग करते-करते इनसे ही भोगा जाने लगा, अब मैं निष्काम होकर कामनाके लोकोंमें विचरता हू। मैं अब भोक्ता बनकर विश्व-भुवनको इसप्रकार अभिभूत कर रहा हू जैसे सूर्य अपनी ज्योतिसे नक्षत्रोंको अभिभूत कर देता है। जो यह-सब जानता है वह उपनिषद्के रहस्यको जानता है।६।

(मूल तैत्तिरीयोपनिषत्में जो निर्णय-सागर प्रेसमे छपी है अनु-वाकोंमे दस-दस वाक्योंके पीछे अक दिये गये है, इस बातका विचार नही

स यश्चाय पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एक। स य एव वित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसक्रम्य। एत प्राणमय-मात्मानमुपसक्रम्य। एत मनोमयमात्मानमुपसक्रम्य। एत विज्ञानमयमात्मानमुपसक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मानमुपसक्रम्य। इमाल्लोकान्कामान्नीकामरूप्यनुसचरन्। एतत्साम गायन्नास्ते। ५।

ऐतरेय उपनिषत्

प्रथम अध्याय—(प्रथम खंड)

जब इस सृष्टिकी रचना नहीं हुई थी, तब पहले-पहल इकला 'आत्मा' ही था। दूसरी कोई चीज झपकती तक न थी। 'आत्मा' ने 'ईक्षण' किया, सब-कुछ बारीकीसे विचार-ही-विचारमें देख लिया कि 'लोकों' का, अर्थात् नाना-रूप सृष्टिका, किस-किस रूपमें सर्जन करूं।१।

'ईक्षण' करनेके बाद उसने इन लोकोंका सर्जन कर दिया। उसने चार लोकोंको रचा—'अम्भस्', 'मरीची', 'मर' और 'आपस्'। द्यु-लोक से परे और द्यु-लोकतक जो लोक है, वह 'अम्भस्'-लोक है, उसके नीचे अन्तरिक्षमें जो सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि प्रकाश-युक्त लोक है, वह 'मरीची'-लोक है, यह पृथिवी जिसमें प्राणी उत्पन्न होते और मरते है, यह मर्त्य-लोक 'मर'-लोक है, पृथिवीके भी जो नीचे है, वह 'आप'-लोक है।२।

उसने फिर 'ईक्षण' किया, यह सोचा कि ये तो 'लोक' रचे गये! इन लोकोंकी रक्षा कैसे होगी? इसलिये 'लोकपालों'की रचना भी कर डालूं, उसने 'जल'मेंसे 'पुरुष'को निकाला। 'जल'का अर्थ पानी नहीं, अपितु पंच-महाभूतोंके सूक्ष्म-रूपको जिसके कारण रचना संभव हो सकती है, 'जल' कहा गया है। 'जल'से 'पुरुष' निकाला गया—इस वाक्यमें 'पुरुष'का अभिप्राय विराट्-पुरुषसे है, उस पुरुषसे जिसे जगह-जगह 'हिरण्य-गर्भ' कहा गया है। 'जल'से 'पुरुष'को, 'जल' अर्थात्

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन
मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ।१।
स इमाँल्लोकानसृजत । अम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं
द्यौः प्रतिष्ठाऽन्तरिक्षं मरीचयः । पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः ।२।

ऐतरेय उपनिषत्

प्रथम अध्याय--(प्रथम खड)

जब इस सृष्टिकी रचना नहीं हुई थी, तब पहले-पहल इकला 'आत्मा' ही था। दूसरी कोई चीज झपकती तक न थी। 'आत्मा' ने 'ईक्षण' किया, सब-कुछ बारीकीसे विचार-ही-विचारमें देख लिया कि 'लोकों' का, अर्थात् नाना-रूप सृष्टिका, किस-किस रूपमें सर्जन करू ।१।

'ईक्षण' करनेके बाद उसने इन लोकोका सर्जन कर दिया। उसने चार लोकोको रचा—'अम्भस्', 'मरीची', 'मर' और 'आपस्'। द्यु-लोक से परे और द्यु-लोकतक जो लोक है, वह 'अम्भस्'-लोक है, उसके नीचे अन्तरिक्षमें जो सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि प्रकाश-युक्त लोक है, वह 'मरीची'-लोक है, यह पृथिवी जिसमें प्राणी उत्पन्न होते और मरते है, यह मर्त्य-लोक 'मर'-लोक है, पृथिवीके भी जो नीचे है, वह 'आप:'-लोक है ।२।

उसने फिर 'ईक्षण' किया, यह सोचा कि ये तो 'लोक' रचे गये ! इन लोकोकी रक्षा कैसे होगी ? इसलिये 'लोकपालो'की रचना भी कर डालू, उसने 'जल'मेंसे 'पुरुष'को निकाला। 'जल'का अर्थ पानी नही, अपितु पच-महाभूतोके सूक्ष्म-रूपको जिसके कारण रचना सभव हो सकती है, 'जल' कहा गया है। 'जल'से 'पुरुष' निकाला गया—इस वाक्यमें 'पुरुष'का अभिप्राय विराट्-पुरुषसे है, उस पुरुषसे जिसे जगह-जगह 'हिरण्य-गर्भ' कहा गया है। 'जल'से 'पुरुष'को, 'जल' अर्थात्

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन
मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति । १ ।
स इमाँल्लोकानसृजत । अम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं
द्यौः प्रतिष्ठाऽन्तरिक्षं मरीचयः । पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः । २ ।

'मृत्यु' तथा 'जल'——इन आठ लोकपालोको, अर्थात् 'ब्रह्मांड'के आधार-भूत आठ तत्वोको विराट्-पुरुषसे रचा ।४।

प्रथम अध्याय—(द्वितीय खड)

ये आठो देवता——'अग्नि', 'वायु' आदि आठो लोकपाल——मानो इस ससार-रूपी महान् समुद्रमें आ पडे, विराट्-पुरुषके शरीरसे प्रकट तो हो गये, परन्तु उन्हे अपना कोई ठिकाना न मिला । प्रकट होनेके बाद भूख-प्यास भी उनके साथ जोड दी गई । अब ये देवता मानो व्याकुल होकर अपने रचयितासे कहने लगे——हमारा कोई ठिकाना भी तो बताइये जहा रहकर हम खायें-पीयें ।१।

विधाताने उनकेलिये गाय बनाई, और देवताओसे कहा, इसमें ठिकाना कर लो ! उन्होने कहा, यह ठिकाना हमारे लिये पर्याप्त नहीं रहेगा । फिर घोडेको लाकर कहा यह कैसा रहेगा ? उन्होने कहा, यह भी हमारे लिये पर्याप्त नहीं रहेगा ।२।

फिर वह उनके लिये 'पुरुष'को रचकर लाया । वे बोले, अहो ! यह अच्छा बना है, निस्सदेह 'पुरुष' ही विधाताकी सुदर कृति है, 'सुकृति' है । विधाताने उन्हें कहा, जिस-जिसका जो-जो ठिकाना है, वह उस-उसमें प्रविष्ट हो जाय ।३।

अग्नि वाणी होकर मुखमें प्रविष्ट हो गई, वायु प्राण होकर नासिकाओमें प्रविष्ट हो गया, आदित्य चक्षु होकर आखोमें प्रविष्ट हो गया, दिशाए श्रोत्र होकर कानोमें जा घुसीं; ओषधि तथा वनस्पति

हृदय निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्यु शिश्न निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतस आप । ४ ।

ता एता देवता सृष्टा अस्मिन्महत्यर्णवे प्रापतन्मशनापिपासाभ्यामन्ववार्जत् ता एनमब्रुवन्नायतन न प्रजानीहि यस्मिन्प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति । १ ।

ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन वै नोऽयमलमिति ।
ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन वै नोऽयमलमिति । २ ।

ताभ्य पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृत बतेति पुरुषो वाव सुकृतम् ।
ता अब्रवीद्यथाऽऽयतन प्रविशतेति । ३ ।

प्राकृतिक-सूक्ष्म-तत्त्वोंसे विराट्-पुरुषको—हिरण्यगर्भको—रचनेके बाद उसे मूर्च्छित किया गया। जैसे कच्चे लोहेको तपाकर उसे पानीमें मूर्च्छित (tempered) किया जाता है ताकि वह दृढ हो जाय, पक्का हो जाय, इसीप्रकार 'विराट्-पुरुष' भी तो प्रारम्भमें कच्ची हालतमें था, उसे मूर्च्छित करनेकी, उसके परिपाककी आवश्यकता थी।३।

ब्रह्मने विराट्-पुरुषको तपाया। अभीतक विराट्-पुरुष एक अगढ रूपमें था, पुरुषाकार तो था परन्तु उसके मुख, नाक, आंख, कान आदि द्वार खुले नहीं थे, बन्द थे। तपानेसे उसका मुख खुल गया, जैसे अंडा खुल जाता है। विराट्-पुरुषके मुखसे वाक्-शक्ति प्रकट हुई, और उस महापुरुषकी वाक्से वाणीका देवता 'अग्नि' प्रकट हुआ। नासिकाएं खुल गईं, नासिकाओंसे प्राण-शक्ति प्रकट हुई, और उस महापुरुषके प्राणसे प्राणका देवता 'वायु' प्रकट हुआ। आंखोंके गोलक खुल गये, उनसे चक्षु-शक्ति प्रकट हुई और चक्षुसे चक्षुका देवता 'आदित्य' प्रकट हुआ। कान खुल गये, कानोंसे श्रोत्र-शक्ति प्रकट हुई और श्रोत्रसे श्रोत्रकी देवता 'दिशाएं' प्रकट हुईं। त्वचा खुल गई, त्वचासे लोम प्रकट हुए और लोमसे ओषधि तथा 'वनस्पति' प्रकट हुए। हृदय खुल गया, हृदयसे मन प्रकट हुआ, और मनसे मनका देवता 'चन्द्रमा' प्रकट हुआ। नाभि खुल गई, नाभिसे अपान प्रकट हुआ, अपानसे अपानका देवता 'मृत्यु' प्रकट हुआ। शिश्न खुल गया, उससे उत्पादन-शक्ति प्रकट हुई, और उत्पादन-शक्तिसे उसका देवता 'जल' हुआ—'जल' ही उत्पादन-शक्तिका आधार है। इसप्रकार चार लोकोंको बनाकर 'अग्नि', 'वायु', 'आदित्य', 'दिशाएं', 'वनस्पति', 'चन्द्रमा',

---

स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति।
सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छयत्। ३।
तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डम्। मुखाद्वाग्वाचोऽग्नि-
र्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येता-
मक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं
श्रोत्राद्दिशस्त्वङ्निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो

'मृत्यु' तथा 'जल'--इन आठ लोकपालोंको, अर्थात् 'ब्रह्मांड'के आधार-भूत आठ तत्वोंको विराट्-पुरुषसे रचा ।४।

प्रथम अध्याय---(द्वितीय खड)

ये आठो देवता--'अग्नि', 'वायु' आदि आठो लोकपाल--मानो इस ससार-रूपी महान् समुद्रमें आ पडे, विराट्-पुरुषके शरीरसे प्रकट तो हो गये, परन्तु उन्हे अपना कोई ठिकाना न मिला। प्रकट होनेके बाद भूख-प्यास भी उनके साथ जोड दी गई। अब ये देवता मानो व्याकुल होकर अपने रचयितासे कहने लगे---हमारा कोई ठिकाना भी तो बताइये जहां रहकर हम खायें-पीयें ।१।

विधाताने उनकेलिये गाय बनाई, और देवताओसे कहा, इसमें ठिकाना कर लो ! उन्होने कहा, यह ठिकाना हमारे लिये पर्याप्त नहीं रहेगा। फिर घोडेको लाकर कहा, यह कैसा रहेगा ? उन्होने कहा, यह भी हमारे लिये पर्याप्त नही रहेगा ।२।

फिर वह उनके लिये 'पुरुष'को रचकर लाया। वे बोले, अहो ! यह अच्छा बना है, निस्सदेह 'पुरुष' ही विधाताकी सुदर कृति है, 'सुकृति' है। विधाताने उन्हें कहा, जिस-जिसका जो-जो ठिकाना है, वह उस-उसमें प्रविष्ट हो जाय ।३।

अग्नि वाणी होकर मुखमें प्रविष्ट हो गई; वायु प्राण होकर नासिकाओमें प्रविष्ट हो गया, आदित्य चक्षु होकर आखोमें प्रविष्ट हो गया, दिशाए श्रोत्र होकर कानोमें जा घुसीं, ओषधि तथा वनस्पति

हृदय निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्यु शिश्न निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतस आप ।४।

ता एता देवता सृष्टा अस्मिन्महत्यर्णवे प्रापतन्तमशनापिपासाभ्यामन्ववार्जत् ता एनमब्रुवन्नायतन न प्रजानीहि यस्मिन्प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ।१।

ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन् वै नोऽयमलमिति ।

ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन् वै नोऽयमलमिति ।२।

ताभ्य पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृत बतेति पुरुषो वाव सुकृतम् ।

ता अब्रवीद्यथाऽऽयतन प्रविशतेति ।३।

लोम होकर त्वचामें जा पहुचे, चन्द्रमा मन बनकर हृदयमें प्रविष्ट हो गया, मृत्यु अपान होकर नाभिमें प्रविष्ट हो गया, जल वीर्य होकर जनन-प्रदेशमें प्रविष्ट हुए । ४ ।

विधाताको भूख-प्यासने कहा, हमें आपने उत्पन्न तो कर दिया, हमारा भी तो ठिकाना बताइये । विधाताने कहा, इन देवताओंके ही साथ तुम्हें जोड देता हू, इन्हीका तुम्हें भागीदार बना देता हू । इसलिये जिस किसी देवताको हवि दी जाती है, उसमें भूख-प्यास भी भागीदार होते हैं । अग्निकी हवि द्वारा, वायुकी ओपजनद्वारा, आदित्यकी रस-द्वारा, दिशाओंकी सीमाद्वारा, ओषधिकी खादद्वारा, चन्द्रकी सूर्यके प्रकाशद्वारा, मृत्युकी अपचयद्वारा, जलकी वाष्पद्वारा भूख-प्यास शात होती है ।५।

(विधाताने पहले पुरुषाकार विराट्-पुरुष रचा । वह अगढ था, ऐसा जैसे कोई शिल्पी प्रतिमा बनानेसे पूर्व उसका अगढ रूप बना लेता है । इस अगढ विराट्-पुरुषके मुखसे अग्नि, नासिकासे प्राण, आखसे आदित्य आदिका निर्माण हुआ । इसके अनन्तर, अर्थात् विराट्-पुरुषकी रचनाके अनन्तर, इस छ फीटवाले पुरुषका विराट्-पुरुषकी प्रतिकृतिके रूपमे निर्माण हुआ । विराट्-पुरुषके तो मुखमे अग्नि प्रकट हुई थी, परन्तु इस पुरुषका मुख विराट्-पुरुषकी उस अग्निसे बना, विराट्-पुरुषकी नासिकामे प्राण उत्पन्न हुआ था, परन्तु इस पुरुषकी नासिका विराट्-पुरुषके उस प्राणसे बनी, विराट्-पुरुषकी आखसे सूर्य प्रकट हुआ

अग्निर्वाग्भूत्वा मुख प्राविशद्वायु प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदा-दित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद्दिश श्रोत्र भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोष-धिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वच प्राविशश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदय प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभि प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्न प्राविशन् । ४ ।
तमशनापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति । ते अब्रवीदेतास्वेव वा देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति । तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनापिपासे भवत । ५ ।

था, परन्तु इस पुरुषकी आंख विराट्-पुरुषके उस आदित्यसे बनी। इस सम्पूर्ण उपाख्यानका अभिप्राय यह है कि जो अनुपात हमारी आंखका सूर्यसे है, वही अनुपात सूर्यका उस विराट्-पुरुषकी आंखसे है। हमारी आंख सूर्यके सामने क्या हस्ती रखती है, इसीप्रकार सूर्य उस विराट्-पुरुषकी आंखके सामने क्या हस्ती रखता है? इतनी बडी है उस 'विराट्-पुरुष'की आंख! अग्नि, वायु, आदित्य आदि के संबंधमें इसी अनुपातको सम्मुख रखते हुए 'पुरुष'के रूपमें अगर हम 'विराट्-पुरुष' की कल्पना करें, तो उसका मुख, नासिका, चक्षु कितना विशाल होगा? आदित्य उस विराट्-पुरुषकी आंख नहीं है, परन्तु उसकी आंखसे आदित्य बना है। तो फिर उसके नेत्र कितने विशाल हैं। अन्य सभी देवताओंके संबंधमें यही अनुपात सामने रखते हुए इस प्रकरणमें विराट्-पुरुषकी कल्पना की गई है।)

प्रथम अध्याय--(तृतीय खंड)

जगत्के रचयिताने फिर 'ईक्षण' किया, अपने रचेकी जांच-पडताल की--'लोक' रचे गये, 'लोकपाल' रचे गये, लोकपालोंका अधिष्ठान 'पुरुष'को बनाया, 'पुरुष'में 'अग्नि', 'वायु' आदि सब देवता प्रतिष्ठित हो गये, भूख-प्यासको भी उन्हींमें हिस्सेदार बनाया। भूख-प्यासकी शांतिकेलिये, इन देवताओंकी तृप्तिकेलिये 'अन्न'को रचा।१।

रचनाका कार्य 'जल'से होता है। पहले भी 'जल'मेंसे 'पुरुष'को निकाला था, अब फिर रचनाके कार्यकेलिये 'जलों'को तपाया। जलोंका रस तप-तपकर ही भिन्न-भिन्न प्रकारकी मूर्तियां उत्पन्न होती हैं। जलोंके तपनेसे जो मूर्ति उत्पन्न हुई, वही 'अन्न' है।२। (उपनिषदोंमें जहां-जहां रचनाका निर्माणका वर्णन है, वहां-वहां 'तप'का वर्णन अवश्य है। कुछ भी रचनेकेलिये 'तप' आवश्यक है।)

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति ।१।
सोऽपोऽभ्यतपत् ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत ।
या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत् ।२।

अन्न जब पैदा हुआ, तो वह देवोसे दूर भागा। उस समय देवोने अन्नको 'वाणी'से पकडना चाहा, परन्तु वाणीसे वे उसे न पकड सके। यदि वे अन्नको वाणीसे पकडपाते, तो वाणीद्वारा 'अन्न' कह देनेमात्रसे ही भूख-प्यास शांत हो जाया करती ।३।

तब उन्होने अन्नको 'प्राण'से पकडना चाहा, परन्तु वे उसे प्राणसे भी न पकड सके। अगर प्राणसे पकड पाते, तो अन्नको सूंघनेसे ही क्षुधा-निवृत्ति हो जाया करती ।४।

फिर उन्होने अन्नको 'आंख'से ग्रहण करना चाहा, परन्तु आंखसे भी वे उसे ग्रहण न कर सके। अगर आंखसे ग्रहण कर सकते, तो अन्नको देखनेसे ही तृप्ति हो जाती ।५।

उन्होने अन्नको 'श्रोत्र'से ग्रहण करना चाहा, परन्तु श्रोत्रसे भी वे उसे ग्रहण न कर सके। अगर श्रोत्रसे ग्रहण कर सकते, तो 'अन्न'-शब्दको सुनकर ही मनुष्य तृप्त हो जाता ।६।

उन्होने अन्नको 'त्वचा'से ग्रहण करना चाहा, परन्तु त्वचासे भी वे उसे ग्रहण न कर सके। अगर त्वचासे ग्रहण कर सकते, तो अन्नको छूकर ही तृप्ति हो जाती ।७।

उन्होने अन्नको मनसे ग्रहण करना चाहा, परन्तु मनसे भी वे उसे

तदेनत्सृष्टं पराङत्यजिघांसत् तद्वाचाऽजिघृक्षत्तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुम् ।
स यद्धैनद्वाचाऽग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत् । ३ ।
तत्प्राणेनाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोत्प्राणेन ग्रहीतुम् ।
स यद्धैनत्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत् । ४ ।
तच्चक्षुषाऽजिघृक्षत् तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुम् ।
स यद्धैनच्चक्षुषाऽग्रहैष्यद्दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् । ५ ।
तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुम् ।
स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् । ६ ।
तत्त्वचाऽजिघृक्षत् तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुम् ।
स यद्धैनत्त्वचाऽग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् । ७ ।

ग्रहण न कर सके। अगर मनसे ग्रहण कर सकते, तो अन्नका ध्यान करके ही भूख-प्यास शांत हो जाती।८।

उन्होंने अन्नको 'जननेन्द्रिय'से ग्रहण करना चाहा, परन्तु उससे भी वे उसे ग्रहण न कर सके। अगर उससे ग्रहण कर सकते, तो अन्नको त्यागकर ही तृप्ति हो जाती।९।

तव देवोंने अन्नको 'अपान'से पकडना चाहा, उसने इसे पकड लिया। अपान-वायु नाभिके निचले प्रदेशमें रहती है। वह समावस्थामें रहे तभी अन्न पकडा जाता है। पेट और आंतोंमे विचरनेवाली प्राण-शक्ति ही अपान है। उसके विगडनेपर ही अन्नका पाचन शिथिल हो जाता है। यह जो अपान-वायु है, वह अन्नको ग्रहण करनेवाली वायु है। यह 'वायु' क्या है, मानो 'अन्नायु' है। 'वायु'का अर्थ है—'वा+आयु', जिसके रहनेपर प्राणी जीवित रहेगा, न रहनेपर नहीं रहेगा, परन्तु उपनिषत्कार कहते है कि यह 'आ+आयु' है, मानो 'अन्नायु' है, अर्थात् 'अन्न+आयु', अन्न पर ही आयु है, विना अन्नके आयु नही है।१०।

रचयिताने लोक रचे, लोकपाल रचे, पुरुष रचा, अन्न रचा। रचयिताका ईक्षण हो चुका। अव जीवात्माकी वारी आई। उसने 'ईक्षण' किया। मेरे विना पुरुषका यह भौतिक-देह कैसे रहेगा? अब वह सोचने लगा, मैं इस शरीरमें किस मार्गसे प्रवेश करूं? उसने कहा, शरीरमे वाणी वोलती मालूम देती है, प्राण चलता मालूम देता है, आंख देखती प्रतीत होती है, कान सुनता जान पडता है, त्वचा स्पर्श करती, मन ध्यान करता, अपान और शिश्न स्वयं काम करते प्रतीत होते हैं,

---

तन्मनसाऽजिघृक्षत् तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुम् ।
स यद्धैनन्मनसाऽग्रहैष्यद्ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् । ८ ।
तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुम् ।
स यद्धैनच्छिश्नेनाग्रहैष्यद्विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत् । ९ ।
तदपानेनाजिघृक्षत् तदावयत् । सैषोऽन्नस्य
ग्रहो यद्वायुरन्नायुर्वा एष यद्वायुः । १० ।

परन्तु क्या ये-सब मेरे बिना काम हो रहा है ? अगर नहीं, तो मैं कौन हू, मेरा स्थान कहा है ।११।

यह सोचकर जीवात्मा देहकी जो 'सीमा' है, जहा देह समाप्त हो जाता है, उस कपालको दो भागोमें विदीर्ण करके, फाडकर, इसीद्वारा देहमें प्रविष्ट हो गया। इसीलिये इस द्वारको 'विदृति' कहते है। 'विदृति' का अर्थ है 'विदारण'--फाडना, ये दोनो कपाल अलग-अलग है, फटे हुए है। शरीरमें जब जीवात्मा इस स्थानमें रहता है, तब उसे परम आनन्द प्राप्त होता है इसलिये इस स्थानको 'नान्दन' भी कहते है। जीवनके समय 'नान्दन'-स्थानमें जीवात्माका वास, और मृत्युके समय 'नान्दन'-स्थानमें आकर विदृति-मार्गसे जीवात्माका निर्गमन-- यही योगीका ध्येय है (तैत्तिरीय १-६, प्रश्न ३-७, छान्दोग्य ८-६)। उपनिषत्कार कहते है कि जब जीवात्मा शरीरमें रहता है तब तीन 'अवसथो'में, तीन स्थानोमें रहता है। निम्न-विचारोके जीव नीचेके स्थानोमें, मध्य-विचारोके जीव मध्य-स्थानोमें, और उच्च-विचारो के जीव उत्तम-स्थान, नान्दन-स्थानमें रहते है। उपदेश देते हुए ऋषिने अगुलीसे बताया कि यह उत्तम अवसथ है, यह मध्यम अवसथ है, यह निकृष्ट अवसथ है। अवसथ, अर्थात् स्थान। जीवात्मा तीन स्थानोमें रहता हुआ शरीरकी तीन अवस्थाए उत्पन्न कर देता है। वे अवस्थाएं है जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति। परन्तु यहा ऋषिने इन तीनो अवस्थाओ-को सोई हुई अवस्था कहा है। शरीरकी इन तीनो अवस्थाओमें रहता हुआ भी जीव जबतक ब्रह्मका साक्षात्कार नही कर लेता, वह सोया हुआ ही है।१२।

स ईक्षत कथ न्विद मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति।
स ईक्षत यदि वाचाभिव्याहृत यदि प्राणेनाभिप्राणित यदि चक्षुषा
दृष्ट यदि श्रोत्रेण श्रुत यदि त्वचा स्पृष्ट यदि मनसा ध्यात
यद्यपानेनाभ्यपानित यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति ।११।
स एतमेव सीमान विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम
द्वास्तदेतन्नान्दनम्। तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्ना
अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति ।१२।

जीवात्मा जब सोई हुई अवस्थाको छोडता है, और सब भूतोको देखता है, तो सोचता है कि मै दूसरे किससे बात करू, सब जगह विराट्-पुरुष, सब जगह ब्रह्म-ही-ब्रह्म तो विस्तार पा रहा है। उसे सब जगह ब्रह्मके ही दर्शन होने लगते है, और वह कह उठता है, 'इदम्+अदर्शम्', 'मैने यह देख लिया'--अर्थात्, ब्रह्म यह सामने ही तो दीख रहा है, दूर कहा है ? ।१३।

'इदम्+अदर्शम्'का अर्थ है--'यह देख लिया' । इसमें 'इदम्'के साथ 'अदर्शम्'का 'द+र' जोड़ देनेसे 'इदम्+द+र' बन गया, इसलिये उसे 'इदन्द्र' कहते है । अस्लमें 'इदन्द्र' शब्द है, इसीके बीचका 'द' हटाकर 'इन्द्र' बन जाता है। देवता लोग 'इदन्द्र'के स्थानमें 'इन्द्र' शब्दका प्रयोग करते है क्योकि वे रहस्यमयी भाषाको पसन्द करते है, परोक्ष-प्रिय होते है ।१४।

(पुरुषके देहका आधार अन्न है, अन्नका ग्रहण अपान वायुसे होता है, यह स्पष्ट कर देनेके बाद ऋषिने अपने ढगसे यह उपदेश दिया है कि देहका धारण आख, नाक, कान आदिसे नही परन्तु जीवात्मासे होता है । जीवात्मा जबतक सोया रहे, तबतक उसे कुछ मालूम नही होता, जब वह जाग जाय, उसके ज्ञान-नेत्र खुल जाय, तब वह शरीरमे और ब्रह्माडमे—'मैने यह देख लिया'—कहकर उसके दर्शन करने लगता है ।)

द्वितीय अध्याय

इस अध्यायमें गर्भाधानका आनुषगिक वर्णन किया है इसलिये ऋषि इस अध्यायका प्रवचन करते हुए प्रारम्भ में कहते है, गर्भिणी

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति ।
स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदिदमदर्शमिती३ । १३ ।
तस्मादिदन्द्रो नाम इदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते
परोक्षेण । परोक्षप्रिया इव हि देवा परोक्षप्रिया इव हि देवा । १४ ।

स्त्रिया उठ जाय । उनके उठकर चले जानेपर ऋषि अपना उपदेश प्रारम्भ करते हैं—

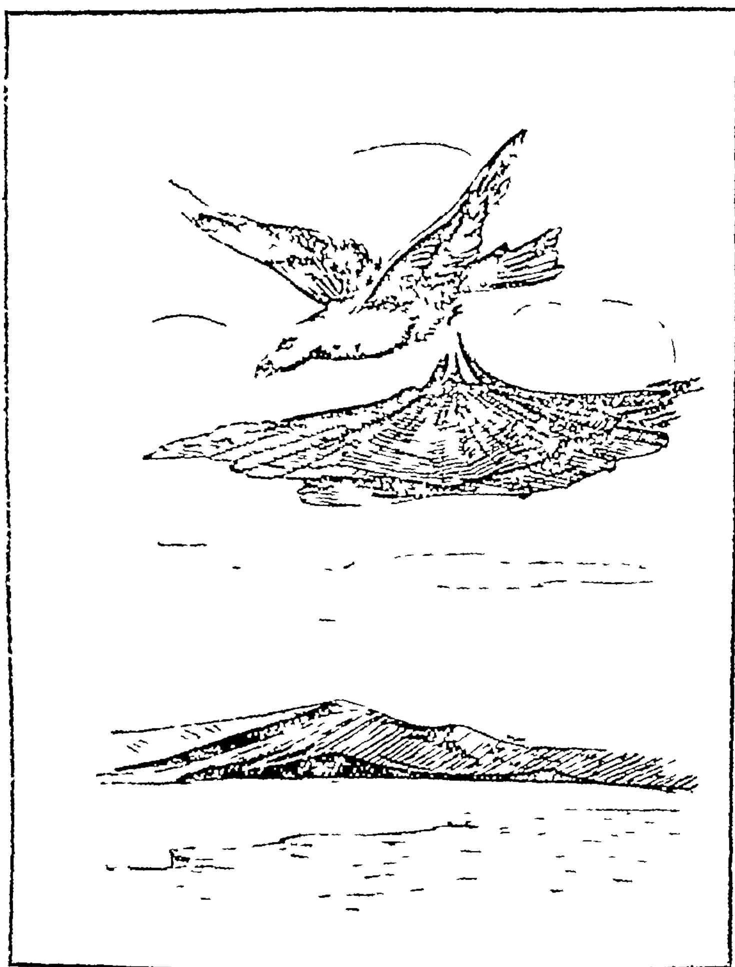
गर्भ कहनेको तो स्त्री धारण करती है, परन्तु असलमें शुरूसे ही यह पुरुष धारण करता है । वीर्यमे ही तो गर्भ होता है । यह वीर्य, रेतस्, पुरुषके अंग-अंगके तेजका ही तो सार-तत्त्व है । क्योंकि पुरुषके अंगोंके इस तेजसे ही गर्भ होता है, इसलिये यह कहना ठीक होगा कि पुरुष पहले वीर्य-रक्षा द्वारा अपनेमें अपनेको धारण करता है । उसे जब स्त्रीमें सिंचित करता है, तब मानो अपनेको ही सिंचित करता है, अपनेको ही उत्पन्न करता है । इसप्रकार पुरुष अपनेको ही उत्पन्न करता है, यह उसका प्रथमजन्म है ।१।

वह रेतस् स्त्रीमें जाकर उसका आत्मवत् हो जाता है, ठीक ऐसे जैसे अपना ही अंग । इसीलिये विजातीय-द्रव होने के कारण भी आत्म-वत् हो जानेसे वह स्त्रीको कष्ट नहीं देता । स्त्री, पुरुषके आत्माको अपने भीतर सुरक्षित रखकर उसकी पालना करती है ।२।

क्योंकि वह मानो हमारी ही पालना करती है, इसलिये उसकी पालना करना भी हमारा कर्तव्य है । स्त्री, पुरुषको ही गर्भमें धारण करती है । जन्मके बाद पुरुष 'कुमार'की रक्षा करता है, उसकी भावना करता है, यह रक्षा, यह भावना मानो अपनी ही रक्षा है, अपनी ही भावना है । इसप्रकार लोकमें वह जो सन्तति बढाता है, अपनेको ही बढाता है, लोकका इसीप्रकार सन्तान-वितान बढा है । इसप्रकार 'कुमार'-रूपमें बालकका जो जन्म होता है, वह पुरुषका अपना ही

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति । यदेतद्रेतस्तदेतत्सर्वे-भ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म । १ ।
तत् स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति यथा स्वमङ्गं तथा । तस्मादेनां न हिनस्ति साऽस्यैतमात्मानमत्र गतं भावयति । २ ।

जन्म है। वीर्यदान उसका प्रथम, और कुमार-रूपमें उत्पन्न होना पुरुषका अपना ही द्वितीयजन्म है ।३।



बाज जैसे जालसे मुक्त हो जाता है, वैसे मैं
जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त हो जाऊं !

सा भावयित्री भावयितव्या भवति तं स्त्री गर्भं बिभर्ति सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयत्येषां लोकानां सन्तत्या एवं सन्तता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म । ३ ।

'कुमार'-रूपमें ही पुरुषका एक आत्मा उसीके पुण्य-कर्मोंका प्रतिनिधि बनकर ससारमें रह जाता है। अर्थात्, पुरुषके पुण्य-कर्म उसके पुत्रके रूपमें ससारमें बने रहते हैं। उसका दूसरा आत्मा, अर्थात् यह स्थूल-शरीर, कृतकृत्य होकर, बूढा होकर ससारको छोड देता है। इस लोकसे जाते ही वह फिर उत्पन्न हो जाता है, यह उसका तृतीय-जन्म है।४।

वामदेव ऋषिने ठीक कहा है--मै जब गर्भमें था तभी मैंने देवोके सब जन्मोको जान लिया था। मुझे लोहेके समान सैकड़ो शरीरोमें रखा गया। जैसे बाज नीचे जालमें बधा हो, और वेगसे सब बन्धनो को छिन्न-भिन्न करके आसमानमें उडजाय, वैसे मैंने लोहेके समान सैकडो शरीर-रूपी बन्धनोको तोड-फोड डाला, और स्वतन्त्र हो गया। गर्भमें पड़े-पडे ही वामदेवने ऐसा कहा--।५।

इसप्रकार वामदेव-ऋषि शरीरका भेदन करके, ऊपर पहुचकर, उस स्वर्गलोकमें सब कामनाओको पाकर अमर हो गया, हो गया।६।

तृतीय अध्याय

गर्भाधानका आनुषगिक वर्णन करनेके अनन्तर ऋषिने कहा, अब गर्भिणी स्त्रिया यथा-स्थान आकर बैठ जाय, और उपदेश सुनें।

यह 'आत्मा' कौन है जिसकी हम उपासना करते है, और वह आत्मा कौन-सा है जिससे यह मनुष्य 'रूप'को देखता है, 'शब्द'को सुनता है,

---

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्य कर्मभ्य प्रतिधीयतेऽथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगत प्रैति स इत प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीय जन्म। ४।
तदुक्तमृषिणा। गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमह देवाना जनिमानि विश्वा। शत मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयमिति गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच। ५।
स एव विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृत समभवत् समभवत्। ६।

'गन्ध'को सूघता है, 'वाणी'का व्यवहार करता है, और जिससे स्वादु वा अस्वादु पदार्थको जानता है ?।१।

इस प्रश्नका उत्तर देते है—यह जो 'हृदय' (Emotion) और 'मन' (Reason) है, और इनके साथ जो यह 'संज्ञान', 'आज्ञान', 'विज्ञान', 'प्रज्ञान', 'मेधा', 'दृष्टि', 'धृति', 'मति', 'मनीषा', 'जूति', 'स्मृति', 'सकल्प', 'ऋतु', 'असु', 'काम' और 'वश' है—ये सब 'प्रज्ञान'के ही नाम है। जीवात्माके ये गुण है। जीवात्माके कारण यही नहीं कि रूप, रस, गन्धका ज्ञान होता है, अपितु अभी कहे ये सब कार्य भी जीवात्माके कारण ही होते है।२।

'जीवात्मा' का वर्णन कर चुकनेपर, 'परमात्मा'का वर्णन करते है। ब्रह्म यह है, इन्द्र यह है, प्रजापति यह है। यह क्या ? जिसका अभी वर्णन करते है—वह। ये सब देव, ये पाचो महाभूत, पृथिवी, वायु, आकाश, आप और ज्योति, ये क्षुद्र जीव, ये मिश्र जीव-जन्तु, ये बीज, ये अडज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिज, ये अश्व, गौ, पुरुष, हस्ति—ये जो भी प्राणि-जगत् है, स्थावर, जगम, परद—ये सब 'प्रज्ञा-नेत्र' है, इन सबमें प्रज्ञा मानो दीख रही है, यह सृष्टि अन्धी नहीं चली जा रही, प्रज्ञासे जा रही है, किसी लक्ष्यकी तरफ मानो आख उठाकर जा रही है, यह सृष्टि 'प्रज्ञान'में प्रतिष्ठित है, प्रज्ञानमें ही ठहरी हुई है। सम्पूर्ण लोक

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे कतर स आत्मा येन वा रूप पश्यति येन वा शब्द शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाच व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति। १।
यदेतद्धृदय मनश्चैतत्। सज्ञानमाज्ञान विज्ञान प्रज्ञान मेधा दृष्टिर्धृतिमतिर्मनीषा जूति स्मृति सकल्प क्रतुरसु कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति। २।
एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव। बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गाव पुरुषा हस्तिनो यत्किचेद प्राणि जगम

'प्रज्ञा-नेत्र' है, प्रज्ञामें प्रतिष्ठित है। वह 'प्रज्ञान' ही ब्रह्म है, वही इन्द्र है, वही प्रजापति है। जिस आत्माकी हम उपासना करते है, वह यही है।३। (ससार 'प्रज्ञान'मे प्रतिष्ठित है—अर्थात् ससारका निर्माण सोच-समझपर आश्रित है, यह अटकलपच्चू नही है।)

उपासक इसी 'प्रज्ञ'-आत्माकी उपासनासे इस मर्त्य-लोकसे उत्क्रमणकर उस स्वर्ग-लोकमें सब कामनाओको प्राप्तकर अमृत हो गया, हो गया।४।

उपदेशकी समाप्तिपर ऋषि कहते है—मेरी वाणी मनमें प्रतिष्ठित हो, मेरा मन वाणीमें प्रतिष्ठित हो। मन और वाणीकी एकात्मतासे मेरे अन्तरात्माका उत्तरोत्तर विकास हो। मै वेदको प्राप्त कर सकू। मेरा सुनाहुआ प्रहासमें ही न नष्ट हो जाय। इस पढ़ेहुएसे दिन-रातको एक कर दू। ऋत कहू, सत्य कहू, मेरी रक्षा करो, मुझे उपदेश देनेवालेकी रक्षा करो, मेरी तथा मेरे गुरुकी रक्षा करो। ओ शान्ति शान्ति शान्ति।

च पतत्रि च यच्च स्थावर सर्व तत्प्रज्ञानेत्र प्रज्ञाने प्रतिष्ठित प्रज्ञानेत्रो लोक प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञान ब्रह्म । ३ ।
स एतेन प्रज्ञेनात्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृत समभवत् समभवत् । इत्योम् । ४ ।
वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थ श्रुत मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान्सदधाम्यृत वदिष्यामि सत्य वदिष्यामि तन्मामवतु तद्वक्तारमवत्ववतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् । ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ।

छान्दोग्योपनिषत्

प्रथम प्रपाठक--[पहला खंड]

(उद्गीथ अर्थात् ओंकारकी उपासना)

'ओम्'--यह अक्षर 'उद्गीथ' है, इस 'उद्गीथ' की उपासना करे। गायक 'ओम्' ही का उच्च-स्वरसे गान करता है, उसीका आगे व्याख्यान है।१।

(उच्च-स्वरसे गानेको 'उद्गीथ' कहते है। 'ओम्' भगवान्‌का नाम है--इसका उच्च-स्वरसे गान करना उद्गीथ-गान है।)

पाचो महाभूतोका रस पृथिवी है, पृथिवीका रस जल है, जलोका रस ओषधिया है, ओषधियोका रस पुरुष है, पुरुषका रस वाणी है, वाणीका रस ऋक्, अर्थात् भगवान्‌की स्तुति है, ऋक्‌का रस साम, अर्थात् प्रभुके नामका गायन है, सामका रस उद्गीथ, अर्थात् ओंकारका 'उत्'--अर्थात् उच्च-स्वरसे, 'गीथ'--अर्थात् गान है।२।

यह जो 'उद्गीथ' है--ओंकारका उच्च-ध्वनिसे गान है--वह रसोका रस है, परम-रस है, सर्वोच्च-स्थानी रस है, रसोकी शृंखलामें, पृथिवी-जल-ओषधि-पुरुष-वाणी-ऋक्-साम-उद्गीथके रस-क्रममें वह आठवां रस है।३।

ऋक् कौन-कौन-सी है, साम कौन-कौन-सा है, उद्गीथ कौन-कौन-सा है--इसका विमर्श भी तो करना चाहिए।४।

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम्। १।
एषा भूताना पृथिवी रस पृथिव्या आपो रसोऽपामोषधयो रस ओषधीना पुरुषो रस पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋच साम रस साम्न उद्गीथो रस। २।
स एष रसाना रसतम परम परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथ। ३।
कतमा कतमर्क्कतमत्कतमत्साम कतम कतम उद्गीथ इति विमृष्ट भवति। ४।

वाणी ही ऋक् है, प्राण साम है, ओम् जो अक्षर है यही उद्गीथ है। अथवा, वाणी और प्राणका एक मिथुन है, एक जोडा है, और ऋक् और सामका दूसरा मिथुन है, दूसरा जोड़ा है ।५।

जैसे जोडेके मिलनेसे नवीन-सृष्टि उत्पन्न होती है, वैसे वाणी और प्राण तथा ऋक् और सामके जोडेसे 'ओम्'--इस अक्षरकी सृष्टि होती है । वाणीद्वारा प्रभुका नाम प्राण-शक्तिसे जब गाया जाता है, तब ओंकार प्रकट होता है, इसीप्रकार ऋचा, अर्थात् भगवान्की स्तुतिके वाक्य, साम-गान, अर्थात् संगीतमें पडकर, ओंकारको जन्म देते है। जब दो परस्पर मिलते है, तब वे एक-दूसरेकी कामनाको पूर्ण करते है, इसीप्रकार जब वाणीके साथ प्राण तथा ऋचाके साथ साम मिल-कर प्रभुके ओंकार नामका गान करते है, तब एक-दूसरेकी पूर्ति करते है ।६।

जो इसप्रकार जानता हुआ अक्षर उद्गीथकी उपासना करता है, वह निश्चय ही आप्त-काम हो जाता है ।७।

'ओम्'--यही अक्षर अनुज्ञामें भी प्रयुक्त होता है। जब किसी बात की अनुज्ञा--स्वीकृति--देनी होती है, तब 'ओम्' कहकर दी जाती है। अनुज्ञा देना--किसी बातकी स्वीकृति देना--समृद्धिका सूचक है, जो समृद्ध है, आप्तकाम है, वही तो अनुज्ञा देता है। जो इसप्रकार जानता हुआ अक्षर उद्गीथकी उपासना करता है, वह कामनाओंको पूरा करनेवाला हो जाता है ।८।

वागेवर्क् प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथः ।
तद्वा एतन्मिथुनं यद्वाक् च प्राणश्चर्क् च साम च । ५ ।
तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे संसृज्यते यदा वै मिथुनौ
समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम् । ६ ।
आपयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते । ७ ।
तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्धि किंचानुजानात्योमित्येव तदाहैषो एव समृद्धिर्यदनुज्ञा
समर्धयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते । ८ ।

'ओंकार'से ही त्रयी विद्याका प्रारंभ होता है, सोम-यज्ञमें अध्वर्यु, होता, उद्गाता ओंकारसे ही अपना काम प्रारंभ करते हैं, इसी अक्षरकी पूजाकेलिये, इसीकी महिमासे और इसीके रससे संसारके सब काम चलते हैं।९।

प्रभुके ओंकार नामकी जिस महिमाका वर्णन किया गया, उसे जो जानता है और जो नहीं जानता—उन दोनोंका उसीकी कृपासे काम चल रहा है। विद्या तथा अविद्या भिन्न-भिन्न है—जो विद्यासे, ओंकार की महिमाको जानता हुआ काम करता है, श्रद्धासे और उपनिषद्के ज्ञानसे काम करता है, उसका काम वीर्यशाली होता है। यह सब-कुछ उस अक्षर ओंकारका ही व्याख्यान है।१०।

प्रथम प्रपाठक—[दूसरा खंड]

(पिंडमें प्राण तथा ब्रह्मांडमें सूर्य ओंकारका प्रतिनिधि है, २से३ खंड)

'देव' और 'असुर'—ये दोनों 'प्रजापति'की सन्तान हैं। जब ये आपसमें लड़ने लगे, तब देवताओंने 'उद्गीथ'को इसलिये ग्रहण कर लिया कि इससे असुरोंका हम पराभव कर देंगे।१।

उन्होंने नासिकामें रहनेवाले प्राण, अर्थात् 'घ्राण-शक्ति'को शरीरमें उद्गीथका प्रतीक मानकर उसकी उपासना की, यह सोचा कि इससे हम असुरोंका पराभव कर देंगे। घ्राणको असुरोंने पापसे बींध दिया, इसलिये मनुष्य घ्राणसे दोनोंको सूंघता है—सुगंधि तथा दुर्गन्धि—इन दोनोंको, क्योंकि घ्राण पापसे जो विंधा हुआ है।२।

तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्गायत्येतस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन। ९।

तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति। खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति। १०।

देवासुरा ह वै यत्र संयेतिरे उभये प्राजापत्यास्तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम इति। १।

ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे तं हासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष विद्धः। २।

तब देवोने वाणीको शरीरमें उद्गीथका प्रतीक मानकर उसकी उपासना की, और सोचा कि वाणीसे हम असुरोका पराभव कर देंगे। उसे भी असुरोने पापसे बींध दिया, इसलिये मनुष्य वाणीसे दोनो बातें कहता है--सत्य और अनृत--ये दोनो, क्योंकि वाणी पापसे जो बिधी हुई है।३।

तब देवोने चक्षुको शरीरमें उद्गीथका प्रतीक मानकर उसकी उपासना की, और सोचा कि चक्षुसे हम असुरोका पराभव कर देंगे। उसे भी असुरोने पापसे बींध दिया, इसलिये मनुष्य आंखोसे दोनों पदार्थ देखता है--दर्शनीय तथा अदर्शनीय--इन दोनोको, क्योंकि आंख पापसे जो बिधी हुई है।४।

तब देवोने श्रोत्रको शरीरमें उद्गीथका प्रतीक मानकर उसकी उपासना की, और सोचा कि श्रोत्रसे हम असुरोका पराभव कर देंगे। उसे भी असुरोने पापसे बींध दिया, इसलिये मनुष्य कानोंसे दोनों बातें सुनता है--श्रवणयोग्य तथा श्रवणके अयोग्य--ये दोनो बातें, क्योंकि कान पापसे जो बिधे हुए है।५।

तब देवोने मनको शरीरमें उद्गीथका प्रतीक मानकर उसकी उपासना की, और सोचा कि मनसे हम असुरोका पराभव कर देंगे। उसे भी असुरोने पापसे बींध दिया, इसलिये मनुष्य मनसे दोनो प्रकारका संकल्प करता है--विचारणीय तथा अविचारणीय, क्योंकि मन पापसे जो बिंधा हुआ है।६।

अथ ह वाचमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे तां हासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तयोभयं वदति सत्यं चानृतं च पाप्मना ह्येषा विद्धा। ३।
अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं पश्यति दर्शनीयं चादर्शनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम्। ४।
अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं शृणोति श्रवणीयं चाश्रवणीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम्। ५।
अथ ह मन उद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं सङ्कल्पते सङ्कल्पनीयं चासङ्कल्पनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम्। ६।

तब देवोंने मुखमें रहनेवाले प्राणको शरीरमें उद्गीथका प्रतीक मानकर उसकी उपासना की, और सोचा कि इससे हम असुरोंका पराभव कर देंगे। अन्य इन्द्रियोंमें स्वार्थकी भावना है, मुखमें स्वार्थकी भावना नहीं है। मुख जो लेता है, अपने पास कुछ न रखकर, सबमें बांट देता है, प्राण भी दिन-रात चलता हुआ आंख, कान, नाक आदि सभी इन्द्रियोंको सजीव बनाये हुए है। जब असुर मुखमें रहनेवाले प्राण अथवा 'मुख्य-प्राण'को पापसे बींधनेकेलिये उसके पास पहुंचे, तो ऐसे नष्ट हो गये जैसे कठोर पत्थरसे टकराकर मिट्टीका ढेला नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।७।

(मुखमें रहनेवाले प्राणको उद्गीथका प्रतीक मानकर उसकी उपासनाका अभिप्राय मुखद्वारा उच्च-घोषसे ओंकारके नादको गुंजानेसे है—इसीको उद्गीथ कहते हैं, 'उत्' अर्थात् उच्च-स्वरसे, 'गीथ' अर्थात् गाना। अन्य इंद्रियोंमें उद्गीथोपासनामें शुभाशुभ वासना बनी रहती है, 'मुख'में 'प्राण'के योग द्वारा उद्गीथोपासना करनेसे, अर्थात् उच्च-घोषसे ओंकारके नादको गुंजानेसे पापका स्पर्श नहीं होता क्योंकि मुख तथा प्राण दोनोंमें स्वार्थका सम्पर्क नहीं है।)

जैसे कठोर पत्थरसे टकराकर मिट्टीका ढेला चूर-चूर हो जाता है, इसीप्रकार वह नष्ट हो जाता है जो ओंकारके उपासकके लिये पाप की कामना करता है, या उसपर आक्रमण करता है। उपासक एक अडिग चट्टान है।८।

मुख-स्थित प्राणसे न मनुष्य सुगन्धिको जानता है, न दुर्गन्धिको—यह प्राण पाप-रहित है, स्वार्थ-शून्य है, तभी तो यह जो-कुछ खाता है, पीता है, उससे अन्य इन्द्रियोंकी पालना करता है। अन्तमें मृत्यु-समय-

---

अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे तं हासुरा ऋत्वा विदध्वंसुर्यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसेत । ७ ।

एवं यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसत एवं हैव स विध्वंसते य एवंविदि पापं कामयते यश्चैनमभिदासति स एषोऽश्माखणः । ८ ।

पर इस प्राणके न मिलनेपर मनुष्य चल देता है, और आखीरी घडीमें मुह फाड देता है, मानो उसे लौटा लाना चाहता है ।९।

मुख-स्थित प्राणको उद्गीथका प्रतीक मानकर अंगिरस्‌ने ओंकारोपासना की, इससे उसका कल्याण हो गया। इसलिये प्राणको 'आंगिरस्' माना जाता है, शरीरके अंगोका यह रस है ।१०।

इसीप्रकार मुख-स्थित प्राणको उद्गीथका प्रतीक मानकर बृहस्पति ने ओंकारोपासना की, इससे उसका भी कल्याण हो गया। इसलिये प्राणको 'बृहस्पति' माना जाता है, वाणी 'बृहती' है, महान् है, और प्राण उसका 'पति' है ।११।

इसीप्रकार मुख-स्थित प्राणको उद्गीथका प्रतीक मानकर अयास्य ने ओंकारोपासना की, इससे उसका कल्याण हो गया। इसलिये प्राणको 'अयास्य' माना जाता है, 'आस्य' अर्थात् मुख, 'अय' अर्थात् जाना—अर्थात् जो मुखसे आता-जाता है ।१२।

इसीप्रकार मुख-स्थित प्राणको उद्गीथका प्रतीक मानकर दल्भ्य के पुत्र बकने ओंकारोपासना की। वह इसके प्रतापसे नैमिषारण्य के निवासियोंका उद्गाता बन गया। वह गा-गाकर नैमिषारण्य-वासियोंके मनोरथोंको पूर्ण किया करता था ।१३।

नैवैतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानात्यपहतपाप्मा ह्येष तेन
यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान् प्राणानवति । एतमु
एवान्ततोऽवित्त्वोत्क्रामति व्याददात्येवान्तत इति । ९ ।
तं हाङ्गिरा उद्गीथमुपासाञ्चक्र एतमु एवाङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः ।१०।
तेन तं ह बृहस्पतिरुद्गीथमुपासाञ्चक्र एतमु एव
बृहस्पतिं मन्यन्ते वाग्घि बृहती तस्या एष पतिः । ११ ।
तेन तं हायास्य उद्गीथमुपासाञ्चक्र एतमु
एवायास्यं मन्यन्त आस्याद्यदयते । १२ ।
तेन तं ह बको दाल्भ्यो विदाञ्चकार । स ह नैमिषीया-
नामुद्गाता बभूव स ह स्मैभ्यः कामानागायति । १३ ।

जो ओंकारोपासनाके रहस्यको जानता हुआ इसप्रकार अक्षर उद्गीथकी उपासना करता है, वह ओंकारके सघोष-नादसे कामनाओं को पूर्ण करनेवाला हो जाता है। शरीरको इन्द्रियोंकी दृष्टिसे ओंकारोपासनाका जो रहस्य था, वह 'अध्यात्म'-वर्णन कर दिया गया। उपनिषदोंमें 'अध्यात्म'का अर्थ है—आत्मा जिस शरीरमें, पिंडमें रहता है, उस शरीरको, अर्थात् पिंडको लक्ष्यमें रखकर किया गया वर्णन।१४।

प्रथम प्रपाठक—[तीसरा खंड]

अब देवताओंकी दृष्टिसे, अर्थात् पिंड को नहीं ब्रह्मांडको लक्ष्यमें रखकर, ओंकारोपासनाका जो रहस्य है, वह 'आधिदैवत' वर्णन प्रारंभ करते हैं। जैसे शरीरमें 'प्राण' उद्गीथका प्रतीक है, वैसे ब्रह्मांडमें तपरहा 'सूर्य' उद्गीथका प्रतीक है, उसकी उपासना करे। शरीरमें निस्स्वार्थ चलरहे 'प्राण'को, और विश्वमें स्वयं तप करके प्रकाश तथा जीवन फैलानेवाले 'सूर्य'को, ओंकारका भौतिक रूप समझकर इनकी आराधना करे। उदय होताहुआ सूर्य मानो उद्गीथका रूप है, वह उदय होताहुआ मानो प्रजाओंके मनोरथोंको उद्गाताकी तरह गा रहा होता है, वह उदय होताहुआ भौतिक-अन्धकार तथा मानसिक-भयको मार भगाता है। जो इसप्रकार 'सूर्य'को उद्गीथका प्रतीक मानता है, वह भय तथा अन्धकारको मार भगाता है।१।

'प्राण' तथा 'सूर्य' एक-समान ही हैं। यह 'प्राण' उष्ण है, शरीरमें गर्मी रखता है, वह 'सूर्य' भी उष्ण है, विश्वमें गर्मी रखता है। इस 'प्राण'को स्वर कहते हैं; उस 'सूर्य'को स्वर तथा प्रत्यास्वर दोनों कहते हैं। 'स्वर'का अर्थ है, 'जानेवाला'—प्राण मरनेपर जाता है,

---

आगाता ह वै कामाना भवति य एतदेव
विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्त इत्यध्यात्मम् । १४ ।
अथाधिदैवतम् । य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीतोद्यन्वा
एष प्रजाभ्य उद्गायति। उद्यँस्तमोभयमपहन्त्यपहन्ता
ह वै भयस्य तमसो भवति य एवं वेद । १ ।

उसी शरीरमें फिर लौटकर नहीं आता। 'प्रत्यास्वर'का अर्थ है, 'लौटकर आनेवाला'--सूर्य 'स्वर' तो है ही, जाता तो है ही, परन्तु 'प्रत्यास्वर' भी है, लौट भी आता है, अस्त होकर उदय भी हो जाता है। इसलिये 'प्राण', 'सूर्य', तथा 'उद्गीथ' इन्हें एकसमान समझकर इनकी उपासना करे।२।

'व्यान'को उद्गीथका प्रतीक मानकर ओंकारोपासना करे। जो सांस भीतर लिया जाता है वह 'प्राण' है, जो बाहर निकाला जाता है वह 'अपान' है, जो प्राण तथा अपानकी सन्धि है--सांसका अन्दर थमना है--वह 'व्यान' है। यह व्यान ही 'वाणी' है, इसलिये जब मनुष्य सांस अन्दर नहीं ले जा रहा होता, न बाहर फेंक रहा होता है, तभी वाणीका व्यवहार करता है।३।

यह वाणी ही 'ऋक्' है, इसलिये ऋचाका उच्चारण तभी हो सकता है, जब न प्राण अन्दर लिया जा रहा हो, न अपान बाहर फेंका जा रहा हो। ऋचा ही 'साम' है, इसलिये साम-गान करते हुए न प्राण अन्दर लिया जाता है, न अपान बाहर फेंका जाता है। साम ही 'उद्गीथ' है, इसलिये गानकरते हुए न प्राण काम करता है, न अपान काम करता है।४।

इसके अतिरिक्त जो अन्य बलवाले कार्य हैं--जैसे अग्निका मन्थन, सग्राममें सरपट दौडना, दृढ धनुषका खींचना--इन्हें प्राण खींचने तथा अपान निकालनेके बिना ही, इन्हें रोककर करना होता है। यह

समान उ एवायं चासौ चोष्णोऽयमुष्णोऽसौ स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुम्। तस्माद्वा एतमिमममुं चोद्गीथमुपासीत।२।
अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत। यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानः। अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानो यो व्यानः सा वाक्। तस्मादप्राणन्ननपानन्वाचमभिव्याहरति।३।
या वाक्सर्क्। तस्मादप्राणन्ननपानन्नृचमभिव्याहरति
या ऋक् तत्साम। तस्मादप्राणन्ननपानन्साम गायति।
यत्साम स उद्गीथस्तस्मादप्राणन्ननपानन्नुद्गायति।४।

अवस्था 'व्यान'की है, अत 'व्यान'को उद्गीथका प्रतीक मानकर ओंकारोपासना करे ।५।

'उद्गीथ'के अक्षरोंपर विचार करना भी आवश्यक है। वे अक्षर हैं—'उद्'—'गी'—'थ' । शरीरमें 'प्राण' उत् है, इससे उठते हैं, 'वाणी' गीर् है, वाणीको गिरा कहते हैं, 'अन्न' थ है, अन्नमें ही सब-कुछ स्थित है ।६।

ब्रह्माण्डमें 'द्यौ' उत् है, 'अन्तरिक्ष' गीर् है, 'पृथिवी' थम् है । अथवा 'आदित्य' उत् है, 'वायु' गीर् है, 'अग्नि' थम् है । अथवा, 'सामवेद' उत् है, 'यजुर्वेद' गीर् है, 'ऋग्वेद' थम् है । जो इसप्रकार 'उद्-गी-थ'के अक्षरोंको समझता है, उसके लिये वाणी-रूपी गौ मानो अपना दूध दुह देती है—वाणीका यही दूध है—अर्थात्, इन अक्षरोंके अभिप्रायको समझना ही वाणीको मानो दुह लेना है । जो 'उद्गीथ' के अक्षरोंके आशयको समझता है, वह अन्नवान् तथा अन्नका भोक्ता हो जाता है ।७।

उद्गीथका गान करनेवाला उद्गाता कहाता है। उसे परमात्माका आशीर्वाद कैसे प्राप्त हो, और उसकी समृद्धि कैसे हो—अब यह कहते हैं । उद्गाताको चाहिये कि वह 'उपसरण'पर विचार करे । 'उपसरण'का अर्थ है 'उप+सरण'—दौडकर पास जाना । अर्थात्, मनको जल्दी-जल्दी इन बातोंकी तरफ दौडाये । किन बातोंकी

अतो यान्यन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि यथाऽग्नेर्मन्थनमाजे सरणं दृढस्य धनुष आयमनमप्राणन्ननपानꣳस्तानि करोत्येतस्य हेतोर्व्यानमेवोद्गीथमुपासीत । ५ ।
अथ खलूद्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ इति । प्राण एवोत्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति । वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्याचक्षतेऽन्नं थमन्ने हीदꣳ सर्वꣳ स्थितम् । ६ ।
द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवी थमादित्य एवोद्वायुर्गीरग्निस्थम् । सामवेद एवोद्यजुर्वेदो गीर्ऋग्वेदस्थं दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतान्येवं विद्वानुद्गीथाक्षराण्युपास्त उद्गीथ इति । ७ ।

तरफ ? जिस साम-गानसे प्रभुका कीर्तन करना हो, उस सामपर मनको दौड़ाये ।८।

जिस ऋचासे प्रभु-कीर्तन करना हो, उस ऋचाको ध्यानमें लाये, जिस ऋषि तथा जिस देवताका ध्यान करना हो, झट ध्यान उधर दौडाये ।९।

जिस छन्दसे गाना हो, उस छन्दपर झट पहुचे--यह नहीं कि सोचमें ही पडा रहे। जिस छन्दोके समूहसे प्रभुकी स्तुति करनी हो, उस छन्द-समूह पर भी भक्तका झट ध्यान चला जाय ।१०।

जिस दिशामें स्तुतिका प्रवाह बहाना हो, वह दिशा भी फौरन ध्यानमें आ जाये ।११।

इसप्रकार सब बातोको ध्यानमें लाकर अन्तमें आत्मा--ब्रह्म--के निकट पहुचकर, अप्रमत्त होकर, यथाकाम भगवान्का चिंतन करता हुआ प्रभुकी स्तुति करे। इसप्रकार जिस कामनाको लेकर प्रभुका स्तवन करेगा, जिस कामनासे स्तवन करेगा, आशाके अनुरूप वह कामना समृद्ध होगी ।१२।

प्रथम प्रपाठक--[चौथा खड]

(ओंकारका पाठ ही नही उसका मर्म भी समझना चाहिये)

'ओम्'—यह अक्षर 'उद्गीथ' है, इस 'उद्गीथ'की उपासना करे।

अथ खल्वाशी समृद्धिरुपसरणानीत्युपासीत येन
साम्ना स्तोष्यन्स्यात्तत्सामोपधावेत् ।८।
यस्यामृचि तामृचं यदार्षेयं तमृषिं यां देवताम-
भिष्टोष्यन्स्यात्तां देवतामुपधावेत् ।९।
येन च्छन्दसा स्तोष्यन्स्यात्तच्छन्द उपधावेद्येन
स्तोमेन स्तोष्यमाणः स्यात्तं स्तोममुपधावेत् ।१०।
यां दिशमभिष्टोष्यन्स्यात्तां दिशमुपधावेत् ।११।
आत्मानमन्तत उपसृत्य स्तुवीत कामं ध्यायन्नप्रमत्तोऽभ्याशो ह
यदस्मै स कामः समृद्ध्येत यत्कामः स्तुवीतेति यत्कामः स्तुवीतेति ।१२।

गायक 'ओम्'का ही उच्च-स्वरसे गायन करता है, उसीका आगे उपाख्यान है ।१।

देव, मृत्युके भयसे त्रयी-विद्यामे जा छिपे, और उन्होने वेदके छन्दोसे अपनेको ढाप लिया । देवोने छन्दोसे अपनेको आच्छादित कर लिया इसीलिये छन्दोको 'छन्द', अर्थात् अच्छादित करनेवाले कहा जाता है।२।

जैसे जलमें छिपी मछलीको कोई देख ले, वैसे ऋक्, साम, यजुमें छिपे देवोको मृत्युने देख लिया । केवल वेदमन्त्रोके पाठके सहारे देव मृत्युसे बचना चाहते थे, परन्तु यह उनकी भूल थी । यह जानकर कि मृत्युने उन्हें देख लिया है, वे ऋक्, साम, यजुसे ऊपर--'स्वर'में--अर्थात्, भगवान्के नामकी धुनमें प्रविष्ट हो गये, उसमें जा छिपे ।३।

तभी तो ऋचाओके मर्मको पाकर 'ओ ३ म्'का दीर्घ-स्वरसे उच्चारण किया जाता है, साम तथा यजुके मर्मको पाकर 'ओ३म्' का दीर्घ-स्वरसे उच्चारण किया जाता है । 'ओ३म्' यही 'स्वर' है, जो 'अक्षर' है, 'अमृत' है, 'अभय' है । इसी 'ओ३म्' में लीन होकर देव-लोग 'अमृत' तथा 'अभय' हो गये ।४।

जो उपासक इसप्रकार ओंकारकी महिमाको जानता हुआ अक्षरकी स्तुति करता है, वह इस अमृत, अभय, अक्षर स्वरमें--अक्षर ध्वनिमें--लीन हो जाता है । उसमें लीन होकर जैसे देव अमृत हो गये, वैसे वह भी अमृत हो जाता है ।५।

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् । १ ।
देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशँस्ते छन्दो-
भिरच्छादयन् । यदेभिराच्छादयँस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् । २ ।
तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येदेवं पर्यपश्यदृचि साम्नि यजुषि ।
ते नु विदित्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन् । ३ ।
यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवातिस्वरत्येवँ सामैवं यजुरेष उ स्वरो
यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन् । ४ ।
स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौत्येतदेवाक्षरँ स्वरममृतमभयं
प्रविशति तत्प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति । ५ ।

प्रथम प्रपाठक—[पाचवा खड]

(उद्गीथ तथा प्रणव एक ही है)

जो उद्गीथ है, वह प्रणव है, जो प्रणव है, वह उद्गीथ है। यह सूर्य मानो उद्गीथ है, प्रणव है, ओ३म् है, यह सूर्य मानो उच्च स्वरसे ओंकारका घोष करता हुआ उदित होता है।१।

कौषीतकिने अपने पुत्रसे कहा—इसी ओंकारका मैंने गान किया था, इसलिये तू मेरा एक पुत्र हुआ। तू सूर्यकी रश्मियोंको ओंकारका प्रतीक मानकर उनद्वारा अपनेको चारोतरफमे घेर ले। जैसे सूर्यकी एक-एक किरणसे ओंकारका स्वर प्रकट होता है, वैसे तेरे एक-एक रोमसे ओंकारका नाद गूंज उठे। तेरे अनेक पुत्र होंगे, अर्थात् तेरे पग-चिह्नोपर चलनेवाले अनेक भक्त होंगे। यह 'अधिदैवत' वर्णन हुआ—अर्थात् सृष्टिमें, ब्रह्माडमें सूर्यद्वारा ओंकार-नादका दृष्टान्त हुआ।२।

अब 'अध्यात्म' वर्णन करते है, अर्थात् शरीरमें, पिंडमें ओंकारोपासनाके स्वरूपका उल्लेख करते हैं। मुख-स्थित प्राणको उद्गीथ मानकर उसकी उपासना करे, क्योंकि यह प्राण मानो ओंकारका उच्च स्वरसे नाद करता हुआ चलता है।३।

कौषीतकिने अपने पुत्रसे कहा—इसी ओंकारका मैंने गान किया था, इसलिये तू मेरा एक पुत्र हुआ। तू प्राणको ओंकारका प्रतीक मानकर भूमा-रूप भगवान्का गान कर, इससे तेरेद्वारा मेरे अनेक पुत्र होंगे, अर्थात् अनेक मेरे पग-चिह्नोपर चलेंगे।४।

अथ खलु य उद्गीथ स प्रणवो य प्रणव स उद्गीथ इत्यसौ
वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति । १ ।
एतम् एवाहमभ्यगासिष तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकि
पुत्रमुवाच रश्मी स्त्व पर्यावर्तयाद् बहवो वै ते भविष्यन्तीत्यधिदैवतम् । २ ।
अथाध्यात्मम् । य एवाय मुख्य प्राणस्तमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्येष स्वरन्नेति ।३।
एतम् एवाहमभ्यगासिष तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकि
पुत्रमुवाच प्राणा स्त्व भूमानमभिगायताद् बहवो वै मे भविष्यन्तीति । ४ ।

जो उद्गीथ है, वही प्रणव है, जो प्रणव है, वही उद्गीथ है--जो यह जानता है वह होताके स्थानसे ही प्रणवके उच्चारणकी त्रुटिको दूर कर देता है, दूर कर देता है ।५।

(ओंकारके लिये ऋग्वेदी 'प्रणव'-शब्दका प्रयोग करते है, सामवेदी 'उद्गीथ'-शब्दका । यहा कहा गया है कि 'प्रणव' तथा 'उद्गीथ' एक ही है, अर्थात् ऋग्वेदियो और सामवेदियोमे कोई भेद नही है ।)

प्रथम प्रपाठक--[छठा खड]

(ऋक् तथा सामकी एकता दर्शाते हुए ब्रह्माड तथा पिडमे उद्गीथ, ६-७)

उपनिषद्में 'उद्गीथ'की उपासनाका वर्णन है। जैसा ऊपर कहा गया, 'उद्गीथ' शब्द सामवेदियोका है । इससे कोई यह न समझे कि ऋग्-वेदियोको भुला दिया गया है, इसलिये छठे तथा सातवें खडमें वार-वार इस वातको दोहराया गया है कि सामवेद ऋग्वेदके सहारे ही टिकाहुआ है । यह वात इससे भी स्पष्ट है कि सामवेदके ७० मन्त्रोको छोडकर सामवेदके सभी मन्त्र ऋग्वेदसे लिये गये है । इसी वातको ऋषिने अपने ढग से कहा है—

'पृथिवी' ऋग्वेदका सूचक है, 'अग्नि' सामवेदका । जैसे अग्निका आधार पृथिवी है, वैसे सामका आधार ऋक् है, साम ऋचाके सहारे गाया जाता है । ऋक् और साममें इतनी अभिन्नता है कि पृथिवी मानो 'सा' है, अग्नि 'अम' है, इन दोनोके मिलनेसे 'साम' वन जाता है ।१।

अथवा, 'अन्तरिक्ष' ऋग्वेदका सूचक है, 'वायु' सामवेदका । जैसे वायुका आधार अन्तरिक्ष है वैसे सामका आधार ऋक् है, साम

अथ खलु य उद्गीथ स प्रणवो य प्रणव स उद्गीथ इति
होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीतमनुसमाहरतीत्यनुसमाहरतीति । ५ ।
इयमेवर्गग्निः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम
तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयत इयमेव साऽग्निरमस्तत्साम । १ ।

ऋचाके सहारे गाया जाता है। ऋक् और साममें इतनी अभिन्नता है कि अन्तरिक्ष मानो 'सा' है, वायु 'अम' है, इन दोनोंके मिलनेसे 'साम' बन जाता है।२।

अथवा, 'द्यौ' ऋग्वेदका सूचक है, 'आदित्य' सामवेदका। जैसे आदित्यका आधार द्यु-लोक है वैसे सामका आधार ऋक् है, साम ऋचाके सहारे गाया जाता है। ऋक् और साममें इतनी अभिन्नता है कि द्यौ मानो 'सा' है, आदित्य 'अम' है, इन दोनोंके मिलनेसे 'साम' बन जाता है।३।

अथवा, 'नक्षत्र' ऋग्वेदका सूचक है, 'चन्द्रमा' सामवेदका। जैसे चन्द्रमाका आधार नक्षत्र-लोक है वैसे सामका आधार ऋक् है, साम ऋचाके सहारे गाया जाता है। ऋक् और साममें इतनी अभिन्नता है कि नक्षत्र मानो 'सा' है, चन्द्रमा 'अम' है, इन दोनोंके मिलनेसे 'साम' बन जाता है।४।

अथवा, 'आदित्य'की जो श्वेत-आभा है, वह ऋग्वेदकी सूचक है, जो नीली—परम-कृष्ण—आभा है, वह सामवेदकी सूचक है। जैसे कृष्ण-आभाका आधार श्वेत-आभा है वैसे सामका आधार ऋक् है, साम ऋचाके सहारे गाया जाता है। ऋक् और साममें इतनी अभिन्नता है कि आदित्यकी जो शुक्ल-आभा है वह मानो 'सा' है, जो नील—परमकृष्ण—आभा है वह 'अम' है, इन दोनोंके मिलनेसे 'साम' बन जाता है।५।

अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ साम तस्मादृच्यध्यूढँ साम गीयतेऽन्तरिक्षमेव सा वायुरमस्तत्साम । २ । द्यौरेवर्गादित्यः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ साम तस्मादृच्यध्यूढँ साम गीयते द्यौरेव सादित्योऽमस्तत्साम । ३ । नक्षत्राण्येवर्क् चन्द्रमाः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ साम तस्मादृच्यध्यूढँ साम गीयते नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा अमस्तत्साम । ४ । अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ साम तस्मादृच्यध्यूढँ साम गीयते । ५ ।

और, जो आदित्यके भीतर यह सुनहरा पुरुष दीखता है, सुनहरी दाढी-मूछवाला, सुनहरे केशोवाला, नखोतक सारा सोने-ही-सोने का। ६।

उसकी कमल-जैसी लाल-लाल आखें है, उस आदित्यका 'उत्' नाम है। 'उत्' नाम इसलिये क्योकि वह सब पापोसे 'उत्', अर्थात् ऊपर है। जो इस प्रकार सूर्यके 'उत्' रूपको जानता है, वह सब पापोसे ऊपर उठ जाता है।७।

उसी आदित्यस्थ पुरुषकी महिमाका ऋक् और साम गान करते है, इसीलिये आधिदैवत दृष्टिसे आदित्यको 'उद्गीथ' कहा गया है। 'उद्गाता'को उद्गाता भी इसलिये कहा जाता है क्योकि वह इसी हिरण्मय-पुरुषकी महिमाका गान करता है। वह हिरण्मय-पुरुष इस लोकसे परे भी जो लोक है उनका भी स्वामी है, सब दिव्य-कामनाओ का भी वही स्वामी है।८।

प्रथम प्रपाठक--[सातवा खड]

'सृष्टि', अर्थात् ब्रह्माडकी दृष्टिसे ऋक् तथा सामकी अभिन्नता दर्शाकर, 'शरीर', अर्थात् पिडकी दृष्टिसे इनकी अभिन्नता दिखाते है— पिछला 'आधिदैवत' वर्णन था, यह 'अध्यात्म' वर्णन है। अध्यात्म, अर्थात् शरीरकी दृष्टिसे 'वाक्' ऋग्वेदकी सूचक है, 'प्राण' सामवेदका। जैसे प्राण वाणीके सहारे उच्चारण करता है वैसे साम ऋचाके सहारे है, साम ऋचाके सहारे गाया जाता है। ऋक् और साममें इतनी अभि-

---

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्ल भा सैव साऽथ यन्नील पर कृष्ण तदमस्तत्सामाऽथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मय पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्ण । ६ ।

तस्य यथा कप्यास पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम । स एष सर्वेभ्य पाप्मभ्य उदित । उदेति ह वै सर्वेभ्य पाप्मभ्यो य एव वेद । ७ ।

तस्यर्क् च साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्गातैतस्य हि गाता स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषा चेष्टे देवकामाना चेत्यधिदैवतम् । ८ ।

न्नता है कि वाणी मानो 'सा' है, प्राण 'अम' है, इन दोनोके मिलनेसे 'साम' बन जाता है ।१।

अथवा, 'चक्षु' ऋग्वेदकी सूचक है, आखमें दीखनेवाली 'छाया' सामवेदकी । जैसे छाया आखके सहारे दीखती है वैसे साम ऋचाके सहारे है, साम ऋचाके सहारे गाया जाता है । ऋक् और साममें इतनी अभिन्नता है कि चक्षु मानो 'सा' है, छाया 'अम' है, इन दोनोके मिलनेसे 'साम' बन जाता है ।२।

अथवा, 'श्रोत्र' ऋग्वेदका सूचक है, 'मन' सामवेदका । जैसे मन श्रोत्रके सहारे है वैसे साम ऋचाके सहारे है, साम ऋचाके सहारे गाया जाता है । ऋक् और साममें इतनी अभिन्नता है कि श्रोत्र मानो 'सा' है, मन 'अम' है, इन दोनोके मिलनेसे 'साम' बन जाता है ।३।

अथवा, आखकी जो शुक्ल आभा है वह ऋग्वेदकी सूचक है, जो नीली-परम-कृष्ण-आभा है वह सामवेदकी सूचक है । जैसे कृष्ण आभाका सहारा श्वेत आभा है वैसे सामका सहारा ऋचा है, साम ऋचाके सहारे गाया जाता है । ऋक् और सामकी इतनी अभिन्नता है कि आखकी जो शुक्ल आभा है वह मानो 'सा' है, जो कृष्ण आभा है, वह 'अम' है, इन दोनोके मिलनेसे 'साम' बन जाता है ।४।

और, जो आखके भीतर पुरुष दीखता है वही ऋक् है, वही साम है, वही उक्थ है, वही यजु है, वही ब्रह्म है । उसका वही हिरण्मय-रूप

अथाध्यात्मम् । वागेवर्क् प्राणः साम । तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ साम । तस्मादृच्यध्यूढँ साम गीयते । वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम । १ ।
चक्षुरेवर्गात्मा साम । तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ साम । तस्मादृच्यध्यूढँ साम गीयते । चक्षुरेव सात्माऽमस्तत्साम । २ ।
श्रोत्रमेवर्ङ् मनः साम । तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ साम । तस्मादृच्यध्यूढँ साम गीयते । श्रोत्रमेव सा मनोऽमस्तत्साम । ३ ।
अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम । तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ साम । तस्मादृच्यध्यूढँ साम गीयते । अथ यदेवैतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैव साऽथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम । ४ ।

है जो आदित्यस्थ पुरुषका है, आंखमें दीख रहे पुरुषकी महिमाका भी वही ऋक् और साम गान करते है जो आदित्यस्थ पुरुषकी महिमाका गान करते है, आखमें दीख रहे पुरुषका नाम भी आदित्यमें दीख रहे पुरुष के नामकी तरह 'उत्' नाम ही है ।५।

वह जो आखमे पुरुष दीखता है वह उन लोकोका भी शासक है जो इस भूमिसे नीचे है, वही इस भूमिपर की मनुष्यकी सब कामनाओका स्वामी है। उपासक लोग वीणाके मधुर तानमें जो गाते है, वे इसीकी महिमाका गान करते है, और इसीलिये वे धन-लाभ करते है ।६।

उक्त रहस्यको जानता हुआ जो साम-गान करता है वह आदित्यमें वर्तमान 'ब्रह्माड'-पुरुष तथा आखमें वर्तमान 'पिंड'-पुरुष दोनोकी महिमा को गाता है। इस गानद्वारा ही सूर्य-लोकसे जो परेके लोक है उन्हें तथा देवोकी सब कामनाओको उद्‌गाता प्राप्त कर लेता है ।७।

और, उसी गानद्वारा मनुष्य-लोकसे जो नीचेके लोक है उन्हें तथा मनुष्योकी सब कामनाओको उद्‌गाता प्राप्त कर लेता है। इसलिये इस रहस्यको जाननेवाला उद्‌गाता यजमानको कह सकता है--।८।

क्या कह सकता है ? हे यजमान ! तेरी कौन-सी कामना तेरे लिये गाऊ ? क्योकि वह जो-कुछ चाहे गाकर पूरा कर सकता है। जो इस रहस्यको जानता हुआ साम-गान करता है वही अस्लमें साम-गान जानता है ।९।

अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क्तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म । तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं, यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ, यन्नाम तन्नाम ।५।
स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषा चेष्टे मनुष्यकामाना चेति
तद्य इमे वीणाया गायन्त्येत ते गायन्ति, तस्मात्ते धनसनय । ६ ।
अथ य एतदेव विद्वान्साम गायत्युभौ स गायति, सोऽमुनैव स एष
ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्ताँ्श्चाप्नोति देवकामाँ्श्च । ७ ।
अथानेनैव ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्ताँ्श्चाप्नोति
मनुष्यकामाँ्श्च तस्मादु हैव विदुद्गाता ब्रूयात् । ८ ।
क ते काममागायानीति । एष ह्येव कामागानस्येष्टे ।
य एव विद्वान्साम गायति साम गायति । ९ ।

प्रथम प्रपाठक [आठवा खड]

(तीन ऋषियोमे उद्गीथकी चर्चा, ८-९ खड)

प्राचीन-कालमें तीन व्यक्ति 'उद्गीथ'में कुशल थे। शालावानका पुत्र शिलक, चिकितायनका पुत्र दाल्भ्य तथा जीवलका पुत्र प्रवाहण। वे आपसमें एक-दूसरेसे कहने लगे, हम तीनो उद्गीथमें कुशल है, आओ उद्गीथकी चर्चा करें।१।

'बहुत अच्छा'--यह कहकर वे एक-साथ बैठ गये। जीवलका पुत्र प्रवाहण बोला--आप दोनो पहले चर्चा करें, आपकी चर्चा मैं सुनूगा।२।

अब शिलक और दाल्भ्यकी बातचीत शुरू हुई। शिलकने दाल्भ्यसे कहा, मैं आपसे पूछू? दाल्भ्यने कहा, पूछो।३।

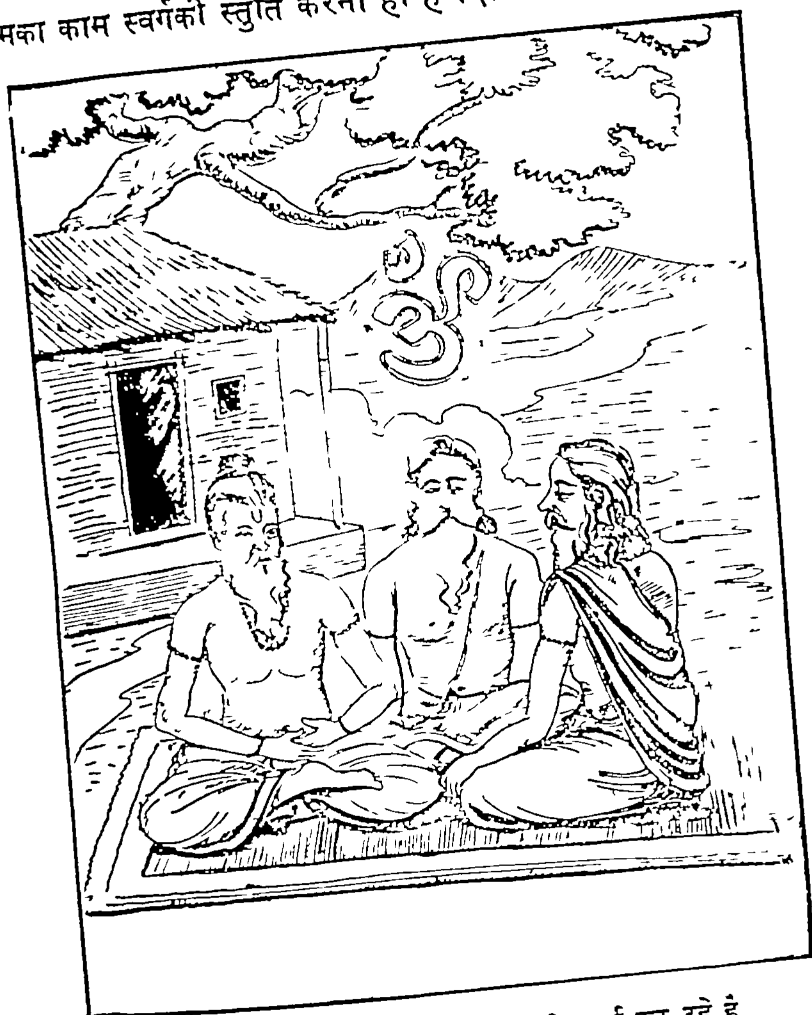
शिलकने पूछा, साम-गान कैसे होता है? दाल्भ्यने कहा, स्वरसे। स्वर कहासे होता है? प्राणसे। प्राण किसके आश्रयसे है? अन्नके। अन्न कैसे होता है? जल से।४।

जल कहासे आता है? उस लोकसे, अर्थात् द्यु-लोकसे, स्वर्ग-लोकसे। उस लोक, अर्थात् स्वर्ग-लोककी स्थिति कैसे है? दाल्भ्यने उत्तर दिया कि स्वर्ग-लोकके आगे प्रश्न नही करना चाहिये। हम साम-

---

त्रयो होद्गीथे कुशला बभूवुः शिलकः शालावत्यश्चैकितायनो
दाल्भ्यः प्रवाहणो जैवलिरिति, ते होचुरुद्गीथे वै
कुशलाः स्मो हन्तोद्गीथे कथां वदाम इति ।१।
तथेति ह समुपविविशुः स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच,
भगवन्तावग्रे वदतां ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाचं श्रोष्यामीति ।२।
स ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच
हन्त त्वा पृच्छानीति, पृच्छेति होवाच ।३।
का साम्नो गतिरिति स्वर इति होवाच, स्वरस्य का गति-
रिति, प्राण इति होवाच, प्राणस्य का गतिरित्यन्नमिति
होवाचान्नस्य का गतिरित्याप इति होवाच ।४।

गानसे स्वर्ग-लोककी ही स्थापना करते हैं, इससे आगे नहीं जाते। सामका काम स्वर्गकी स्तुति करना ही है।५।



शिलक, दाल्भ्य तथा प्रवाहण ओंकारकी चर्चा कर रहे हैं

यह सुनकर शिलकने दाल्भ्यसे कहा, हे दाल्भ्य ! तुम साम-गानसे स्वर्ग-लोककी स्थापना करते हो, आगे नहीं जाते, परन्तु उद्गीथ-चर्चामें

अपा का गतिरित्यमा लोक इति होवाचामुष्यलोकस्य का गतिरिति न स्वर्गं लोकमतिनयेदिति होवाच, स्वर्गं वय लोकं सामाभिसंस्थापयाम, स्वर्गसंस्तावं हि सामेति । ५ ।

इसप्रकार स्वर्ग-लोकतक ठहर जानेसे काम नहीं चलेगा, तुम्हारा साम-ज्ञान अप्रतिष्ठित हो जायगा। तुम्हें इस अल्प-ज्ञानके लिये अगर कोई धिक्कारे, तो लज्जासे तुम्हारा सिर नीचा हो जायगा।६।

दाल्भ्यने कहा, हे भगवन्! क्या मैं इस बातका ज्ञान आपसे प्राप्त कर सकता हूं? हां, करो। अब दाल्भ्यने प्रश्न किया, उस लोक, अर्थात् स्वर्ग-लोककी स्थिति कैसे है? शिलकने उत्तर दिया, स्वर्ग-लोकका आश्रय यह लोक—यह पृथिवी—ही है। दाल्भ्यने फिर पूछा, इस लोककी स्थिति किसपर है? शिलकने उत्तर दिया कि इस पृथिवी-लोक पर तो सब-कुछ प्रतिष्ठित है, इससे आगे प्रश्न नहीं करना चाहिये। हम साम-गानसे इस प्रतिष्ठित पृथिवी-लोककी ही स्थापना करते हैं, इससे आगे नहीं जाते। सामका काम संसारका धारण करनेवाले इस पृथिवी-लोककी स्तुति करना ही है।७।

यह सुनकर शिलकको जैवलिने कहा, हे शिलक! तेरा साम-गान निष्फल है। अगर कोई सामवेदका ज्ञानी आ पहुंचे, और तुझे इस अल्प-ज्ञानके लिये धिक्कारे, तो लज्जासे तेरा सिर नीचा हो जाय। इसपर शिलकने कहा, भगवन्! तो क्या आपसे मैं यह ज्ञान प्राप्त कर सकता हूं? जैवलिने कहा, अवश्य।८।

तं ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाचाप्रतिष्ठितं
वै किल ते दाल्भ्य साम। यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा
ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति ।६।
हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति, विद्धीति होवाच। अमुष्य लोकस्य
का गतिरित्ययं लोक इति होवाच। अस्य लोकस्य का गतिरिति
न प्रतिष्ठां लोकमतिनयेदिति होवाच। प्रतिष्ठां वयं लोकं
सामाभिसंस्थापयामः प्रतिष्ठासंस्तावं हि सामेति ।७।
तं ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच। अन्तवद्वै किल ते शालावत्य साम।
यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति।
हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति, विद्धीति होवाच ।८।

प्रथम प्रपाठक--[नवा खड]

अब शिलकने जैवलिसे पूछा, भगवन् ! तो आप ही मुझे बताइये कि इस पृथिवी-लोककी स्थिति किसपर है ? जैवलिने उत्तर दिया, आकाशपर ! ये सब भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं, आकाशमें ही अस्त हो जाते हैं, आकाश ही सब भूतोमें महान् है, आकाश ही परम-धाम है ।१।

('द्यु-लोक'तक दाल्भ्य पहुचा था । शिलक 'पृथिवी-लोक'तक पहुचा । इन दोनोंके बीचके 'आकाश-लोक'का जैवलिने उल्लेख किया ।)

यह आकाश ब्रह्मका प्रतीक है, यह दूसरोसे वरतम है, परोवरीयान् है, यही 'उद्गीथ' है जिसकी चर्चाके लिये तीनो बैठे है, यह अनन्त है। जो दूसरोसे वरतम उद्गीथके इस रूपको जानकर उसकी उपासना करता है उसका जीवन दूसरोसे श्रेष्ठ हो जाता है, और वह सर्वश्रेष्ठ लोकोको जीत लेता है ।२।

अतिधन्वा शौनकने उद्गीथके सबधमें उक्त चर्चाको अपने शिष्य उदरशाण्डिल्यको सुनाया और कहा कि जबतक तेरे वशमें उद्गीथका ज्ञान रहेगा तबतक इस लोकमें उनका सर्वश्रेष्ठ जीवन रहेगा ।३।

और उस लोकमें भी सम्मान होगा । इसप्रकार 'उद्गीथ'का ज्ञान प्राप्तकर जो उसकी उपासना करता है उसका इस लोकमें सर्वश्रेष्ठ जीवन होता है तथा उस लोकमें सम्मान होता है, लोकमें सम्मान होता है ।४।

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच ।
सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं
प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम् । १ ।
स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः परोवरीयो हास्य भवति परोवरी-
यसो ह लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान्परोवरीयाꣳसमुद्गीथमुपास्ते । २ ।
तꣳ हैतमतिधन्वा शौनक उदरशाण्डिल्यायोक्त्वोवाच । यावत्त एनं प्रजायामु-
द्गीथं वेदिष्यन्ते परोवरीयो हैभ्यस्तावदस्मिꣳल्लोके जीवनं भविष्यति । ३ ।
तथामुष्मिꣳल्लोके लोक इति । स य एतदेवं विद्वानुपास्ते परोवरीय एव
हास्यास्मिꣳल्लोके जीवनं भवति तथामुष्मिꣳल्लोके लोक इति लोके लोक इति ।४।

(८म तथा ९म खडमे 'साम'की गति क्या है—सामका उद्भव-स्थान क्या है—इसका वर्णन करतेहुए ऋषि सपूर्ण सृष्टिके उद्भव-स्थान उद्गीयतक पहुचे है, वही अनन्त है, वही परम-श्रेष्ठ है, वही उपासनीय है ।)

प्रथम प्रपाठक—[दसवा खड]

(उपस्ति चाक्रायणकी कथा, १०-११ खड)

एक समयका कथानक है कि कुरु-देशमें ओलोसे सब-कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो गया । उस समय हाथियोके ग्राममें उपस्ति चाक्रायण निर्धन ऋषि आटिकी नामक अपनी स्त्रीके साथ जा बसा ।१।

वह भूखका इतना सताया हुआ था कि गले-सडे उडद खाते हुए एक हाथीवान्से उसने भिक्षा मागी । वह बोला, मेरे पास जो ये उडद पडे हुए है इनसे अन्य मेरे पास नही है ।२।

ऋषिने कहा, इन्हीमेंसे दे दो । उसने दे दिये । हाथीवान्ने कहा, जल भी लो । उपस्तिने कहा, अगर मै यह पानी पीऊगा तब तो तेरा जूठा पानी पीऊगा ।३।

हाथीवान्ने कहा, तो क्या ये उडद जूठे नही है ? ऋषिने कहा, अगर मै इन्हें नही खाऊगा तब तो भूखके मारे मै जी ही नही सकूगा, परन्तु जल तो जहा चाहो मिल जाता है ।४।

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह
चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास । १ ।
स हेभ्यं कुल्माषान्खादन्तं बिभिक्षे । तं होवाच ।
नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्च ये म इम उपनिहिता इति । २ ।
एतेषां मे देहीति होवाच, तानस्मै प्रददौ,
हन्तानुपानमित्युच्छिष्टं वै मे पीतं स्यादिति होवाच । ३ ।
न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति, न वा अजीविष्यमि-
मानखादन्निति होवाच, कामो म उदपानमिति । ४ ।

ऋषि उन जूठे उडदोको खाकर बचेहुओको अपनी भार्याके लिये ले आया। वह पहले ही भिक्षा कर चुकी थी, उसने उन उडदोको रख लिया ।५।



उपस्ति चाक्रायण हाथीवानसे जूठे उडद ले रहे हैं

प्रातःकाल जागनेपर ऋषि बोला, यदि कुछ भी अन्न मिल जाय, तो शरीरमें शक्ति आनेपर कहींसे धन प्राप्त करूं जिससे जीवन-निर्वाह

स ह खादित्वातिशेषाञ्जायाया आजहार, साग्र एव सुभिक्षा बभूव, तान्प्रतिगृह्य निदधौ । ५ ।

हो। अमुक राजा यज्ञ करनेवाला है, मैं वहा पहुच जाऊ तो वह अपने सब ऋत्विजोमेंसे मुझे ही चुनेगा ।६।

उसे उसकी भार्याने कहा, पतिदेव ! ये ही उडद है। अस्तु, उन्हें खाकर ऋषि उस महान् यज्ञको गया ।७।

वहा स्तोत्र-पाठ करनेवाले उद्गाताओके आस्तावमें, अर्थात् यज्ञ-भूमिमें अन्योके निकट जाकर बैठ गया और प्रस्तोतासे कहने लगा ।८।

हे प्रस्तोत ! जो देवता प्रस्तावसे सबध रखता है अगर तुम उसे न जानतेहुए प्रस्तावका गान करोगे तो तुम्हारा सिर गिर जायगा, अर्थात् तुम्हें नीचा देखना पडेगा ।९।

फिर ऐसे ही उद्गाताको कहा, हे उद्गात ! जो देवता उद्गीथसे सबध रखता है अगर तुम उसे न जानते हुए उद्गीथ गाओगे तो तुम्हारा भी सिर गिर जायगा, अर्थात् तुम्हें भी नीचा देखना पडेगा ।१०।

इसी प्रकार फिर प्रतिहर्ताको सम्बोधन करके कहा, हे प्रति-हर्त. ! जो देवता प्रतिहारसे सम्बन्ध रखता है अगर तुम उसे न जानते हुए प्रतिहार गाओगे तो तुम्हारा भी सिर गिर जायगा, अर्थात् तुम्हें भी नीचा देखना पडेगा। यह सुनकर वे तीनो अपना-अपना काम छोडकर चुप होकर बैठ गये ।११।

स ह प्रातः संजिहान उवाच, यद्बतान्नस्य लभेमहि लभेमहि
धनमात्राम्, राजासौ यक्ष्यते, स मा सर्वैरार्त्विज्यैर्वृणीतेति । ६ ।
तं जायोवाच, हन्त पत इम एव कुल्माषा
इति, तान्खादित्वामुं यज्ञं विततमेयाय । ७ ।
तत्रोद्गातॄनास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेश, स ह प्रस्तोतारमुवाच । ८ ।
प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां
चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति । ९ ।
एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता
तां चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति । १० ।
एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच, प्रतिहर्तर्या देवता प्रति-
हारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते
विपतिष्यतीति, ते ह समारतास्तूष्णीमासांचक्रिरे । ११ ।

(इस खडमे प्रस्तोता, उद्गाता तथा प्रतिहर्तासे कहा गया है कि अपने कार्यको करतेहुए शब्दोके ही चक्करमे न रहे, उस कार्यके देवता, उस कार्यके मुख्य अगको समझते हुए प्रत्येक कार्य करे ।)

प्रथम प्रपाठक---[ग्यारहवा खड]

तव उसे यजमानने कहा, मै आपको जानना चाहता हू । ऋषिने उत्तर दिया, मै उषस्ति चाक्रायण हू ।१।

यजमान वोला, मैने इन सब ऋत्विजोसे आपको ढुढवाया, जब आपका कुछ पता न चला तो मैने अन्य ऋत्विजोका वरण कर लिया ।२।

सब ऋत्विजोके साथ आप ही मेरे मुख्य ऋत्विज् बनकर यज्ञ करायें । उषस्तिने कहा, वहुत अच्छा, परन्तु जिन ऋत्विजोका तुमने पहले वरण कर रखा है, वे ऋत्विक् ही प्रसन्नता-पूर्वक मेरी देख-रेखमें यज्ञ करायें और साथ ही जितना धन दक्षिणामें आप इन्हें दें उतना ही मुझे दें, अधिक नहीं । यजमानने कहा, तथास्तु ।३।

(अर्थात्, न तो मै इन्हे हटवाना ही चाहूगा, और न इनकी अपेक्षा अधिक दक्षिणा ही लूगा जिसमे ये अपनेको अपमानित न समझने लगे ।)

इसके अनन्तर 'प्रस्तोता'-नामक ऋत्विक् उषस्तिके निकट आकर विनय-भावसे वोला, भगवन् ! आपने मुझे कहा था कि जो देवता

अथ हैनं यजमान उवाच, भगवन्तं वा अहं विविदिषाणीत्युषस्तिरस्मि चाक्रायण इति होवाच । १ ।

स होवाच, भगवन्तं वा अहमेभिः सर्वैरार्त्विज्यैः पर्यैषिषं भगवतो वा अहमवित्त्याऽन्यानवृषि । २ ।

भगवाँस्त्वेव मे सर्वैरार्त्विज्यैरिति । तथेत्यथ तर्ह्येत एव समतिसृष्टाः स्तुवतां यावत्त्वेभ्यो धनं दद्यास्तावन्मम दद्या इति, तथेति ह यजमान उवाच । ३ ।

प्रस्तावसे सम्बन्ध रखता है उसे न जानते हुए प्रस्ताव करोगे तो तुम्हारा सिर गिर पडेगा। हे भगवन् ! वह देवता कौन-सा है ? ।४।

उषस्तिने उत्तर दिया, 'प्राण' ही वह देवता है। ये सब भूत, ये सब प्राणी उस महा-प्राण भगवान्में ही अन्तकालमें प्रवेश करते हैं, और उत्पत्ति-कालमें उसीसे उत्पन्न होते हैं। जब किसी शुभ-कर्मका प्रस्ताव हो, प्रारभ हो, तो इस प्राण-देवताको प्रस्तावमें अनुगत समझो। अगर तू यह न जानकर स्तुति करता, तो तेरा सिर गिर जाता—मेरे कथनका यही अभिप्राय था ।५।

अब 'उद्गाता'-नामक ऋत्विक्ने उषस्तिके निकट आकर विनय-भावसे पूछा, भगवन् ! आपने मुझे कहा था कि जो देवता उद्गीथ में सम्बद्ध है उसे न जानतेहुए गान करोगे तो तुम्हारा सिर गिर पडेगा। हे भगवन् ! वह देवता कौन-सा है ? ।६।

उषस्तिने उत्तर दिया, 'आदित्य' ही वह देवता है। ये सब भूत ऊपर चढतेहुए सूर्यकी महिमाका गान करते हैं। उद्गीथके साथ आदित्यका सम्बन्ध है क्योंकि जैसा पहले कह चुके हैं भौतिक-जगत्में आदित्य उद्गीथका प्रतीक है। अगर तू यह न जानकर स्तुति करता, तो तेरा सिर गिर जाता—मेरे कथनका यही अभिप्राय था ।७।

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद, प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वा-
न्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति, मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ।४।
प्राण इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभि-
संविशन्ति, प्राणमभ्युज्जिहते, सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता,
तां चेदविद्वान्प्रास्तोष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति । ५ ।
अथ हैनमुद्गातोपससादोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानु-
द्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति, मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति । ६ ।
आदित्य इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्या-
दित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति, सैषा देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां
चेदविद्वानुदगास्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति । ७ ।

('अध्यात्म', अर्थात् शरीर (पिंड)मे 'प्राण' तथा 'अधिदैवत', अर्थात् सृष्टि (ब्रह्माड)मे 'आदित्य'को उद्गीथका प्रतीक पहले भी कहा है। वही बात यहा कही गई है। पिंडमे प्राण तथा ब्रह्माडमे आदित्य दोनो उद्गीथके प्रतीक है।)

अब 'प्रतिहर्ता'-नामक ऋत्विक्ने उषस्तिके निकट आकर विनय-भावसे पूछा, भगवन्! आपने मुझे कहा था कि जो देवता प्रतिहार कर्मसे सम्बद्ध है उसे न जानते हुए अगर प्रतिहार-कर्म करोगे तो तुम्हारा सिर गिर पडेगा। हे भगवन्! वह देवता कौन-सा है? ।८।

उषस्तिने उत्तर दिया, 'अन्न' ही वह देवता है। सब भूत अन्नका प्रतिहरण—ग्रहण—करतेहुए ही जीवित है। प्रतिहारका अनुगत देवता अन्न ही है। उसे न जानतेहुए अगर तुम प्रतिहार-कर्म करते, तो तुम्हारा सिर गिर पड़ता—मेरे कथनका यही अभिप्राय था, मेरे कथनका यही अभिप्राय था ।९।

(यज्ञमे तीन ऋत्विक् होते है—प्रस्तोता, उद्गाता, प्रतिहर्ता। ये तीनो शब्द-जालमे ही न फसे, भावको मुख्य रखे, 'देवता'का ज्ञान रखतेहुए कार्य करें। देवता शरीर(पिंड)की दृष्टिसे 'प्राण' है, सृष्टि (ब्रह्माड)की दृष्टिसे 'आदित्य' है, परन्तु है ये दोनो 'उद्गीथ'के प्रतीक। अर्थात्, पिंडमे प्राण तथा ब्रह्माडमे आदित्यके सहारे उद्गीथकी उपासना करे। परन्तु इस उपासनामे शरीरको न भूले, इसलिये ऋषिने 'प्रस्तोता' तथा 'उद्गाता'को ओंकारोपासनाका प्रतिनिधि बताकर 'प्रतिहर्ता'को शरीरकी रक्षा करनेवाले अन्नका प्रतिनिधि बताया है। अन्नकी महिमा

अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद, प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता ता चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति, मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति । ८ ।

अन्नमिति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति, सैषा देवता प्रतिहारमन्वायत्ता ता चेदविद्वान्प्रत्यहरिष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति तथोक्तस्य मयेति । ९ ।

ऋषिने अपने जीवनसे भी प्रकट कर दी है—जब कुछ भी न मिला तब उच्छिष्ट भी आपद्धर्म समझकर शरीर-रक्षार्थ खा लिया। पानी क्योकि हरजगह मिल जाता है अत जूठे उडद लेकर भी जूठा पानी लेनेसे इनकार कर दिया। इसका यही अर्थ है कि अगर कही जल न मिलता और उसके कारण प्राण सकटमे होते, तो जूठा जल भी पी लेना उषस्ति चाक्रायणकी दृष्टिमे आपद्धर्म होता।)

प्रथम प्रपाठक--[बारहवा खड]

ऋषि-मुनि जिस प्रकार 'उद्गीथ'की उपासना करते हैं उसका वर्णन कर चुकनेपर छान्दोग्य-उपनिषद्के रचयिता कहते हैं कि मनुष्य क्या, पशु-जगत् भी उद्गीथकी उपासना कर रहा है। उदाहरणके तौरपर 'शौव-उद्गीथ'का वर्णन करते हैं—'श्वा', अर्थात् कुत्ता भी उद्गीथका ही मानो गान कर रहा है। आख्यायिकाके तौरपर कहते हैं कि एक बार वक दाल्भ्य या शायद मित्राका पुत्र ग्लाव इन दोनोमेंसे कोई एक स्वाध्यायके लिए एकान्त-स्थानमें गया।१।

वहा उसने क्या देखा कि एक सफेद कुत्ता उसके सामने आया। दूसरे कई कुत्ते उस सफेद कुत्तेके समीप आकर उसे कहने लगे, हे भगवन्! ऐसा गाना गाओ जिससे हमें अन्न-प्राप्ति हो, क्योकि हम भूखे हैं।२।

सफेद कुत्तेने उन्हें कहा, कल प्रात काल मेरे समीप आना। वक दाल्भ्य या शायद मित्राका पुत्र ग्लाव यह-सब देख रहा था। वह भी वहीं पर अगले दिनकी प्रतीक्षा करने लगा।३।

अथात शौव उद्गीथस्तद्ध वको दाल्भ्यो
ग्लावो वा मैत्रेय स्वाध्यायमुद्वव्राज । १ ।
तस्मै श्वा श्वेत प्रादुर्बभूव, तमन्ये श्वान उपसमेत्यो-
चुरन्न नो भगवानागायत्वशनायाम वा इति । २ ।
तान्होवाचेहैव मा प्रातरुपसमीयातेति, तद्ध वको
दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेय प्रतिपालयाचकार । ३ ।

उसने अगले दिन क्या देखा कि जैसे उद्गाता लोग बहिष्पवमान स्तोत्रसे प्रभुका स्तुति-गान करते हुए इकट्ठे चलते है, वैसे ही वे सब कुत्ते इकट्ठे आकर बैठकर 'हिंकार' करने लगे—मानो ओंकारोपासना कर रहे हो, उद्गीथ-गान कर रहे हो ।४।

कुत्तोसे एक ध्वनि निकल रही थी—'ओम्'की कृपासे हम खाते है, 'ओम्'की कृपासे हम पीते है, देव, वरुण, प्रजापति, सविता हमारे लिये अन्न यहा लाते है । अन्नके स्वामिन् 'ओम्' ! हमें अन्न दीजिये ।५।

प्रथम प्रपाठक—[तेरहवा खड]

साम-गानमें 'हाउ'—'हाइ'—'औ होहाई'—इत्यादि अक्षर मन्त्रपाठके भीतर गाये जाते है । कुत्तेके हिंकारमें भी इसी प्रकारकी ध्वनिया निकलती है । ऋषि-मुनियोकी तथा जीव-जन्तुओकी इन ध्वनियोको, उपासक, प्रभुके भिन्न-भिन्न रूपोके स्मरणके रूपमें अनुभव करता है । 'हाउ' मानो इस पृथिवी-लोककी महिमाका गान है, 'हाइ' मानो प्रभुकी देन वायुकी महिमाका गान है, 'अथ' चन्द्रमा का, 'इह' आत्माका, 'ई' अग्निका स्मरण है ।१।

'ऊ' आदित्यका, 'ए' आह्वानका, 'औहोइ' विश्वदेवका, 'हिं' प्रजापति का, 'स्वर' प्राणका, 'विराट्' अन्न एवं वाणीका मानो स्मरण है ।२।

ते ह यथैवेद वहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणा सꣳरब्धा
सर्पन्तीत्येवमाससृपुस्ते ह समुपविश्य हिंचक्रु । ४ ।
ओ३ मदा३ मो३ पिबा३ मो३ देवो वरुण प्रजापति
सविता३ऽन्नमिहा२ऽऽहरदन्नपते३ ऽन्नमिहा२ऽऽहरा२ऽऽहरो३मिति । ५ ।
अय वाव लोको हाउकारो, वायुर्हाइकारश्चन्द्रमा
अथकार आत्मेहकारोऽग्निरीकार । १ ।
आदित्य ऊकारो निहव एकारो विश्वेदेवा औहोइकार
प्रजापतिर्हिकार प्राण स्वरोऽन्न या वाग्विराट् । २ ।

उक्त बारह प्रकारके स्वरोका वर्णन करनेके अनन्तर तेरहवें स्वर 'हुकार'के विषयमें कहते है कि यह स्वर अनिर्वचनीय, सर्व-सचारी पर-ब्रह्मका स्मरण कराता है ।३।

वाणीके सारको जो समझ जाता है उसके लिये वाणी स्वय दूध झर देती है। न-समझनेवालेके लिये ऋषि-मुनियो तथा जीव-जन्तुओ के 'हिकार' आदि निरर्थक शब्द है, परन्तु समझनेवालेके लिये ये शब्द ही प्रभुकी महिमाका बखान कर रहे हैं। जो इसप्रकार साम-गानकी इस उपनिषद्को जानता है, हा उपनिषद्को जानता है, वह अन्नवान् हो जाता है, अन्नाद हो जाता है ।४।

द्वितीय प्रपाठक--[पहला खड]

(ससारमे मानो सर्वत्र पचविध या सप्तविधि साम-गान हो रहा है, १ से १० खड)

प्रथम प्रपाठकमें सामके मुख्य-विषय 'उद्गीथोपासना'का वर्णन किया, अब सम्पूर्ण 'साम'के विषयमें ऋषि अपने उद्गार प्रकट करते हैं। ऋषि कहते हैं--उद्गीथकी उपासना तो ठीक है ही, परन्तु समस्त सामकी उपासना भी साधु है। ससारमें जो 'साधु'—अच्छी—वस्तु होती है उसे 'साम' कहते है, जो 'असाधु' वस्तु होती है उसे 'असाम' कहते है ।१।

'सामसे ऋचाको इसने गाया'का अभिप्राय होता है, साधु प्रकारसे गाया, 'असामसे गाया'का अर्थ होता है, असाधु प्रकारसे गाया ।२।

अनिरुक्तस्त्रयोदश स्तोभ सचरो हुकार । ३ ।
दुग्धेऽस्मैवाग्दोह यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतामेव साम्नामुपनिषद वेदोपनिषद वेद इति । ४ ।
ॐ समस्तस्य खलु साम्न उपासन साधु । यत्खलु साधु तत्सामेत्याचक्षते यदसाधु तदसामेति । १ ।
तदुताप्याहु । साम्नैनमुपागादिति, साधुनैनमुपागादित्येव तदाहु, असाम्नैनमुपागादित्यसाधुनैनमुपागादित्येव तदाहु । २ ।

लोक-व्यवहारमें, जब कोई कार्य 'साधु' हुआ हो, तब कहते हैं कि यह 'साम' हुआ, जब कोई कार्य 'असाधु' हुआ हो, तब कहते हैं कि यह 'असाम' हुआ ।३।

जो साम-महिमाको जानता हुआ सामको 'साधु' समझकर उसकी उपासना करता है उसे शीघ्र ही संसारका साधु-भाव प्राप्त होता है, मानो ससार उसके सामने झुक जाता है ।४।

द्वितीय प्रपाठक—[दूसरा खड]

(यज्ञमे सामको ५ हिस्सोमे वाटा गया है—१ हिकार, २ प्रस्ताव, ३ उद्गीथ, ४ प्रतिहार तथा ५ निधन । किसी वस्तुके प्रारभका विचार 'हिंकारावस्था' है, उसका प्रारम्भ कर देना 'प्रस्तावावस्था' है, उसे प्रारभ करनेके वाद शिखरपर पहुच जाना 'उद्गीथावस्था' है, फिर नीचे उतरना 'प्रतिहारावस्था' है, उसका समाप्त हो जाना 'निधनावस्था' है । इस उपनिषद्मे क्योकि साम-गानको आधार बनाया गया है, अत गानके समय गलेको 'हिं'से जो साफ किया जाता है, वह 'हिंकार' है, गाना प्रारभ करना 'प्रस्ताव' है, गातेहुए उच्च-स्वरमे पहुच जाना 'उद्गीथ' है, फिर धीमे स्वरमे आजाना 'प्रतिहार' है, और गाना समाप्त हो जाना 'निधन' है । इसी रूपमे विश्वमे सब जगह सामकी सगीत-लहरीको थिरकता हुआ अनुभव करे । ऐसा देखे जैसे सब जगहसे साम-गानकी ध्वनि उठ रही है, और वह उक्त पाचो क्रमोमेसे गुजर रही है ।)

इन लोकोको देखे, तो पंच-विध सामकी उपासना करे, यह अनुभव करे मानो ये साम-मय होकर प्रभुकी उपासनामें लीन है । पृथिवी मानो साम-गानका 'हिंकार' है, अग्नि मानो 'प्रस्ताव' है, अन्तरिक्ष मानो

अथोताप्याहु । साम नो बतेति यत्साधु भवति साधु बतेत्येव तदाहुरसाम नो बतेति यदसाधु भवत्यसाधु बतेत्येव तदाहु । ३ ।

स य एतदेव विद्वान्साधु सामेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनं साधवो धर्मा आ च गच्छेयुरुप च नमेयु । ४ ।

'उद्गीथ' है, आदित्य मानो 'प्रतिहार' है, द्यौ मानो 'निधन' है। यह नीचेसे ऊपर चढतेहुए लोकोकी सामोपासना है ।१।

ऊपरसे नीचे उतरतेहुए लोकोकी सामोपासना इस प्रकार है—द्यौ मानो 'हिकार' है, आदित्य मानो 'प्रस्ताव' है, अन्तरिक्ष मानो 'उद्गीथ' है, अग्नि मानो 'प्रतिहार' है, पृथिवी मानो 'निधन' है ।२।

जो इस प्रकार सामोपासनाको जानताहुआ लोकोमें पच-विध सामकी उपासना करता है, उसे ऊर्ध्वमुखी तथा अधोमुखी लोक उपभोग-सामग्री देते है ।३।

द्वितीय प्रपाठक---[तीसरा खड]

वृष्टिको देखे, तो पच-विध सामकी उपासना करे, यही अनुभव करे मानो यह साम-मयी होकर प्रभुकी उपासनामें लीन है। वर्षासे पहले चलनेवाला शीतल पवन मानो साम-गानका 'हिकार' है, मेघका उत्पन्न हो जाना मानो 'प्रस्ताव' है, वर्षा पडना मानो 'उद्गीथ' है, चमकना और गरजना मानो 'प्रतिहार' है ।१।

पानी पडतेहुए बन्द होजाना मानो 'निधन' है। जो इस प्रकार जानताहुआ वृष्टिमें पच-विध सामकी उपासना करता है उसकेलिये चारोतरफ आनन्दकी वर्षा होती है, और वह दूसरोके लिये आनन्दकी वर्षा करता है ।२।

लोकेषु पञ्चविधꣳ सामोपासीत । पृथिवी हिंकारोऽग्नि
प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्य प्रतिहारो द्यौर्निधनमित्यूर्ध्वेषु । १ ।
अथावृत्तेषु । द्यौर्हिंकार आदित्य प्रस्तावोऽन्तरिक्ष-
मुद्गीथोऽग्नि प्रतिहार पृथिवी निधनम् । २ ।
कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च य
एतदेव विद्वाँल्लोकेषु पञ्चविधꣳ सामोपास्ते । ३ ।
वृष्टौ पञ्चविधꣳ सामोपासीत । पुरोवातो हिंकारो मेघो जायते
स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार । १ ।
उद्गृह्णाति तन्निधन वर्षति हास्मै वर्षयति ह
य एतदेव विद्वान्वृष्टौ पञ्चविधꣳ सामोपास्ते । २ ।

द्वितीय प्रपाठक—[चौथा खड]

जलोको देखे, तो पच-विध सामकी उपासना करे, यह अनुभव करे मानो वे साम-मय होकर प्रभुकी उपासनामें लीन है। मेघकी घटाका उठना मानो साम-गानका 'हिकार' है, बरसना मानो 'प्रस्ताव' है, जलोका पूर्व-दिशामें बहताहुआ प्रवाह मानो 'उद्गीथ' है, पश्चिम को बहनेवाले जल मानो 'प्रतिहार' है, समुद्र मानो 'निधन' है।१।

जो इसप्रकार जलोको प्रभुके गानमें लीन—मानो वे साम-गान कर रहे हो—ऐसा समझता है, और जलोमें पच-विध सामकी उपासना करता है, उसे जल कोई हानि नहीं पहुचाते, वह जलोपर विजय पा लेता है।२।

द्वितीय प्रपाठक—[पाचवा खड]

ऋतुओको देखे, तो पच-विध सामकी उपासना करे, यह अनुभव करे मानो वे साम-मय होकर प्रभुकी उपासनामें लीन है। वसंत मानो 'हिकार' है, ग्रीष्म मानो 'प्रस्ताव' है, वर्षा मानो 'उद्गीथ' है, शरत् मानो 'प्रतिहार' है, हेमन्त मानो 'निधन' है। यह समझे मानो ऋतुए हरि-कीर्तन कर रही है।१।

जो इसप्रकार पाचो ऋतुओको प्रभुकी उपासनामें लीन देखता है और ऋतुओमें पंच-विध सामकी उपासना करता है उसे ऋतुओके सब भोग प्राप्त होते है, वह ऋतुमान् हो जाता है।२।

सर्वास्वप्सु पञ्चविधꣳ सामोपासीत । मेघो यत्संप्लवते
स हिंकारो यद्वर्षति स प्रस्तावो याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स
उद्गीथो याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः समुद्रो निधनम् । १ ।
न हाप्सु प्रैत्यप्सुमान्भवति य एतदेवं
विद्वान्सर्वास्वप्सु पञ्चविधꣳ सामोपास्ते । २ ।
ऋतुषु पञ्चविधꣳ सामोपासीत । वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः
प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनम् । १ ।
कल्पन्ते हास्मा ऋतव ऋतुमान्भवति य
एतदेवं विद्वानृतुषु पञ्चविधꣳ सामोपास्ते । २ ।

द्वितीय प्रपाठक--[छठा खड]

पशुओमें पंच-विध सामकी उपासना करे, यह अनुभव करे कि मानो वे साम-मय होकर प्रभुकी उपासनामें लीन है। अजा मानो 'हिंकार' है, अवि मानो 'प्रस्ताव' है, गौए 'उद्गीथ' है, अश्व 'प्रतिहार' है, पुरुष 'निधन' है।१।

जो इसप्रकार पशुओको प्रभुकी उपासनामें लीन देखता है, और पशुओमें पच-विध सामकी उपासना करता है उसके लिये पशु सुख देनेवाले हो जाते है, वह पशुमान् हो जाता है।२।

द्वितीय प्रपाठक---[सातवा खड]

प्राणोमें पच-विध सामकी उपासना करे, यह अनुभव करे कि जैसे प्राग 'परोवरीय' है--एक-दूसरेकी अपेक्षा बडे है--फिर भी वे साम-मय होकर प्रभुकी उपासनामें लीन है, वैसे उपासकके प्राण साम-रूप होकर प्रभुकी भक्ति करें। प्राण मानो 'हिकार' है, वाक् मानो 'प्रस्ताव' है, चक्षु 'उद्गीथ' है, श्रोत्र 'प्रतिहार' है, मन 'निधन' है--ये सभी एक-दूसरेकी अपेक्षा बडे है।१।

जो इसप्रकार प्राण, वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मनको प्रभुकी उपासनामें लीन देखता है, और पशुओमें पच-विध सामकी उपासना करता है उसकेलिये ससारमें बडे-से-बडा भी उसका अपना हो जाता है, और वह बडे-से-बडे लोकोको जीत लेता है।२।

पशुषु पञ्चविधँ सामोपासीताजा हिकारोऽवय प्रस्तावो
गाव उद्गीथा ऽश्वा प्रतिहार पुरुषो निधनम्। १।
भवन्ति हास्य पशव पशुमान्भवति य एतदेव
विद्वान्पशुषु पञ्चविधँ सामोपास्ते। २।
प्राणेषु पञ्चविध परोवरीय सामोपासीत। प्राणो हिकारो वाक्प्रस्ताव-
श्चक्षुरुद्गीथ श्रोत्र प्रतिहारो मनो निधन परोवरीयाँसि वैतानि। १।
परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेव
विद्वान्प्राणेषु पञ्चविध परोवरीय सामोपास्त इति तु पञ्चविधस्य। २।

द्वितीय प्रपाठक—[आठवा खड]

पहले साम-गानको ५ भागोमें बाटा गया, इस खंडमें उसे ७ भागोमें बाट दिया गया है। पहले ५ भागोकेसाथ 'आदि' तथा 'उपद्रव' ये दो भाग और जोड़ दिये गये हैं। इस दृष्टिसे वाणीमें सप्त-विध सामकी उपासना करे, यह अनुभव करे कि वाणी मानो साम-मय होकर प्रभुकी उपासनामें लीन है। वाङमयमें जहा कही 'हु' आता है वह मानो साम-गानका 'हिंकार' है, जहा 'प्र' आता है वह मानो साम-गानका 'प्रस्ताव' है, जहा 'आ' आता है वह 'आदि' है।१।

जहा 'उत्' आता है, वह 'उद्गीथ' है, जहा 'प्रति' आता है, वह 'प्रतिहार' है, जहां 'उप' आता है, वह 'उपद्रव' है, जहा 'नि' आता है, वह 'निधन' है। इसप्रकार वाङमयमें आये हुए 'हु'–'प्र'–'आ'–'उत्'–'प्रति'–'उप'–'नि' इन सात अक्षरो को साम-गान अनुभव करे।२।

वाणीके सारको जो समझ जाता है उसके लिये वाणी स्वयं दूध झर देती है। जो इसप्रकार वाणीमें सप्त-विध सामकी उपासना करता है, यह अनुभव करता है कि वाणी द्वारा गाया गया प्रत्येक अक्षर प्रभुकी महिमामें गाया गया सुन्दर गान है, वह अन्नवान् हो जाता है, संसारमें भोग्य बननेके स्थानमें भोक्ता बनकर रहता है—'अन्नाद' होजाता है।३।

द्वितीय प्रपाठक—[नवा खड]

सूर्यकी सप्त-विध सामके रूपमें उपासना करे, यह अनुभव करे कि सूर्य मानो प्रभु की स्तुतिमें उठ रहा एक मूर्त-सगीत है। सूर्य सदा अपने

अथ सप्तविधस्य। वाचि सप्तविधꣳ सामोपासीत। यत्किंच वाचा हुमिति स हिंकारो यत्प्रेति स प्रस्तावो यदेति स आदि।१।

यदुदिति स उद्गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारो यदुपेति स उपद्रवो यन्नीति तन्निधनम्।२।

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति, य एतदेव विद्वान्वाचि सप्तविधꣳ सामोपास्ते।३।

समस्त रूपसे साम-मय है, सगीत-मय है । प्रत्येक पुरुष यह अनुभव करता है कि सूर्य मेरे लिये है, मेरे लिये है—अपने सब, समस्त-रूपसे सूर्य साम है, मानो एक मूर्त-सगीत है ।१।

ये सब भूत उसीपर निर्भर है—इसे खूब समझे । सूर्यके सगीत-मय रूपका उल्लेख करतेहुए ऋषि कहते है कि उसका उदयसे पहले जो रूप है, वह 'हिकार' है । इस रूपपर पशु निर्भर रहते है । इसलिये पशु सूर्योदयसे पूर्व 'हिकार' प्रारम्भ कर देते है क्योकि सूर्यके साम-गान में 'हिकार'-ध्वनिसे पशु प्रभुके गुण-गानमें सम्मिलित होते है ।२।

पहले-पहल उदय होते ही जो सूर्यका रूप है, वह 'प्रस्ताव' है । इस रूपपर मनुष्य निर्भर रहते है । सूर्योदय होते ही मनुष्यके हृदयमें प्रभुकी स्तुति तथा प्रशसा करनेकी कामना उत्पन्न होती है क्योकि सूर्य-के साम-गानमें मनुष्य भी प्रभु-भक्तिमें सम्मिलित होना चाहते है । ।३।

इसके बाद सूर्यकी सगव-वेला है, वह समय जब सूर्यसे रश्मियां फूटती नजर आती है । साम-गान की भाषामें यह 'आदि' कहलाता है । इस रूपपर पक्षी निर्भर रहते है । तभी तो पक्षी उडनेका आरभ सीखे बिना अपनेको लेकर आकाशमें उडते-फिरते है, मानो प्रभु-भक्ति करतेहुए साम-गानके आदि-स्वरमें भाग ले रहे हो ।४।

और, जो ठीक दोपहरके समय सूर्यका रूप है, वह साम-गानकी भाषामें 'उद्गीथ' है । इस रूपपर देवता निर्भर रहते है । इसीलिये प्रजापतिकी देव तथा असुर इन दोनो प्रकारकी सन्तानोमेंसे देव श्रेष्ट

अथ खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपासीत । सर्वदा समस्तेन साम मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम । १ ।

तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तानीति विद्यात्तस्य यत्पुरोदयात्स हिंकारस्तदस्य पशवोऽन्वायत्तास्तस्मात्ते हिं कुर्वन्ति हिंकारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ।२।

अथ यत्प्रथमोदिते स प्रस्तावस्तदस्य मनुष्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रस्तुतिकामाः प्रशंसाकामाः प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य साम्नः । ३ ।

अथ यत्संगववेलायां स आदिस्तदस्य वयांस्यन्वायत्तानि तस्मात्तान्यन्तरिक्षेऽनारम्बणान्यादायात्मानं परिपतन्त्यादिभाजीनि ह्येतस्य साम्नः । ४ ।

माने जाते है, क्योंकि जिसप्रकार दोपहरके समय देव-गण साम-गान करतेहुए उद्गीथका उच्च-घोष करते है, इसीप्रकार सूर्य प्रभुका गुण गान करताहुआ दोपहरके समय मानो अपने पूर्ण बलसे सामका उद्गीथ-गान करता है ।५।

दोपहरसे पीछे और अपराह्णसे पूर्व सूर्यका जो रूप है, वह साम-गानकी परिभाषा में मानो 'प्रतिहार' है । सूर्य अगर अपने समस्त रूप से सामका गान है, तो सूर्यकी यह वेला प्रतिहार-ध्वनि है । इस रूपपर गर्भ निर्भर रहते हैं । गर्भस्थ जीव इसीलिये मानो गिर नही पडते क्योंकि प्रभु-भक्तिमें सूर्यके प्रतिहार-गानके साथ-साथ वे भी मानो साम-गानमें भाग ले रहे होते हैं ।६।

अपराह्णसे पीछे और सूर्यास्तसे पूर्व सूर्यका जो रूप है, वह सामकी परिभाषामें मानो 'उपद्रव' है । इस रूपपर आरण्यक-पशु निर्भर रहते है, तभी तो किसी भी पुरुषको देखकर वे वन और बिलमें दौड जाते है । साम-गानका 'उपद्रव'-गीत, सूर्यका सूर्यास्तसे पहलेका रूप, और आरण्यक पशुओंका पुरुषको देखकर उपद्रवण—ये तीनो मानो प्रभुके सकीर्तनमें, उसके साम-गानमें भाग ले रहे हैं ।७।

अस्त होनेसे पहले-पहल सूर्यका जो रूप है, वह साम-गानकी परि-भाषामें 'निधन' है । इस रूपपर पितर निर्भर रहते हैं । प्रभुका कीर्तन करतेहुए जब साम-गानका निधन, उसकी समाप्ति होने लगती है, उसके साथ-साथ मानो अस्त होताहुआ सूर्य भी दिनभर प्रभुका गुण-गान करताहुआ अस्त होजाता है, पितर भी जीवनभर प्रभुकी

अथ यत्सम्प्रति मध्यन्दिने स उद्गीथस्तदस्य देवा अन्वायत्तास्तस्मात्ते सत्तमा प्राजापत्यानामुद्गीथभाजिनो ह्येतस्य साम्न । ५ ।
अथ यदूर्ध्वं मध्यदिनात्प्रागपराह्णात्स प्रतिहारस्तदस्य गर्भा अन्वायत्ता-स्तस्मात्ते प्रतिहृता नावपद्यन्ते प्रतिहारभाजिनो ह्येतस्य साम्न । ६ ।
अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्प्रागस्तमयात्स उपद्रवस्तदस्यारण्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते पुरुषं दृष्ट्वा कक्षँ स्वभ्रमित्युपद्रवन्त्युपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्न । ७ ।

स्तुतिमें जीवन बिताकर ससारसे विदा लेनेकी तय्यारी करते है—ये सब मानो साम-गानके 'निधन'में हिस्सा ले रहे होते है। इसप्रकार सूर्यको सम्मुख रखतेहुए सप्त-विध सामकी उपासना करे।८।

(सूर्यके उदय-अस्तमे, सामके प्रारभ-अवसानमे, मनुष्य-पशु-पक्षियोके जीवन-मरणमे—सर्वत्र प्रभुका सकीर्तन हो रहा है, इस भावनाको इस खडमे विशद किया गया है।)

द्वितीय प्रपाठक—[दसवा खड]

मृत्युसे पार लेजानेवाले, आत्माकेलिये अभीष्ट, सप्त-विध सामकी उपासना करे—सामके सातो अगोद्वारा प्रभुका सकीर्तन करे। सातो अगोमें कुल मिलाकर २१ अक्षर बनते है। 'हिं+का+र' में तीन अक्षर है, 'प्र+स्ता+व' में तीन अक्षर है—ये दोनो तीन-तीन अक्षरके होनेमे समान है।१।

'आ+दि' में दो अक्षर है, 'प्र+ति+हा+र' में चार अक्षर है। 'प्रतिहार'का एक अक्षर 'आदि'में मिला देनेसे दोनोमें तीन-तीन अक्षर हो जाते है—ये दोनो भी इस प्रकार तीन-तीन अक्षरोके होनेके कारण समान बन जाते है।२।

'उ+द्गी+थ' में तीन अक्षर है, 'उ+प+द्र+व' में चार अक्षर है। तीन-तीन तो बराबर ही है, एक अक्षर बच रहता है—इस प्रकार तीन-तीन अक्षरोकी इनमें भी समता है।३।

अथ यदस्तमिते तन्निधन तदस्य पितरोऽन्वायत्तास्तस्मात्तान्निदधति निधनभाजिनो ह्येतस्य साम्न एव खल्वमुमादित्य सप्तविध सामोपास्ते।८।

अथ खल्वात्मसमितमतिमृत्यु सप्तविध सामोपासीत।

हिकार इति त्र्यक्षर प्रस्ताव इति त्र्यक्षर तत्समम्।१।

आदिरिति द्व्यक्षर प्रतिहार इति चतुरक्षर तत इहैक तत्समम्।२।

उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षर त्रिभिस्त्रिभि सम भवत्यक्षरमतिशिष्यते त्र्यक्षर तत्समम्।३।

'नि+ध+न' में तीन अक्षर है—यह भी दूसरोंके समान हो गया। इसप्रकार ये सात शब्द सब मिलकर २१ और 'उ+प+द्र+व' का बचाहुआ १, अर्थात् २२ अक्षर हो गये।४।

साम-गानके २१ अक्षरोंद्वारा तो उपासक आदित्य-लोकको, तेजोमय-धामको प्राप्त करलेता है—हिंकार, प्रस्ताव आदि द्वारा प्रभु-कीर्तन करनेसे अखंड-ज्योतिको पा लेता है। आदित्य यहांसे इक्कीसवां लोक है। साम-गानके बाईसवें अक्षरसे आदित्यसे भी परे रहनेवाली परम-ज्योतिको जीत लेता है। वही लोक दुःख-रहित और शोक-रहित है—सप्त-विध साम-गानद्वारा प्रभु-गुण-गान करनेसे उपासक प्रकाश-ही-प्रकाशमें विचरने लगता है।५।

जो साम-गीतके इस उपासना-क्रमको जानता हुआ आत्माकेलिये हितकर, मृत्युके पार लेजानेवाले सप्त-विध सामकी उपासना करता है, सप्त-विध सामकी उपासना करता है, वह इसी लोकमें रहता हुआ मानो सूर्य-लोकके विजयको प्राप्त कर लेता है—उसका विजय सूर्य-लोकके विजयसे भी ऊंचा, महान् विजय होता है।६।

द्वितीय प्रपाठक—[ग्यारहवां खंड]

(यज्ञमें प्रयुक्त होनेवाले भिन्न-भिन्न साम-गान, ११ से २० खंड)

प्रथम-प्रपाठकमें उद्गीथका वर्णन हुआ—यह 'साम-गान'का ही अंग है। द्वितीयमें संपूर्ण सामका वर्णन प्रारम्भ हुआ, सामके वर्णनमें पंच-विध सामका वर्णन हुआ, फिर सप्त-विध सामका वर्णन हुआ। ऋषिने कहा कि सम्पूर्ण-सृष्टि मानो उद्गीथ-गानमें, पंच-विध वा सप्त-

निधनमिति त्र्यक्षरं तत्सममेव भवति तानि
ह वा एतानि द्वाविꣳशतिरक्षराणि । ४ ।
एकविꣳशत्यादित्यमाप्नोत्येकविꣳशो वा इतोऽसावादित्यो
द्वाविꣳशेन परमादित्याज्जयति तन्नाकं तद्विशोकम् । ५ ।
आप्नोतीहादित्यस्य जयं परो हास्यादित्यजयाज्जयो भवति य एतदेवं
विद्वानात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधꣳ सामोपास्ते सामोपास्ते । ६ ।

विध साम-गानमें लीन हैं। अब यज्ञमें प्रयुक्त होनेवाले भिन्न-भिन्न साम-गानोका ११ से २० खडतक ऋषि उल्लेख करते हैं। इन साम-गानोंके नाम हैं—गायत्र-साम, रथन्तर-साम, वामदेव्य-साम, बृहत्-साम, वैरूप-साम, वैराज-साम, शक्वरी-साम, रेवती-साम, यज्ञा-यज्ञिय-साम, राजन-साम। इन सब साम-गानोमें हिकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार तथा निधनका क्रम आता है, ये पाचो सगीतकी अवस्थाए (Stages) हैं। गायत्र-साम, रथन्तर-साम आदि जिन साम-गानोका अभी वर्णन किया उनमेंसे क्रमश एक-एकको लेकर उप-निषत्कार उनमें हिकार, प्रस्ताव आदि पाचोको घटाते हैं—

पहले गायत्र-सामको लेते हैं। 'मन' हिकार है, 'वाक्' प्रस्ताव है, 'चक्षु' उद्गीथ है, 'श्रोत्र' प्रतिहार है, 'प्राण' निधन है—इसप्रकार मानो गायत्र-साम मन-वाक्-चक्षु-श्रोत्र तथा प्राणमें ओत-प्रोत है। शरीरका यह पच-विध रूप मानो पच-विध 'गायत्र-साम' है।१।

जो गायत्र-सामको प्राणोमें पिरोयाहुआ अनुभव करता है वह सबल-प्राण हो जाता है, पूर्ण आयुको पाता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा तथा पशुओ और कीर्तिसे महान् होता है, महामना हो जाता है—यह व्रत है, निश्चित है।२।

द्वितीय प्रपाठक—[बारहवा खड]

अब रथन्तर-सामको लेते हैं। अरणियोका 'मन्थन' हिकार है, 'धूम्र' उत्पन्न होना प्रस्ताव है, 'अग्नि'का प्रज्वलित होना उद्गीथ है, 'अङ्गार' उत्पन्न होना प्रतिहार है, अग्निका 'उपशम' होना निधन है—

मनो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथ श्रोत्र प्रतिहार प्राणो निधनमेतद् गायत्र प्राणेषु प्रोतम्। १।

स य एवमेतद्गायत्र प्राणेषु प्रोत वेद प्राणी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या महामना स्यात्तद्व्रतम्। २।

इसप्रकार रथन्तर-साम मानो अग्निमें ओत-प्रोत है। अग्निका यह पञ्च-विध रूप मानो पञ्च-विध 'रथन्तर-साम' है।१।

जो रथन्तर-सामको अग्निमें पिरोयाहुआ अनुभव करता है, वह ब्रह्म-वर्चस्वी हो जाता है, अन्नका भोक्ता हो जाता है, अन्नका भोग्य नहीं रहता, पूर्ण आयुको पाता है, उज्ज्वल-जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु तथा कीर्तिसे महान् होता है। अग्निके सम्मुख न आचमन करे, न थूके—यह व्रत है।२।

द्वितीय प्रपाठक—[तेरहवा खंड]

'निमन्त्रण' देना मानो हिंकार है, विवाह-सम्बन्धी प्रतिज्ञाओंकी सबके सम्मुख 'घोषणा' करना मानो प्रस्ताव है, स्त्री-पुरुषका 'विवाह-धर्म' पालन करना मानो उद्गीथ है, स्त्रीके प्रति 'प्रेम-व्यवहार' करना मानो प्रतिहार है, इसप्रकार प्रीति-पूर्वक 'समयका व्यतीत होना' या जीवनको पार कर जाना मानो निधन है—इसप्रकार वामदेव्य-साम मानो स्त्री-पुरुषके जीवनमें ओत-प्रोत है। स्त्री-पुरुषका यह पञ्च-विध रूप मानो पञ्च-विध 'वामदेव्य-साम' है।१।

जो वामदेव्य-सामको मिथुनमें—संसारके प्रत्येक जोड़ेमें—पिरोयाहुआ अनुभव करता है, वह कभी अपनेको इकला अनुभव नहीं करता, उसके एक-एक संगी-साथीसे नये-नये संगी-साथी पैदा हो जाते

अभिमन्थति स हिंकारो धूमो जायते स प्रस्तावो ज्वलति स उद्गीथोऽङ्गारा भवन्ति स प्रतिहार उपशाम्यति तन्निधनꣳ सꣳशाम्यति तन्निधनमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम्। १।

स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतं वेद ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न प्रत्यङ्ङग्निमाचामेन्न निष्ठीवेत्तद्व्रतम्। २।

उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः प्रति स्त्रीं सह शेते स प्रतिहारः कालं गच्छति तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम्। १।

है। वह पूर्ण आयुको पाता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु और कीर्तिसे महान् होता है। स्त्री-पुरुषके विवाह-धर्मको ध्यानमें रखताहुआ किसी दूसरी स्त्रीका परिहार न करे, व्यभिचार न करे-- यह व्रत कर ले, निश्चय कर ले।२।

द्वितीय प्रपाठक--[चौदहवा खड]

'उदीयमान-सूर्य' हिंकार है, 'उदय हुआ-हुआ' प्रस्ताव है, 'मध्याह्न समयका सूर्य' प्रस्ताव है, 'अपराह्न'का प्रतिहार है, 'अस्तहुआ' निधन है—इसप्रकार वृहत्-साम मानो आदित्यमें ओत-प्रोत है। आदित्यका यह पच-विध रूप मानो पंच-विध 'वृहत्-साम' है।१।

जो वृहत्-सामको आदित्यमें पिरोयाहुआ अनुभव करता है, वह तेजस्वी, अन्नाद हो जाता है, पूर्ण आयुको पाता है, उज्ज्वल-जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु और कीर्तिसे महान् होता है। सूर्यका काम तपना है, इसलिये किसी तप करतेहुएको निन्दा न करे, यह व्रत कर ले, निश्चय कर ले।२।

द्वितीय प्रपाठक--[पन्द्रहवा खड]

अभ्र, अर्थात् 'धुध' हिंकार है, 'मेघ' प्रस्ताव है, 'बरसना' उद्गीथ है, 'विद्युत्' का चमकना-गरजना प्रतिहार है, 'बरसना बन्द हो जाना' निधन है—इसप्रकार वैरूप-साम मानो मेघमें ओत-प्रोत है। मेघका यह पच-विध रूप मानो पच-विध 'वैरूप-साम' है।१।

स य एवमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद मिथुनीभवति मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न काचन परिहरेत्तद्व्रतम् । २ ।

उद्यन्हिंकार उदित प्रस्तावो मध्यन्दिन उद्गीथोऽपराह्णः प्रतिहारोऽस्तं यन्निधनमेतद्बृहदादित्ये प्रोतम् । १ ।

स य एवमेतद्बृहदादित्ये प्रोतं वेद, तेजस्व्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या तपन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् । २ ।

अभ्राणि संप्लवन्ते स हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार उद्गृह्णाति तन्निधनमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतम् । १ ।

जो वैरूप-सामको मेघमें पिरोयाहुआ अनुभव करता है, वह कुरूप-सुरूप सभी प्रकारके पशुओंको पा लेता है, पूर्ण आयुको भोगता है, उज्ज्वल-जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु और कीर्तिसे महान् होता है। मेघका काम बरसना है—बरसतेकी निन्दा न करे, यह व्रत कर ले, प्रण कर ले।२।

द्वितीय प्रपाठक—[सोलहवा खड]

'वसन्त' हिंकार है, 'ग्रीष्म' प्रस्ताव है, 'वर्षा' उद्गीथ है, 'शरत्' प्रतिहार है, 'हेमन्त' निधन है—इसप्रकार वैराज-साम मानो ऋतुओंमें ओत-प्रोत है। ऋतुओंका यह पंच-विध रूप मानो पंच-विध 'वैराज-साम' है।१।

जो वैराज-सामको ऋतुओंमें पिरोयाहुआ अनुभव करता है, वह प्रजा, पशु तथा ब्रह्म-तेजसे शोभायमान हो जाता है, पूर्ण आयुको भोगता है, उज्ज्वल-जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु और कीर्तिसे महान् होता है। ऋतुओंकी निन्दा न करे, यह व्रत कर ले, निश्चय कर ले।२।

द्वितीय प्रपाठक—[सत्रहवा खड]

'पृथिवी' हिंकार है, 'अन्तरिक्ष' प्रस्ताव है, 'द्यौ' उद्गीथ है, 'दिशाएं' प्रतिहार है, 'समुद्र' निधन है—इसप्रकार शक्वरी-साम

स य एवमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद विरूपाँश्च सुरूपाँश्च पशूनवरुन्धे सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या वर्षन्तं नो निन्देत्तद्व्रतम् । २ ।

वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतम् । १ ।

स य एवमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतं वेद विराजति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्यर्तून्न निन्देत्तद्व्रतम् । २ ।

लोकोमें ओत-प्रोत है। लोकोका यह पच-विध रूप मानो पंच-विध 'शक्वरी-साम' है ।१।

जो शक्वरी-सामको लोकोमें पिरोयाहुआ अनुभव करता है, वह सब लोकोका स्वामी बन जाता है, पूर्ण आयुको भोगता है, उज्ज्वल-जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु और कीर्तिसे महान् होता है। लोकोकी निन्दा न करे, यह व्रत कर ले, निश्चय कर ले ।२।

द्वितीय प्रपाठक—[अठारहवा खड]

'बकरियें' हिंकार है, 'भेडें' प्रस्ताव है, 'गौए' उद्गीथ है, 'घोडे' प्रतिहार है, 'पुरुष' निधन है—इसप्रकार रेवती-साम जीव-धारियोमें ओत-प्रोत है। जीव-धारियोका यह पंच-विध रूप मानो पच-विध 'रेवती-साम' है ।१।

जो रेवती-सामको प्राणियोमें पिरोयाहुआ अनुभव करता है, वह प्राण-धारियोका स्वामी हो जाता है, पूर्ण आयुको भोगता है, उज्ज्वल-जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु और कीर्तिसे महान् होता है। पशुओकी निन्दा न करे, यह व्रत कर ले, निश्चय कर ले ।२।

द्वितीय प्रपाठक—[उन्नीसवा खड]

'लोम' हिंकार है, 'त्वचा' प्रस्ताव है, 'मास' उद्गीथ है, 'अस्थि' प्रतिहार है, 'मज्जा' निधन है—इसप्रकार यज्ञायज्ञिय-साम अगोमें

पृथिवी हिंकारोऽन्तरिक्ष प्रस्तावो द्यौरुद्गीथो दिश
प्रतिहार समुद्रो निधनमेता शक्वर्यो लोकेषु प्रोता । १ ।
स य एवमेता शक्वर्यो लोकेषु प्रोता वेद लोकीभवति सर्वमायुरेति ज्योग्-
जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या लोकान्न निन्देत्तद्व्रतम् । २ ।
अजा हिंकारोऽवय प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वा
प्रतिहार पुरुषो निधनमेता रेवत्य पशुषु प्रोता । १ ।
स य एवमेता रेवत्य पशुषु प्रोता वेद पशुमान्भवति सर्वमायुरेति ज्योग्-
जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या पशून्न निन्देत्तद्व्रतम् । २ ।

ओत-प्रोत है। अगोका यह पच-विध रूप मानो पच-विध 'यज्ञायज्ञिय-साम' है ।१।

जो यज्ञायज्ञिय-सामको अगोमें पिरोयाहुआ अनुभव करता है, वह दृढाग हो जाता है, किसी अगसे हीन नही होता, पूर्ण आयुको भोगता है, उज्ज्वल-जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु और कीर्तिसे महान् होता है। अगर वह मास खाता हो, तो वर्षभर मास न खाये, और जब इस व्रतमे दृढता आ जाय, तो कभी मास न खाये, यही व्रत है, निश्चय है ।२।

द्वितीय प्रपाठक––[वीसवा खड]

'अग्नि' हिंकार है, 'वायु' प्रस्ताव है, 'आदित्य' उद्गीथ है, 'नक्षत्र' प्रतिहार है, 'चन्द्रमा' निधन है––इसप्रकार राजन-साम अग्नि आदि देवताओमें ओत-प्रोत है। देवताओका यह पच-विध रूप मानो पच-विध 'राजन-साम' है ।१।

जो राजन-सामको देवताओमें पिरोयाहुआ अनुभव करता है, वह अग्नि आदिकी 'सलोकता', अर्थात् समीपताको प्राप्त कर लेता है, 'सार्ष्टिता', अर्थात् समानताको प्राप्त कर लेता है, और 'सायुज्यता', अर्थात् उनके प्रयोगको जान जाता है, वह पूर्ण आयुको भोगता है, उज्ज्वल-जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु और कीर्तिसे महान् होता है। ब्राह्मणोकी निन्दा न करे, यह व्रत कर ले, निश्चय कर ले ।२।

लोम हिंकारस्त्वक्प्रस्तावो मा ँ समुद्गीथोऽस्थि प्रति-
हारो मज्जा निधनमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतम् । १ ।
स य एवमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतं वेदाऽङ्गीभवति नाङ्गेन विहूर्च्छति
सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या
संवत्सरं मज्ज्ञो नाश्नीयात्तद्व्रतं मज्ज्ञो नाश्नीयादिति वा । २ ।
अग्निर्हिंकारो वायुः प्रस्ताव आदित्य उद्गीथो नक्षत्राणि
प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनमेतद्राजनं देवतासु प्रोतम् । १ ।
स य एवमेतद्राजनं देवतासु प्रोतं वेदैतासामेव देवतानाँ सलो-
कताँ सार्ष्टिताँ सायुज्यं गच्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति
महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतम् । २ ।

(११ से २० खडतक विश्वमे हो रहे एक अखड सगीतका निर्देश किया गया है। प्रत्येक वस्तुको सगीतका रूप दिया गया है—यही नही कि प्रत्येक वस्तु प्रभुका सकीर्तन कर रही है, परन्तु प्रत्येक वस्तु स्वय सगीत-मय है।)

द्वितीय प्रपाठक—[इक्कीसवा खड]

ऋक्-यजु-साम—ये तीनो (यह त्रिक) हिंकार है, पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यु लोक—ये तीनो (यह त्रिक) प्रस्ताव है, इन लोकोके अग्नि-वायु-आदित्य—ये तीनो (यह त्रिक) उद्गीथ है, नक्षत्र-पक्षी-किरणें—ये तीनो (यह त्रिक) प्रतिहार है, सर्प-गन्धर्व-पितर—ये तीनो (यह त्रिक) निधन है—इसप्रकार विश्वके अंग-अगमें साम ओत-प्रोत है, सम्पूर्ण विश्व मानो एक साम-गान है।१।

जो सामको, सगीतको प्रत्येक वस्तुमें इसप्रकार पिरोयाहुआ अनुभव करता है, वह सब-कुछ हो जाता है।२।

किसीने कहा भी है यह जो पाच प्रकारका त्रिक है, इससे बढकर और कुछ नहीं है।३।

जो यह जानता है, वह सब-कुछ जानता है, चारो दिशाओसे लोग इसकेलिये उपहार लाते है। ध्यानमें बैठकर यह अनुभव करे कि मै सब-कुछ हू—ससार सगीत है, मै भी सगीत ही हू—यही उसका व्रत है, यही व्रत है।४।

त्रयी विद्या हिंकारस्त्रय इमे लोका स प्रस्तावोऽग्निर्वायुरा-
दित्य स उद्गीथो नक्षत्राणि वयाँसि मरीचय स प्रतिहार
सर्पा गन्धर्वा पितरस्तन्निधनमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतम्।१।
स य एवमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोत वेद सर्वँ ह भवति।२।
तदेष श्लोक। यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्याय परमन्यदस्ति।३।
यस्तद्वेद स वेद सर्वँ सर्वा दिशो बलिमस्मै
हरन्ति सर्वमस्मीत्युपासीत तद्व्रत तद्व्रतम्।४।

द्वितीय प्रपाठक--[बाईसवा खड]

(साम-गानमे उच्चारणका विश्लेषण)

भिन्न-भिन्न ऋषियोने भिन्न-भिन्न स्वरोमें साम-गान किया है। अग्नि-ऋषिका साम-गान 'उद्गीथ' कहाता है क्योकि वह उच्च-स्वर से गाया जाता है, प्रजापतिका, 'अनिरुक्त' क्योकि वह उपमा-रहित है, सोम-ऋषिका 'निरुक्त' क्योकि वह साफ-साफ सुनाई देता है, वायु-ऋषिका 'मृदु' और 'श्लक्ष्ण', अर्थात् कोमल, इन्द्रका 'बलवान्' और 'श्लक्ष्ण', बृहस्पतिका साम-गान 'क्रौंच पक्षीके नादके समान' तथा वरुणका 'अपध्वान्त', अर्थात् फूटेहुए कासेके वर्तनके समान। इन सबमें नाद-युक्त साम-गान, जो पशुओकी उच्च-ध्वनिके समान है, वह ठीक है, एक वरुणका 'अपध्वान्त'-स्वर ठीक नहीं, उसे छोड दे।१।

सामका उद्गाता अपने गायनद्वारा दिव्य-गुण-युक्त पुरुषो (ब्राह्मणो) केलिये 'अमरता'की कामना करे, वे दीर्घ-जीवी होकर ससारका भला करे, ससारका रक्षण करनेवाले पितरो (क्षत्रियो) केलिये 'स्वधा'की कामना करे, वे अपने व्रतमें दृढ रहें, देश-रक्षाके कार्यसे कभी न डिगें, साधारण-मनुष्यो (वैश्यो) केलिये 'आशा' की कामना करे, उनका आशापर ही जीवन निर्भर रहता है, उनकी आशाए पूर्ण हो, पशुओके लिये 'तृण और जल'की कामना करे, यजमानकेलिये 'स्वर्ग-लोक'की कामना करे, अपनेलिये किसीप्रकार की कामना न करे, जितनेसे उसका शरीर-मात्र बना रहे, उतने-मात्र 'अन्न'की ही कामना करे। ससारभरकेलिये इसप्रकार मनद्वारा शुभ-सकल्प करताहुआ अप्रमत्त होकर भगवानकी स्तुतिमें लीन हो जाय।२।

विनर्दि साम्नो वृणे, पशव्यमित्यग्नेरुद्गीथोऽनिरुक्त, प्रजापतेर्निरुक्त, सोमस्य मृदु श्लक्ष्ण, वायो श्लक्ष्ण, बलवदिन्द्रस्य, क्रौञ्च बृहस्पते-रपध्वान्त वरुणस्य तान्सर्वानेवोपसेवेत वारुण त्वेव वर्जयेत्। १।
अमृतत्व देवेभ्य आगायानीत्यागायेत्स्वधा पितृभ्य आशा मनुष्येभ्यस्तृणोदक पशुभ्य स्वर्ग लोक यजमानायान्नमात्मान आगायानीति। एतानि मनसा ध्यायन्नप्रमत्त स्तुवीत। २।

'अ' से 'औ' तकके अक्षर 'स्वर' है, 'क' से 'म' तकके अक्षर 'स्पर्श' है, 'श-ष-स-ह' 'ऊष्म' है। स्वरोका आविष्कार महर्षि इन्द्रने किया, इसलिये स्वर मानो इन्द्रके आत्मा है, स्पर्शोका आविष्कार महर्षि प्रजापति ने किया, इसलिये स्पर्श मानो प्रजापतिके आत्मा है, ऊष्मका आविष्कार महर्षि मृत्युने किया, इसलिये ऊष्म मानो मृत्युके आत्मा है। साम-गान करताहुआ इन्हीमेंसे किसी अक्षरका उद्‌गाता प्रयोग करता है। साम-गान करतेहुए उपासककी अगर कोई स्वरोमें अशुद्धि निकाले और कहे कि तुमने अमुक स्वरका ठीक उच्चारण नही किया, तो उसे कह दे कि मै तो स्वरोके अधिष्ठाता इन्द्रकी शरणमें गयाहुआ था, उसकी उपासनामें लीन था, शब्दकी उलझनमें न फसकर भावमे मग्न था। आपके प्रश्नका उत्तर मै क्या, महर्षि इन्द्र ही देंगे।३।

साम-गान करतेहुए उपासककी अगर कोई ऊष्माओमें अशुद्धि निकाले और कहे कि तुमने अमुक ऊष्माका ठीक उच्चारण नही किया, तो उसे कह दे कि मै तो ऊष्माओके अधिष्ठाता प्रजापतिकी शरणमें गयाहुआ था, उसकी उपासनामें लीन था, शब्दकी उलझनमें न फसकर भावमें लीन था। आपके प्रश्नका उत्तर मै क्या, महर्षि प्रजापति देंगे। अगर कोई स्पर्शोमें अशुद्धि निकाले तो उसे कह दे कि मै स्पर्शोके अधिष्ठाता महर्षि मृत्युकी शरणमें गया हुआ था। आपके प्रश्नका उत्तर मै क्या, वे ही देकर तुम्हारे घमडको भस्म करेंगे।४।

साम-गान करतेहुए 'स्वरो'का उच्चारण ऊचे घोषसे और बलसे करना चाहिये। इसप्रकार स्वरोके आविष्कारक महर्षि इन्द्रको बल मिलता है। सारे 'ऊष्म' ऐसे बोलने चाहियें, जैसे एक-दूसरे वर्णसे

सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मान, सर्वं ऊष्माण प्रजापतेरात्मान, सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मान। त यदि स्वरेषूपालभेतेन्द्रं शरण प्रपन्नोऽभूव स त्वा प्रति वक्ष्यतीत्येन ब्रूयात्। ३।
अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत प्रजापतिं शरण प्रपन्नोऽभूव स त्वा प्रति पेक्ष्यतीत्येन ब्रूयादथ यद्येनं स्पर्शेषूपालभेत मृत्युं शरण प्रपन्नोऽभूव स त्वा प्रति धक्ष्यतीत्येन ब्रूयात्। ४।

ग्रस्त न हो, स्पष्ट हो, खुले हो। इसप्रकार ऊष्माओके आविष्कारक प्रजापतिको उद्गाता आत्म-समर्पण कर देता है। सब 'स्पर्श' लेश-मात्र भी एक-दूसरेमें मिले-जुले न हो—इसप्रकार बोलने चाहियें। इसप्रकार महर्षि मृत्युके क्रोधसे उपासक अपनेको बचा लेता है।५।

द्वितीय प्रपाठक—[तेईसवा खड]

(ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ—'भू, भुव, स्व' की व्याख्या)

धर्म-रूपी वृक्षके तीन बड़े-बडे डाल है। 'यज्ञ-अध्ययन-दान'—यह गृहस्थ-रूप एक डाल है। 'तप'—यह वानप्रस्थ-रूप दूसरी डाल है। 'ब्रह्मचारी' बनकर अपनेको तपस्यासे क्षीण करतेहुए आचार्य-कुलमें रहना—यह ब्रह्मचर्य-रूप तीसरी डाल है। ये सब पुण्यको कमानेवाले लोक है, परन्तु एक लोक वह है जिसमें दान, तप आदि कोई कर्म नहीं किया जाता, ब्रह्ममें ही स्थिति रहती है—यह 'ब्रह्म-सस्थ' सन्यासी-का लोक है। उसे अमृतत्व प्राप्त होता है।१।

कर्म-काड तथा ज्ञान-काडके इन लोकोको प्रजापतिने तपाया। किसी वस्तुको तपानेसे जैसे उसका सार चू पडता है, वैसे इन लोकोको तपानेसे सार-भूत त्रयी-विद्या चू पडी। त्रयी-विद्याको तपाया तो उसका सार 'भू-भुव-स्व' ये तीनो व्याहृतिया चू पडीं।२।

('भू'-'भुव'-'स्व'—इन तीन व्याहृतियोका क्या अर्थ है ? ससारमे सद्वस्तुके तीन रूप है—'अस्ति'-'भाति'-'प्रीति'—अर्थात्

सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रे बल ददानीति। सर्व ऊष्माणोऽग्रस्ता अनिरस्ता विवृता वक्तव्या प्रजापतेरात्मान परिददानीति। सर्वे स्पर्शा लेशेनानभिनिहिता वक्तव्या मृत्योरात्मान परिहराणीति।५।

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययन दानमिति। प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्। सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मस स्थोऽमृतत्वमेति।१।

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या सम्प्रास्रवत्। तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि सम्प्रास्रवन्त भू र्भुव स्वरिति।२।

कोई वस्तु 'है', यह उसका पहला रूप है, परन्तु 'है'-से ही काम नही चलता, अगर उसे 'है'-की हालतमे बने रहना है, तो उसे 'होते रहना' होगा, नही तो वह नष्ट हो जायगी। 'है'-की पहली हालतको 'अस्ति' कहा जाता है, अग्रेजीमे इसे 'Being' कहते है। 'होते-रहना' या 'बने रहना'—इस दूसरी अवस्थाको 'भाति' कहा जाता है, अग्रेजी म इसे 'Becoming' कहते है। ससारका सारा विकास 'अस्ति' से 'भाति'की तरफ, 'है' से 'होने'की तरफ 'Being' मे 'Becoming' की तरफ है—जहा यह विकासकी दिशा रुकी, वही मृत्यु है। बीज पौधा बन रहा है, पौधा पेड बन रहा है, बच्चा बालक बन रहा है, बालक मनुष्य बन रहा है—बननेकी यह अविरल-प्रक्रिया लगातार जारी रहती है। परन्तु यह 'बनना'—यह 'भाति'—यह 'Becoming'—इसके विकासकी दिशा क्या है? भारतीय-विचारकोका कहना था कि 'बनने'की—सृष्टिके विकासकी—दिशा 'सुख' है। हर गति, हर प्रक्रिया सुखको ढूढ रही है—इसी उद्देश्यको पानेमे हर-वस्तु की सार्थकता है। कोई दुःखको नही ढूढ रहा। प्रत्येक सत्ता, होनेके लिये है, प्रत्येक होना, सुखकेलिये है—यह ससारमे हो रहे विकासकी तीसरी अवस्था है। इसी भावको यू कहा है कि प्रत्येक 'अस्ति'का लक्ष्य 'भाति' है, प्रत्येक भाति लक्ष्य 'प्रीति' है। अग्रेजीके शब्दोमे इसी बातको य कहेगे कि प्रत्येक 'Being'का लक्ष्य 'Becoming' है, और प्रत्येक 'Becoming'का लक्ष्य 'Bliss' है। 'अस्ति'—'होना'—'Being'—को 'भः' कहते है, 'भाति'—'होते रहना'—'बनते रहना'—'Becoming'—को 'भुवः' कहते है, 'प्रीति'—'सुख'—'Bliss'—को 'स्वः' कहते है। अस्ति-भाति-प्रीति—Being, Becoming, Bliss—भूः-भुवः-स्वः—इन तीनोका क्रमश एक ही अर्थ है, और ये तीनो 'ओ'मे समा जाते है। ससारका विकास इसी प्रक्रियामे हो रहा है, भूःका लक्ष्य भुवः तथा भुवःका लक्ष्य स्वः है, इसलिये 'भूः'-'भुवः'-'स्वः'—इन व्याहृतियोको त्रयी विद्याका सार कहा है, और

इन तीन व्याहृतियोका मार 'ओकार' है। इस व्याख्याको और अधिक ममझनेकेलिये वृहदा० ४-१४ देखिये ।)

व्याहृतियोको तपाया तो उनसे 'ओकार' चू पडा । जैसे पत्तेकी नालसे वृक्षके सव पत्ते जुडे रहते है--नाल सम्पूर्ण वृक्षमे और पत्ते-पत्तेमें जालकी तरह फैली रहती है--इसीप्रकार ओकारसे सारी वाणी वध रही है। इसलिये यह सव-कुछ ओकार ही है, ओकार ही है ।३।

द्वितीय प्रपाठक--[चौबीसवा खड]

(यज्ञ करनेवाले यजमानका लक्ष्य क्या होना चाहिये ?)

ब्रह्मवादी लोगोका कहना है कि जीवन एक यज्ञ है । जो जीवनके प्रभातमें, जीवनके प्रारभ-कालमें ब्रह्मचर्य-पूर्वक जीवन व्यतीत करते है, वे 'वसु' कहलाते है, जो इस तपस्याको जीवनके मध्य-कालतक ले जाते है, वे 'रुद्र' कहलाते है, जो इस तपस्याको जीवनके तृतीय-काल तक ले जाते है, वे 'आदित्य' या 'विश्व-देव' कहलाते है ।१।

'वसु'-'रुद्र'-'आदित्य'ने नो जीवन-यज्ञ कर लिया । वसु पृथिवी-लोकका, रुद्र अन्तरिक्ष-लोकका, और आदित्य द्यु-लोकका भी स्वामी हो गया । परन्तु जिसका यज्ञ अभी पूर्ण नहीं हुआ, जो जीवनको यज्ञ मानकर अभी प्रवृत्त हुआ है--जो 'यजमान' है--उसे क्या मिला ? 'वसु'-'रुद्र'-'आदित्य' नामक तपस्वियोने 'पृथिवी'-'अन्तरिक्ष'-'द्यु' लोकोपर आधिपत्य किया होता है, फिर 'यजमान'के लिये कौन-सा लोक रह जाता है ? जिसे इसका ज्ञान नहो, वह क्या करेगा ? जानता-हुआ ही तो कुछ करेगा ।२।

तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ॐकार सम्प्रास्रवत्तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि मतृण्णान्येवमोकारेण मर्वा वाक् सतृण्णोकार एवेदँ मर्वमोकार एवेदँ मवम् । ३ ।

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वमूना प्रात मवनँ रुद्राणा माध्यन्दिनँ मवनमादित्याना च विश्वेषा च देवाना तृतीयमवनम् । १ ।

क्व तर्हि यजमानस्य लोक इति । स यस्त

न विद्यात्कथ कुर्यादथ विद्वान्कुर्यात् । २ ।

'वसु'-ब्रह्मचारीने जिसप्रकार जीवनको यज्ञ मानकर, जीवनके प्रारम्भिक कालमें साधना की, इसीप्रकार यज्ञमें प्रातरनुवाक मन्त्रोंके गान करनेसे पूर्व, गार्हपत्याग्निके पीछे, उत्तराभिमुख बैठकर, वसु-ब्रह्मचारीके जीवनमें जो साम-गान हो रहा है, यजमान वैसा अपने जीवनद्वारा साम-गान करनेका निश्चय करे। वसु-ब्रह्मचारी तो जीवन को यज्ञ मानकर २४ वर्षतक साम-गान कर चुका है, 'यजमान'—जिसने जीवन-रूपी यज्ञको प्रारम्भ ही किया है—जो यज्ञके उपक्रममें अभी पडा है—उसे चाहिये कि यज्ञ प्रारम्भ करनेसे पूर्व ही वसुके जीवनके ढंगपर अपने जीवनको ढालनेका प्रण करे।३।

वह कहे कि वसु-ब्रह्मचारी जिस पृथिवी-लोकके स्वामी हैं, उस लोकका द्वार मेरे लिये भी खोल दो ताकि जैसे वसु पृथिवी-लोकका राज करते हैं, वैसे मैं भी राज करूं, अपने अन्दर किसी प्रकारकी कमी-का अनुभव न करूं।४।

इस कथनके बाद यजमान गार्हपत्याग्निमें आहुति दे, और कहे कि हे अग्नि! आपका पृथिवी-लोकमें वास है, आपको नमस्कार हो। हे अग्नि-रूप परमेश्वर! जिस प्रकार आपकी आराधना कर वसु-ब्रह्मचारीको पृथिवी-लोकका आधिपत्य प्राप्त हुआ है, इसी प्रकार मुझ 'यजमान'को—जिसने जीवनको यज्ञ-रूप बनानेका निश्चय कर लिया है—पृथिवी लोकका आधिपत्य प्राप्त हो, यही यजमानका लोक है, इसे मैं प्राप्त करूं।५।

'इस आयुके बीत जानेपर अगले जन्ममें भी मैं पृथिवी-लोकमें आऊं तो जीवनको यज्ञ-रूप बिताऊं'—इन शब्दोंके साथ 'स्वाहा' कह-

पुरा प्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन गार्हपत्यस्यो-
दङ्मुख उपविश्य स वासवं सामाभिगायति। ३।
लो३कद्वारमपा वा३र्णू ३३ पश्येम त्वा वयं रा
३ ३ ३ ३ ३ हु३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति। ४।
अथ जुहोति। नमोऽग्नये पृथिवीक्षिते लोकक्षिते लोकं मे
यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि। ५।

कर कहे कि मेरे मार्गमें जो भी रुकावटें हो, हे भगवन्! उनका नाश कर दो, और फिर यजमान उठ खडा हो। उस समय वसु लोग उसे आशीर्वाद देते हैं, और 'प्रात सवन'का फल उसे प्रदान करते हैं। जीवनके प्रभातको यज्ञ-मय बनानेसे जो लाभ होता है, वह उसे प्राप्त होता है।६।

'रुद्र' ब्रह्मचारीने जिस प्रकार जीवनको यज्ञ मानकर जीवनके मध्य-कालतक साधना की, इसी प्रकार यज्ञमें माध्यन्दिन-सवन मन्त्रोके गान करनेसे पूर्व, दक्षिणाग्निके पीछे, उत्तराभिमुख बैठकर, रुद्र-ब्रह्मचारी के जीवनमें जो साम-गान हो रहा है, यजमान वैसा अपने जीवनद्वारा साम-गान करनेका निश्चय करे। रुद्र-ब्रह्मचारी तो जीवनको यज्ञ मान-कर ३६ वर्षतक साम-गान कर चुका है, 'यजमान'—जिसने जीवन-रूपी यज्ञको प्रारभ किया है—उसे चाहिये कि यज्ञके मध्यकालसे पूर्व ही रुद्रके जीवनके ढगपर अपने जीवनको ढालनेका प्रण करे।७।

वह कहे कि रुद्र-ब्रह्मचारी जिस अन्तरिक्ष-लोकके स्वामी हैं, उस लोकका द्वार मेरे लिये भी खोल दो ताकि जैसे रुद्र-ब्रह्मचारी 'वैराज्य', अर्थात् अन्तरिक्ष-लोकका राज करते हैं, वैसे मै भी वहाका राज करू।८।

इस कथनके बाद यजमान दक्षिणाग्निमें आहुति दे, और कहे कि अन्तरिक्ष-लोक-स्थित वायुको नमस्कार हो। हे वायु-रूप परमेश्वर! जिस प्रकार आपकी आराधना कर रुद्र-ब्रह्मचारीको अन्तरिक्ष-लोक का आधिपत्य प्राप्त हुआ है, इसी प्रकार मुझ 'यजमान'को—जिसने

अथ यजमान परस्तादायुप स्वाहाऽपजहि परिघमित्युक्त्वो-त्तिष्ठति तस्मै वसव प्रात सवन् सप्रयच्छन्ति । ६ ।

पुरा माध्यन्दिनस्य सवनस्योपाकरणाज्जघनेनाग्नीध्रीयस्यो-दङ्मुख उपविश्य स रौद्र् सामाभिगायति । ७ ।

लो३कद्वारमपा वा३र्णू ३३ पश्येम त्वा वय वैरा ३३३३३ हु ३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति । ८ ।

जीवनको यज्ञ-रूप बनानेका निश्चय कर लिया है---अन्तरिक्ष-लोकका आधिपत्य प्राप्त हो, यही यजमानका लोक है, इसे मैं प्राप्त करूं।९।

'इस आयुके बीत जानेपर अगले जन्ममें मैं रुद्र-ब्रह्मचारीके पग-चिह्नोंपर चलूं'---इन शब्दोंके साथ 'स्वाहा' कहकर, और यह कहकर कि मेरे मार्गमें जो रुकावटें हों उनका नाश हो, यजमान उठ खडा हो। उस समय रुद्र लोग उसे आशीर्वाद देते हैं, और माध्यन्दिन-सवनका फल उसे प्रदान करते हैं, जीवनके मध्य-कालको यज्ञरूप बनानेसे जो लाभ होता है, वह उसे प्राप्त होता है।१०।

'आदित्य' ब्रह्मचारीने जिस प्रकार जीवनको यज्ञ मानकर जीवनके तृतीय-कालमें साधना की, इसीप्रकार यज्ञमे तृतीय-सवन मन्त्रोंके गान करनेसे पूर्व, आहवनीयाग्निके पीछे, उत्तराभिमुख बैठकर, आदित्य-ब्रह्मचारीके जीवनमें जो साम-गान हो रहा है, यजमान वैसा अपने जीवनद्वारा साम-गान करनेका निश्चय करे। आदित्य-ब्रह्मचारी तो जीवनको यज्ञ मानकर ४८ वर्षतक साम-गान कर चुका है, 'यजमान'---जिसने जीवन-रूपी यज्ञको प्रारभ किया है---उसे चाहिये कि यज्ञके तृतीय-कालसे पूर्व ही आदित्य अथवा विश्व-देवके जीवनके ढगपर अपने जीवनको ढालनेका प्रण करे।११।

वह कहे कि जिस लोकके आप स्वामी हैं, उस लोकका द्वार मेरे लिये भी खोल दो ताकि आपकी तरह मैं भी स्वाराज्यका उपभोग करूं।१२।

अथ जुहोति। नमो वायवेऽन्तरिक्षक्षिते लोकक्षिते लोक
मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि।९।
अथ यजमान परस्तादायुष स्वाहाऽपजहि परिघमित्युक्त्वो-
त्तिष्ठति तस्मै रुद्रा माध्यन्दिनँ सवन सम्प्रयच्छन्ति।१०।
पुरा तृतीयसवनस्योपाकरणाज्जघनेनाहवनीयस्योदङ्मुख
उपविश्य स आदित्यँ स वैश्वदेवँ सामाभिगायति।११।
लो३कद्वारमपा वा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयँ स्वारा
३३३३३ हु ३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति।१२।

आदित्य-लोकका—वैश्व-देव-लोकका—द्वार मेरे लिये खोल दो ताकि भगवन् ! मै तेरे रूपका दर्शन कर साम्राज्यका उपभोग करू ।१३।

इसके बाद आहुति दे । आदित्यको नमस्कार हो, द्यु-लोक-वासी सब देवोको नमस्कार हो । आदित्य-ब्रह्मचारीको जैसे द्यु-लोकका तेज प्राप्त होता है, वैसे मुझे भी प्राप्त हो, इसे मै प्राप्त करू ।१४।

यही यजमानका लोक है, इसे मै प्राप्त करू । 'इस आयुके बीत जानेपर अगले जन्ममें मै आदित्य-ब्रह्मचारीके पग-चिह्नोपर चलू'— इन शब्दोके साथ 'स्वाहा' कहकर, और यह कहकर कि मेरे मार्गमें जो रुकावटें हो उनका नाश हो, यजमान उठ खडा हो ।१५।

जो इसप्रकार आदित्य-ब्रह्मचारीको आदर्श मानकर उसके जीवनके अनुसार अपने जीवनको ढालता है, आदित्य-लोग उसे आशीर्वाद देते है, और तृतीय-सवनका फल उसे प्रदान करते है, जीवनके तृतीय-काल को यज्ञ-मय बनानेसे जो लाभ होता है वह उसे प्राप्त होता है ।१६।

तृतीय प्रपाठक—[पहला खड]

(आदित्यकी 'देवमधु' कल्पना, १ से ५ खड)

अध्यात्म, अर्थात् 'पिड'की दृष्टिसे आदित्य-ब्रह्मचारीका वर्णन करनेके अनन्तर ऋषि आधिदैविक अर्थात्, 'ब्रह्माड'की दृष्टिसे आदित्य का वर्णन करते है । यह सूर्य मानो आदित्य-ब्रह्मचर्यका प्रतीक है ।

आदित्यमथ वैश्वदेव लो३कद्वारमपावा३र्णू ३३ पश्येम त्वा वय॑ साम्रा ३३३३३ हु ३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति । १३ ।
अथ जुहोति । नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्यो दिविक्षिद्भ्यो लोकक्षिद्भ्यो लोक मे यजमानाय विन्दत । १४ ।
एष वै यजमानस्य लोक एतास्म्यत्र यजमान परस्तादायुष स्वाहाऽपहत परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति । १५ ।
तस्मा आदित्याश्च विश्वे च देवास्तृतीय॑ सवन॑ सप्रयच्छन्त्येष ह वै यज्ञस्य मात्रा वेद य एव वेद य एव वेद । १६ ।

आदित्य कठोरताके लिये प्रसिद्ध है, परन्तु ब्रह्मचर्यकी उपमामें यह आदित्य मानो देवताओंका मधु है। जैसे मधु अत्यन्त मीठा होता है वैसे ही सूर्यकी मधुरता है। सूर्यकी मधुरता आदित्य-ब्रह्मचर्यकी प्रतीक है। सूर्य-रूपी मधु अन्तरिक्ष-रूपी छत्तेमें है, जो द्यु-रूपी तिरछे बासपर लटक रहा है। सूर्यके चारोतरफ फैल रही किरणें मानो मधु-मक्खियोंके बच्चे हैं ।१।

आदित्यकी पूर्व-दिशाकी किरणें छत्तेकी पूर्व-दिशाकी मधु-नाडियां हैं, ऋचाएं मधु-मक्खियां हैं, ऋग्वेद पुष्प है, मधु-मक्खियां पुष्पके जिस रसको चूसती हैं, वह रस ऋचाओंका अमृतमय रस है ।२।

जैसे पुष्पोंको तपानेसे उनका इत्र निकलता है, वैसे ऋचाओंद्वारा ऋग्वेदको जब तपाया गया, तो उसका रस——यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति तथा उपभोग्य पदार्थ——ये रसके रूपमें उत्पन्न हुए ।३।

वह रस झरा। झरकर उसने आदित्यका आश्रय लिया। आदित्यका जो लाल-लाल रूप है, वह इस रसका ही रूप है ।४।

(ब्रह्मचारीको अगर आदित्य-रूप मान लिया जाय, तो उसका आदित्य-रूप उग्र-रूप न होकर मधु-रूप है जिसकी रचना ऋग्वेद-रूपी पुष्पके मधुर रससे होती है। इस मधुर रसका स्वरूप यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति तथा अन्न है। जैसे आदित्य यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति तथा अन्नका प्रतीक है, वैसे आदित्य ब्रह्मचारी भी यशादिसे देदीप्यमान हो उठता है, यह इस मत्रका आशय है।)

ॐ असौ वा आदित्यो देवमधु। तस्य द्यौरेव
तिरश्चीनवꣳशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः ।१।
तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्यः।
ऋच एव मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्पं, ता अमृता आपस्ता वा एता ऋचः ।२।
एतमृग्वेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज
इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत ।३।
तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य रोहितꣳ रूपम् ।४।

तृतीय प्रपाठक—[दूसरा खड]

आदित्यकी दक्षिण-दिशाकी किरणे छत्तेकी दक्षिण-दिशाकी मधु-नाडिया है, यजुर्वेदके मत्र ही मधु-मक्खिया है, यजुर्वेद पुष्प है; मधु-मक्खिया पुष्पके जिस रसको चूसनी है, वह रस यजुर्वेदके मन्त्रोका अमृतमय रस है ।१।

जैसे पुष्पोको तपानेसे उनका इत्र निकलता है, वैसे यजुर्वेदके स्तोत्रोद्वारा यजुर्वेदको जब तपाया गया, तो उसका रस—यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति तथा उपभोग्य पदार्थ—ये रसके रूपमें उत्पन्न हुए ।२।

वह रस झरा । झरकर उसने आदित्यका आश्रय लिया । आदित्य का जो शुक्ल रूप है, वह इस रसका ही रूप है ।३।

(जैसे आदित्यकी मधुरता यश, तेज, ऐश्वर्य आदिमे प्रकट होती है, वैसे इन्ही गुणोमे आदित्य-ब्रह्मचारीकी मधुरता प्रकट होती है । इस मधुरताका उदय ऋग्वेदकी ऋचाओ तथा यजुर्वेदके स्तोत्रोके अमृत रस-पानसे होता है, यह इस सबका आशय है ।)

तृतीय प्रपाठक—[तीसरा खड]

आदित्यकी पश्चिम-दिशाकी किरणें छत्तेकी पश्चिम-दिशाकी मधु-नाडिया है, साम-मत्र ही भ्रमरिया है, सामवेद पुष्प है, भ्रमरियां पुष्पके जिस रसको चूसती है, वह रस सामकी गीतिकाओका अमृतमय रस है ।१।

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यो
यजूंष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्प ता अमृता आप । १ ।
तानि वा एतानि यजूंष्येत यजुर्वेदमभ्यतपंस्तस्या-
भितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रिय वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजायत । २ ।
तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य शुक्लं रूपम् । ३ ।
अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाड्य
सामान्येव मधुकृत सामवेद एव पुष्प ता अमृता आप । १ ।

जैसे पुष्पोको तपानेसे उनका इत्र निकलता है, वैसे सामवेदके स्तोत्रोद्वारा सामवेदको जब तपाया गया, तो उसका रस——यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति तथा अन्न——ये रसके रूपमें उत्पन्न हुए ।२।

वह रस झरा। झरकर उसने आदित्यका आश्रय लिया। आदित्य का जो कृष्ण रूप है, वह इस रसका ही रूप है ।३।

(आदित्य-ब्रह्मचारीमे सूर्य सदृश यश, तेज, ऐश्वर्य आदि मधुर गुणोका उदय ऋग्वेदकी ऋचाओ, यजुर्वेदके स्तोत्रो तथा सामवेदकी गीतिकाओके अमर रस-पानद्वारा होता है, यह इस सबका आशय है।)

तृतीय प्रपाठक——[चौथा खड]

आदित्यकी उत्तर-दिशाकी किरणें छत्तेकी उत्तर-दिशाकी मधु-नाडिया है, अथर्वाङ्गिरस ही भ्रमरिया है, इतिहास-पुराण पुष्प है, भ्रमरिया पुष्पके जिस रसको चूसती है, वह रस इतिहास-पुराणका अमृतमय रस है ।१।

जैसे पुष्पोको तपानेसे उनका इत्र निकलता है, वैसे अथर्वाङ्गि-रसने जब इतिहास-पुराणको तपाया, तो उसका रस——यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति तथा अन्न——ये रसके रूपमें उत्पन्न हुए ।२।

वह रस झरा। झरकर उसने आदित्यका आश्रय लिया। आदित्य-का जो परम कृष्ण रूप है, वह इस रसका ही रूप है ।३।

तानि वा एतानि सामान्येतँ्सामवेदमभ्यतपँ्स्तस्याभि-
तप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यँ्रसोऽजायत । २ ।
तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्णँ्रूपम् । ३ ।
अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वाङ्गिरस
एव मधुकृत इतिहासपुराणं पुष्पं ता अमृता आपः । १ ।
ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतपँ्स्तस्या-
भितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यँ्रसोऽजायत । २ ।
तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्णँ्रूपम् ।३।

तृतीय प्रपाठक—[पाचवा खड]

आदित्यकी ऊपरकी जो किरणें हैं, वे छत्तेकी ऊपरकी दिशाकी मधु-नाडिया हैं, गुरुके गुह्य-आदेश ही भ्रमरिया हैं, ब्रह्म पुष्प है; भ्रमरिया पुष्पके जिस रसको चूसती हैं, वह रस ब्रह्म-ज्ञानका अमृतमय रस है ।१।

जैसे पुष्पोको तपानेसे उनका इत्र निकलता है, वैसे गुह्य-आदेशो-द्वारा जब ब्रह्मको तपाया गया, तो उसका रस—यश, तेज, ऐश्वर्य शक्ति तथा अन्न—ये रसके रूपमें उत्पन्न हुए ।२।

वह रस झरा । झरकर उसने आदित्यका आश्रय लिया । आदित्य के मध्यमें जो तेजोमय-चक्र चलायमान-सा दीखता है, वह इस रसका ही रूप है ।३।

वेद रस हैं, और क्योंकि यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति तथा अन्न वेदों के रस हैं, अत ये रसोंके रस हैं । वेद अमृत हैं, और क्योंकि यश, तेज आदि वेदोंसे झरेहुए अमृत हैं, अत ये अमृतोंके अमृत हैं ।४।

(यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति तथा अन्नका ब्रह्माडमे सूर्य तथा पिंडमें आदित्य-ब्रह्मचारी प्रतीक हैं—ये ही रसो-के-रस हैं, अमृतो-के-अमृत हैं, अत भौतिक-जगत्के सूर्यकी तरह आदित्य-ब्रह्मचारी अपने जीवनको देदीप्यमान बनाये, परन्तु दीप्तिके साथ सूर्यके मधु-रूपको मुख्य समझ-कर उसकी आराधना करे, यह इस सबका आशय है ।)

अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यो गुह्या
एवादेशा मधुकृतो ब्रह्मैव पुष्पं ता अमृता आपः । १ ।
ते वा एते गुह्या आदेशा एतद्ब्रह्माभ्यतपँस्तस्याभि-
तप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यँ रसोऽजायत । २ ।
तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत इव । ३ ।
ते वा एते रसानाँ रसा वेदा हि रसास्तेषामेते रसास्तानि
वा एतान्यमृतानाममृतानि, वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि । ४ ।

तृतीय प्रपाठक—[छठा खंड]

('ब्रह्मोपनिषद्'—आध्यात्मिक-विकासके क्रम, ६ से ११ खंड)

इन अमृतोंमें जो प्रथम अमृत है, उसका पान करतेहुए 'अग्नि-मुख', अर्थात् अग्निके समान देदीप्यमान मुखवाले 'वसु'-ब्रह्मचारी अपना जीवन यापन करते हैं। दिव्य-गुण-सम्पन्न ब्रह्मचारी लोग खाने-पीनेमें रत नहीं रहते, वे अमृत-रूप ब्रह्मके दर्शनसे ही तृप्त रहते हैं।१।

वे उसी अमृतमय रूपमें बसे रहते हैं, इसीके रूपसे ही उनकी ऊर्ध्व-गति होती है।२।

जो इसप्रकार अमृतके रूपको जानता है, वह वसुओंके साथ रल-मिलकर एक हो जाता है, अग्निके समान ही देदीप्यमान मुखवाला हो जाता है, और अमृतके दर्शनमें ही तृप्त रहता है। जो अमृतके इस रूपमें बस जाता है, उसकी अमृतके इसी रूपसे ऊर्ध्व-गति होती है।३।

ऐसा व्यक्ति, जबतक सूर्य पूर्वसे उदित और पश्चिममें अस्त होता रहेगा, तबतक वसुओंके आधिपत्य और स्वाराज्यमें रहेगा।४।

तृतीय प्रपाठक—[सातवां खंड]

इन अमृतोंमें जो द्वितीय अमृत है, उसका पान करतेहुए 'इन्द्र-मुख', अर्थात् इन्द्रके समान ऐश्वर्यवान् मुखवाले 'रुद्र'-ब्रह्मचारी अपना

तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन
न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति। १।
त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति। २।
स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाऽग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं
दृष्ट्वा तृप्यति स य एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति। ३।
स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता
वसूनामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता। ४।

जीवन यापन करते हैं। दिव्य-गुण-सम्पन्न ब्रह्मचारी लोग खाने-पीनेमें रत नहीं रहते, वे अमृत-रूप ब्रह्मके दर्शनसे ही तृप्त रहते हैं।१।

वे उसी अमृतमय रूपमें बसे रहते हैं, इसीके रूपसे ही उनकी ऊर्ध्व-गति होती है।२।

जो इसप्रकार अमृतके रूपको जानता है, वह रुद्रोंके साथ रल-मिलकर एक हो जाता है, इन्द्रके समान ही ऐश्वर्यवान् मुखवाला हो जाता है, और अमृतके दर्शनमें ही तृप्त रहता है। जो अमृतके इस रूपमें बस जाता है, उसकी अमृतके इसी रूपसे ऊर्ध्व-गति होती है।३।

सूर्य जबतक पूर्वसे उदय और पश्चिममें अस्त होता रहेगा, अगर उससे दुगुने-कालतक वह दक्षिणसे उदय और उत्तरमें अस्त होता रहे, तो उतने समयतक ऐसा व्यक्ति रुद्रोंके आधिपत्य और स्वाराज्यमें रहेगा।४।

तृतीय प्रपाठक—[आठवा खंड]

इन अमृतोंमें जो तृतीय अमृत है, उसका पान करतेहुए 'वरुण-मुख', अर्थात् वरुणके समान आकर्षक मुखवाले 'आदित्य'-ब्रह्मचारी अपना जीवन यापन करते हैं। दिव्य-गुण-सम्पन्न ब्रह्मचारी लोग खाने-पीनेमें रत नहीं रहते, वे अमृत-रूप ब्रह्मके दर्शनसे ही तृप्त रहते हैं।१।

अथ यद्द्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीवन्तीन्द्रेण मुखेन
न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ।१।
त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ।२।
स य एतदेवममृतं वेद रुद्राणामेवैको भूत्वेन्द्रेणैव मुखेनैतदेवामृतं
दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ।३।
स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता द्विस्तावद्दक्षिणत
उदेतोत्तरतोऽस्तमेता रुद्राणामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ।४।
अथ यत्तृतीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन
न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ।१।

वे उसी अमृतमय-रूपमें बसे रहते हैं, इसीके रूपसे ही उनकी ऊर्ध्व-गति होती है ।२।

इसप्रकार जो अमृतके रूपको जानता है, वह आदित्योंके साथ रल-मिलकर एक हो जाता है, वरुणके समान ही आकर्षक मुखवाला हो जाता है और अमृतके दर्शनमें ही तृप्त रहता है । जो अमृतके इस रूपमें बस जाता है, उसकी अमृतके इसी रूपसे ऊर्ध्व-गति होती है ।३।

पूर्वसे पश्चिममें सूर्य जबतक उदय-अस्त होता रहेगा, अगर उससे दुगुने-कालतक वह दक्षिणसे उदय होकर उत्तरमें अस्त होता रहे, और अगर उससे भी दुगुने समयतक वह पश्चिमसे उदय होकर पूर्वमें अस्त होता रहे, तो उतने समयतक ऐसा व्यक्ति आदित्योंके आधिपत्य और स्वाराज्यमें रहेगा ।४।

तृतीय प्रपाठक--[नवा खंड]

इन अमृतोंमें जो चतुर्थ अमृत है, उसका पान करतेहुए 'सोम-मुख', अर्थात् सोमके समान सौम्य-मूर्तिवाले 'मरुत्'—आजीवन-ब्रह्मचारी—अपना जीवन यापन करते हैं । देव-लोग खाने-पीनेसे नहीं, अमृतके दर्शनसे तृप्त रहते हैं ।१।

वे उसी अमृतमय-रूपमें बसे रहते हैं, इसीके रूपसे ही उनकी ऊर्ध्व-गति होती है ।२।

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति । २ ।

स य एतदेवममृतं वेदादित्यानामेवैको भूत्वा वरुणेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति । ३ ।

स यावदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता द्विस्तावत्पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेताऽऽदित्यानामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता । ४ ।

अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति । १ ।

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति । २ ।

इसप्रकार जो अमृतके रूपको जानता है, वह मरुतोंकेसाथ रल-मिलकर एक हो जाता है, सोमके समान ही सौम्य-मूर्ति हो जाता है और अमृतके दर्शनमें ही तृप्त रहता है। जो अमृतके इस रूपमें बस जाता है उसकी अमृतके इसी रूपसे ऊर्ध्व-गति होती है ।३।

सूर्यके पश्चिमसे उदय होकर पूर्वमें अस्त होनेके समयकी जितनी कल्पना अभी की गई, उससे अगर दुगुने समयतक वह उत्तरसे उदय होकर दक्षिणमें अस्त होता रहे, तो उतने कालतक ऐसा व्यक्ति मरुतोंके आधिपत्य और स्वाराज्यमें रहेगा ।४।

तृतीय प्रपाठक—[दसवा खड]

इन अमृतोंमें जो पंचम अमृत है, उसका पान करतेहुए 'ब्रह्म-मुख', अर्थात् ब्रह्मके समान विशाल मूर्तिवाले 'साध्य'—वह अवस्था जिसे सिद्ध करना, अपने जीवनमें घटाना हमारा चरम-लक्ष्य है—अपना जीवन व्यतीत करते हैं। देव लोग खाने-पीनेसे नहीं, अमृतके दर्शन से तृप्त रहते हैं ।१।

वे उसी अमृतमय-रूपमें बसे रहते हैं, इसीके रूपसे उनकी ऊर्ध्व-गति होती है ।२।

इसप्रकार जो अमृतके रूपको जानता है, वह साध्योंके साथ रल-मिलकर एक हो जाता है, ब्रह्मके समान ही विशाल-मूर्ति हो जाता है, और अमृतके दर्शनमें ही तृप्त रहता है। जो अमृतके इस रूपमें बस जाता है उसकी अमृतके इसी रूपसे ऊर्ध्व-गति होती है ।३।

स य एतदेवममृतं वेद मरुतामेवैको भूत्वा सोमेनैव मुखेनैतदेवामृतं
दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ।३।
स यावदादित्यः पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता द्विस्तावदुत्तरत उदेता
दक्षिणतोऽस्तमेता मरुतामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ।४।
अथ यत्पञ्चमममृतं तत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणा मुखेन
न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ।१।
त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ।२।
स य एतदेवममृतं वेद साध्यानामेवैको भूत्वा ब्रह्मणैव मुखेनैत-
देवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ।३।



वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् तथा साध्य ऋषि

सूर्यके उत्तरसे उदय होकर दक्षिणमें अस्त होनेके समयकी जितनी कल्पना अभी की गई, उससे अगर दुगुने समयतक वह ऊपरसे उदय होकर नीचे अस्त होता रहे, तो इतने कालतक ऐसा व्यक्ति साध्योंके आधिपत्य और स्वाराज्यमें रहेगा ।४।

स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता द्विस्तावदूर्ध्वं उदेताऽर्वाङस्तमेता साध्यानामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता । ४ ।

(तृतीय प्रपाठकमे यह कहा गया है कि ऋक, यज, साम, अथर्व-वेदोके गुह्य आदेश—इन सबको तपानेसे जो रस झरा, वह है—'यश', 'तेज', 'ऐश्वर्य', 'शक्ति' तथा 'अन्न'। जैसे पुष्पोसे पुष्पोका रस—इत्र—उत्पन्न होता है, वैसे वेदोसे ये रस निकले। ये 'अमृत' है। देव लोग खाने-पीनेसे नही तृप्त होते, इन पाच अमृतोका पान करते है। छान्दोग्योपनिषद्‌का कथन यह है कि इन पाच अमृतोका पान जो नही करते, वे तो किसी गणनामे ही नही है, परन्तु जो करते है, वे देव कहाते है, और इनके विकासके पाच क्रम है। जो प्रथम-अमृत, अर्थात् 'यश' का पान करते है, वे 'वसु' कहाते है और 'अग्नि-मुख' होते है, द्वितीय-अमृत, अर्थात 'तेज'का पान करनेवाले 'रुद्र' कहाते है और 'इन्द्र-मुख' होते है, तृतीय-अमृत, अर्थात् 'ऐश्वर्य'का पान करनेवाले 'आदित्य' कहाते है और 'वरुण-मुख' होते है, चतुर्थ-अमृत, अर्थात् 'शक्ति' का पान करनेवाले 'मरुत्' कहाते है और 'सोम-मुख' होते है, पचम-अमृत, अर्थात 'अन्न'का पान करनेवाले 'साध्य' कहाते है और 'ब्रह्म-मुख' होते है। 'अग्नि' ससारके भौतिक-पदार्थोका प्रतिनिधि है, 'ब्रह्म' आध्यात्मिक-जगत्‌की अग्नि है और आध्यात्मिक-ससारका प्रतिनिधि है। 'अग्नि-मुख' वह है जिसका मुख, अर्थात् ध्यान ससार-के भोग की तरफ है, 'ब्रह्म-मुख' वह है जिसका मुख, अर्थात् ध्यान ससारकी तरफ नही, ब्रह्मकी तरफ है। 'अग्नि-मुख'से देवोका जीवन प्रारभ होता है, 'ब्रह्म-मुख'पर जाकर समाप्त होता है। प्रवृत्तिसे प्रारभ करे, निवृत्तिमे समाप्त करे—यही जीवनका ठीक मार्ग है। ससारको भोगनेवाला 'अग्नि-मुख' है और उपनिषदोकी परिभाषा-मे 'वसु' कहाता है वह ससारमे 'वास' करता है अत 'वसु' है। ससार को भोग लेनेके बाद त्याग देनेवाला, ब्रह्मकी तरफ मुख करदेनेवाला 'ब्रह्म-मुख' है और उपनिषदोकी परिभाषामे साध्य कहाता है क्योकि हमारा साध्य, अर्थात् चरम-लक्ष्य ससारको भोगते रहना नही, परन्तु ससारकी तरफ पीठ करके ब्रह्मकी तरफ मुख कर लेना है। ससारके भोगनेवालेको—अग्नि-मुखको—'यश' प्राप्त होता है, सब उसकी

प्रशसा करते है। उपनिषत्कारका कथन है कि ससारको भोगना ही हैं, तो कम-से-कम ऐसा भोगो कि तुम्हारी लोग प्रशसा तो करे। अगर तुम ससारका ऐसा भोग कर रहे हो कि हरेक तुम्हारी निन्दा करता है, तब वह भोग कैसा? हम जो हरेकका खून चूसकर मकान और दुकान खडी कर रहे है, जिनको हरेक गालिया देता है—हमे ससार के भोगसे यश प्राप्त नही हो रहा। अगर हमारे सामने कोई हमारी प्रशसा भी करता है, तो पीठ पीछे निंदा ही करता है। हमारी गणना उन लोगोमे नही है जिनका उपनिषद्मे वर्णन हो रहा है। विकसित होते-होते हम 'ब्रह्म-मुख' हो जाय—यही हमारा ध्येय है। यह अवस्था सिद्ध करना हमारा उद्देश्य है, अत इसे 'साध्य' कहा गया है। इस अवस्थामे हम 'अन्न'-रूपी पचम-अमृतका सेवन करते है। 'अन्न'-का अर्थ है—'भोग्य'। उपनिषद्मे 'अन्न' तथा 'अन्नाद'—ये दो शब्द आते है। 'अन्न' हुआ 'भोग्य', 'अन्नाद' हुआ 'भोक्ता'। यथार्थ 'भोक्ता' तो 'ब्रह्म' है, उसके सम्मुख सारा ससार 'भोग्य' है, 'अन्न' है, वही इस सबका सेवन कर रहा है। हम भी विकसित होते-होते ऐसी अवस्थामे आ जाये, जिसमे सम्पूर्ण विश्व हमारे लिये 'अन्न' हो जाय, 'भोग्य' हो जाय। जिसके लिये सपूर्ण विश्व भोग्य हो जाता है, फिर वह भोगना ही छोड देता है—हम उसी वस्तुको पानेका प्रयत्न करते है जो हमारी नही होती, और तभीतक उसे पानेकी व्याकुलतामे रहते है जबतक उसे पा नही लेते। पा लेनेके बाद उसे पानेका विचार ही जाता रहता है। 'ब्रह्म-मुख' अवस्थातक पहुचना, ससार-मात्रको 'अन्न' समझ लेना ही 'साध्य' अवस्था है। 'अग्नि-मुख' तथा 'ब्रह्म-मुख' अवस्थाओके बीचकी तीन अवस्थाए और है—'रुद्र', 'आदित्य' और 'मरुत्'। असलमे ससारमे दो तत्त्व है—'उष्णता' तथा 'शीतलता'। ये दोनो भौतिक-ससारके तत्त्व है। मानसिक-ससारमे उष्णताको 'भय' तथा शीतलताको 'प्रेम' कहा जाता है। हमने देखा कि 'वसु' जो 'अग्नि-मुख' था, वह 'यश'का सेवन करता है, परन्तु यह जरूरी नही कि 'यश'के साथ 'तेज' भी हो। जिसमे 'तेज' होता है लोग उससे 'भय'

खाते है, उससे डरते है। 'वसु'के बाद जब मनुष्य 'रुद्र' बनता है, तब यह 'इन्द्र-मुख' हो जाता है, केवल संसारको भोगता ही नही है, भोगके साथ त्यागना भी सीखता है, और इसीसे उसमे 'यश'केसाथ 'तेज' भी आ जाता है, परन्तु यह 'तेज' ऐसा होता है, जो 'भय'पर आश्रित होता है। विकसित होते-होते 'रुद्र' ही 'आदित्य' हो जाता है। उस समय उसका 'तेज' 'ऐश्वर्य'मे परिणत हो जाता है, और वह 'वरुण-मुख' हो जाता है, लोग उसके ऐश्वर्यको देखकर उसे वरने लगते है। परन्तु रुद्र तथा आदित्य इन दोनो अवस्थाओके 'यश' तथा 'तेज' 'प्रेम'पर नही, 'भय'पर आश्रित है। इनसे अगली अवस्था वह है जिसे 'मरुत्' कहा है। यह 'भय'की नही, 'प्रेम'की अवस्था है। अस्लमे शक्ति वही है जो 'भय' की न हो, 'प्रेम'की हो, और इसीलिये इस अवस्थामे विकसित होनेवाले व्यक्ति मरुत्को 'सोम-मुख'—'सोम', अर्थात 'शान्ति'की तरफ मुख-वाला, और 'शक्ति'-रूपी अमृतका सेवन करनेवाला कहा है। देवोके विकासकी ये पाच अवस्थाए है। इनके बाद 'सत्य-ब्रह्म' की अवस्था है।)

तृतीय प्रपाठक—[ग्यारहवा खड]

'वसु' (अग्नि-मुख), 'रुद्र' (इन्द्र-मुख), 'आदित्य' (वरुणमुख), 'मरुत' (सोम-मुख), 'साध्य' (ब्रह्म-मुख), इन पाचोसे जो ऊपर उठ जाता है, वह उस लोकमें पहुच जाता है जहा न उदय होता है, न अस्त होता है जैसे सूर्य इकला आकाशके मध्यमें स्थित है, वैसे वह व्यक्ति वसु आदिके बीच इकला, अप्रतिम दिखाई देता है। कहा भी है—।१।

न वहा कभी अस्त होता है, न उदय—वह 'सत्य-ब्रह्म'की अवस्था है। हे देवो! मुझे उस 'सत्य-ब्रह्म'से कभी दूर मत करो।२।

जो उपनिषद्के इस सत्य-ब्रह्मको जान जाता है, उसकेलिये उदय-अस्त नही होता, उसकेलिये तो एकदम प्रकाश-ही-प्रकाश होजाता है।३।

अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता तदेष श्लोकः ।१।
न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन।
देवास्तेनाहꣳ सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणेति । २ ।
न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्दिवा
हास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद । ३ ।

यह रहस्य ब्रह्माने प्रजापतिको बतलाया, प्रजापतिने मनुको, मनुने जन-साधारणको । इसी रहस्यको अरुणने अपने ज्येष्ठ-पुत्र उद्दालक आरुणिको बतलाया ।४।

प्रत्येक पिताको चाहिये कि इस रहस्यको अपने ज्येष्ठ-पुत्रको बतलाए, अथवा अपने प्रणय-शील अन्तेवासीको—शिष्यको—इसका उपदेश करे ।५।

अन्य किसी व्यक्तिको, भले ही वह समुद्रसे घिरीहुई इस पृथिवीको धनसे भरकर दे दे, इस रहस्यको मत दे । यह रहस्य उससे भी बढकर मूल्यवान् है, बढकर मूल्यवान् है ।६।

तृतीय प्रपाठक—[बारहवा खड]

(गायत्री-महिमा)

यह सब-कुछ—यह सारा ससार—'गायत्री'का ही रूप है । गायत्रीका वाणीसे उच्चारण होता है । 'वाणी'का काम गाना तथा ससारकी रक्षा करना है—'गायत्री'के उच्चारणसे भी भगवान्का गुण गाया जाता है और यह उपासककी रक्षा करती है, अत वाणी गायत्रीका ही रूप है ।१।

वह जो गायत्री है, वह मानो यह पृथिवी ही है । जैसे पृथिवीमें सारा जगत् प्रतिष्ठित है, वह सबकी रक्षा करती है, कोई इसे लाघ नहीं सकता, इसीप्रकार गायत्रीमें उपासककी सब भावनाएं निहित है, वह उपासककी रक्षा करती है, इसे कोई लाघ नही सकता ।२।

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनु प्रजाभ्य-
स्तद्धैतदुद्दालकायारुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच । ४ ।
इद वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्प्रणाय्याय वाऽन्तेवासिने । ५ ।
नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्भि परिगृहीता धनस्य
पूर्णा दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति । ६ ।
गायत्री वा इद सर्व भूत यदिद किच वाग्वै
गायत्री वाग्वा इद सर्व भूत गायति च त्रायते च । १ ।
या वै सा गायत्रीय वाव सा येय पृथिव्यस्या
हीद सर्व भूत प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते । २ ।

ब्रह्माण्डमें गायत्रीका जो पृथिवी रूप है, वही इस पिंडमें पुरुषका शरीर है—जैसे ब्रह्माण्डमें पृथिवी गायत्रीका रूप है, वैसे पिंडमें शरीर गायत्रीका रूप है। जैसे शरीरमें प्राण प्रतिष्ठित हैं, वे शरीरकी रक्षा करते हैं, वैसे गायत्रीमें उपासकके प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं, वह उपासक की प्राणोंके सदृश रक्षा करती है, कोई इसे लांघ नहीं सकता ।३।

'पुरुष'में शरीरको गायत्रीका रूप कहा गया है, 'अन्तः-पुरुष' में हृदय गायत्रीका रूप है। हृदयके आधारपर ही तो प्राण ठहरे हुए हैं। जैसे प्राण हृदयको नहीं लांघते, उसकी रक्षा करते हैं, वैसे गायत्री उपासककी रक्षा करती है ।४।

यह गायत्री चार चरणोंवाली और छ-छ अक्षरोंवाली है। इस-प्रकार गायत्रीमें २४ अक्षर होते हैं। ऋचामें कहा गया है—।५।

गायत्री अपने चारों चरणोंसे उस परम-पुरुषके गौरवका वर्णन करती है, परन्तु उसका पूरा वर्णन नहीं कर पाती, वह पुरुष इससे बहुत बड़ा है। संसारका सब ऐश्वर्य मिलकर उसके एक चरणका गौरव प्रकट करता है, गायत्री-रूप भगवान्‌के अमृतमय तीन चरण तो इस संसारसे परे द्यु-लोकमें हैं ।६।

गायत्री जिस ब्रह्मका प्रतिपादन करती है, यह वही है जो पुरुषके बाहर आकाश है। जो पुरुषके बाहर आकाश है, जिस आकाशको हम शून्य समझे हुए हैं, वहां सर्वत्र ब्रह्म-ही-ब्रह्म है—इसीका गायत्री गान करती है ।७।

या वै सा पृथिवीयं वाव सा यदिदमस्मिन्पुरुषे शरीर-मस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते । ३ ।

यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे हृदयमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते । ४ ।

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्यनूक्तम् । ५ ।

तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति । ६ ।

यद्वै तद्ब्रह्मेतीदं वाव तद्योऽयं बहिर्धा पुरुषा-दाकाशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः । ७ ।

हुई ब्रह्म-शक्ति है, जो ऊपरके द्वारसे वाह्य-जगत्से प्राण खींचती है, आकाश मानो ब्रह्माडके विशाल-मन्दिरमें बैठीहुई ब्रह्म-शक्ति है, जो ऊपरके द्वारसे विश्वमें जीवन सचार कर रही है। ब्रह्मकी 'ओज' तथा 'मह' रूपमें उपासना करे। जो ऐसा जानकर ब्रह्मकी उपासना करता है, वह ओजस्वी तथा महान् हो जाता है।५।

पिड तथा ब्रह्माडमें ब्रह्म-पुरुषकी ये पाच झाकिया है—ये पाच हृदय-रूपी स्वर्ग-लोकके मानो द्वारपाल है। जो स्वर्ग-लोकके द्वारपाल इन पाच ब्रह्म-पुरुषोको उक्त प्रकारसे जानता है, उसके कुलमें वीर सन्तान उत्पन्न होती है। वह स्वर्ग-लोकको पाजाता है, जो स्वर्ग-लोकके द्वारपाल इन पाच ब्रह्म-पुरुषोको इसप्रकार जानता है।६।

इस पिड और द्यु-लोकरूपी ब्रह्माडसे परे ब्रह्म-ज्योति प्रदीप्त हो रही है जो ससारकी सब वस्तुओकी पृष्ठपर चारोतरफ चमक रही है—जो सबसे ऊचे लोकोमें और जिनसे परे कोई ऊचा नही है उन लोकोमें भी प्रदीप्त हो रही है। वही ज्योति पुरुषके भीतर उसके हृदयाकाशमें प्रकाश दे रही है। उसे प्रत्यक्ष देखना हो तो—।७।

देखो अपने शरीरमें। उसी ज्योतिकी उष्णता स्पर्शसे अनुभव होती है। किसीको छूनेसे जो जीवनकी उष्णता अनुभव होती है वह उसी ब्रह्म-ज्योतिके कारण है जो ब्रह्माड तथा पिड दोनोको आलोकित कर रही है। उसे सुनना हो तो सुनो कान बन्द करके—बादलकी गर्जकी भाति, वृषभके नादकी भाति, जलतीहुई अग्निकी सरसराहट

अथ योऽस्योर्ध्व सुषि स उदान स वायु स आकाशस्तदेत-
दोजश्च महश्चेत्युपासीत ओजस्वी महस्वान्भवति य एव वेद । ५ ।
ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषा स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपा स
य एतानेव पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वे-
दास्य कुले वीरो जायते प्रतिपद्यते स्वर्ग लोक य
एतानेव पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेद । ६ ।
अथ यदत परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वत पृष्ठेषु सर्वत पृष्ठेष्वनुत्त-
मेषूत्तमेषु लोकेष्विद वाव तद्यदिदमस्मिनन्त पुरुषे ज्योतिस्तस्यैषा दृष्टि । ७ ।

की भांति यह क्या सुनाई देता है ? यह उसीकी अनहद ध्वनि है। मत समझो ब्रह्म दिखाई नही देता, सुनाई नहीं देता। वह दीखता है, सुनाई देता है—यही समझकर उसकी उपासना करे। वह दीखता है, सुनाई देता है—जो यह जानता है, जो यह जानता है, वह सबके लिये दर्शनीय होजाता है और सबजगह उसकी कीर्ति सुनीजाती है।८।

तृतीय प्रपाठक—[चौदहवा खंड]

(शाण्डिल्य-विद्या)

जिस ब्रह्म-ज्योतिका अभी वर्णन किया, यह सब 'ब्रह्म' है। ब्रह्मकी 'ज'+'ल'+'अन्' इस रूपमें उपासना करे। 'ज'का अर्थ यह समझे कि विश्व उसीसे जन्म लेता है, 'ल' से यह समझे कि यह उसीमें लीन हो जाता है, 'अन्'से यह समझे कि यह उसीसे अनुप्राणित हो रहा है। परन्तु 'उपासना'तक ही अपनेको सीमित न रखे, 'कर्म' करे—क्योकि पुरुष 'क्रतुमय' है—'कर्ममय' है। जिस प्रकारका इस लोकमें कर्म करता है, वैसा ही यहासे चलकर वह आगे होता है। कर्म अवश्य करे।१।

वह ब्रह्म-ज्योति मनोमय है, विज्ञानमय (Consciousness) है, प्राण उसका शरीर है, प्रकाश उसका रूप है, सत्य उसका सकल्प है, आकाशकी व्यापकता उसका आत्मा है। वह सर्व-कर्म-समर्थ है, पूर्ण-काम है, उसमें सब गन्ध है, सब रस है, यहा जो-कुछ है उस सबमें वह ज्योति पहुचीहुई है, वह वाणी-रहित है, मानापमानके भावसे रहित है।२।

वही ज्योति मेरा आत्मा है, वह मेरे हृदयके अन्तरालमें अन्नके

यत्रैतदस्मिञ्छरीरे संस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति तदेतद्दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद य एवं वेद। ८।
सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत। १।
मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः। २।

दानेसे, जौंसे, सरसोंसे, श्यामाकसे, श्यामाकके चावलसे भी अणु है; और हृदयके अन्तरालमें वर्तमान वही मेरी आत्म-ज्योति पृथिवीसे भी विशाल है, अन्तरिक्षसे भी बडी है, द्यु-लोकसे भी बड़ी है, इन सब लोकोंसे भी बडी है। विश्व-भरका अन्धकारमय विशाल जड-जगत् उस चैतन्य-स्वरूप आत्म-सत्ताकी एक किरणके भी सम्मुख नहीं टिक सकता ।३।

वह विश्वात्मा सर्वकर्मा है, सर्वकाम है, सर्वगन्ध है, सर्वरस है, सब जगह पहुंचाहुआ है, वाणी-रहित है, आदरसे ऊपर है, उसपर आदर-अनादरका कोई असर नहीं। वही आत्मा मेरे हृदयके अन्तरालमें है, वह ब्रह्म है, यहांसे छूटकर मैं उसीको प्राप्त हूंगा—ऐसी जिसे श्रद्धा है उसके ब्रह्मतक पहुंचनेमें कोई सन्देह नहीं रहता—यह शाण्डिल्यने कहा है, शाण्डिल्यने कहा है ।४।

तृतीय प्रपाठक—[पन्द्रहवा खड]

(प्राणोका सयम ही अक्षय-कोश है)

एक अक्षय-कोश है, मानो खजानेकी एक पिटारी है, जिसका अन्तरिक्ष उदर, अर्थात् पेट है, भूमि पैर है। यह पिटारी कभी जीर्ण नहीं होती पुरानी नही होती। वह इतना बडा कोश है कि चारो दिशाए उसके चार कोने है, द्यु-लोक उसका ऊपरका छिद्र है, यह कोश सब धनोका आधान-स्थान है। इस विशाल-कोशमें यह विश्व, अर्थात् यह चराचर-जगत्, श्री, अर्थात् धनके रूपसे पडाहुआ है ।१।

एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्य । ३ ।
सर्वकर्मा सर्वकाम सर्वगन्ध सर्वरस सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्माऽन्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमित प्रेत्याभिसंभवितास्मीति। यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्तीति ह स्माह शाण्डिल्य शाण्डिल्य । ४ ।
अन्तरिक्षोदर कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति दिशो ह्यस्य स्रक्तयो द्यौरस्योत्तर बिलं स एष कोशो वसुधानस्तस्मिन्विश्वमिदं श्रितम् । १ ।

इन विश्व-पिटारीकी पूर्व-दिशा यज्ञ-यागादि है, दक्षिण-दिशा द्वन्द्वोंका सहन है, पश्चिम-दिशा राज्य-पराक्रम आदि है, उत्तर-दिशा शोभा-सुन्दरता है। इन दिशाओंका पुत्र वायु है---प्राण है, अर्थात् इस अक्षय-कोशकी सबसे अमूल्य-निधि प्राण-शक्ति है। जो इसप्रकार दिशाओंके पुत्र वायुको---प्राणको---जानता है, वह पुत्र-वियोग होनेपर भी आंसू नहीं बहाता। सो, मैं दिशाओंके वत्स 'वायु'को---प्राणको---जानता हूं, इसलिये मैं पुत्र-वियोगके शोकसे आंसू नहीं बहाता।२।

(इस विश्व-कोशकी सब निधियोंमें अमूल्य-निधि पुत्र है, परन्तु पुत्रसे भी अमूल्य-निधि प्राण है, संयम है, अपनेपर काबू पा जाना है। मैंने वह पा लिया है अतः मेरे पास निधियोंकी निधि, कोशोंका कोश है---यह इस सबका आशय है।)

मैं इस साधनसे, इस साधनसे और इस साधनसे---सब साधनों-से---'अक्षय-कोश'को प्राप्त करूं, सब साधनोंसे 'प्राण'को प्राप्त करूं, सब साधनोंसे 'भूः'को प्राप्त करूं, सब साधनोंसे 'भुवः'को प्राप्त करूं, सब साधनोंसे 'स्वः'को प्राप्त करूं।३।

मैंने जो यह कहा कि 'प्राण'को प्राप्त करूं, यह इसलिये कहा क्योंकि ये सब वस्तु-जात प्राण ही हैं---इसलिये विश्वके अक्षय-कोशमें जो-कुछ है, वह सब मैं प्राप्त करूं।४।

मैंने जो यह कहा कि 'भूः'को प्राप्त करूं, इसका यह अभिप्राय है

तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम सहमाना नाम दक्षिणा राज्ञी नाम प्रतीची सुभूता नामोदीची तासां वायुर्वत्सः स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदं रोदिति। सोऽहमेतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद मा पुत्ररोदं रुदम्। २।
अरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। प्राणं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। भूः प्रपद्ये-ऽमुनाऽमुनाऽमुना। भुवः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। स्वः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। ३।
स यदवोचं प्राणं प्रपद्य इति, प्राणो वा इदं
सर्वं भूतं, यदिदं किंच तमेव तत्प्रापत्सि। ४।

कि मैं विश्व-कोशमें श्री-रूपसे पड़ेहुए पृथिवी अन्तरिक्ष तथा द्यु-लोक को प्राप्त करूं ।५।

मैने जो यह कहा कि 'भुवः' को प्राप्त करूं, इसका यह अभिप्राय है कि मैं विश्व-कोशमें श्री-रूपसे पड़ेहुए अग्नि, वायु तथा आदित्यको प्राप्त करूं ।६।

मैने जो यह कहा कि 'स्वः' को प्राप्त करूं, इसका यह अभिप्राय है कि मैं विश्व-कोशमें श्री-रूपसे पड़ेहुए ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद को प्राप्त करूं ।७।

तृतीय प्रपाठक---[सोलहवा खड]

(जीवनकी यज्ञ-रूप कल्पनाद्वारा आमरण-ब्रह्मचर्यका विचार १६-१७)

सोम-यागके तीन समय होते है, प्रातः-मध्य-तृतीय । एक-एक समयको 'सवन' कहते हैं, 'प्रातः-सवन'---'माध्यन्दिन-सवन'---'तृतीय-सवन' । प्रातः-सवनमें २४ अक्षरोका 'गायत्री' माध्यन्दिन-सवनमें ४४ अक्षरोंका 'त्रिष्टुप्' और तृतीय-सवनमे ४८ अक्षरोका 'जगती' छन्द प्रयुक्त होता है । इन तीनो सवनोके देवता क्रमश 'वसु'-'रुद्र'-'आदित्य' है ।

इस खडमें सोम-यागके इस रूपको जीवनपर घटाया गया है । यह जीवन मानो सोम-याग है । 'वसु-ब्रह्मचर्य' प्रातः-सवन है, जीवनके प्रथम २४ वर्ष मानो सोम-यागमें पढी जानेवाली गायत्रीके २४ अक्षर है । 'रुद्र-ब्रह्मचर्य' माध्यन्दिन-सवन है, जीवनके ४४ वर्ष मानो सोम-यागमें पढे जानेवाले त्रिष्टुप्के ४४ अक्षर है । 'आदित्य-ब्रह्मचर्य' तृतीय-सवन है, जीवनके ४८ वर्ष मानो सोम-यागमे पढी

अथ यदवोच भूः प्रपद्य इति, पृथिवीं प्रपद्ये-
ऽन्तरिक्ष प्रपद्ये दिव प्रपद्य इत्येव तदवोचम् । ५ ।
अथ यदवोच भुवः प्रपद्य इत्यग्नि प्रपद्ये वायु
प्रपद्य आदित्य प्रपद्य इत्येव तदवोचम् । ६ ।
अथ यदवोच स्वः प्रपद्य इति । ऋग्वेद प्रपद्ये यजुर्वेद
प्रपद्ये सामवेद प्रपद्य इत्येव तदवोच तदवोचम् । ७ ।

जानेवाली जगतीके ४८ अक्षर है। बाह्य यज्ञ-यागादिमें लिप्त मानव-समाजको सम्बोधन करतेहुए ऋषि कहते है—

यह पुरुष मानो एक यज्ञ हो रहा है। इसके जीवनके जो प्रथम २४ वर्ष है, वे मानो यज्ञका प्रात -सवन है। यज्ञ तथा मनुष्य-जीवनकी तुलना करतेहुए कहते है कि गायत्रीके २४ अक्षर है, यज्ञमे गायत्री छन्दका सवन प्रात काल होता है, इस सवनका देवता वसु है। पुरुषके जीवन-रूपी यज्ञ के भी जो पहले २४ वर्ष है, वे मानो गायत्रीके २४ अक्षर है, पुरुषके प्रथम-भाग, अर्थात् उसके पहले २४ वर्षोका ब्रह्मचर्य गायत्रीका प्रात काल होनेवाला सवन है, जैसे गायत्रीका देवता वसु है वैसे इस ब्रह्मचर्यका अधिष्ठाता वसु ब्रह्मचारी है। वसु और प्राण एक ही बात है, वसु ब्रह्मचारी प्राणोका नियमन करता है। प्राणको वसु इसलिये कहते है क्योकि प्राणोके कारण ही तो सब जीव-धारियोका वास है।१।

अगर २४ वर्षके ब्रह्मचर्यकी अवस्थामें, इसके ब्रह्मचर्यमें कोई बाधा उपस्थित करे, तो वह ब्रह्मचारी अपने प्राणो तथा वसु-रूप अपने ब्रह्मचर्यके सकल्पको सम्बोधन करके कहे, हे प्राणो ! हे वसुओ ! मैने वसु-ब्रह्मचर्य धारण करनेका निश्चय किया था, किन्तु यह तो मेरा प्रात -सवन था, आप मुझे इस योग्य बनायें कि मै माध्यन्दिन-सवन-तक अपने सकल्पका विस्तार कर सकू, रुद्र-ब्रह्मचारी बन सकू, मेरा यह जीवन-यज्ञ प्राणरूप वसु-ब्रह्मचर्यतक पहुचकर ही लोप न हो जाय। इस धारणासे वह ऊपर उठ जाता है, मानसिक-विकारसे छूट जाता है।२।

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनं चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवो-ऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदं सर्वं वासयन्ति। १।

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यंदिनं सवनमनुसंतनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति। २।

पुरुषके जो ४४ वर्ष हैं, वे मानो यज्ञका माध्यन्दिन-सवन है। यज्ञमें त्रिष्टुप्‌के ४४ अक्षर होते हैं, त्रिष्टुप् छन्दका सवन मध्य-दिनमें होता है, इस सवनका देवता रुद्र है। पुरुषके ४४ वर्ष त्रिष्टुप्‌के ४४ अक्षर हैं, आयुके द्वितीय-कालका ब्रह्मचर्य त्रिष्टुप्‌का मध्य-दिनका सवन है, जैसे त्रिष्टुप्‌का देवता रुद्र है, वैसे पुरुषकी आयुके द्वितीय-भागके इस ब्रह्मचर्यका अधिष्ठाता रुद्र-ब्रह्मचारी है। रुद्र और प्राण एक ही बात है, रुद्र-ब्रह्मचारी प्राणोंको इतना वशमें करता है मानो उन्हें रुला देता है। प्राणको रुद्र इसलिये कहते हैं क्योंकि ये ही जब चल देते हैं, तब सब रोने लगते हैं।३।

अगर ४४ वर्षके ब्रह्मचर्यकी अवस्थामें इसके ब्रह्मचर्यमें कोई बाधा उपस्थित करे, तो वह ब्रह्मचारी अपने प्राणों तथा रुद्ररूप अपने ब्रह्मचर्यके संकल्पको सम्बोधन करके कहे, हे प्राणो! हे रुद्रो! मैंने रुद्र-ब्रह्मचर्य धारण करनेका निश्चय किया था, किन्तु यह तो मेरा माध्यन्दिन-सवन था, आप मुझे इस योग्य बनायें कि मैं तृतीय-सवन-तक अपने संकल्पका विस्तार कर सकूं, आदित्य-ब्रह्मचारी बन सकूं, मेरा यह जीवन-यज्ञ प्राण-रूप रुद्र-ब्रह्मचर्यतक पहुंचकर ही लोप न हो जाय। इस धारणासे वह ऊपर उठ जाता है, मानसिक-विकारसे छूट जाता है।४।

पुरुषके जो ४८ वर्ष हैं, वे मानो यज्ञका तृतीय-सवन है। यज्ञमें जगती-छन्दके ४८ अक्षर होते हैं, जगती-छन्दका सवन तृतीय-कालमें होता है, इस तृतीय-कालके सवनका देवता आदित्य है। पुरुषके ४८ वर्ष जगतीके ४८ अक्षर हैं; आयुके तृतीय भागका ब्रह्म-

---

अथ यानि चतुश्चत्वारिँशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनँ सवनं चतुश्चत्वारिँशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनँ सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदँ सर्वँ रोदयन्ति। ३।
तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनँ सवनं तृतीयसवनमनुसंतनुतेति माऽहं प्राणानाँ रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति। ४।

चर्य जगतीका सवन है, जैसे जागती-छन्दका देवता आदित्य है, वैसे पुरुषकी आयुके तृतीय-भागके इस ब्रह्मचर्य का अधिष्ठाता आदित्य ब्रह्मचारी है। आदित्य और प्राण एक ही बात है, आदित्य-ब्रह्मचारीके प्राण सूर्यकी भांति शुद्ध तथा नियमित होते हैं। प्राणको आदित्य इसलिये कहते हैं क्योंकि जैसे आदित्य सबको लियेहुए है, पकडेहुए है, वैसे प्राण भी शरीरकी सब इन्द्रियोंको लियेहुए हैं।५।

अगर ४८ वर्षके ब्रह्मचर्यकी अवस्थामें इसके ब्रह्मचर्यमें कोई बाधा उपस्थित करे, तो वह ब्रह्मचारी अपने प्राणों तथा आदित्य-रूप अपने ब्रह्मचर्यके सङ्कल्पको सम्बोधित करके कहे, हे प्राणो ! हे आदित्यो ! मैंने आदित्य-ब्रह्मचर्य धारण करनेका निश्चय किया था, किन्तु यह तो मेरा तृतीय-सवन था, आप मुझे इस योग्य बनायें कि मैं आयु-पर्यन्त इस सङ्कल्पका विस्तार कर सकूं, आमरण ब्रह्मचारी रह सकूं, मेरा यह जीवन-यज्ञ प्राण-रूप आदित्य-ब्रह्मचर्यतक पहुंचकर ही लोप न हो जाय। इस धारणासे वह ऊपर उठ जाता है, मानसिक विकारसे छूट जाता है।६।

यह कथानक चला आ रहा है कि इतराके पुत्र महीदासने यह सब जानतेहुए कहा था—ऐ मेरे ब्रह्मचर्यमें उपस्थित होनेवाले विघ्न ! तू मुझे क्यों सता रहा है ? मैं तेरी चोटसे हर्गिज नहीं डिगूंगा। कहते हैं कि इस सङ्कल्पसे ही महीदास २४+४४+४८=११६ वर्षतक जीवित रहा। जो इस रहस्यको जानता है वह ११६ वर्षतक जीता है।७।

अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनमष्टा-
चत्वारिंशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या
अन्वायत्ताः प्राणा वावाऽऽदित्या एते हीदं सर्वमाददते । ५ ।
तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा आदित्या
इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसंतनुतेति माऽहं प्राणानामादित्यानां
मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति । ६ ।
एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः स किं म
एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति । स ह षोडशं
वर्षशतमजीवत्प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद । ७ ।



११६ वर्षके आदित्य ब्रह्मचारी इतराके पुत्र महीदास ऋषि

तृतीय प्रपाठक--[सत्रहवा खड]

इस खडमें भी मनुष्य-जीवनको यज्ञ-सत्र बताया गया है। यज्ञके पाच अग होते हैं--दीक्षा, उपसद, स्तुत-शस्त्र, दक्षिणा तथा अवभृथ। मनुष्य-जीवन भी पाच प्रकारका है, एक-एक प्रकारके जीवनकी यज्ञके एक-एक अगके साथ तुलना करतेहुए ऋषि कहते हैं--

जो व्यक्ति खाता है, पीता है, परन्तु इनमें रम नहीं जाता, उसका जीवन मानो 'दीक्षा'का जीवन है ।१।

जो व्यक्ति खाता है, पीता है और उसमें रमा रहता है, उसका जीवन मानो 'उपसद'का जीवन है ।२।

जो व्यक्ति खूब हँसता है, खूब खाता है और मैथुन करता है, उसका जीवन मानो 'स्तुत-शस्त्र'का जीवन है ।३।

जो व्यक्ति तप, दान, ऋजुता, अहिंसा और सत्य-वचनमें जीवन व्यतीत करता है, उसका जीवन मानो 'दक्षिणा'का जीवन है ।४।

जब सोम-यागमें सोम-रसको निचोडने लगते हैं, तब 'सोष्यति' शब्दका प्रयोग होता है, अर्थात् वह सोम-रसको निचोडेगा, जब निचोड चुकते हैं, तब 'असोष्ट' शब्दका प्रयोग होता है, अर्थात् वह सोम-रसको निचोड चुका। 'सु' धातु 'रस निचोडने' और 'जन्म देने'—दोनों अर्थोंमें प्रयुक्त होती है, अतः 'सोष्यति' तथा 'असोष्ट' का जहाँ यज्ञमें 'रस निचोडेगा' और 'रस निचोडा'—ये दो अर्थ होते हैं, वहाँ मनुष्यके सम्बन्धमें 'सोष्यति'का अर्थ होगा 'जन्म देगा' और 'असोष्ट'का अर्थ होगा 'जन्म दिया'। जीवन-रूपी यज्ञमें व्यक्ति का मनुष्य-रूपमें पुनर्जन्म ही 'सोष्यति' तथा 'असोष्ट' है, अर्थात् मनुष्य का दुर्लभ जन्म लेना मानो सोम-रसका चू-पड़ना है, और 'सोष्यति' तथा 'असोष्ट'के अतिरिक्त मनुष्यका मर जाना मानो 'अवभृथ' है ।५।

जीवनको यज्ञरूप समझनेके इस रहस्यको घोर आङ्गिरसने देवकीके पुत्र कृष्णको बताया और उसकी सब जिज्ञासा मिट गई। घोर ऋषिने कृष्णसे कहा कि उपासक जीवनका अन्तकाल आ जानेपर इन तीन वाक्योंका उच्चारण करे—'अक्षित असि'—हे भगवन्! आप अक्षि-

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षा ।१।
अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति ।२।
अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरति स्तुतशस्त्रैरेव तदेति ।३।
अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा ।४।
तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य तन्मरणमेवास्यावभृथः ।५।

नाशी है, 'अच्युत असि'—हे भगवन् ! आप सदा एक-रस है, 'प्राण सशित असि'—हे भगवन् ! आप प्राणसे भी तीक्ष्ण है, सूक्ष्म है। इसपर दो ऋचाए है—।६।

द्यु-लोकसे भी परे जो ज्योति प्रदीप्त हो रही है, जो प्राचीनसे भी प्राचीन वस्तुका कारण है, उपासक लोग, सदा दिन रहनेवाली उस अखड ज्योतिका दर्शन करते है।

अन्धकारसे परे जो ज्योति दीख पडती है, उसे देखतेहुए हम ऊपर-ही-ऊपर उठें। उस सुख-स्वरूप ज्योतिको देखतेहुए देवो-में-देव सूर्यकी उत्कृष्टतर ज्योतिको प्राप्त हो, और उसके अनन्तर सब ज्योतियो-में-उत्तम, सब ज्योतियो-में-उत्तम ब्रह्म-ज्योतिको प्राप्त हो।७।

तृतीय प्रपाठक—[अठारहवा खड]

'अध्यात्म' उपासना, अर्थात् इस शरीर-रूपी 'पिंड'में ब्रह्मोपासना करतेहुए 'मन'को ब्रह्मका प्रतीक मानकर उपासना करे, 'अधिदैवत' उपासना, अर्थात् विश्व-रूपी 'ब्रह्माड'में ब्रह्मोपासना करतेहुए 'आकाश'को ब्रह्मका प्रतीक मानकर उपासना करे। ये दोनो अध्यात्म तथा अधिदैवत उपासनाए ऋषियोने कही है।१।

यह ब्रह्म चार चरणोवाला है। मन-ब्रह्मका वाणी चरण है, प्राण चरण है, नेत्र चरण है, श्रोत्र चरण है। यह अध्यात्म हुआ। आकाश-ब्रह्मका अग्नि चरण है, वायु चरण है, आदित्य चरण है, दिशाए चरण है। यह अधिदैवत हुआ। ये दोनो अध्यात्म (पिंड-

---

तद्धैतद् घोर आगिरस कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापि-
पास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रय प्रतिपद्येताक्षितमस्य-
च्युतमसि प्राणस ँशितमसीति। तत्रैते द्वे ऋचौ भवत। ६।
आदित्प्रत्नस्य रेतस उद्वय तमसस्परि ज्योति पश्यन्त उत्तर ँ स्व
पश्यन्त उत्तर देव देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तममिति ज्योतिरुत्तममिति। ७।
मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो
ब्रह्मेत्युभयमादिष्ट भवत्यध्यात्म चाधिदैवत च। १।

सम्बन्धी) तथा अधिदैवत (ब्रह्माण्ड-सम्बन्धी) उपासनाएं ऋषियोंने कही हैं ।२।

पिंडमें वाणी 'मन-ब्रह्म'का चार चरणोंमेंसे एक चरण है, यह ब्रह्माण्डके 'आकाश-ब्रह्म'के चरण अग्नि-ज्योतिसे प्रकाशमान तथा प्रदीप्त हो रही है। जो उपासक ऐसा जानता है वह कीर्तिसे, यशसे तथा ब्रह्म-तेजसे प्रकाशमान तथा प्रदीप्त रहता है ।३।

पिंडमें प्राण, 'मन-ब्रह्म'का चार चरणोंमेंसे एक चरण है, यह ब्रह्माण्डके 'आकाश-ब्रह्म'के चरण वायु-ज्योतिसे प्रकाशमान तथा प्रदीप्त हो रहा है। जो उपासक ऐसा जानता है वह कीर्तिसे, यशसे तथा ब्रह्म-तेजसे प्रकाशमान तथा प्रदीप्त रहता है ।४।

पिंडमें चक्षु, 'मन-ब्रह्म'का चार चरणोंमेंसे एक चरण है, यह ब्रह्माण्डके 'आकाश-ब्रह्म'के चरण आदित्य-ज्योतिसे प्रकाशमान तथा प्रदीप्त हो रहा है। जो उपासक ऐसा जानता है वह कीर्तिसे, यशसे तथा ब्रह्म-तेजसे प्रकाशमान तथा प्रदीप्त रहता है ।५।

पिंडमें श्रोत्र, 'मन-ब्रह्म'का चार चरणोंमेंसे एक चरण है, यह ब्रह्माण्डके 'आकाश-ब्रह्म'के चरण दिक्-ज्योतिसे प्रकाशमान तथा प्रदीप्त हो रहा है। जो उपासक ऐसा जानता है वह कीर्तिसे, यशसे तथा ब्रह्म-तेजसे प्रकाशमान तथा प्रदीप्त रहता है ।६।

तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म। वाक्पादः प्राणः पादश्चक्षुः पादः श्रोत्रं पादः इत्यध्यात्ममथाधिदैवतमग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पाद इत्युभयमेवादिष्टं भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च ।२।

वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ।३।

प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ।४।

चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स आदित्येन ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ।५।

श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स दिग्भिर्ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद य एवं वेद ।६।

तृतीय प्रपाठक--[उन्नीसवा खड]

'आदित्य ब्रह्म है'--यह महर्षियोका आदेश है । इस आदेशकी व्याख्या करते है--यह ससार पहले 'असत्' ही था, अव्यक्त था । वह ब्रह्म ही उस समय 'सत्' था, व्यक्त था । ब्रह्मने अपनी सत्ताको प्रकट किया, और अण्डाकार प्रकृति-रूप पिडका आवर्तन शुरू किया । सवत्सरतक उस अण्डेको सेया । उसके दो टुकडे हो गये, अण्डेके दो कपाल हो गये--एक रजत वर्णका, दूसरा सुवर्णके वर्णका ।१।

इस अण्डेका जो चादीके वर्णका टुकडा था, वह तो यह पृथिवी है, जो सोनेके वर्णका टुकडा था, वह द्यु-लोक है । अण्डेमें जो जेर थी, वह पर्वत है, जो झिल्ली थी, वह मेघ और नीहार है, जो धमनिया थीं, वे नदिया है, जो बस्ति का जल था—मूत्र—वह समुद्र है ।२।

इस अण्डेमेंसे जो जीव उत्पन्न हुआ, यही वह आदित्य है । जब सूर्य उत्पन्न हो रहा था, तब 'उलूलव' अर्थात् उरुरव, उच्च-घोष होने लगे, सब प्राणी उठे, और उनकी कामनाए उठ खडी हुई । इसी कारण सूर्यके उदय तथा अस्त होनेपर पशु-पक्षियोकी आवाजें आने लगती है, सब प्राणी उठ खडे होते है, उनकी कामनाए जाग जाती है ।३।

इस प्रकार आदित्यको ब्रह्मका प्रतीक मानकर जो उसकी उपासना करता है, उसे शीघ्र ही साधु-घोष आ पहुचते है, और उसे हर्षित करते है, हर्षित करते है ।४।

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानमसदेवेदमग्र आसीत् ।
तत्सदासीत्तत्समभवत्तदाण्ड निरवर्तत तत्सवत्सरस्य मात्रामशयत
तन्निरभिद्यत ते आण्डकपाले रजत च सुवर्ण चाभवताम् । १ ।
तद्यद्रजत ँ सेय पृथिवी यत्सुवर्ण ँ सा द्यौर्यज्जरायु ते पर्वता यदुल्ब ँ
स मेघो नीहारो या धमनयस्ता नद्यो यद्वास्तेयमुदक ँ स समुद्र । २ ।
अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यस्त जायमान घोषा उलूलवोऽनूदतिष्ठ-
न्त्सर्वाणि च भूतानि च सर्वे च कामास्तस्मात्तस्योदय प्रति प्रत्यायन प्रति
घोषा उलूलवोऽनूत्तिष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे चैव कामा । ३ ।
स य एतमेव विद्वानादित्य ब्रह्मेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेन ँ
साधवो घोषा आ च गच्छेयुरुप च निम्रेडेरन्निम्रेडेरन् । ४ ।

(सृष्टिको अडेमे उत्पन्न जीवकी कल्पना करके यह स्थल लिखा गया है। इसका यह अभिप्राय नही कि इसीप्रकार सृष्टिकी उत्पत्ति हुई। अभिप्राय सिर्फ इतना है कि अगर सृष्टिकी कल्पना एक अडेसे करे तो कैसा वर्णन होगा ? जैसा वर्णन होगा, वह ऋषिने अपनी कल्पनाके सहारे यहा कर दिया।)

चतुर्थ प्रपाठक—[पहला खड]

(गाडीवान रैक्व ऋषिकी 'सवर्ग-विद्या', १ से ३ खड)

प्राचीन-कालमे जानश्रुति नामक एक राजा था जिसके पिता पितामह तथा प्रपितामह तीनो जीवित थे, इसलिये वह 'पौत्रायण', अर्थात् पुत्र-पौत्रोवाला भी कहाता था। वह श्रद्धासे दान देता था, थोडा नहीं बहुत दान देता था, उसके यहा खूब अन्न पकता था। उसने जगह-जगह धर्मशालाए बनवा दी थी ताकि भिन्न-भिन्न स्थानोसे आकर अतिथि लोग उसके यहा भोजन किया करें।१।

एक बार रात्रिको कुछ हस—अर्थात् परमहस महात्मा लोग—उसके यहा आ टिके। उनमेंसे एकने दूसरेसे कहा—ऐ भद्र-नयन ! जानश्रुति पौत्रायण राजाका यश द्यु-लोकके समान फैल रहा है। उससे टक्कर न ले बैठना, कहीं वह तुझे अपने तेजसे भस्म न कर डाले।२।

उसे दूसरे महात्माने उत्तर दिया—अरे, तुमने इस साधारण-से राजाको ऐसे कैसे कहा जैसे मानो वह गाडीवाला रैक्व ऋषि हो। पहले महात्माने पूछा, यह गाडीवान रैक्व ऋषि कैसा है ? ।३।

दूसरे महात्माने उत्तर दिया, जैसे जूएके खेलमें सबसे मुख्य पासा

ॐ जानश्रुतिर्ह पौत्रायण श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस।
न ह सर्वत आवसथान्मापयाचक्रे सर्वत एव मेऽन्स्यन्तीति। १।
अथ ह हंसा निशायामतिपेतुस्तद्धैवं हंसो हंसमभ्युवाद
हो होऽयि भल्लाक्ष भल्लाक्ष जानश्रुते पौत्रायणस्य सम
दिवा ज्योतिराततं तन्मा प्रसाङ्क्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीरिति। २।
तमु ह परः प्रत्युवाच कम्वर एनमेतत्सन्तं सयुग्वानमिव
रैक्वमात्थेति। यो नु कथं सयुग्वा रैक्व इति। ३।

'कृति' कहाता है, नीचेके पासे 'अय' कहाते हैं, और 'कृत'के आपडने-पर उससे निचले सब 'अय' उसीमें आ जाते हैं, इसी प्रकार यह ऋषि 'कृत'के समान है, लोग जो-कुछ भलाई करते हैं उसका फल रैक्वको मिल जाता है। जो व्यक्ति उस रहस्यको जानता है जिसे रैक्व जानता है, वही कुछ जानता है, ऐसा मैंने अन्य महात्माओसे भी कहा है ।४।

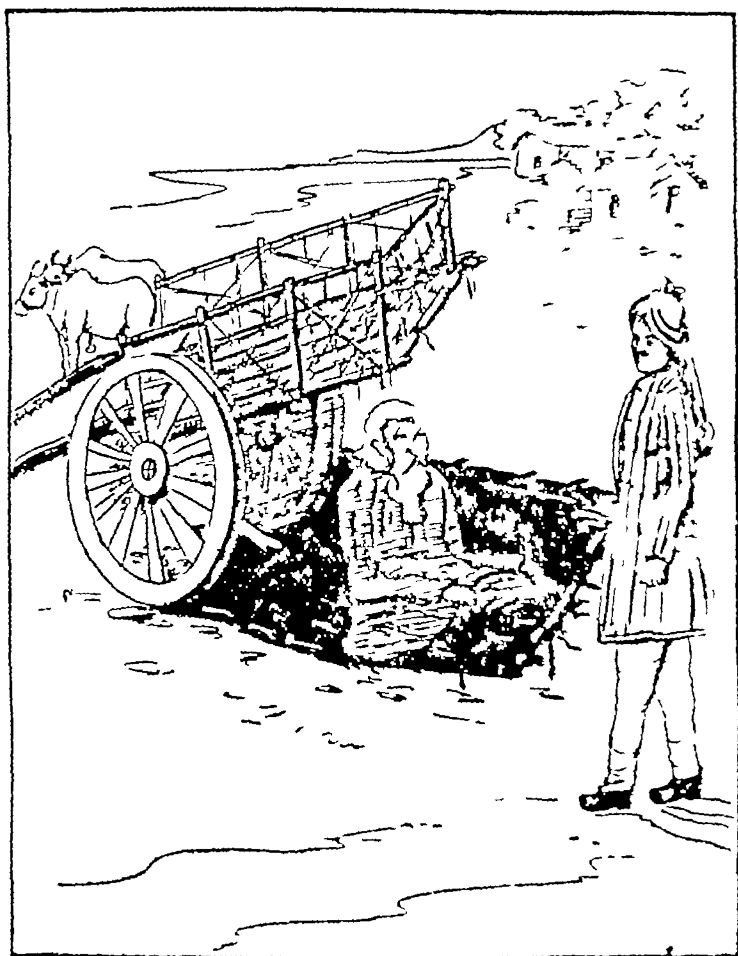
महात्माओका यह सवाद जानश्रुति पौत्रायणने सुन लिया। उसने प्रात.काल उठते ही अपने सारथिसे कहा—ऐ प्यारे! तू क्या मेरी प्रशसा गाडीवान रैक्व ऋषिकी प्रशसाकी तरह करता है? सारथिने पूछा—वह गाडीवान रैक्व ऋषि कैसा है ।५।

राजाने उत्तर दिया, रातको मैंने दो महात्माओको यह कहते सुना है—"जैसे जूएमें 'कृत' पासेके आ पडनेपर उससे निचले सब 'अय' उसीमें आ जाते हैं, इसीप्रकार यह ऋषि 'कृत'के समान है, लोग जो-कुछ भी भलाई करते हैं उसका फल रैक्वको मिल जाता है। जो व्यक्ति उस रहस्यको जानता है जिसे रैक्व जानता है—वही कुछ जानता है, ऐसा मैंने अन्य महात्माओसे भी कहा है।"—इसलिये हे सारथि! यह पता लगाओ कि यह रैक्व ऋषि कौन है? ।६।

सारथिने खोज की, और लौटकर राजासे बोला, कुछ पता नही चला। राजाने कहा, अरे! उस ऋषिका वहा अन्वेषण करो जहा ब्रह्म-ज्ञानियोको ढूढा जाना चाहिये, महलोमें नही, झोपडोमें उसकी खोज करो ।७।

यथा कृताय विजितायाधरेया सयन्त्येवमेन ँ सर्वं तदभिसमैति यत्किच प्रजा साधु कुर्वन्ति। यस्तद्वेद यत्स वेद। स मयैतदुक्त इति। ४।
तदु ह जानश्रुति पौत्रायण उपशुश्राव। स ह सजिहान एव क्षत्तारमुवाच अङ्गारे ह सयुग्वानमिव रैक्वमात्थेति। यो नु कथ ँ सयुग्वा रैक्व इति। ५।
यथा कृताय विजितायाधरेया सयन्त्येवमेन ँ सर्वं तदभिसमैति यत्किच प्रजा साधु कुर्वन्ति। यस्तद्वेद यत्स वेद। स मयैतदुक्त इति। ६।
स ह क्षत्तान्विष्य नाविदमिति प्रत्येयाय त ँ होवाच यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेषणा तदेनमर्च्छेति। ७।

सारथि फिर निकला। एक गाडीकी छायाके नीचे दादको खुजलाते हुए एक व्यक्तिको देखकर वह उसके निकट बैठ गया। उससे पूछा—भगवन्! क्या आप ही गाडीवान रैक्व ऋषि हैं? उसने उत्तर दिया—अरे हाँ! मैं ही रैक्व हूँ। सारथिने लौटकर राजासे कहा—मैंने रैक्व का पता लगा लिया।८।



बैलगाडीकी छायाके नीचे बैठे रैक्व ऋषि

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कषमाणमुपोपविवेश तं हाभ्युवाद त्वं नु भगवः सयुग्वा रैक्व इत्यहं ह्यरा३ इति ह प्रतिजज्ञे स ह क्षत्ताविदमिति प्रत्येयाय ।८।

चतुर्थ प्रपाठक--[दूसरा खड]

तब जानश्रुति पौत्रायण छ सौ गौए, एक रत्नमाल और खच्चरोका रथ लेकर चल पडे और ऋषिके पास पहुचकर बोले--।१।

हे रैक्व ! ये छ सौ गौए है, यह रत्नमाल है, यह खच्चरोका रथ है। हे भगवन् ! जिस देवताकी आप उपासना करते है उसका मुझे उपदेश दीजिए ।२।

ऋषि बोले---अरे शूद्र ! यह हार और ये गौए तू अपने पास रख। जानश्रुति पौत्रायण फिर एक सहस्र गौए, रत्नमाल, खच्चरोका रथ और निज कन्याको लेकर ऋषिके पास पहुचा ।३।

बोला, हे रैक्व ! ये एक सहस्र गौए है, ये रत्नोकी माला है, ये खच्चरोका रथ है, ये मेरी कन्या है जिसे मै आपको देनेको तैयार हू, यह ग्राम जिसमें आप बिराजते है---यह भी आपकी भेंट है। हे भगवन् ! मुझे आप उपदेश दीजिये ।४।

ऋषिने कन्याके मुखको ऊचे उठाकर कहा---ऐ शूद्र ! तुम ये गौए तो लाये हो, परन्तु मै कुछ न बोलता, इस कन्याके मुखकी लाज रखने के लिये मुझे बोलनेको बाधित होना पडेगा। जहा रैक्व ऋषिने निवास किया उस स्थानका नाम रैक्वपर्ण प्रसिद्ध रहा---यह स्थान महावृष नामक उपवनोमेंसे एक था। राजाको ऋषिने निम्न उपदेश दिया---।५।

तदु ह जानश्रुति पौत्रायण षट् शतानि गवा
निष्कमश्वतरीरथ तदादाय प्रतिचक्रमे। त ँ हाभ्युवाद। १।
रैक्वेमानि षट् शतानि गवामय निष्कोऽयमश्वतरीरथो नु
म एता भगवो देवता ँ शाधि या देवतामुपास्स इति। २।
तमु ह पर प्रत्युवाचाह हारे त्वा शूद्र तवैव सह
गोभिरस्त्विति । तदु ह पुनरेव जानश्रुति पौत्रायण
सहस्र गवा निष्कमश्वतरीरथ दुहितर तदादाय प्रतिचक्रमे। ३।
त ँ हाभ्युवाद रैक्वेद ँ सहस्र गवामय निष्कोऽयमश्वतरीरथ
इय जायाऽय ग्रामो यस्मिन्नास्सेऽन्वेव मा भगव शाधीति। ४।
तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाच। आजहारेमा शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथा
इति । ते हैते रैक्वपर्णा नाम महावृषेषु यत्रास्मा उवास तस्मै होवाच। ५।

(ऋषिने राजाको शूद्र इसलिये कहा क्योंकि वह भोला सम-झता था कि ऐसे प्रलोभनोंसे ऋषिके मनको वशमें किया जा सकेगा। इन वस्तुओंमेंसे तो रैक्वने कुछ भी नहीं लिया, परन्तु राजाका उत्साह देखकर उसे उपदेश दे दिया।)

चतुर्थ प्रपाठक—[तीसरा खंड]

हे राजन्! 'अधिदैवत', अर्थात् 'ब्रह्मांड'-(Macroscopic point of view) की दृष्टिसे वायु ही 'संवर्ग' है; सबको अपने भीतर समा लेनेवाली है। जब आग बुझती है तो वायुमें ही लौट जाती है, जब सूर्य अस्त होता है तो वायुमें ही लौट जाता है, जब चन्द्र अस्त होता है तो वह भी वायुमें ही लौट जाता है।१।

जब पानी सूखते हैं तो वायुमें ही लौट जाते हैं, वायु ही इन सबका संवरण करता है, इन सबको ढांप लेता है। यह अधिदैवत, अर्थात् ब्रह्मांडकी दृष्टिसे वर्णन हुआ।२।

अब 'अध्यात्म', अर्थात् 'पिंड'-(Microscopic point of view) की दृष्टिसे सुनो। पिंड, अर्थात् शरीरकी दृष्टिसे प्राण ही 'संवर्ग' है, सब इन्द्रियोंको अपने भीतर समा लेनेवाला है। जब मनुष्य सोता है तो वाणी प्राणको ही लौट जाती है, प्राणको ही चक्षु, प्राणको ही श्रोत्र, प्राणको ही मन लौट जाता है, प्राण ही इन सबका संवरण करता है, इन सबको ढांपता है।३।

इसलिये 'संवर्ग' अर्थात् लय-स्थान दो ही हैं—ब्रह्मांडके देवोंमें 'वायु' तथा पिंडकी इन्द्रियोंमें 'प्राण'।४।

वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ।१।
यदाप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति वायुर्ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इत्यधिदैवतम् ।२।
अथाध्यात्मम्। प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इति ।३।
तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु ।४।

राजन् ! एक वारकी वात है कि शौनक कापेय तथा अभिप्रतारि काक्षसेनि को जव भोजन परोसा जा रहा था, तव उनसे एक ब्रह्मचारी ने आकर भिक्षा मागी। उसे उन्होने भिक्षा न दी।५।

ब्रह्मचारीने कहा--अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जल--ये चार, एव वाणी, चक्षु, श्रोत्र तथा मन--ये चार, मानो महात्मा है, इन चारोके मुकाबिलेमें एक देव है--अधिदैवत (ब्रह्माडकी) दृष्टिसे 'वायु' तथा अध्यात्म (पिडकी) दृष्टिसे 'प्राण'। वह कैसा है ? वह ऐसा है जो इकला होताहुआ इन चारोको खा जाता है, परन्तु फिर भी हे कापेय ! हे अभिप्रतारिन् ! वह भुवनोकी रक्षा करता है, अनेक रूपोमें वह बस रहा है, फिर भी उसे लोग देखते नही। यह अन्न उसी प्राणके लिये तो है, मै उस प्राणकेलिये ही तो भिक्षा मागता था, परन्तु जिसकेलिये अन्न है उसीको तुमने नहीं दिया, तुमने मुझे नही प्राण-ब्रह्मको अन्न देनेसे इन्कार कर दिया।६।

शौनक कापेयने ब्रह्मचारीके कथनपर मनन किया और उसे कहा--निस्सदेह ब्रह्माडमें 'वायु' उन चारो देवोका तथा पिडमें 'प्राण' चारो इन्द्रियोका आत्मा है, ये चारो 'वायु' तथा 'प्राण'की क्रमश प्रजाए है। 'वायु' तथा 'प्राण' इन चारोको खा भी जाते है, और जाग्रत्-में इन्हें प्रकट भी कर देते है। 'वायु' तथा 'प्राण' सोनेके दातवाले है, खा जाते है--सब-कुछ अपने भीतर समा लेते है, मानो जीवित हो। इनकी महिमा महान् है क्योकि स्वय न खाये जातेहुए ही जो खाया नहीं जा सकता उसे भी खा जाते है। हे ब्रह्मचारिन् ! हम भी ब्रह्माडमें 'वायु-ब्रह्म' तथा पिडमें 'प्राण-ब्रह्म'की उपासना करते है।

अथ ह शौनक च कापेयमभिप्रतारिण च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे तस्मा उ ह न ददतु ।५।
स होवाच। महात्मनश्चतुरो देव एक क स जगार भुवनस्य गोपास्त कापेय नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन्बहुधा वसन्त यस्मै वा एतदन्न तस्मा एतन्न दत्तमिति ।६।

यह कहकर उसने परोसनेवालेको कहा कि ब्रह्मचारीको भिक्षा दे दो ।७।

उन्होने ब्रह्मचारीको भिक्षा दे दी । 'वायु' तथा 'प्राण'के सबधमें यह कथानक सुनानेके बाद रैक्वने फिर कहा—राजन् ! 'ब्रह्माड'के ४ देवता (अग्नि, सूर्य, चन्द्र, जल) तथा 'वायु' मिलकर पाच होते हैं, इसी प्रकार 'पिड'की इन्द्रिया (वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन) तथा 'प्राण' मिलकर पाच होते है । ये सब दस है, और ये दसो मानो 'कृत' हैं, ससारका जूआ खेलनेके पासे है, इन्हींमें यह विश्वका प्रपंच खेल रहा है । जैसे 'वायु' अग्नि-सूर्य-चन्द्र-जल इन चारोका भक्षण कर जाती है, इन्हें अपना 'अन्न' बना लेती है, जैसे 'प्राण' वाणी-चक्षु-श्रोत्र-मन इन चारोको समेट लेता है, इन्हें अपना 'अन्न' बना लेता है, वैसे विश्वकी यह 'विराट्'-शक्ति सबको 'अन्न' बनाकर उसका भक्षण कर रही है, सबकी 'अन्नाद' है, सबको जुएमें लगाए बैठी है, सबकी 'भोक्ता' है, और 'द्रष्टा' रूपमें वर्तमान है । जो यह जानता है, जो यह जानता है, वह 'द्रष्टा' रूप होकर विचरता है, ससारमें 'भोक्ता' होकर रहता है ।८।

('सवर्ग'-विद्याका अभिप्राय यह है कि 'वायु' तथा 'प्राण'की तरह 'भोक्ता' बनकर रहे, 'भोग्य' बनकर नहीं, ससारको अपने अन्दर समेटे, दूसरोमे सिमिटता न फिरे, जूएके 'कृत' पासेकी तरह ऐसा पासा फेंके कि अन्य सब पासे इसीमे आ जाय, सबको हरा दे, सबको 'अन्न' बना दे, 'भोग्य' बना दे । स्वय ससारका भोक्ता, ससारका राजा बनकर रहे—यह गाडीवान रैक्व ऋषिकी 'सवर्ग'-विद्या है ।)

तदु ह शौनक कापेय प्रतिमन्वान प्रत्येयायाऽऽत्मा देवाना जनिता प्रजाना्ँ हिरण्यदँष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यदनन्नमत्तीति वै वय ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे दत्तास्मै भिक्षामिति । ७ ।
तस्मा उ ह ददुस्ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृत तस्मात्सर्वासु दिक्ष्वन्नमेव दश कृतँ सैषा विराडन्नादी तयेदँ सर्वं दृष्टँ सर्वमस्येद दृष्टं भवत्यन्नादो भवति य एव वेद य एव वेद । ८ ।

चतुर्थ प्रपाठक—[चौथा खड]

(ब्रह्मज्ञानी सत्यकामकी कथा, ४ से ९ खड)

कहते हैं कि एक बार जबालाके पुत्र सत्यकामने अपनी मातासे पूछा, हे भवति! मेरी इच्छा ब्रह्मचर्य धारण करनेकी हैं, मुझे यह तो बताओ, मेरा क्या गोत्र है? ।१।

माताने पुत्रसे कहा, बेटा! मै नहीं जानती तू किस गोत्रका है। मै युवावस्थामें अनेक व्यक्तियोंकी सेवा किया करती थी, उसी समय मैंने तुझे पाया, इसलिये मुझे नहीं मालूम तेरा क्या गोत्र है। बस, जबाला मेरा नाम है, सत्यकाम तेरा नाम है। सो गुरुके पूछनेपर कह देना कि तू जाबाल सत्यकाम है।२।

सत्यकाम गौतम-गोत्री हारिद्रुमत मुनिके पास जाकर बोला, हे भगवन्! मै आपके पास ब्रह्मचर्य-वास करूगा, इस कारण मै आपके चरणोमें उपस्थित हुआ हू।३।

मुनि ने पूछा, सोम्य! तेरा गोत्र क्या है? उसने उत्तर दिया, हे भगवन्! मै नहीं जानता, मेरा क्या गोत्र है। मैंने मातु-श्रीसे पूछा था, उन्होने मुझे उत्तर दिया कि युवावस्था में वे अनेक व्यक्तियो की सेवा किया करती थीं, उसी समय मेरा जन्म हुआ, इसलिये उन्हें नहीं मालूम कि मेरा क्या गोत्र है। माताने कहा कि जबाला उनका नाम है, सत्यकाम मेरा नाम है। सो भगवन्! मै जाबाल सत्यकाम हू।४।

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयाचक्रे ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि किंगोत्रो न्वहमस्मीति । १ ।

सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि। बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साऽहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि। जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि। स सत्यकाम एव जाबालो ब्रुवीथा इति। २।

स ह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति । ३ ।

तँ होवाच किंगोत्रो नु सोम्यासीति। स होवाच नाहमेतद्वेद भो यद्गोत्रोऽहमस्म्यपृच्छं मातरँ सा मा प्रत्यब्रवीद्बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साऽहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति। सोऽहँ सत्यकामो जाबालोऽस्मि भो इति। ४।

मुनि कहने लगे, जो ब्राह्मण न हो वह तो ऐसी बात कह नहीं सकता। हे सोम्य! समिधा ले आ, मैं तुझे उपनयनकी दीक्षा दूंगा। तू सत्यसे नहीं डिगा। उसका उपनयन करके मुनिने कृश तथा निर्बल ४०० गौएं छांटकर उसे कहा, हे सोम्य! इनके पीछे जाओ, इनकी सेवा करो। गौओंको हांकते समय सत्यकामने गुरुसे कहा, जबतक ये बछड़े-बछड़ी बढ़कर १००० नहीं हो जाएंगे, मैं



सत्यकाम ४०० गौओंको लेकर उन्हें चराने गया

नहीं लौटूंगा । वह वर्षोतक प्रवासमें रहा । वे जब सहस्त्र हो गये ।५।

चतुर्थ प्रपाठक---[पाचवा खड]

तब उन गाय-बैलोमेंसे एक बैलने सत्यकामको पुकारा---सत्य-काम ! सत्यकामने यह सुनकर उत्तर दिया, भगवन् ! क्या आज्ञा है ? बैलने कहा, हे सोम्य ! हम हजार होगये है, हमें आचार्य-कुलमें पहुचा दो ।१।

तुमने इतने साल हमारी सेवा की है इसलिये तुझे 'ब्रह्म'के एक पादका रहस्य समझा दूं । सत्यकामने कहा, भगवन् ! समझाइये । तब उसे बैलने कहा, हे सोम्य ! ब्रह्मके चार पाद है, चार चरण है, जिनमेंसे एकका नाम 'प्रकाशवान्' है । इस 'प्रकाशवान्'-चरणकी चार कलाए है---प्राची-दिक्-कला, प्रतीची-दिक्-कला, दक्षिण-दिक्-कला, उदीची-दिक्-कला ।२।

जो व्यक्ति 'ब्रह्म'के चार कलाओवाले 'प्रकाशवान्-चरण'के रहस्यको जानताहुआ उसकी उपासना करता है वह इस लोकमें स्वय 'प्रकाशवान्' होजाता है, और जो इसप्रकार ब्रह्मके 'चतुष्कल-प्रकाश-वान्-चरण'के रहस्यको जानताहुआ उसकी उपासना करता है वह दूसरे 'प्रकाशवान्' लोकोको भी जीत लेता है ।३।

त॑ होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति । समिध॑ सोम्याऽऽहरोप त्वा नेष्ये । न सत्यादगा इति । तमुपनीय कृशानामबलाना चतु शता गा निराकृत्योवाचेमा सोम्यानुसव्रजेति । ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणावर्तयेति । स ह वर्षगण प्रोवास । ता यदा सहस्र॑ सपेदु ।५।

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद, सत्यकाम ३ इति, भगव इति ह प्रतिशुश्राव । प्राप्ता सोम्य सहस्र॑ स्म प्रापय न आचार्यकुलम् ।१।

ब्रह्मणश्च ते पाद ब्रवाणीति । ब्रवीतु मे भगवानिति । तस्मै होवाच । प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैष वै सोम्य चतुष्कल पादो ब्रह्मण प्रकाशवान्नाम ।२।

स य एतमेव विद्वा॑श्चतुष्कल पाद ब्रह्मण प्रकाशवानित्युपास्ते प्रकाशवानस्मिँल्लोके भवति प्रकाशवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेव विद्वा॑श्चतुष्कल पाद ब्रह्मण प्रकाशवानित्युपास्ते ।३।

(इस प्रकरणका यह अभिप्राय है कि क्योंकि सत्यकाम गौओंके साथ बैलको लेकर चारों दिशाओंमें फिरता रहा इसलिये इस साधनासे उसे मानो बैलके द्वारा यह ज्ञान हो गया कि इन चारों दिशाओंमें जिनमें मैं फिरता रहा ब्रह्मका ही प्रकाश फैल रहा है।)

चतुर्थ प्रपाठक—[छठा खंड]

बैलने फिर कहा—तुझे ब्रह्मके दूसरे चरणका ज्ञान अग्नि देगा। सत्यकामने अगले दिन आचार्य-कुल चलनेकेलिये प्रस्थान कर दिया, और गौओंको हांक दिया। उन्हें चलतेहुए जहां सन्ध्या हुई वहां आग जलाकर, गौओंको रोककर, समिधाका आधान करके, अग्निके पीछे पूर्वाभिमुख बैठ गया।१।

उस समय उसके सामने अग्नि-देवता प्रकट हुआ और पुकारा—सत्यकाम! सत्यकामने यह सुनकर उत्तर दिया, भगवन्! क्या आज्ञा है?।२।

अग्नि-देवने कहा, हे सोम्य! 'ब्रह्म'के दूसरे पादका रहस्य मैं तुझे समझा दूं। सत्यकामने कहा, भगवन्! समझाइये। अग्नि-देव बोले, हे सोम्य! ब्रह्मके चार पाद हैं जिनमेंसे एकका नाम 'अनन्तवान्' है। इस 'अनन्तवान्'-चरणकी चार कलाएं हैं—पृथिवी-कला, अन्तरिक्ष-कला, द्यौ-कला, समुद्र-कला।३।

जो व्यक्ति 'ब्रह्म'के चार कलाओंवाले 'अनन्तवान्-चरण'के रहस्यको जानताहुआ उसकी उपासना करता है वह इस लोकमें

'अनन्तवान्' होजाता है, और जो इसप्रकार ब्रह्मके 'चतुष्कल-अनन्तवान्-चरण'के रहस्यको जानताहुआ उसकी उपासना करता है वह दूसरे 'अनन्तवान्' लोकोंको भी जीत लेता है।४।

(गौ चरातेहुए सत्यकामका एक साथी बैल था जिसने पहला उपदेश दिया। दूसरा साथी अग्नि थी—वह दिनको उससे भोजन बनाता, और रातको उसे तापता था। अग्निने उसे भौतिक-प्रकाश तो दिया ही, परन्तु साथ ही यह आध्यात्मिक-प्रकाश भी दिया कि पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु, समुद्र कितने विशाल हैं, मानो अनन्त हैं, इसी प्रकार ब्रह्म भी अनन्त है।)

चतुर्थ प्रपाठक--[सातवा खण्ड]

अग्निने फिर कहा—तुझे ब्रह्मके तीसरे चरणका ज्ञान हंस, अर्थात् सूर्य देगा। सत्यकामने अगले दिन आचार्य-कुल चलनेकेलिये प्रस्थान कर दिया, और गौओंको हाक दिया। उन्हें चलतेहुए जहा सन्ध्या हुई वहा आग जलाकर गौओंको रोककर, समिधाका आधान करके, अग्निके पीछे पूर्वाभिमुख बैठ गया।१।

उस समय उसके सामने सूर्य-देव प्रकट हुआ और पुकारा—सत्यकाम! सत्यकामने यह सुनकर उत्तर दिया, भगवन्! क्या आज्ञा है? ।२।

सूर्य-देवने कहा, हे सोम्य! 'ब्रह्म'के तीसरे पादका रूप मैं तुझे समझा दू। सत्यकामने कहा, भगवन्! समझाइये। सूर्य-देव बोले,

---

स य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्यु-
पास्तेऽनन्तवानस्मिँल्लोके भवत्यनन्तवतो ह लोकाञ्जयति
य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते । ४ ।

हँसस्ते पादं वक्तेति । स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयां-
चकार । ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय, गा
उपरुध्य, समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश । १ ।

तँ हँस उपनिपत्याभ्युवाद, सत्यकाम ३ इति, भगव इति ह प्रतिशुश्राव । २ ।

हे सोम्य ! ब्रह्मके चार पाद हैं जिनमेंसे एकका नाम 'ज्योतिष्मान्' है। इस 'ज्योतिष्मान्'-चरणकी चार कलाएं हैं—अग्नि-कला, सूर्य कला, चन्द्रकला, विद्युत्-कला।३।

जो व्यक्ति 'ब्रह्म'के चार कलाओंवाले 'ज्योतिष्मान्-चरण'के रहस्यको जानताहुआ उसकी उपासना करता है वह इस लोकमें 'ज्योतिष्मान्' होजाता है, और जो इस प्रकार ब्रह्मके 'चतुष्कल-ज्योतिष्मान्-चरण'के रहस्यको जानताहुआ उसकी उपासना करता है वह दूसरे 'ज्योतिष्मान्' लोकोंको भी जीत लेता है।४।

(वन-वनमें भ्रमण करनेवाले सत्यकामके बैल तथा अग्निके अतिरिक्त तीसरा साथी सूर्य था। सूर्यने भी उसे यही शिक्षा दी कि अग्नि, सूर्य, चन्द्र, विद्युत्—सबमें ब्रह्मकी ही ज्योति छिटक रही है। इसीकी ज्योतिसे सब ज्योतिष्मान् है।)

चतुर्थ प्रपाठक—[आठवां खण्ड]

सूर्यने फिर कहा—तुझे ब्रह्मके चौथे चरणका ज्ञान मद्गु, अर्थात् वायु देगा। सत्यकामने अगले दिन आचार्य-कुल चलनेकेलिये प्रस्थान कर दिया, और गौओंको हांक दिया। उन्हें चलतेहुए जहां सन्ध्या हुई वहां आग जलाकर, गौओंको रोककर, समिधाका आधान करके, अग्निके पीछे पूर्वाभिमुख बैठ गया।१।

उस समय उसके सामने वायु-देव प्रकट हुआ और पुकारा—

सत्यकाम ! सत्यकामने यह सुनकर उत्तर दिया, भगवन् ! क्या आज्ञा है ?।२।

वायु-देवने कहा, हे सोम्य ! 'ब्रह्म'के चतुर्थ-पादका रूप मैं तुझे समझा दूं । सत्यकामने कहा, भगवन् ! समझाइये । वायु-देव बोले, हे सोम्य ! ब्रह्मके चार पाद हैं जिनमेंसे एकका नाम 'आयतन-वान्' है । इस 'आयतनवान्'-चरण की चार कलाए हैं---प्राण-कला, चक्षु-कला, श्रोत्र-कला, मन-कला ।३।

जो व्यक्ति ब्रह्मके चार कलाओवाले 'आयतनवान्-चरण'के रहस्य-को जानताहुआ उसकी उपासना करता है वह इस लोकमें 'आयतन-वान्'---अर्थात् विस्तारवान्---हो जाता है, और जो इसप्रकार ब्रह्म-के 'चतुष्कल-आयतनवान्-चरण'के रहस्यको जानताहुआ उसकी उपा-सना करता है वह दूसरे 'आयतनवान्'-लोकोको भी जीत लेता है ।४।

(गौ, अग्नि तथा सूर्यके अतिरिक्त सत्यकामका चौथा साथी जगल-मे वायु था। उसने भी उसे यही शिक्षा दी कि 'ब्रह्माड'का वायु 'पिड'का प्राण है, और जैसे शरीरके प्राणपर आख, कान और मनका अवलम्ब है, वैसे ब्रह्माडके वायुपर जो ब्रह्माडका प्राण है, ससारका अव-लम्ब---आयतन---है । शरीरकी प्राण-शक्ति ब्रह्माडकी वायु-शक्ति है, और वायु-शक्ति ही ब्रह्म-शक्ति है । इसप्रकार सत्यकामको १६ कलाओवाले ब्रह्मका ज्ञान हो गया। बैल, अग्नि, सूर्य तथा वायुने चार-चार कलाओका उपदेश दिया, इससे ब्रह्मकी सोलहो कलाओका वर्णन हो गया।)

त मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद, सत्यकाम ३ इति, भगव इति ह प्रतिशुश्राव । २ ।
ब्रह्मण सोम्य ते पाद ब्रवाणीति । ब्रवीतु मे भगवानिति ।
तस्मै होवाच । प्राण कला चक्षु कला श्रोत्र कला मन
कलैष वै सोम्य चतुष्कल पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम । ३ ।
स य एतमेव विद्वाँश्चतुष्कल पाद ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्त
आयतनवानस्मिँल्लोके भवत्यायतनवतो ह लोकाञ्जयति य
एतमेव विद्वाँश्चतुष्कल पाद ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते । ४ ।

चतुर्थ प्रपाठक—[नौवां खंड]

इस प्रकार ब्रह्म-ज्ञानी बनकर सत्यकाम आचार्य-कुलमें लौट आया। आचार्यने कहा—सत्यकाम! यह सुनकर सत्यकामने उत्तर दिया, कहिये भगवन्! ।१।

आचार्य बोले, सोम्य! ऐसा भासता है कि तुम तो ब्रह्म-ज्ञानी होगये हो। तुझे किसने उपदेश दिया? सत्यकामने उत्तर दिया, भगवन्! मुझे यह ज्ञान किसी मनुष्यसे तो प्राप्त हुआ नहीं, परन्तु गुरु तो मैं आपको ही मानता हूं—आप मुझे उपदेश दें ।२।

मैंने आप-जैसे गुरुओंसे सुना है कि आचार्यसे सीखी हुई विद्या ही सबसे उत्तम होती है। यह सुनकर आचार्यने उसे कहा, जो-कुछ तूने सीख लिया है इसमें कुछ शेष नहीं रहा, कुछ शेष नहीं रहा ।३।

(प्रकृतिमें आंख खोलकर फिरते हुए जैसे सत्यकामको बैल, अग्नि, सूर्य तथा वायुसे ब्रह्म-ज्ञान हो गया, वैसे जो भी आंखें खोलकर देखेगा उसे ब्रह्म-ज्ञान हुए बिना नहीं रहेगा—यही इसका आशय है।)

चतुर्थ प्रपाठक—[दसवां खंड]

(उपकोसलको अग्नियोंद्वारा 'आत्म-विद्या'का उपदेश, १० से १५ खंड)

(सत्यकाम जाबाल अपने गुरुसे उपदेश पाकर स्वयं आचार्य बन गये और उनके आश्रममें भी अनेक ब्रह्मचारी दीक्षा पाने लगे। इस खंडमें उनकी शिक्षा-दीक्षाकी विधिका वर्णन है।)

कमल नामक ऋषिका वंशज उपकोसल, सत्यकाम जाबालके आश्रममें ब्रह्मचारी था। वह आचार्यकी अग्नियोंकी १२ वर्षतक

परिचर्या करता रहा। आचार्य अन्य अन्तेवासियोका समावर्तन करता रहा, उसने उपकोसलका समावर्तन कर उसे घर नही भेजा ।१।

सत्यकामकी पत्नीने उसे कहा—ब्रह्मचारीने पर्याप्त तपस्या कर ली है, गृहकी अग्नियोकी भी बहुत सेवा की है—भोजनकेलिये आग जलाता रहा है, अग्निहोत्रकेलिये समिधाओका चयन करता रहा है, घरकी सदा दीप्त रहनेवाली अग्निकी भी देख-रेख करता रहा है। कहीं ऐसा न हो, अग्निया क्रुद्ध होकर तुम्हें शाप दे दें, इसलिये इसे जो-कुछ शिक्षा देनी हो दे दो। यह सब-कुछ सुननेपर भी आचार्य बिना कुछ कहे ही प्रवासमें चले गये ।२।

उपकोसलको यह देखकर बडा कष्ट हुआ। उसने खाना छोड दिया। उसे आचार्य-पत्नीने कहा, हे ब्रह्मचारी, खाना खा, तू खाता क्यो नहीं ? ब्रह्मचारीने उत्तर दिया, मुझ अभागे पुरुषमें ये अनेक मार्गोंमें दौडनेवाली कामनाए भरी पड़ी है, मै व्याधिसे, कष्टसे परिपूर्ण हू, मै खाना नहीं खाऊगा ।३।

घरकी अग्नियोने उसकी व्याकुल अवस्था देखकर आपसमें कहा, यह ब्रह्मचारी तप करचुका है, इसने हमारी भली प्रकार सेवा की है, इसलिये चलो, हम ही इसे उपदेश दे दें। उसे उन्होने कहा—।४।

(असलमे इतनी तपस्याके बाद जैसे सत्यकामके हृदयमे गौ-अग्नि-

उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास। तस्य ह द्वादशवर्षाण्यग्नीन्परिचचार । स ह स्मान्यानन्तेवासिनः समावर्तयंस्तं ह स्मैव न समावर्तयति । १ ।
तं जायोवाच तप्तो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन्परिचचारीन्मा त्वाऽग्नयः परिप्रवोचन्प्रब्रूह्यस्मा इति । तस्मै हाप्रोच्यैव प्रवासाञ्चक्रे । २ ।
स ह व्याधिनाऽनशितुं दध्रे । तमाचार्यजायोवाच ब्रह्मचारिन्नशान किं नु नाश्नासीति । स होवाच बहव इमेऽस्मिन्पुरुषे कामा नानात्यया व्याधिभिः प्रतिपूर्णोऽस्मि नाशिष्यामीति । ३ ।
अथ हाग्नयः समूदिरे । तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं नः पर्यचारीद्धन्तास्मै प्रब्रवामेति । तस्मै होचुः । ४ ।

सूर्य-वायुको देखकर अपने-आप ब्रह्म-ज्ञानका उदय हुआ था, वैसे उसके शिष्यके हृदयमें भी अग्नियोंको देखकर अपने-आप यह ज्ञान-ज्योति जगी जिसका यहां आख्यायिकाके रूपमें वर्णन है।)

हे ब्रह्मचारी ! 'प्राण' ब्रह्म है, 'क' ब्रह्म है, 'ख' ब्रह्म है। ब्रह्मचारी ने कहा, यह तो मैं जानता हूं कि 'प्राण' ब्रह्म है, 'क' और 'ख'को मैं नहीं जानता। अग्नि-देवोंने उत्तर दिया, जो 'क' है, वही 'ख' है, और जो 'ख' है, वही 'क' है—इसप्रकार 'क' और 'ख' दोनों एक ही हैं। (जब ये दोनों एक ही हैं तब 'क' और 'ख'का एक ही अर्थ हुआ। 'ख'का अर्थ है, 'आकाश'। इसप्रकार अग्नि-देवोंके उपदेशका यह अर्थ हुआ कि पिंडमें 'प्राण' तथा ब्रह्मांडमें (क+ख) 'आकाश' ये दोनों ब्रह्मके ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। परन्तु फिर ब्रह्मांडकी ब्रह्म-सत्ताके लिये 'क' और 'ख' इन दो अक्षरोंका प्रयोग क्यों किया ? इन दो अक्षरों का प्रयोग ब्रह्मके दो पहलुओंका वर्णन करनेकेलिये किया गया है। 'क'का अर्थ है 'सुख-स्वरूप' 'ख'का अर्थ है 'आकाश'। 'ख', अर्थात् आकाश, 'मात्रा' (Quantity)को अभिव्यक्त करता है, 'क', अर्थात् सुख, 'गुण' (Quality)को अभिव्यक्त करता है। 'मात्रा'में आकाशसे बड़ी कोई वस्तु नहीं, 'गुण'में सुखसे बढ़कर कुछ अभिप्रेत नहीं। ब्रह्मकी मात्रा आकाशके समान है, ब्रह्मका गुण सुखके समान है। पिंडमें (Subjectively) 'प्राण'को ब्रह्म कहा, ब्रह्मांडमें (Objectively) गुण (Quality)की दृष्टिसे 'क', अर्थात् सुखको ब्रह्म कहा, मात्रा (Quantity)की दृष्टिसे 'ख', अर्थात् आकाशको ब्रह्म कहा) ।५।

चतुर्थ प्रपाठक—[ग्यारहवां खंड]

जब अग्नियां उपकोसलको सांझा उपदेश दे चुकीं, तब एक-एक अग्निने अलग-अलग उपदेश दिया। 'गार्हपत्याग्नि'ने उस अग्निने

प्राणो ब्रह्म। कं ब्रह्म। खं ब्रह्मेति। स होवाच। विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कं च तु खं च न विजानामीति। ते होचुर्यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कमिति। प्राणं च हास्मै तदाकाशं चोचुः।५।

जो सदा घरमें स्थिर बनी रहती है, कभी बुझती नहीं, चार शब्दोका उच्चारण किया––पृथिवी, अग्नि, अन्न, आदित्य। उसने कहा कि ये चारो तुम्हें पृथक्-पृथक् तत्त्व दीख पडते है, परन्तु इन सबमें एकात्मता है। आदित्यमें जो पुरुष दिखाई देता है वह मै हूं, मै वही हू। अर्थात्, गार्हपत्याग्नि भी उसी 'आदित्य-पुरुष' पर-ब्रह्मका एक रूप है।१।

जो आदित्यमें पुरुषके समान दीख रहे ब्रह्मको पृथिवी, अग्नि, अन्न तथा आदित्यमें सब जगह गयाहुआ जानकर, और यह जानकर कि गार्हपत्याग्नि उसी ब्रह्मका रूप है उसकी उपासना करता है, वह समस्त पाप-कृत्योको नष्ट कर डालता है, लोकोका स्वामी होजाता है, पूर्ण आयुको भोगता है, ज्योतिर्मय जीवन व्यतीत करता है, उसके वशके पुरुषोमें कोई क्षीण नही होता। हम उस व्यक्तिकी इस तथा उस लोकमें रक्षा करती है––जो 'आदित्य-पुरुष'को इसप्रकार जानकर उसकी उपासना करता है।२।

चतुर्थ प्रपाठक––[बारहवा खड]

इसके बाद 'अन्वाहार्यपचनाग्नि'ने, उस अग्निने जो गार्हपत्याग्नि से आच ग्रहण करके भोजन बनानेके काममें लाई जाती है, चार शब्दो का उच्चारण किया––जल, दिशाए, नक्षत्र, चन्द्रमा। उसने कहा कि ये चारो तुम्हें पृथक्-पृथक् तत्त्व दीख पडते है, परन्तु इन सबमें एकात्मता है। चन्द्रमामें जो पुरुष दिखाई देता है वह मै हू, मै वही हू। अर्थात्, अन्वाहार्यपचनाग्नि भी उसी 'चन्द्र-पुरुष' पर-ब्रह्मका एक रूप है।१।

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास। पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति।
य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति। १।
स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति
सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं
भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते। २।
अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशासापो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति।
य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति। १।

जो चन्द्रमें पुरुषके समान दीख रहे ब्रह्मको जल, दिशाएं, नक्षत्र तथा चन्द्रमें सब जगह गयाहुआ जानकर, और यह जानकर कि अन्वाहार्यपचनाग्नि भी उसी ब्रह्मका रूप है उसकी उपासना करता है, वह समस्त पाप-कृत्योको नष्ट कर डालता है, लोकोका स्वामी हो जाता है, पूर्ण आयुको भोगता है, ज्योतिर्मय जीवन व्यतीत करता है, उसके वशके पुरुषोमें कोई क्षीण नही होता। हम उस व्यक्तिकी इस तथा उस लोकमें रक्षा करती हैं—जो 'चन्द्र-पुरुष'को इसप्रकार जानकर उसकी उपासना करता है।२।

चतुर्थ प्रपाठक—[तेरहवा खंड]

इसके बाद 'आहवनीयाग्नि'ने, उस अग्निने जो गार्हपत्यसे आत्र ग्रहण करके अग्निहोत्रके काम आती है, चार शब्दोका उच्चारण किया—प्राण, आकाश, द्यौ, विद्युत्। उसने कहा कि ये चारो तुम्हें पृथक्-पृथक् तत्त्व दीख पडते हैं, परन्तु इन सबमें एकात्मता है। विद्युत् में जो पुरुष दिखाई देता है वह मैं हू, मैं वही हू। अर्थात्, आहवनीयाग्नि भी उसी 'विद्युत्-पुरुष' पर-ब्रह्मका एक रूप है।१।

जो विद्युत्में पुरुषके समान दीखरहे ब्रह्मको प्राण, आकाश, द्यौ तथा विद्युत्में सब जगह गयाहुआ जानकर, और यह जानकर कि आहवनीयाग्नि भी उसी ब्रह्मका रूप है उसकी उपासना करता है, वह समस्त पाप-कृत्योको नष्ट करडालता है, लोकोका स्वामी हो जाता है, पूर्ण आयुको भोगता है, ज्योतिर्मय जीवन व्यतीत करता है उसके वशके पुरुषोमें कोई क्षीण नही होता। हम उस व्यक्तिकी

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्ते उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च [illegible]। [illegible]।

[illegible] आहवनीयोऽनुशशास। प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति।

स एष विद्युति पुरुषो दृश्यते [illegible]। [illegible]।

इस तथा उस लोकमें रक्षा करती हैं—जो 'विद्युत्-पुरुष'को इसप्रकार जानकर उसकी उपासना करता है।२।



जाबाल सत्यकामके शिष्य उपकोसलको घरकी अग्नियां शिक्षा दे रही हैं

चतुर्थ प्रपाठक—[चौदहवां खंड]

इसके बाद तीनों अग्नियां एक-स्वरसे बोलीं—हे उपकोसल !

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते । २ ।

हे सोम्य ! हमारे सम्बन्धमें जो विद्या—'अग्नि-विद्या'—और 'आत्म-विद्या' थी उसका हमने तुझे उपदेश दे दिया। (पिडका प्राण ब्रह्म है, यह 'आत्म-विद्या'का उपदेश था, और ब्रह्माडकी अग्नियां भी ब्रह्मके रूप है, यह 'अग्नि-विद्या'का उपदेश था।) इन दोनो विद्याओको गति कहातक है—यह तुम्हें आचार्य बताएगे। इतनेमें आचार्य आपहुचे, और उन्होने उपकोसलको पुकारा—हे उपकोसल ! ।१।

उपकोसलने उत्तर दिया, भगवन् ! क्या आज्ञा है ? आचार्यने कहा, सोम्य ! तेरा मुख ब्रह्म-ज्ञानियोकी तरह चमक रहा है, तुझे किसने ब्रह्म-ज्ञान दिया ? शिष्यने मानो सारी घटनाको छिपाते हुए उत्तर दिया, मुझे कौन शिक्षा देता ? फिर अग्नियोकी तरफ सकेत करके उसने कहा, मुझे उपदेश देनेवाले इन अग्नियो-जैसे थे, परन्तु बिल्कुल इन-जैसे भी नही थे, मानो इन अग्नियोने ही दैवी रूप धारण करलिया था। आचार्यने पूछा, उन्होने तुझे क्या उपदेश दिया ? ।२।

उपकोसलको जो उपदेश मिला था, वह उसने सुना दिया। आचार्यने कहा, सोम्य ! अग्नियोने तुझे 'लोको'के सम्बन्धमें ही ज्ञान दिया, यही ज्ञान दिया कि आदित्य-चन्द्र-विद्युत् आदि लोकोमे जो तत्त्व है वह ब्रह्म है, मै तुझे वह ज्ञान दूगा जिसके जाननेसे कमल-पत्र जैसे पानीमे रहताहुआ भी उसमे लिप्त नही होता, वैसे मनुष्य पाप-कर्मसे लिप्त नही होता। उपकोसलने कहा, भगवान् ! मुझे उस विद्याका उपदेश दीजिये। गुरुने कहना प्रारम्भ किया—।३।

ते होचुरुपकोसलैषा सोम्य तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या चाचार्यस्तु ते [illegible]
[illegible] ॥१॥
[illegible]

चतुर्थ प्रपाठक--[पन्द्रहवा खड]

(सत्यकामद्वारा उपकोसलको आत्माके ज्योतिर्मय रूपका उपदेश)

गुरुने कहा, यह जो आखमें पुरुष दिखाई देता है, यह 'आत्मा' है, यह अमृत है, अभय है--यह 'ब्रह्म' है। जैसे आखमें घी या जल छोडनेसे वे आखमें न रहकर किनारोसे निकलजाते है, ऐसे ही यह आत्मा आख में रहताहुआ भी उससे अलग रहता है ।१।

इस आत्माको 'सयद्वाम' कहाजाता है क्योकि सब 'वाम'--शोभा--इसीमें 'सयत्'--सिमिट--जाती है। उससे, अर्थात् 'आत्मा' के स्व-रूपसे बढकर कोई दिव्य आभा नहीं है। जो ऐसा जानता है, उसके चरणोपर सृष्टिके सभी सौन्दर्य लोट-पोट हो जाते है ।२।

आत्माको 'वामनी' भी कहते है, क्योकि सृष्टिके सभी सौन्दर्योका यह आत्मा नेता है, अग्रणी है, रूपवानोकी जहां पक्ति बने, वहां आत्माके ज्ञानवाला सबसे अधिक रूपवान् होनेसे सबसे आगे रहता है। 'वाम'का अर्थ है रूप या शोभा। जो ऐसा जानता है वह सब सौन्दर्योका नेता, अग्रणी हो जाता है ।३।

इसे 'भामनी' भी कहते है, क्योकि यही--आत्मा ही--सब लोकोमें अपनी आभासे प्रकाशमान होरहा है। जो ऐसा जानता है वह सब लोकोमें प्रकाशमान होजाता है ।४।

ऐसा ब्रह्मवित् जब मर जाता है, तब उसका दाह-सस्कार चाहे किया जाय चाहे न किया जाय, वह ज्योतिको ही प्राप्त होता है। दाह

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति ।
तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति ।१।
एत॑ संयद्वाम इत्याचक्षत एत॑ हि सर्वाणि वामान्य-
भिसंयन्ति । सर्वाण्येनं वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद । २ ।
एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि
नयति । सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद । ३ ।
एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु
भाति । सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद । ४ ।

करनेकी अवस्थामें तो अग्नि-रूप ज्योतिमें उसे डाल ही दिया जाता है, न करनेकी अवस्थामें भी उसका अग्नि-सदृश ज्योतिर्मय रूप हो जाता है। पहले-पहल यह रूप 'अर्चि'—किरण—के सदृश होता है, किरण से बढ़ताहुआ 'दिन'के समान इसका ज्योतिर्मय रूप हो जाता है, उससे बढ़कर 'पूर्णमासी'के पखवाड़ेमें, इन पन्द्रह दिनोंमें जितना प्रकाश है उतने प्रकाशमें वह ज्योतिर्मय हो जाता है, उससे बढ़कर 'छ मासों', मासोंसे बढ़कर 'सवत्सर', और सवत्सरसे बढ़कर 'आदित्य'की महान् ज्योतिके सदृश उसका रूप तेजसे भरपूर हो जाता है। 'आदित्य-ज्योति'से वह चन्द्र-ज्योति, और 'चन्द्र-ज्योति'से 'विद्युत्-ज्योति'को प्राप्त होता है। इसप्रकार विकसित होतेहुए पुरुषका 'मानव'से यह 'अमानव' रूप प्रकट होता है।५।

वही अमानव-ब्रह्म भक्तोंको ब्रह्म-मार्गका प्रदर्शन करता है, यही 'देव-पथ' कहलाता है, 'ब्रह्म पथ' कहलाता है। इस मार्गपर चलने-वाले मानव इस आवर्तमें—आवागमनके ससारमें—लौटकर नहीं आते, लौटकर नहीं आते (देखो मुण्डक १-२, छान्दोग्य ५-१०)।६।

चतुर्थ प्रपाठक—[सोलहवा खड]

(सृष्टि-यज्ञ)

सृष्टिमें यह जो-कुछ पावन-कार्य हो रहा है, यह मानो 'यज्ञ' हो रहा है। यह पावन-कार्य 'गति'द्वारा हो रहा है, गति ही ससारमें पवित्रता उत्पन्न करती है, इसलिये यह गति ही यज्ञ है। जैसे यज्ञ

अथ यदु चैवास्मिञ्छव्य कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवा-
[illegible]
[illegible]
[illegible] । ५ ।
[illegible]
[illegible] । ६ ।

दो मार्ग हैं, वैसे ससारमें 'गति'द्वारा शुद्धिके भी दो मार्ग हैं—'वाणी' तथा 'मन' ।१।

यज्ञके दो मार्ग कौन-से हैं ? यज्ञमें ब्रह्मा वाणीका प्रयोग नहीं करता, 'मन'द्वारा यज्ञके मार्गका सस्कार करता है, होता-अध्वर्यु-उद्गाता मनका प्रयोग नहीं करते, 'वाणी'द्वारा ऋचाओका पाठ करते हैं । ठीक ऐसे सृष्टि-यज्ञका, अर्थात् सृष्टिमें होरहे गति-रूप यज्ञका कुछ लोग 'मन'के मार्गद्वारा, और कुछ लोग 'वाणी'के मार्ग-द्वारा अनुष्ठान करते हैं । जहा यज्ञके प्रारभ होनेके बाद, और समाप्त होनेसे पूर्व, ब्रह्मा बोल पडता है—।२।

वहा वह अपने मार्गको छोडकर दूसरे ही मार्गपर चल देता है, उसका अपना काम रह जाता है । सो, यह ऐसे ही है जैसे कोई व्यक्ति एक पावसे चलने लगे, या कोई रथ एक पहियेपर घूमने लगे । ऐसा करनेवाला हानि उठाता है, ठीक ऐसे ही यज्ञमें ब्रह्माका 'मन'में सब बातोपर देख-रेख रखनेके बजाय बोलने लगना हानि-कारक है । सृष्टिमें होरहे गति-रूप यज्ञको भी मनसे—ज्ञानसे—चलाना जगत्के ब्रह्मा लोगोका काम है । वे ज्ञानके जगत्में विचरतेहुए, सृष्टिकी गति का सचालन करनेके स्थानमें, अगर बहुत वाग्विलासमें पडेंगे, तो सृष्टि का रथ दो पहियोसे एक पहियेपर घूमने लगेगा । ऐसा यज्ञ नष्ट हो जायगा, यज्ञके नष्ट होनेपर यजमान भी नष्ट हो ही जायगा, और यज्ञ करना भी एक पापका ही साधन बनेगा ।३।

जहा यज्ञके प्रारभ होनेके पीछे, और समाप्त होनेके पूर्व, ब्रह्मा

- एष ह वै यज्ञो योऽय पवत एष ह यन्निद् सर्व पुनाति । यदेष यन्निद सर्व पुनाति तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक्च वर्तनी । १ । तयोरन्यतरा मनसा स्꣡स्करोति ब्रह्मा । वाचा होताऽध्वर्युरुद्गाताऽन्य-तरा् स यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदति । २ । अन्यतरामेव वर्तनी् स्꣡स्करोति हीयतेऽन्यतरा । स यथैकपाद्-व्रजन्रथो वैकेन चक्रेण वर्तमानो रिष्यत्येवमस्य यज्ञो रिष्यति । यज्ञ् रिष्यन्त यजमानोऽनुरिष्यति । स इष्ट्वा पापीयान्भवति । ३ ।

कुछ नहीं बोलता, वहां 'मन'का कार्य ब्रह्मा करता रहता है, 'वाणी'का कार्य अध्वर्यु-होता-उद्गाता—ये तीन करते हैं, और इसप्रकार 'मन' तथा 'वाणी' ये दोनों मार्ग अपना-अपना कार्य करते हैं, किसी मार्गको हानि नहीं पहुंचती ।४।

यह ऐसे ही है जैसे कोई व्यक्ति एक पांवके स्थानमें दोनोंसे चले, या कोई रथ एक पहियेपर घूमनेके बजाय दोनोंपर घूमे । जैसे ये प्रतिष्ठित होते हैं, स्थिर होते हैं, वैसे जिस यज्ञमें 'मन' तथा 'वाणी' का ठीक-ठीक प्रयोग होता है, वह यज्ञ डगमगाता नहीं, और यजमान यज्ञ करके श्रेष्ठतर हो जाता है । सृष्टिमें होरहे गति-चक्रको स्थिर रखनेकेलिये 'मन' तथा 'वाणी' दोनोंके प्रयोगकी आवश्यकता है । ('मन'में संकल्प करके उसे 'वाणी'द्वारा प्रकट करना ही यज्ञ है । 'मन'में विचार स्पष्ट न हो, और 'वाणी'द्वारा यज्ञ की बोली जाती रहे हम-सब करते हैं यह अजीब बात है । इसीलिये इसके उदाहरणसे दिखलाया कि जैसे यज्ञमें 'मन' तथा 'वाणी' दोनोंके प्रयोगसे यज्ञ बनता है, ऐसे ही जीवन-रूपी यज्ञमें इन दोनोंका समन्वय होना चाहिये । 'मन' तथा 'वाणी'के दो पहियोंपर जीवनकी गाड़ी ठीक चलती है—दोनोंको साथ-साथ एक-दूसरेका सहायक बनकर चलना चाहिये, ऐसा न हो कि मन अलग चले वाणी अलग चले ।) ।५।

चतुर्थ प्रपाठक—[सत्रहवां खण्ड]

प्रजापतिने पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ—इन लोकोंको तपाया । जब वे तपे तो उनके रस निचोड़े—पृथिवीसे अग्नि, अन्तरिक्षसे

'वायु' और द्यौ.से 'आदित्य'—ये तीन देवता, अर्थात् ऋषि ही रस है ।१।

इन तीनो देवताओ, अर्थात् ऋषियोको तपाया, जब वे तपे, तो उनके रसको निचोडा—अग्निसे 'ऋक्', वायुसे 'यजु' और आदित्यसे 'साम' हुआ ।२।

उसने ऋक्-यजु-साम नामकी त्रयी-विद्याको तपाया। वह तपी, तो उसका रस निचोड़ा—ऋक्से 'भू', यजुसे 'भुव.' और सामसे 'स्व.'—ये तीन व्याहृतिया उत्पन्न हुई ।३।

यदि ऋचा-पाठमें होतासे अशुद्धि होजाय, तो गार्हपत्याग्निमें 'भू स्वाहा'—कहकर आहुति देदे । 'भू.' व्याहृति ऋग्वेदका ही तो रस है, इसप्रकार ऋचाके ही रससे, ऋचाके वीर्यसे ऋचा-पाठके घावको मानो पूर्ति हो जाती है ।४।

यदि यजु-पाठमें अध्वर्युसे अशुद्धि होजाय, तो दक्षिणाग्नि (अन्वाहार्यपचनाग्नि)में 'भुव स्वाहा'—कहकर आहुति देदे । 'भुव' व्याहृति यजुका ही तो रस है, इसप्रकार यजुके ही रससे, यजुके वीर्यसे यजु-पाठके घावकी मानो पूर्ति हो जाती है ।५।

यदि साम-पाठमें उद्गातासे अशुद्धि होजाय, तो आहवनीयाग्नि में 'स्व स्वाहा'—कहकर आहुति देदे । 'स्व' व्याहृति सामका ही

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेपा तप्यमानानां रसान्प्रा-
वृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्य दिव । १ ।
स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासा तप्यमानानां
रसान्प्रावृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंपि सामान्यादित्यात् । २ ।
स एता त्रयी विद्यामभ्यतपत्तस्यास्तप्यमानाया रसान्प्रावृहद्
भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्य स्वरिति सामभ्य । ३ ।
तद्यदृक्तो रिष्येद्भू स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयादृचामेव
तद्रसेनर्चां वीर्येणर्चां यज्ञस्य विरिष्टं सदधाति । ४ ।
अथ यदि यजुष्टो रिष्येद् भुव स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयाद्य-
जुपामेव तद्रसेन यजुपा वीर्येण यजुपा यज्ञ स्यविरिष्टं सदधाति । ५ ।

तो रस है, इसप्रकार सामके ही रससे, सामके वीर्यसे साम-पाठके घाव को मानो पूर्ति हो जाती है ।६।

सो, जिस प्रकार कोई लवणकेद्वारा—टंककेद्वारा—सोनेको सोनेसे जोड़ दे, चांदीको चांदीसे, कलईको कलईसे, सीसेको सीसेसे, लोहेको लोहेसे और लकड़ीको चमड़ेसे जोड़ दे ।७।

इसीप्रकार, लोकोंके रस देवता, देवताओंके रस त्रयी-विद्या, और त्रयी-विद्याके रस 'भूर्भुवः स्वः' से यज्ञके घावको —उसकी त्रुटिको— पूरा जाता है । जहां इस बातको जाननेवाला ब्रह्मा होता है, वहां मानो यज्ञका औषध पहलेसे मौजूद है ।८।

जहां इस बातको जाननेवाला ब्रह्मा होता है, वहां यज्ञ 'उत्तराभिगामी', अर्थात् उत्तरोत्तर फल-प्रद होता है । इसप्रकारके ब्रह्माकेलिये ही यह गाथा प्रसिद्ध है कि जहां-जहांसे कोई लौटने लगता है वहां-वहां ही वह सहायताकेलिये जा पहुंचता है ।९।

जैसे कुरु लोगोंकी उस इदाले वीरने घोड़ोंसे रक्षा की थी वैसे मनन-शील ब्रह्मा यद्यपि अकेला ऋत्विक् होता है, तो भी वह यज्ञकी, यजमानकी, और अन्य सभी ऋत्विजोंकी रक्षा करता है । इसलिये ऐसा जाननेवालेको ही ब्रह्मा निर्वाचित करे, ऐसा न जाननेवालेको नहीं, ऐसा न जाननेवालेको नहीं ।१०।

पंचम प्रपाठक—[पहला खड]

(प्राण तथा इन्द्रियोंका विवाद—प्राणकीतरह महान् बननेकी प्रेरणा, १-२)

'प्राण' सब इन्द्रियोंमें 'ज्येष्ठ', अर्थात् सबसे बडा, और 'श्रेष्ठ', अर्थात् सबसे उत्तम है—जो ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठको जानता है, वह स्वयं भी ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होजाता है ।१।

'वाणी' 'वसिष्ठ' है—सब-कुछ ढाप लेती है। चतुर-वाणीवालेकी सब बातें ढक जाती हैं। जो वसिष्ठको जानता है, वह अपनोंमें वसिष्ठ होजाता है ।२।

'चक्षु' 'प्रतिष्ठा' है—आंखोंसे देखकर ही ऊंच-नीचसे मनुष्य डांवांडोल नहीं होता। जो प्रतिष्ठाको जानता है, वह इस तथा उस लोकमें प्रतिष्ठित होजाता है ।३।

'श्रोत्र' 'सपद्' है—सुननेवाला ही कुछ कर सकता है। जो सपद्को जानता है, उसकी दैवी तथा मानुषी कामनाएं सम्पन्न होती हैं ।४।

'मन' 'आयतन' है—मनमें सब इन्द्रियां ठहरी रहती हैं। जो आयतनको जानता है, वह अपनोंका आयतन बन जाता है ।५।

एक वार प्राणोंमें, अर्थात् प्राण तथा इन्द्रियोंमें, विवाद उठ खडा हुआ कि उनमें सर्व-श्रेष्ठ कौन है ? हरेक कहने लगा, 'अहं श्रेयान्', 'अहं श्रेयान्'—मैं बडा हूं, मैं बडा हूं ।६।

ॐ। यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति। प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च । १ ।
यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति वाग्वाव वसिष्ठः । २ ।
यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा । ३ ।
यो ह वै सपदं वेद सं हास्मै कामाः पद्यन्ते दैवाश्च मानुषाश्च श्रोत्रं वाव सपत् । ४ ।
यो ह वै आयतनं वेदायतनं ह स्वानां भवति । मनो ह वा आयतनम् । ५ ।
अथ ह प्राणा अहं श्रेयसि व्यूदिरेऽहं श्रेयानस्म्यहं श्रेयानस्मीति । ६ ।

वे प्राणि-जगत्के पिता 'प्रजापति'के पास गये और बोले, भगवन् ! हममें कौन श्रेष्ठ है ? प्रजापतिने उत्तर दिया, तुममेंसे जिसके निकल जानेपर शरीर अत्यन्त घृणित दीख पड़े, वही तुममेंसे श्रेष्ठ है ।७।

पहले वाणी बाहर निकल गई । सालभर बाहर रहकर लौटी और अन्य इन्द्रियोंसे बोली, मेरे बिना कैसे जीवन-निर्वाह हुआ ? उन्होंने उत्तर दिया, जैसे गूंगे बिना बोले, प्राणद्वारा प्राण लेते चक्षुद्वारा देखते, श्रोत्रसे सुनते और मनसे विचार करते हैं, ऐसे ही हम भी रहे । वाणी अपनी यथार्थता समझ गई, और शरीरमें प्रविष्ट होगई ।८।

फिर चक्षु बाहर निकल गये । सालभर बाहर रहकर लौटे, तो अन्य इन्द्रियोंसे बोले, हमारे बिना कैसे बीती ? उन्होंने उत्तर दिया, जैसे अन्धे बिना देखे, प्राणद्वारा प्राण लेते, वाणीद्वारा बोलते, कानोंद्वारा सुनते और मनद्वारा विचार करते हैं, ऐसे ही हम भी रहे । चक्षु अपनी यथार्थता समझ गये, और शरीरमें प्रविष्ट होगये ।९।

फिर श्रोत्र बाहर निकल गये । सालभर बाहर रहकर लौटे, तो अन्य इन्द्रियोंसे बोले, हमारे बिना कैसे जीवित रहे ? उन्होंने उत्तर दिया, जैसे बहरे बिना सुने, प्राणद्वारा प्राण लेते, वाणीसे बोलते आंखसे देखते और मनसे विचार करते हैं, ऐसे ही हम भी रहे । श्रोत्र अपनी यथार्थता समझ गये, और शरीरमें प्रविष्ट होगये ।१०।

फिर मन बाहर निकल गया। सालभर बाहर रहकर लौटा, तो अन्य इन्द्रियोसे बोला, मेरे बिना कैसे बने रहे ? उन्होने उत्तर दिया, जैसे बालक सोचते-विचारते नहीं, परन्तु प्राण-से-प्राण लेते, वाणीसे बोलते, नेत्रसे देखते और श्रोत्रसे सुनते है, वैसे ही हम भी रहे। मन भी अपनी हैसियत समझ गया, और शरीरमें प्रविष्ट हो गया।११।

अब जब प्राण निकलनेको उद्यत हुआ, तब उसने दूसरे प्राणो, अर्थात् इन्द्रियोको इस तरह उखाड दिया जैसे खूटेमे बधाहुआ एक उत्तम घोडा दौडने लगे, तो खूटोको उखाड़ फेंके। यह देखकर इन्द्रिया प्राणके निकट आकर बोली, भगवन् ! तुम फूलो-फलो, तुम्हीं हम सबमें श्रेष्ठ हो, तुम यहासे मत जाओ।१२।

तब वाणी कहने लगी, मैं क्या वसिष्ठ हू, तुम्हीं वसिष्ठ हो, चक्षुने कहा, मै क्या प्रतिष्ठा हू, तुम्ही प्रतिष्ठा हो।१३।

श्रोत्रने कहा, मै क्या सपदा हू, तुम्ही सपदा हो, मनने कहा, मै क्या आयतन हू, तुम्हीं आयतन हो।१४।

इसीलिये इन्द्रियोको वाणी-नामसे नही पुकारते, चक्षु-नामसे, श्रोत्र-नामसे, मन-नामसे भी नही पुकारते, तभी इन सब इन्द्रियोको 'प्राण' ही नामसे पुकारते है क्योकि वही ज्येष्ठ है, श्रेष्ठ है, वसिष्ठ है, सपदा है, आयतन है।१५।

मनो होच्चक्राम। तत्सवत्सर प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति। यथा बाला अमनस प्राणन्त प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्त श्रोत्रेणैवमिति। प्रविवेश ह मन। ११।

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्स यथा सुहय पड्वीशशङ्कून्सखिदेदेवमितरान्प्राणान्समखिदत्तँ हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्व न श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति। १२।

अथ हैन वागुवाच यदह वसिष्ठाऽस्मि त्व तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैन चक्षुरुवाच यदह प्रतिष्ठाऽस्मि त्व तत्प्रतिष्ठाऽसीति। १३।

अथ हैन श्रोत्रमुवाच यदहँ सपदस्मि त्व तत्सपदसीत्यथ हैन मन उवाच यदहमायतनमस्मि त्व तदायतनमसीति। १४।

न वै वाचो चक्षूँषि न श्रोत्राणि न मनाँसीत्याचक्षते। प्राणा इत्येवाचक्षते। प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति। १५।

(यह कथा बृहदारण्यक षष्ठ अध्याय १म ब्राह्मणमें भी लग-भग इन्हीं शब्दोंमें पाई जाती है ।)

पचम प्रपाठक—[दूसरा खंड]

(मथ-रहस्य)

प्राणने इन्द्रियोंसे कहा, मेरा अन्न क्या होगा ? इन्द्रियोंने उत्तर दिया, कुत्तेसे लेकर पक्षियोंतक सबका जो अन्न है, वही तेरा अन्न होगा। 'अन' शब्दसे ही 'अन्न' बना है—'अन'का अर्थ है 'प्राण'। जो 'अन', अर्थात् प्राण-शक्ति देता है, वह 'अन्न' है। 'अन'से 'अन्न' बनता है, यह तो प्रत्यक्ष है। जो यह जानता है उसकेलिये कोई वस्तु 'अनन्न' नहीं होती, 'अनन्न', अर्थात् 'अन्न' न होना, उसकेलिये सब जगह अन्न-ही-अन्न, अर्थात् जीवन-ही-जीवन हो जाता है ।१।

फिर प्राणोंने इन्द्रियोंसे कहा, मेरा वस्त्र—ओढना—क्या होगा ? इन्द्रियोंने उत्तर दिया, जल। तभी खाना खानेसे पहले और पीछे जल-पान करते हैं। यह जल-पान मानो प्राणको वस्त्र पहनाना है। जो ऐसा करता है वह वस्त्र-लाभ करता है, और कभी नग्न नहीं होता ।२।

(इसप्रकार प्राण-रक्षाकेलिये अन्न तथा जल दोनों आ[illegible] ।)

यह रहस्य सत्यकाम जाबालने व्याघ्रपदके वंशज गोश्रुति को देकर कहा, यदि यह उपदेश सूखे पेडको भी दिया जाय तो उसमें भी शाखाए निकल आयें, और पत्ते फूट निकलें। (इस प्राण-विद्याके जाननेसे श्रद्धा-हीन व्यक्तिके जीवनमें भी प्रभु-भक्तिकी [illegible] फूट पडती है—यही अभिप्राय है।) ।३।

अब 'अधि-दैवत', अर्थात् ब्रह्माडको लक्ष्यमें रखकर इसी विचारको आगे बढाते है। अग्निने व्रत लिया, मैं जलती ही रहूगी, सूर्यने व्रत लिया, मैं तपता ही रहूगा, चन्द्रने व्रत लिया, मै भासता ही रहूगा, इसीप्रकार अन्य देवताओने अपने-अपने कर्मानुसार व्रत ले लिया। सो, जैसे इन्द्रियोके वीच प्राण स्थित रहता है, वैसे इन देवताओके वीच वायु स्थित है। अन्य देवता अस्त हो जाते है, वायु अस्त नहीं होता, चलता ही रहता है। वायु अस्त न होनेवाला देवता है।२२।

किसीने कहा भी है---'जिससे सूर्य उदय होता है, जिसमें सूर्य अस्त होता है।' निस्सदेह सूर्य प्राणसे उदय होता है, प्राणमें अस्त होता है। फिर आगे किसीने कहा है, 'प्राण ही को देवताओने अपना धर्म वनाया, वही आज है, वही कल है'। अगर यह वात ठीक है कि किसी समय देवताओने प्राणको अपना ध्येय वनाया था, तो आज भी उसी व्रतपर हमें दृढ रहना चाहिये। एक व्रतको ही धारण करे, जिसप्रकार प्राणापान अनवरत चल रहा है, इसीप्रकार प्राणको लक्ष्य रखकर दृढ-व्रती बने, फिर इसे मृत्यु-रूप पाप नहीं पकड पाता। जैसे प्राण चलता रहता है, जीवनको समाप्तितक चलता रहता है, इसीप्रकार जिस कार्यको शुरू करे उसे समाप्त करके ही हटे, इसप्रकार मनुष्य प्राणकी 'सायुज्यता' और 'सलोकता'को भी जीत जाता है, प्राणसे भी आगे निकल जाता है।२३।

अथाधिदैवत ज्वलिष्याम्येवाहमित्यग्निर्दध्रे तप्स्याम्यहमित्यादित्यो भास्याम्यहमिति चन्द्रमा एवमन्या देवता यथादैवत्ँ स यथैषा प्राणाना मध्यम प्राण एवमेतासा देवताना वायुर्निम्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायु सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायु ।२२।
अथैष श्लोको भवति यतश्चोदेति सूर्योऽस्त यत्र च गच्छतीति प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति त देवाश्चक्रिरे धर्मँ स एवाद्य स उ श्व इति यद्वा एतेऽमुर्ह्यध्रियन्त तदेवाप्यद्य कुर्वन्ति। तस्मादेकमेव व्रत चरेत्प्राण्याच्चैवापान्याच्च नेन्मा पाप्मा मृत्युराप्नुवदिति यद्यु चरेत्समापिपयिषेत्तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यँ सलोकता जयति ।२३।

प्रथम अध्याय—[छठा ब्राह्मण]

(नाम-रूपकी भिन्नतामे आत्मा वा प्राण ही सत् है)

बृहदा० १।४।७ मे 'नाम'-'रूप'-'कर्म'का वर्णन कर आये है। '५म ब्राह्मणमे 'वाक्'-'मन'-'प्राण'—'पृथिवी'-'अन्तरिक्ष'-'द्यु'—'देव'-'पितर'-'मनुष्य'—इन त्रिकोका वर्णन किया है। इस ब्राह्मणमे 'नाम'-'रूप'-'कर्म'—'वाक्'-'चक्षु'-'आत्मा'—'उक्थ'-'साम'-'ब्रह्म'—इन तीन त्रिकोका वर्णन करते है —

ससारमें जो-कुछ है, नाम-रूप-कर्म—इस त्रिकमें आ जाता है। किसी वस्तुका आखसे जो रूप दिखाई दे रहा है, वही 'रूप' है। उसी रूपका वाणीने 'नाम' रख दिया है, इसके अतिरिक्त वह कुछ नहीं है। इस नाम-रूपमें जो गति दिखाई देती है, वह किसी आत्माने दी है, उसकी अपनी गति नहीं, यही नाम-रूपमें दीख रहा 'कर्म' है।

जितने भी नाम है, उनका प्रकाश 'वाणी' करती है। वाणी ही सब नामोका 'उक्थ' है, 'उक्थ' अर्थात् उठना, जिससे सब नाम उठते है, प्रकाश पाते है। वाणी ही सब नामोका 'साम' है, 'साम' अर्थात् समता, एकता। वाणी ही सब नामोमें विषमताके स्थानमें समता, एकता स्थापित करती है। वाणी ही सब नामोका 'ब्रह्म' है, 'ब्रह्म' अर्थात् अपनी विशालतामें धारण करना, टिकाना। वाणी ही ब्रह्मकी भाति सब नामोको अपनेमें धारण कर लेती है, टिका लेती है। नामात्मक-जगत्को वाणी सोयेसे उठाती है, उसमें विषमता होतेहुए भी समावस्था लाती है, और उसे ब्रह्मकी भाति धारण करती है।१।

जितने भी रूप है, उनका प्रकाश 'चक्षु' करता है। चक्षु ही सब रूपोका 'उक्थ' है, 'उक्थ' अर्थात् उठना, जिससे सब रूप उठते है, प्रकाश पाते है। चक्षु ही सब रूपोका 'साम' है, 'साम' अर्थात् समता,

---

त्रय वा इद नाम रूप कर्म तेषा नाम्ना वागित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति। एतदेषा् सामैतद्धि सर्वैर्नामभि सममेतदेषा ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति ।१।

एकता। चक्षु ही सब रूपोंमें विषमताके स्थानमें समता, एकता स्थापित करता है। चक्षु ही सब रूपोंका 'ब्रह्म' है, 'ब्रह्म' अर्थात् अपनी विशालतामें धारण करना, टिकाना। चक्षु ही ब्रह्मकी भांति सब रूपोंको अपने अन्दर धारण कर लेता है, टिका लेता है। रूपात्मक-जगत्को चक्षु सोयेसे उठाता है, उसमें विषमता होतेहुए भी समावस्था लाता है, और उसे ब्रह्मकी भांति धारण करता है।२।

जितने भी कर्म है, उनका प्रकाश 'आत्मा' करता है। आत्मा ही सब कर्मोंका 'उक्थ' है, 'उक्थ' अर्थात् उठना, जिससे सब कर्म उठते है, प्रकाश पाते है। आत्मा ही सब कर्मोंका 'साम' है, 'साम' अर्थात् समता, एकता। आत्मा ही सब कर्मोंमे विषमताके स्थानमे समता, एकता स्थापित करता है। आत्मा ही सब कर्मोंका 'ब्रह्म' है 'ब्रह्म' अर्थात् अपनी विशालतामें धारण करना, टिकाना। आत्मा ही ब्रह्मकी भांति सब कर्मोंको अपने अन्दर धारण करता है, टिकाता है। कर्मात्मक-जगत्को आत्मा सोयेसे उठाता है, उसमें विषमता होतेहुए भी समावस्था लाता है, और उसे ब्रह्मकी भांति धारण करता है।

नाम-रूप-कर्म---यह ब्रह्माडका त्रिक है, वाणी-चक्षु-आत्मा---यह पिडका त्रिक है। अभी कहा कि ब्रह्माडका त्रिक पिडके त्रिकमे समा जाता है। जिस प्रक्रियासे ब्रह्माडका त्रिक पिडके त्रिकमें समा जाता है, उस प्रक्रियाका नाम उक्थ-साम-ब्रह्म है। ब्रह्माडके 'नाम' पिडकी 'वाणी'में, ब्रह्माडके 'रूप' पिडके 'चक्षु'में, ब्रह्माडके 'कर्म' पिडके 'आत्मा'में समा जाते है। पिडमें भी वाणी-चक्षु-आत्मा तीन जान पडते है, परन्तु तीनो एकमें, 'आत्मा'में समा जाते है, इकला आत्मा ही सत् है, वही ये तीन हो जाता है। यह आत्मा अमृत-रूप है, वाणी और चक्षु सत्य-रूप है। अमृत-रूप 'आत्मा', सत्य-रूप 'वाणी' और सत्य-रूप 'चक्षु'से घिराहुआ है। आत्माका भौतिक-रूप प्राण है, वाणीका भौतिक-रूप नाम है, चक्षुका भौतिक-रूप रूप है,

---

अथ रूपाणा चक्षुरित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि रूपाण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषा सामैतद्धि सर्वै रूपै सममेतदेषा ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति । २ ।

इसलिये अमृत-रूप 'प्राण', सत्य-रूप 'नाम' और सत्य-रूप 'रूप'से घिराहुआ है ।३।

द्वितीय अध्याय—[पहला ब्राह्मण]

(अजातशत्रुका गार्ग्यको ब्रह्मोपदेश, १ से ३ ब्राह्मण)

एक समयकी बात है कि गर्ग-गोत्रोत्पन्न एक ब्राह्मण था जिसे लोग 'दृप्त-बालाकि' कहते थे। 'दृप्त'का अर्थ है, अभिमानी, 'बालाकि' 'बक'से बना है, जिसका अर्थ है बगुला-भगत। उसने खूब पढा था। वह काशीके राजा अजातशत्रुके पास आकर बोला, 'ब्रह्म ते ब्रवाणि', मैं तुझे 'ब्रह्म'का उपदेश दूंगा। अजातशत्रुने कहा, मैं आपको इतना कहनेभरकेलिये एक सहस्र गायें भेंट देता हूं। लोगोंको न जाने क्या होगया है, ब्रह्म-विद्याकेलिये 'जनक'-'जनक' पुकारते भागे जाते हैं ।१।

गार्ग्यने उपदेश देना शुरू किया—यह जो आदित्यमें 'आदित्य-पुरुष' है, मैं इसे 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हूं, आप भी इसीको 'ब्रह्म' समझो। अजातशत्रुने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह तो सब भूतोंमें श्रेष्ठ, उनका मूर्धा, उनका राजा एक भौतिक-पदार्थ है। मैं तो इसीप्रकार इसकी उपासना करता हूँ। जो इसकी इसप्रकार उपासना करता है, वह सब भूतोंमें श्रेष्ठ, उनका मूर्धा, उनका राजा हो जाता है ।२।

अथ कर्मणामात्मेत्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाँ सामैतद्धि सर्वैः कर्मभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति। तदेतत्त्रयँ सदेकमयमात्माऽऽत्मो एकः सन्नेतत्त्रयं तदेतदमृतँ सत्येन च्छन्नं प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः ।३।

ॐ। दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस स होवाचाजातशत्रुं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति स होवाचाजातशत्रुः सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो जनको जनक इति वै जना धावन्तीति ।१।

स होवाच गार्ग्यो य एवासावादित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजा भवति ।२।



दृप्त-बालाकि गार्ग्य राजा अजातशत्रुको ब्रह्मका असफल उपदेश दे रहे हैं

गार्ग्यने फिर कहा, यह जो चन्द्रमें 'चन्द्र-पुरुष' है, मैं इसे 'ब्रह्म' मानकर इसकी उपासना करता हूं, आप भी इसीको 'ब्रह्म' समझो। अजातशत्रुने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह तो छिटकती चादनीके मानो श्वेत-वस्त्रोंको धारण करनेवाला महान् सोम राजा है। मैं तो इसीप्रकार इसकी उपासना करता हूं। जो इसकी इसप्रकार उपासना करता है उसके घरमें दिन-प्रतिदिन सोम-रस बहता है, खूब बहता है, और अन्नकी कमी नहीं होती क्योंकि चन्द्रकी कलाके

साथ ही सोम-रस बढता है और उसकी कलाके साथ ही अन्नमें रस भरता है ।३।

गार्ग्यने फिर कहा, यह जो विद्युत्मे 'विद्युत्पुरुष' है, मै इसे 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हू, आप भी इसीको 'ब्रह्म' समझो। अजातशत्रुने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह तो एक तेजस्वी अचेतन-शक्ति है। मै तो इसीप्रकार इसकी उपासना करता हू। जो इसकी इसप्रकार उपासना करता है वह स्वय तेजस्वी होता है, उसकी सन्तान तेजवाली होती है ।४।

गार्ग्यने फिर कहा, यह जो आकाशमें 'आकाश-पुरुष' है, मै इसे 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हू, आप भी इसीको 'ब्रह्म' समझो। अजातशत्रुने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह 'पूर्ण' तो है, परन्तु 'अप्रवर्ती' है, इसमें 'प्रवर्तन' कहा है ? यह किसी वस्तुका प्रारभ कहा कर सकता है ? मै तो इसकी इसीप्रकार उपासना करता हू। जो इसकी इसप्रकार उपासना करता है वह प्रजा और पशुओ से पूर्ण हो जाता है, उसकी सन्तानका इस लोकसे विनाश नहीं होता ।५।

गार्ग्यने फिर कहा, यह जो वायुमें 'वायु-पुरुष' है, मै इसे 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हूँ, आप भी इसीको 'ब्रह्म' समझो। अजातशत्रुने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह वायु तो ऐश्वर्य-शाली,

---

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ चन्द्रे पुरुष एतमेवाह ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा बृहन्पाण्डरवासा सोमो राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽहरहर्ह सुत प्रसुतो भवति नास्यान्न क्षीयते । ३ ।
स होवाच गार्ग्यो य एवासौ विद्युति पुरुष एतमेवाह ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठास्तेजस्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते तेजस्वी ह भवति तेजस्विनी हास्य प्रजा भवति । ४ ।
स होवाच गार्ग्यो य एवायमाकाशे पुरुष एतमेवाह ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा पूर्णमप्रवर्तीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिर्नास्यास्माल्लोकात्प्रजोद्वर्तते । ५ ।

ने-रोक-टोक चलनेवाली, कभी हार न खानेवाली किसीकी सेना है। मैं तो इसकी इसीप्रकार उपासना करता हू। जो इसकी इसप्रकार उपासना करता है वह सबको जीत जाता है, किसीसे पराजित नहीं होता, और 'अन्यतस्त्य' अर्थात् शत्रुओंका पराभव कर देता है ।६।

गार्ग्यने फिर कहा, यह जो अग्निमें 'अग्नि-पुरुष' है, मैं इसे 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हू, आप भी इसीको 'ब्रह्म' समझो। अजातशत्रुने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह तो एक सहनशील-शक्ति है, इसमें शुद्ध-अशुद्ध जो डालो सब सह लेती है। मैं तो इसकी इसीप्रकार उपासना करता हू। जो इसकी इसप्रकार उपासना करता है, वह स्वयं सहनशील होजाता है, उसकी सन्तान सहनशील हो जाती है ।७।

गार्ग्यने फिर कहा, यह जो जलोंमें 'जल-पुरुष' है, मैं इसे 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हू, आप भी इसीको 'ब्रह्म' समझो। अजातशत्रुने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह तो एक अनुकूल-तत्त्व है, सबको भानेवाली वस्तु है। मैं तो इसकी इसीप्रकार उपासना करता हू। जो इसकी इसप्रकार उपासना करता है, उसके सब अनुकूल हो जाता है, प्रतिकूल कुछ नहीं रहता, उसकी सन्तान भी उसके अनुकूल रहती है ।८।

ब्रह्माडके सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, आकाश, वायु, अग्नि, जलसे हटकर अन्तपिंडके देह आदिको ब्रह्म कहतेहुए गार्ग्यने फिर कहा, यह जो आदर्श,

---

स होवाच गार्ग्यो य एवायं वायौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते जिष्णुर्हापराजिष्णुर्भवत्यन्यतस्त्यजायी । ६ ।
स होवाच गार्ग्यो य एवायमग्नौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा विषासहिरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते विषासहिर्ह भवति विषासहिर्हास्य प्रजा भवति । ७ ।
स होवाच गार्ग्यो य एवायमप्सु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते प्रतिरूपꣳ हैवैनमुपगच्छति नाप्रतिरूपमथो प्रतिरूपोऽस्माज्जायते । ८ ।

अर्थात् दर्पणमें 'प्रतिबिंब-पुरुष' दीखता है, मैं इसे 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हूं, आप भी इसीको 'ब्रह्म' समझो । अजातशत्रुने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह तो चमकनेवाला काच है जिसमें प्रतिबिंब दीखता है । मैं तो इसकी इसीप्रकार उपासना करता हूं । जो इसकी इसप्रकार उपासना करता है, वह स्वयं चमक उठता है, उसकी सन्तान चमक उठती है, और जिनके संपर्कमें वह आता है उन्हें चमका देता है ।९।

गार्ग्यने फिर कहा, यह जो उपासना-मार्गमें चलतेहुए उपासकको अपने पीछे नादका उदय होता सुनाई देता है, मैं इसे 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हूं, आप भी इसीको 'ब्रह्म' समझो । अजातशत्रुने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह तो प्राणकी ध्वनि है । मैं तो इसकी इसीप्रकार उपासना करता हूं । जो इसकी इसप्रकार उपासना करता है, वह इस लोकमें पूरी आयु भोगता है, इसे समयसे पहले प्राण नहीं छोडता ।१०।

गार्ग्यने फिर कहा, यह जो चारों दिशाओंमें पुरुष दीख पडते हैं, मैं इन्हींको 'ब्रह्म' मानकर इनकी उपासना करता हूं, आप भी इनको 'ब्रह्म' समझो । अजातशत्रुने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, ये तो हमारे-जैसे ही दूसरे पुरुष हैं, इनसे तो अपगमन, अर्थात् छुटकारा हो ही नहीं सकता । मैं तो इनकी इसीप्रकार उपासना करता हूं । जो इनकी इसप्रकार उपासना करता है, वह कभी इकला नहीं होता, सदा द्वितीय-

---

स होवाच गार्ग्यो य एवायमादर्शे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा रोचिष्णुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते रोचिष्णुर्ह भवति रोचिष्णुर्हास्य प्रजा भवत्यथो यैः संनिगच्छति सर्वांस्तानतिरोचते । ९ ।
स होवाच गार्ग्यो य एवायं यन्तं पश्चाच्छब्दोऽनूदेत्येतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा असुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वं हैवास्मिँल्लोक आयुरेति नैनं पुरा कालात्प्राणो जहाति । १० ।

वान् बना रहता है, और समाजमे उसका कभी सबध-विच्छेद नहीं होता ।११।

गार्ग्यने फिर कहा, यह जो त्राटक करतेहुए 'छाया-पुरुष' दीखने लगता है, मैं इसीको 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हू, आप भी इसीको 'ब्रह्म' समझो । अजातशत्रुने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह छाया-पुरुष तो नाशवान् है । मैं तो इसकी इसीप्रकार उपासना करता हू । जो इसकी इसप्रकार उपासना करता है, उसकी इस लोक में पूरी आयु होती है, और उसे अपने कालसे पहले मृत्यु नहीं आती ।१२।

गार्ग्यने अन्तमें कहा, यह जो अपने शरीरमें 'आत्म-पुरुष' है, मैं इसीको 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हू, आप भी इसीको 'ब्रह्म' समझो । अजातशत्रुने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह शरीर-गत आत्मा तो स्वय 'आत्मन्वी' है, आत्मावाला है । यह आत्मा तो स्वयं किसी दूसरे आत्माकी अपेक्षा कर रहा है, जिसके बिना यह कुछ नहीं कर सकता, तब यह ब्रह्म कैसे हो सकता है ? मैं तो इसकी इसीप्रकार उपासना करता हू । जो इसकी इसप्रकार उपासना करता है, वह आत्मावाला हो जाता है, उसकी सन्तान आत्मावाली होजाती है । यह सुनकर गार्ग्य चुप होगया ।१३।

स होवाच गार्ग्यो य एवाय दिक्षु पुरुष एतमेवाह ब्रह्मो-
पास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्सवदिष्ठा
द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेव-
मुपास्ते द्वितीयवान् ह भवति नास्माद्गणश्छिद्यते । ११ ।
स होवाच गार्ग्यो य एवाय छायामय पुरुष एतमेवाह
ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्सवदिष्ठा
मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते
सर्वं हैवास्मिल्लोक आयुरेति नैन पुरा कालान्मृत्युरागच्छति । १२ ।
स होवाच गार्ग्यो य एवायमात्मनि पुरुष एतमेवाह ब्रह्मोपास
इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्सवदिष्ठा आत्मन्वीति
वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्त आत्मन्वी ह भवत्या-
त्मन्विनी हास्य प्रजा भवति स ह तूष्णीमास गार्ग्य । १३ ।

गार्ग्यको चुप देखकर अजातशत्रुने कहा, वस, इतना ही जानते थे ? गार्ग्यने कहा, हा, मै तो इतना ही जानता था। अजातशत्रुने कहा, इतनेमे 'ब्रह्म' नहीं जाना जाता। गार्ग्यने कहा, 'उप त्वा यानि' --अर्थात्, तो फिर आप ही मुझे दीक्षा दीजिये।१४।

अजातशत्रुने कहा, अगर ब्राह्मण क्षत्रियके पास इस आशासे आये कि क्षत्रिय मुझे 'ब्रह्म'का उपदेश देगा, तो यह 'प्रतिलोम', अर्थात् उल्टी बात होगी, तो भी मै तुझे ब्रह्मका रहस्य अवश्य समझाऊगा। यह कहकर अजातशत्रु उसे हाथसे पकडकर उठ खडा हुआ और ले चला। वे दोनो एक सोयेहुए पुरुषके पास आ पहुचे। उसे भिन्न-भिन्न नामोसे पुकारने लगे। ऐ छिटकती चादनीके-से श्वेतवस्त्र धारण करनेवाले ! ऐ महान् ! ऐ सोम राजा ! परन्तु वह नही उठा। फिर उसे हाथ से हिलाया, वह जाग गया, और उठकर खडा हो गया।१५।

अब अजातशत्रुने गार्ग्यसे कहा, यह 'विज्ञानमय-पुरुष' जब सो रहा था तब कहा था, अब जागनेपर कहासे आ गया ? गार्ग्यकी समझमें इसका कोई उत्तर न आया।१६।

तब अजातशत्रुने कहना शुरू किया--यह 'विज्ञानमय-पुरुष' जब सो रहा था तब इन्द्रियोके विज्ञानको, जो इसीका दियाहुआ है, अपने विज्ञानसे उसने खींच लिया था, और उस सब विज्ञानको समेटकर, हृदयके भीतरके आकाशमें जा सोया था। जब इन्द्रियोके विज्ञानको वह अपने अन्दर खींच लेता है, तब उसे 'स्वपिति' कहते है। कहनेको

स होवाचाजातशत्रुरेतावन्नू३ इत्येतावद्धीति नैतावता विदित भवतीति स होवाच गार्ग्य उप त्वा यानीति। १४।

स होवाचाजातशत्रु प्रतिलोम चैतद्यद्ब्राह्मण क्षत्रियमुपेयाद्ब्रह्म मे वक्ष्यतीति व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति त पाणावादायोत्तस्थौ तौ ह पुरुषं सुप्तमाजग्मतुस्तमेतैर्नामभिरामन्त्रयाचक्रे बृहन्पाण्डरवास सोम राजन्निति स नोत्तस्थौ त पाणिना पेष बोधयाचकार स होत्तस्थौ। १५।

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमय पुरुष क्वैष तदाभूत्कुत एतदागादिति तदु ह न मेने गार्ग्य। १६।

वह 'सो-रहा' कहा जाता है, परन्तु वास्तवमें वह 'स्व'+'अपीत' अर्थात् 'अपने-स्वरूपमें-पहुंचा हुआ' होता है। उस समय प्राणको 'विज्ञानमय-आत्मा'ने अपने अन्दर पकड़ा होता है, वाणी-चक्षु-श्रोत्र-मन—सबको अन्दर पकड़ा होता है।१७।

उस समय स्वप्न-लोकमें जहां-जहां यह विचरता है, वे ही इसके लोक होते हैं। स्वप्नमें कभी यह महाराजा बन जाता है, कभी महा-ब्राह्मण, कभी उच्च, कभी नीच। जैसे कोई महाराजा अपने सेवकोंको साथ लेकर अपने देशमें इच्छानुसार भ्रमण करे, ऐसे ही यह 'विज्ञान-मय-पुरुष' इन्द्रियोंको लेकर अपने शरीरमें इच्छानुसार भ्रमण करता है।१८।

स्वप्नसे जब 'विज्ञानमय-पुरुष' सुषुप्त हो जाता है, जब कुछ नहीं जानता, तब क्या होता है? हृदयसे ७२ हजार नाड़ियां निकलती हैं जिन्हें 'हिता' कहते हैं, क्योंकि यह हित करती हैं। अन्तमें ये जाकर 'पुरीतत' (Capillaries) हो जाती हैं, इन्हें 'पुरीतत' इस-लिये कहा जाता है क्योंकि ये शरीरमें फैल जाती हैं। इन 'पुरीतत' नाड़ियोंमें एक नाड़ीका नाम 'सुषुम्ना' है। सुषुप्तावस्थामें सब 'पुरी-ततों'मेंसे सरककर इसी 'सुषुम्ना' नामकी 'पुरीतत' (Capillary)में यह जा सोता है। जैसे कोई कुमार, कोई महाराजा, कोई महा-ब्राह्मण आनन्दकी पराकाष्ठामें पहुंचकर सोये, इसीप्रकार सुषुप्तावस्थामें

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि यदा गृह्णात्यथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम। तद्गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाग्गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः ।१७।

स यत्रैतत्स्वप्न्यया चरति ते हास्य लोकास्तदुतेव महाराजो भवत्युतेव महाब्राह्मण उतेवोच्चावचं निगच्छति स यथा महा-राजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तेतैवमेवैष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते ।१८।

यह 'विज्ञान-घन' आत्मा सोता है। (बृहदा० ४-२-३, ४-३-२०, ४-४-२) ।१९।

परन्तु यह शरीरमें रहनेवाला आत्मा तो 'आत्मन्वी' है, किसी अन्य-आत्माकी अपेक्षा करता है, यह विज्ञान-घन किसी अन्य विज्ञान-घनकी अपेक्षा करता है। सुषुप्तावस्थामें यह आत्मा जिस महान् आत्माके पास जा पहुचता है, यह विज्ञान-घन जिस महान् विज्ञान-घनके निकट पहुचकर आनन्द-ही-आनन्दका अनुभव करता है, वही 'ब्रह्म' की झांकी है।

जैसे मकडी अपने तन्तुसे नीचे-ऊपर चढती-उतरती है, ऐसे पिंडका विज्ञान-घन-आत्मा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें विज्ञान-रूपी तन्तुके सहारे चढता-उतरता है, जैसे अग्निसे छोटी-छोटी चिनगारिया निकलती है, इसीप्रकार विज्ञान-घन आत्मासे इन्द्रियोंका ज्ञान फूटा पडता है। जैसे पिंडमें विज्ञान-घन आत्मा है, वैसे ब्रह्माडमें विज्ञान-घन परमात्मा है, वही 'ब्रह्म' है, उसीसे सब लोक, सब देव, सब भूत प्रस्फुटित होते है। उसका उपनिषत्में नाम 'सत्यस्य सत्यम्'---सत्यका सत्य---है, यह पिंडका आत्मा सत्य है, ब्रह्माडका आत्मा, आत्माका आत्मा है, अत वह सत्यका सत्य है ।२०।

(इसीप्रकारका वर्णन बृहदा ३-९-१० से १७ तक पाया जाता है जिसमे याज्ञवल्क्य तथा विदग्ध शाकल्यकी प्रश्नोत्तरी है। छान्दोग्य ५, ११-२४ मे इसीप्रकारकी कथा आती है जिसमे कैकेय अश्वपतिके निकट प्राचीनशाल, औपमन्यव आदि छ ऋषि 'वैश्वानर'-सम्बन्धी

अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वातिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ।१९।
स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ।२०।

उपदेश लेने गये। आत्माकी जाग्रत् आदि अवस्थाओंका वर्णन माण्डूक्य, छान्दोग्य ८-१२ तथा बृहदा० ८-२ में भी ऐसा ही है।)

द्वितीय अध्याय—[दूसरा ब्राह्मण]

(प्राणकी शिशु-रूप कल्पना)

काशीराज अजातशत्रु गार्ग्यको उपदेश देतेहुए फिर कहते हैं—

जैसे एक शिशुका, एक छोटे-से बछडेका, 'आधान' है, शरीर है, जिसमें वह टिकाहुआ है, जैसे उसका 'प्रत्याधान' है, आधानका आधान है, अर्थात् जैसे शरीर-रूपी आधानमें सिर-रूपी प्रत्याधान टिकाहुआ है, जैसे उसका 'स्थूण' है, खूटा है जिसमें वह बधा है, और जैसे उसकी 'दाम' है, रस्सी है, वैसे जीवात्मा ही एक शिशु है, बछडा है, यह शरीर 'आधान' है जिसमें वह टिकाहुआ है, यह सिर 'प्रत्याधान' है जिसमें ज्ञानेंद्रिया टिकीहुई है, यह प्राण 'खूटा' है जिसपर वह बधाहुआ है, यह अन्न 'रस्सी' है जिसने उसे रोकाहुआ है। जीवात्मा-रूपी शिशुको उसके 'आधान'-'प्रत्याधान'-'खूटे'-'रस्सी'-सहित जो जान लेता है, और उसे प्राण-रूपी खूटेसे बाध लेता है, वह इसके सात-शत्रुओंको रोक देता है। दो कान, दो आख, दो नाक, एक जीभ—ये सात ही तो शत्रु है। आत्मा-रूपी शिशुको प्राण-रूपी खूटेके साथ बाधकर उसकीतरह निर्लेप बनालेना इन्द्रियोंके सग-दोषसे छूट जाना है।१।

इतना ही नहीं कि वह इन सात शत्रुओंको रोक देता है, उसे सात 'अक्षितिया'—नाश न होनेवाली शक्तिया—भी प्राप्त हो जाती है। उसकी आखमें स्वय 'रुद्र'-'पर्जन्य'-'आदित्य'-'अग्नि'-'इन्द्र'-'पृथिवी'-'द्यौ'—ये सात देवता मानो उसकी आराधनाकेलिये आ विराजते है। जो आत्माको 'शिशु' और 'प्राण'की तरह निर्लेप बना लेता है,

---

यो ह वै शिशुं साधानं सप्रत्याधानं सस्थूणं सदामं वेद सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धि। अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणस्तस्येदमेवाधानमिदं प्रत्याधानं प्राणः स्थूणान्नं दाम।१।

उसके आखोकी लाल-लाल रेखाओमें मानो 'रुद्र' आ बैठता है, नेत्रके जलोमें मानो 'पर्जन्य', पुतलीमें मानो 'आदित्य', कालिमामें 'अग्नि', श्वेतिमामें 'इन्द्र', निचली पलकमें 'पृथिवी', उपरली पलकमें 'द्यौ' आ विराजते है। ऐसे प्राण सरीखे निर्लेप शिशुकी मानो सभी देवता आराधना करने लगते है। जो इस रहस्यको जानता है उसे किसी बातकी कमी नही रहती।२।

उसकी आखमें सात 'देवता', और सिरमें मानो सात 'ऋषि' आ विराजते है। किसीने कहा है—सोम-रसका एक चमसा है, बर्तन है, इसका मुह नीचेको है, तला ऊपरको है, इसमें हरप्रकारका यश भरा हुआ है। इस चमसके किनारे सात ऋषि बैठे है, आठवी वाणी भी वहीं बैठी ब्रह्मका बखान कर रही है। इस उक्तिका अभिप्राय यह है कि नीचे मुहवाला चमसा यह सिर ही है, खोपडीका ऊपरका हिस्सा चमसका तला है, नीचेका हिस्सा उसका मुंह है। 'इसमें हरप्रकारका यश भराहुआ है'—इसका अभिप्राय जीवन-शक्तिसे है। इसके किनारे बैठे सात ऋषियोसे अभिप्राय दो आख, दो कान, दो नाक और एक जिह्वासे है। इन सातो ऋषियोके साथ आठवीं वाणी बैठीहुई है, जो ब्रह्म-ज्ञानकी घोषणा कर रही है।३।

तमेता सप्ताक्षितय उपतिष्ठन्ते तद्या इमा अक्षन्लोहिन्यो राजयस्ताभिरेनं रुद्रोऽन्वायत्तोऽथ या अक्षन्नापस्ताभि पर्जन्यो या कनीनका तयादित्यो यत्कृष्ण तेनाग्निर्यच्छुक्ल तेनेन्द्रोऽधरयैनं वर्तन्या पृथिव्यन्वायत्ता द्यौरुत्तरया नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद। २।

तदेष श्लोको भवति। अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहित विश्वरूपम्। तस्याऽऽसत ऋषय सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति। अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीद तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहित विश्वरूपमिति प्राणा वै यशो विश्वरूप प्राणानेतदाह तस्याऽऽसत ऋषय सप्त तीर इति प्राणा वा ऋषय प्राणानेतदाह वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति वाग्घ्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते। ३।

जैसे आखमें सात देवता आ उतरे थे, वैसे सिरमें सात इन्द्रियोका होना मानो सात ऋषियोका आ विराजना है। ये दोनो कान गोतम और भारद्वाज ऋषि है, दाया कान मानो गोतम, बाया कान मानो भारद्वाज है, ये दोनो नेत्र विश्वामित्र और जमदग्नि ऋषि है, दाया नेत्र विश्वामित्र और बाया नेत्र जमदग्नि है, ये दोनो नासिकाए वसिष्ठ और कश्यप है, दायीं नासिका वसिष्ठ और बायीं कश्यप है, वाणी अत्रि ऋषि है, वाणीसे अन्न खाया जाता है और अत्रि भी 'अत्ति' से बनता है, जो खाता है वह अत्रि है। जो इस रहस्यको जानता है वह सब पदार्थोको अन्नकी तरह भोगता है, और प्रत्येक वस्तु उसका अन्नकी तरह भोग्य होजाती है।४।

द्वितीय अध्याय—[तीसरा ब्राह्मण]

(ब्रह्मके दर्शन)

अजातशत्रुने उपदेश जारी रखतेहुए फिर कहना शुरु किया—

ब्रह्मके दो ही रूप है, 'मूर्त' तथा 'अमूर्त', 'मर्त्य' तथा 'अमृत', 'स्थित' तथा 'यत्', अर्थात् ठहराहुआ और चलनेवाला, 'सत्' तथा 'त्यत्', अर्थात् प्रत्यक्ष तथा परोक्ष।१।

वायु तथा अन्तरिक्षसे भिन्न जो-कुछ दीख रहा है, यही ब्रह्मका मूर्त-रूप है, यही मर्त्य-रूप है, यही स्थित-रूप है, यही सत्-रूप है, प्रत्यक्ष-रूप है। इस मूर्त, इस मर्त्य, इस स्थित, इस सत्, इस प्रत्यक्ष-रूपका रस, इसका निचोड यह तपनेवाला 'सूर्य' है। ब्रह्मके प्रत्यक्ष-रूपका रस, उसका सार, उसका निचोड, उसके सब प्रत्यक्ष-रूपोका

इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽय भरद्वाज इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽय जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽय कश्यपो वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्न भवति य एव वेद।४।

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त चैवामूर्त च मर्त्य चामृत च स्थित च यच्च सच्च त्यच्च।१।

प्रतीक सूर्य है। वैसे तो ब्रह्म प्रत्येक मूर्त-रूपमें प्रत्यक्ष हो रहा है, परन्तु उसके मूर्त-रूपोंकी चरम-सीमा सूर्य है, सूर्य मानो ब्रह्मका महा-प्रत्यक्ष रूप है ।२।

वायु तथा अन्तरिक्ष ब्रह्मके अमूर्त-रूप हैं, ये अमृत-रूप हैं, यत्-रूप हैं, त्यत्-रूप हैं, परोक्ष-रूप हैं। इन अमूर्त, अमृत, यत्, त्यत्, परोक्ष-रूपोंका रस, उनका निचोड इस सौर-मडलका अधिष्ठाता 'पुरुष' है। ब्रह्मके परोक्ष-रूपका रस, उसका सार, उसका निचोड, उसके सब परोक्ष-रूपोंका प्रतीक वह पुरुष है, जो छोटी-छोटी वस्तुओंका नियन्त्रण तो कर ही रहा है, परन्तु साथ ही इस महान् सौर-मडलका भी नियन्त्रण कर रहा है। ब्रह्माडमें ये ब्रह्मके प्रत्यक्ष तथा परोक्ष-रूपोंके दर्शन हैं ।३।

पिडमें, प्राण तथा हृदयाकाशसे भिन्न जो-कुछ दीख रहा है, यही ब्रह्मका मूर्त, मर्त्य, स्थित, सत् और प्रत्यक्ष-रूप है। इस मूर्त, मर्त्य, स्थित, सत् और प्रत्यक्ष-ब्रह्मका रस चक्षु है। सत्-रूप ब्रह्मका, अर्थात् दीखरहे ब्रह्मका चक्षु मानो रस है, अर्थात् चक्षु मानो ब्रह्मका पिडमें साक्षात् दर्शनका रस है ।४।

प्राण तथा हृदयाकाश पिडमें दर्शन देनेवाले ब्रह्मके अमूर्त-रूप हैं, ये अमृत, यत्, त्यत्, परोक्ष-रूप हैं। इन अमूर्त, अमृत, यत्, त्यत्, परोक्ष-रूपोंका रस दायीं आखके भीतर दीखनेवाला पुरुष है। उस

तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्चैतन्मर्त्यमेतत्स्थि-
तमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यै-
तस्य सत एष रसो य एष तपति सतो ह्येष रसः ।२।
अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमेतद्यदेतत्त्य तस्यैतस्यामूर्त-
स्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो य एष एत-
स्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य ह्येष रस इत्यधिदैवतम् ।३।
अथाध्यात्ममिदमेव मूर्तं यदन्यत्प्राणाच्च यश्चायमन्तरात्मन्ना-
काश एतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यै-
तस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो यच्चक्षुः सतो ह्येष रसः ।४।

'त्यत्'का, उस छिपकर आखके भीतरमे झाकनेवालेका 'चक्षु' मानो रस है ।५।

समाधि अवस्थामें उपासकको ब्रह्मका जो रूप दीख पडता है, वह ऐसा है, जैसे केसरके रगमे रगा महा-वस्त्र हो, पाडु-वर्णकी ऊन हो, वीर बहूटीकी लालिमाकी तरह, अग्निकी ज्वालाकी तरह, श्वेत पुडरीककी तरह, एक बारकी विद्युत्की लपटकी तरह । जो इस रहस्यको जानता है, उसकी शोभा विद्युत्के एक सकृत् प्रकाशकी भाति हो जाती है । बस, इसके आगे ब्रह्मके विषयमें 'नेति'-'नेति'का ही आदेश है । इससे बढकर अन्य कुछ है ही नहीं । प्राणोको मनुष्य सब-कुछ समझता है, इन्हें सत्य मानता है । अगर प्राण सत्य है, तो वह प्राणोका प्राण है, सत्योका सत्य है, उसका नाम है—'सत्यस्य सत्यम्' ।६।

द्वितीय अध्याय—[चौथा ब्राह्मण]

(याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी सवाद, ४, ५ ब्राह्मण)

याज्ञवल्क्य-मैत्रेयीका सवाद इसी उपनिषद्के ४ अध्याय ५ ब्राह्मणमे दुबारा आया है । हम उसे वहा न लिखकर यही लिखते है —

याज्ञवल्क्य जब अपने आश्रमको छोडकर जाने लगे, तो उन्होने अपनी मित्र-स्त्री मैत्रेयीसे कहा—देखो, मै इसी गृहस्थाश्रममें पड़े रहना

अथामूर्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतदमृत-मेतद्यदेतत्त्य तस्यैतस्यामूतस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो योऽय दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्त्यस्य ह्येष रस । ५ ।
तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूप, यथा माहारजन वासो यथा पाण्ड्वाविक यथेन्द्रगोपो यथाऽग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीक यथा सकृद्विद्युत्तँ सकृद्विद्युत्तेव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एव वेदाथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नाम-धेयँ सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्य तेषामेष सत्यम् । ६ ।

नही चाहता, मैं ऊपर उठना चाहता हू । आओ, तुम्हारा कात्यायनीके साथ निपटारा करा दू ।१।

मैत्रेयीने कहा, भगवन् ! अगर यह सारी पृथिवी वित्तसे पूर्ण होकर मेरी हो जाय, तो 'कथ तेन अमृता स्याम्'—क्या मैं उससे अमर हो जाऊगी ? याज्ञवल्क्यने कहा, नही, उस अवस्थामें, जैसे साधन-सम्पन्न



याज्ञवल्क्यने कहा, हे मैत्रेयी ! धन-ऐश्वर्यमे वह अमृत ब्रह्म प्राप्त नहीं होता

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थाना-
दस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणीति । १ ।

व्यक्ति चैनसे जीवन निर्वाह करते हैं, वैसे तुम्हारा जीवन होगा, 'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन'—धन-धान्यसे अमरता पानेकी तो आशा नही हो सकती ।२।

मैत्रेयीने कहा, 'येनाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम्'—जिससे मैं अमर न हो सकूँ, उसे लेकर मैं क्या करूँ? भगवन्! अमर होनेका जो रहस्य आप जानते हो, मुझे तो उसीका उपदेश दीजिये ।३।

याज्ञवल्क्यने कहा, तू तो मेरी प्रिय है, और बड़ा प्रिय वचन बोल रही है। आ, बैठ, मैं तुझे सब खोलकर समझाता हूँ, ज्यो-ज्यो मैं बोलता जाऊँ, मेरी बात ध्यान देकर सुनते जाना ।४।

फिर उसने कहना शुरू किया—अरे, पतिकी कामनाके लिये पति प्रिय नहीं होता, अपने आत्माकी कामनाकेलिये पति प्रिय होता है, अरे, पत्नीकी कामनाकेलिये पत्नी प्रिय नहीं होती, अपने आत्माकी कामनाकेलिये पत्नी प्रिय होती है, अरे, पुत्रोंकी कामनाकेलिये पुत्र प्रिय नहीं होते अपने आत्माकी कामनाकेलिये पुत्र प्रिय होते हैं, अरे, वित्तकी कामनाकेलिये वित्त प्रिय नहीं होता अपने आत्माकी कामनाकेलिये वित्त प्रिय होता है, अरे, ब्राह्म-शक्तिकी कामनाकेलिये ब्रह्म प्रिय नहीं होता अपने आत्माकी कामनाकेलिये ब्रह्म प्रिय होता है, अरे, क्षात्र-शक्तिकी कामनाकेलिये क्षत्र प्रिय नहीं होता, अपने आत्माकी कामनाकेलिये क्षत्र प्रिय होता है, अरे, लोकोंकी कामनाकेलिये लोक प्रिय नहीं होते, अपने आत्माकी कामनाकेलिये लोक प्रिय होते हैं, अरे, देवोंकी कामनाकेलिये देव प्रिय नहीं होते अपने आत्माकी कामना

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृतत्वस्य तु नाऽऽशास्ति वित्तेनेति ।२।

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ।३।

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषस एह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ।४।

केलिये देव प्रिय होते हैं, अरे, भूतोकी कामनाकेलिये भूत प्रिय नहीं होते, अपने आत्माकी कामनाकेलिये भूत प्रिय होते हैं, अरे, इस सब-कुछकी कामनाकेलिये यह सब-कुछ प्रिय नही होता, अपने आत्माकी कामनाकेलिये यह सब-कुछ प्रिय होता है। जिस आत्माकेलिये यह सब प्रिय होता है, अरे, वह आत्मा ही तो द्रष्टव्य है, श्रोतव्य है, मन्तव्य है, निदिध्यासितव्य है—उसीको देख, उसीको सुन, उसीको जान, उसीका ध्यान कर। अरे मैत्रेयी! आत्माके ही देखनेसे, सुननेसे, समझनेसे और जाननेसे सब गाठें खुल जाती है।५।

इस अपने भीतरके आत्माके अतिरिक्त कुछ नही है। जो ब्राह्म-शक्तिको आत्मासे भिन्न जानता है, उसे ब्राह्म-शक्ति त्याग देती है; जो क्षात्र-शक्तिको आत्मासे भिन्न जानता है, उसे क्षात्र-शक्ति त्याग देती है, जो लोकोको आत्मासे भिन्न समझता है, उसे लोक त्याग देते हैं, जो देवोको, भूतोको, इस सब-कुछको आत्मासे भिन्न समझता

न होवाच न वा अरे पत्यु कामाय पति प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पति प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणा कामाय पुत्रा प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्रा प्रिया भवन्ति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्त प्रिय भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्त प्रिय भवति। न वा अरे ब्रह्मण कामाय ब्रह्म प्रिय भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रिय भवति। न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्र प्रिय भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्र प्रिय भवति। न वा अरे लोकाना कामाय लोका प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोका प्रिया भवन्ति। न वा अरे देवाना कामाय देवा प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवा प्रिया भवन्ति। न वा अरे भूताना कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्व प्रिय भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्व प्रिय भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेद सर्व विदितम्।५।

है, उसे देव, भूत, यह सब-कुछ त्याग देता है । आत्मा ही ब्राह्म-शक्ति है, यही क्षात्र-शक्ति है, यही लोक है, यही देव है, यही भूत है, यह आत्मा ही सब-कुछ है, इसलिये इसीकी कामनाकेलिये सब प्रिय होता है---इसलिये आत्माको जानो, आत्माको जानो ।६।

दुन्दुभिपर जब चोट देते है, तब उसमे शब्द निकल-निकलकर बाहर आते है । इन शब्दोको अलग-से नहीं पकडा जा सकता । इन्हें पकडना हो, तो दुन्दभिको पकड लो, या दुन्दुभिको चोट देनेवालेको पकड लो, और बस, यह ढोल-का-सा तमोगुणी शब्द पकडा जाता है । ठीक इसीतरह आत्मा इन्द्रिय-रूपी दुन्दुभिको पीटकर ससारके ढोल-के-से तमोगुण-रूपी शब्द उत्पन्न कर रहा है । ससारको पकडना हो, तो इन्द्रियोको पकड लो, और उनसे बढकर आत्माको पकड लो ।७।

शख जब पूरा जाता है, तो उससे निकलेहुए शब्दोको अलग-से नहीं पकडा जा सकता । इन्हें पकडना हो, तो शखको पकड लो, या शखको पूरनेवालेको पकड लो, और बस, यह शख-का-सा रजोगुणी शब्द पकडा जाता है । इसीप्रकार ससारके शख-के-से रजोगुण-रूपी शब्दको पूरनेवाले आत्माको पकड लो, उसीने यह शंख पूर रखा है ।८।

जब वीणा बजाई जाती है, तब उससे निकलेहुए शब्दोको अलग-से नही पकडा जा सकता । इन्हें पकडना हो, तो वीणाको पकड लो, या वीणा बजानेवालेको पकड लो, और बस, यह वीणा-का-सा सतो-

---

ब्रह्म त परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद क्षत्र त परादाद्योऽन्यत्रा-
त्मन क्षत्र वेद लोकास्त परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद देवास्त
परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद भूतानि त परादुर्योऽन्यत्रात्मनो
भूतानि वेद सर्व त परादाद्योऽन्यत्रात्मन सर्व वेदेद ब्रह्मेद
क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदँ सर्व यदयमात्मा । ६ ।
स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्
ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीत । ७ ।
स यथा शखस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्-
ग्रहणाय शखस्य तु ग्रहणेन शखध्मस्य वा शब्दो गृहीत । ८ ।

गुणी शब्द पकडा जाता है । इसीप्रकार इस जगत्के वीणा-के-से सतोगुण-रूपी शब्दको बजानेवाले आत्माको पकड लो, उसीने ये तार बजाये है ।९।

जिसप्रकार गीली लकडिया जलायी जाय, तो आगसे अलग धूआ बाहर निकल पडता है, अरे मैत्रेयी ! इसीप्रकार इस महान् भूत, महान्-शक्ति आत्माका यह निच्छ्वास है, बाहरकीओर लिया गया सास है, जो ऋक्, यजु, साम, अथर्वाङ्गिरस्, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषत्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान है । ये सब इसी आत्माके मानो नि श्वास है, बाहर निकलेहुए सास है ।१०।

जैसे सब जल समुद्रको पहुचते है, सब स्पर्श त्वचाको, सब गन्ध नासिकाको, सब रस जिह्वाको, सब रूप चक्षुको, सब शब्द श्रोत्रको, सब सकल्प मनको, सब विद्या हृदयको, सब कर्म हस्तको, सब आनन्द उपस्थको, सब विसर्ग पायुको, सब गति पावोको, वैसे सब वेद, इतिहास, पुराण जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, वाणीको पहुचते है, और वाणी आत्माद्वारा विकसित होती है, इसलिये आत्मा ही मे सृष्टिके सपूर्ण प्रवाहका प्रसार है ।११।

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्
ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीत ।९।
स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येव वा अरेऽस्य
महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथ-
र्वाङ्गिरस इतिहास पुराण विद्या उपनिषद श्लोका सूत्रा-
ण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि । १० ।
स यथा सर्वासामपा समुद्र एकायनमेव सर्वेषा स्पर्शाना त्वगेकाय-
नमेव सर्वेषा गन्धाना नासिके एकायनमेव सर्वेषा रसाना
जिह्वैकायनमेव सर्वेषा रूपाणा चक्षुरेकायनमेव सर्वेषा शब्दाना
श्रोत्रमेकायनमेव सर्वेषा सकल्पाना मन एकायनमेव सर्वासा
विद्याना हृदयमेकायनमेव सर्वेषा कर्मणा हस्तावेकायनमेव
सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेव सर्वेषा विसर्गाणा पायुरेकायन-
मेव सर्वेषामध्वना पादावेकायनमेव सर्वेषा वेदाना वागेकायनम् । ११ ।

जैसे नमककी डली पानीमें डाल दी जाय, वह पानीमें ही विलीन हो जाती है, उसे पानीमेंसे निकाला नहीं जा सकता, पानीको जहा-जहासे लिया जाय, उसमें नमक ही घुला मिलता है, अरे मैत्रेयी ! इसीप्रकार यह महान् जीवन-शक्ति, यह अनन्त, अपार, विज्ञान-घन-आत्मा इन भूतोंके साथ ही प्रकट होता है, उनमें घुला-मिला मिलता है, और इन भूतोंमें ही जा छिपता है । जबतक वह भूतोंमें प्रकट हो रहा है, तभीतक उसके नाम है, उसकी सज्ञा है, उसके यहासे चलेजाने-पर उसकी कोई सज्ञा नहीं रहती । याज्ञवल्क्यने कहा, अरे मैत्रेयी, यह रहस्यकी बात है जिसे मैं तुझे बता रहा हू ।१२।

मैत्रेयी बोली, भगवन ! आपने यह कहकर कि यहासे चलेजानेपर उसकी कोई सज्ञा नही रहती, मुझे घबराहटमें डाल दिया । याज्ञवल्क्य ने कहा, मैं तुझे घबराहटमें डालनेकेलिये कुछ नहीं कह रहा । मैं जो-कुछ कह रहा हू, उसे समझनेकेलिये यह-सब कहना भी जरूरी है ।१३।

जब आत्मा भूतोंमें प्रकट होता है, तभी तो 'द्वैत' होता है, द्वैतमें ही आत्मा विषयको सूघता है, आत्मा विषयको देखता है, एक-दूसरेसे बात करता है, एक-दूसरेकी बात समझता है, एक-दूसरेको पहचानता है । परन्तु जब यह भूतोंसे अलग होकर, अपने आत्माके सम्पूर्ण-रूपमें पहुच जाता है, तब यह किससे किसको सूघे, किससे किसको देखे, किससे किसको सुने, किससे किसको कहे, किससे किसको समझे, किससे किसको पहचाने ? आत्मा ही से तो सब-कुछ जानता-पहचानता है, फिर आत्माको किससे जाने-पहचाने ? अरे मैत्रेयी ! जाननेवाले-

---

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत न हास्यो-द्ग्रहणायेव स्याद्यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैव वा अर इद महद्-भूतमनन्तमपार विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्ये-वाऽनु विनश्यति न प्रेत्य सज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्य । १२ ।
सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य सज्ञाऽस्तीति स होवाच याज्ञवल्क्यो न वा अरेऽह मोह ब्रवीम्यल वा अर इद विज्ञानाय । १३ ।

को किससे जाने ? इसीलिये मै कहता हूं कि जब आत्माको भूतोसे अलग कर दिया जाय, तब उसकी सज्ञा नही रहती, उस समय वह अपने अनिर्वचनीय रूपमें जा पहुचता है, नष्ट नही होजाता ।१४।

द्वितीय अध्याय—[पाचवा ब्राह्मण]

(मधु-विद्या अथवा ब्रह्म-विद्या)

याजवल्क्य मैत्रेयीको 'आत्म-तत्त्व'का उपदेश देतेहुए ब्रह्माड तथा पिड—इन दोनोमे—'आत्म-तत्त्व' है, इस रहस्यको समझाते है—

यह 'पृथिवी' सब प्राणियोको मधु-समान प्यारी है, पृथिवीको सब प्राणी मधु-समान प्यारे है। पृथिवीमें व्यापरहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह ब्रह्माडका 'आत्मा' है, शरीरमें भी व्यापरहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह पिडका 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है ।१।

ये 'जल' सब प्राणियोको मधु-समान प्यारे है, जलोको सब प्राणी मधु-समान प्यारे है। जलोमें व्यापरहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह ब्रह्माडका 'आत्मा' है, शरीरमें भी व्यापरहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह पिडका 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है ।२।

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतर जिघ्रति तदितर इतर पश्यति तदितर इतरं शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतर मनुते तदितर इतर विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन क जिघ्रेत्तत्केन क पश्येत्तत्केन कं शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत् केन क मन्वीत तत् केन क विजानीयाद्येनेदं सर्व विजानाति त केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति । १४ ।
इय पृथिवी सर्वेषा भूताना मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्या पृथिव्या तेजोमयोऽमृतमय पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमय पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिद ब्रह्मेदं सर्वम् । १ ।
इमा आप सर्वेषा भूताना मध्वासामपां सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमास्वप्सु तेजोमयोऽमृतमय पुरुषो यश्चायमध्यात्मं रैतसस्तेजोमयोऽमृतमय पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिद ब्रह्मेदं सर्वम् । २ ।

यह 'अग्नि' सब प्राणियोंको मधु-समान प्यारी है, अग्निको सब प्राणी मधु-समान प्यारे हैं। अग्निमें व्यापरहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह ब्रह्माण्डका 'आत्मा' है, शरीरमें व्यापरहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह पिंडका 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है।३।

यह 'वायु' सब प्राणियोंको मधु-समान प्रिय है, वायुको सब प्राणी मधु-समान प्रिय हैं। वायुमें व्यापरहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह ब्रह्माण्डका 'आत्मा' है, शरीरमें व्यापरहा जो तेजोमय, अमृत-मय पुरुष है, यह पिंडका 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है।४।

यह 'आदित्य' सब प्राणियोंको मधु-समान प्रिय है, आदित्यको सब प्राणी मधु-समान प्रिय हैं। आदित्यमें व्यापरहा जो तेजोमय, अमृत-मय पुरुष है, यह ब्रह्माण्डका 'आत्मा' है, शरीरमें व्यापरहा जो तेजो-मय, अमृतमय पुरुष है, यह पिंडका 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है।५।

ये 'दिशाएं' सब प्राणियोंको मधु-समान प्रिय हैं, दिशाओंको सब प्राणी मधु-समान प्रिय हैं। दिशाओंमें व्यापरहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह ब्रह्माण्डका 'आत्मा' है, शरीरमें व्यापरहा जो

अयमग्नि सर्वेषां भूतानां मध्वस्याग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाय-मस्मिन्नग्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं वाङ्मयस्तेजो-मयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदँ सर्वम् । ३ ।
अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य वायोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाय-मस्मिन्वायौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं प्राणस्तेजो-मयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदँ सर्वम् । ४ ।
अयमादित्यः सर्वेषां भूतानां मध्वस्यादित्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नादित्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं चाक्षुष-स्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदँ सर्वम् । ५ ।

तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह पिंडका 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'अत्मा' ही यह सब-कुछ है।६।

यह 'चन्द्र' सब प्राणियोंको मधु-समान प्रिय है, चन्द्रको सब प्राणी मधु-समान प्रिय हैं। चन्द्रमें व्यापरहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह ब्रह्माडका 'आत्मा' है, शरीरमें व्यापरहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह पिंडका 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है।७।

यह 'विद्युत्' सब प्राणियोंको मधु-समान प्रिय है, विद्युत्को सब प्राणी मधु-समान प्रिय हैं। विद्युत्में व्यापरहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह ब्रह्माडका 'आत्मा' है, शरीरमें व्यापरहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह पिंडका 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है।८।

यह 'स्तनयित्नु'—गरजनेवाला बादल—सब प्राणियोंको मधु-समान प्रिय है, स्तनयित्नुको सब प्राणी मधु-समान प्रिय हैं। मेघमें व्यापरहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह ब्रह्माडका 'आत्मा' है, शरीरमें व्यापरहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह पिंडका 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है।९।

इमा दिशः सर्वेषां भूतानां मध्वासां दिशां सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमासु दिक्षु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं श्रोत्रं प्रातिश्रुत्कस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्। ६।

अयं चन्द्रः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य चन्द्रस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिंश्चन्द्रे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्। ७।

इयं विद्युत्सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै विद्युतः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां विद्युति तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं तैजसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्। ८।

अयं स्तनयित्नुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य स्तनयित्नोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्स्तनयित्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शाब्दः सौवरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्। ९।

यह 'आकाश' सब प्राणियोंको मधु-समान प्रिय है, आकाशको सब प्राणी मधु-समान प्रिय है। आकाशमें व्यापरहा जो तेजोमय, अमृतमय-पुरुष है, यह ब्रह्माण्डका 'आत्मा' है, शरीरमें व्यापरहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह पिंडका 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है।१०।

यह 'धर्म'—संसारके धारणकी शक्ति—सब प्राणियोंको मधु-समान प्रिय है, धारण-शक्तिको सब प्राणी मधु-समान प्रिय है। धारण-शक्तिका अधिष्ठाता जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह ब्रह्मांडका 'आत्मा' है, शरीरकी धारण-शक्तिका अधिष्ठाता जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह पिंडका 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है।११।

यह 'सत्य'—वह सचाई जो विश्वका आधार-भूत तत्त्व है—सब प्राणियोंको मधु-समान प्रिय है, सत्यको सब प्राणी मधु-समान प्रिय है। 'सत्यमेव जयते नानृतम्'की विजय-शक्तिका अधिष्ठाता जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह ब्रह्माण्डका 'आत्मा' है, शरीर में भी सत्य ही टिकता है, असत्य नहीं, शरीरकी इस सत्य-शक्तिका अधिष्ठाता जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह पिंडका 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है।१२।

अयमाकाशः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याकाशस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं हृद्याकाशस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्। १०।
अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्धर्मे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं धार्मस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्। ११।
इदं सत्यं सर्वेषां भूतानां मध्वस्य सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्सत्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं सात्यस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्। १२।

यह 'मानुष-भाव'--इन्सानियत (Humanity)--सब प्राणियों को मधु-समान प्रिय है, मानुष-भावको सब प्राणी मधु-समान प्रिय है। मानुष-भावमें जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्माडका 'आत्मा' है, भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंमें जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंडका 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है।१३।

यह 'आत्म-भाव'--अहंभाव--सब प्राणियोंको मधु-समान प्रिय है, 'आत्म-भाव'को सब प्राणी मधु-समान प्रिय है। विश्वके आत्म-भावमें जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह ब्रह्माडका 'आत्मा' है, व्यक्तिके आत्म-भावमें जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह पिंडका 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है।१४।

सो, यह 'आत्मा' ब्रह्माडके पांचों महाभूतोंका अधिपति है, और पिंड-युक्त सब प्राणियोंका राजा है। यह 'आत्मा' विश्व-रूपी रथकी 'नाभि' भी है, 'नेमि', अर्थात् परिधि भी है। जैसे अरे भीतरसे नाभिसे जुडे होते हैं, बाहरसे परिधिसे जुडे रहते हैं, तभी टिकते हैं, इसीप्रकार सब भूत, सब देव, सब लोक, सब प्राण और सब जीवात्मा इसी पर-मात्मामें एक तरफसे उसकी नाभि और दूसरी तरफसे उसकी परिधि में टिकेहुए हैं, उसीमें समर्पित हैं, अपनेको उसीपर वार रहे हैं।१५।

इदं मानुषं सर्वेषां भूतानां मध्वस्य मानुषस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्मानुषे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्। १३।
अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मध्वस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाय-मस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृत-मयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्। १४।
स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः। १५।

याज्ञवल्क्यने मैत्रेयीसे कहा कि जो-कुछ मैंने तुझे उपदेश दिया, भगवद्भक्तोंमें इसका नाम 'मधु-विद्या' प्रसिद्ध है । इस विद्याका किसी समय उपदेश अथर्व-गोत्री दध्यङने अश्वियोंको दिया था । दध्यङ ऋषिने इस विद्याके रहस्यको देखकर अश्वियोंको कहा था—नरोंके, अर्थात् मनुष्य-जातिके कल्याणकेलिये मैं इस उग्र कर्मको कर रहा हूं, जैसे गाढान्धकारमें विद्युत्के कड़कनेके बाद घनघोर वृष्टि होती है, वैसे अविद्याके अन्धकारमें 'मधु-विद्या'के इस उग्र उपदेशके बाद मानव-जातिके अन्तरात्मामें शान्तिकी वर्षा होगी । अथर्व-गोत्री दध्यङने तुम दोनों अश्वि-कुमारोंको अश्वके सिरसे यह उपदेश दिया है—जैसे तुम अश्वके समान शीघ्र कार्य करनेके कारण 'अश्वि' हो, वैसे मैं भी अश्वके समान ही शीघ्र चिन्तन करनेवाला हूं ।१६।

यह वही 'मधु-विद्या' है, जिसका अथर्व-गोत्री दध्यङ ऋषिने अश्वि-कुमारोंको उपदेश दिया था । 'मधु-विद्या'के रहस्यको देखतेहुए किसी ऋषिने अश्वियोंको कहा था—क्योंकि तुम दोनोंने अथर्व-गोत्री दध्यङका मस्तिष्क अश्वके समान तीव्र-गामी बना दिया, अर्थात् तुम-सरीखे योग्य शिष्योंको देखकर वह भी ज्ञान देनेकेलिये उत्सुक हो उठा, इसलिये उसने सत्यका पालन करतेहुए तुम दोनोंको 'कक्ष्य' अर्थात् गुप्त 'मधु-विद्या'का तथा 'त्वाष्ट्र' अर्थात् 'त्वष्टा'-संबंधी 'ब्रह्म-विद्या'का उपदेश दिया ।१७।

यह वही 'मधु-विद्या' है जिसका अथर्व-गोत्री दध्यङ ऋषिने अश्वि-कुमारोंको उपदेश दिया था । 'मधु-विद्या'के रहस्यको देखतेहुए किसी ऋषिने कहा था—सृष्टिकी रचना करते हुए भगवान्ने दोपायोंकी

इदं वै तन्मधु दध्यङ्डाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच । तदेतदृषि पश्यन्नवोचत् ।
तद्वां नरा सनये दंस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम् ।
दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाचेति । १६ ।
इदं वै तन्मधु दध्यङ्डाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच, तदेतदृषि पश्य-
न्नवोचदाथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम् ।
स वां मधु प्रवोचदृतायन्त्वाष्ट्रं यद्दस्रावपि कक्ष्यं वामिति । १७ ।

पुरी बनाई, चौपायोंकी पुरी बनाई, और वह पुरुष अपने बनाये इन घोंसलोंमें पक्षी-रूप होकर घुस बैठा। वही पुरुष जिसका हमने ब्रह्माण्ड में तथा पिंडमें दर्शन किया, जिसे हमने 'आत्मा' कहा, वह इन सब पुरियोंमें प्रवेश किये बैठा है, इन्हींमें आरामसे शयन कर रहा है, वही सबको बाहरसे आवृत किये हुए है, वही सबको भीतरसे संवृत किये हुए है।१८।

यह वही 'मधु-विद्या' है, जिसका दध्यङ् ऋषिने अश्वि-कुमारोंको उपदेश दिया था। 'मधु-विद्या'के रहस्यको देखतेहुए किसी ऋषिने कहा था—यह आत्मा जिस रूपके साथ अपनेको जोड़ लेता है उसीका प्रतिरूप होजाता है, उसीका रूप धारण कर लेता है, परन्तु यह प्रति-रूपपना सिर्फ देखने-मात्रका है, आत्माका यथार्थ-रूप नहीं बदलता। जीवात्मा संसारकी मायामें खिंचा-खिंचा भिन्न-भिन्न रूपोंको धारण कर भटकता फिरता है, इसे हरनेवाले एक-सौ-दस हैं। ये हरनेवाले, इसे प्रलोभनोंमें फंसानेवाले एक हों, दस हों, सहस्र हों, अनेक हों, अनन्त हों, परन्तु इसका अपना रूप, शुद्ध-रूप 'ब्रह्म' है, 'अपूर्व' और 'अनपर' है, 'अनन्तर' और 'अबाह्य' है---यह ऐसा है जिससे कोई पूर्व नहीं, जिसके कोई पीछे नहीं, जिसके कोई भीतर नहीं, जिसके कोई बाहर नहीं। यह आत्मा ब्रह्म है, यह बात 'सर्वानुभू' है, प्रत्येक प्राणी इस तत्वको अपने भीतर अनुभव करता है। याज्ञवल्क्यने मैत्रेयीसे विदा लेतेहुए कहा कि यही मेरा अनुशासन है, यही मेरा उपदेश है।१९।

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषि पश्यन्नवोचत्। पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः। पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशदिति। स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किंचनानावृतं नैनेन किंचनासंवृतम्। १८।
इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच, तदेतदृषि पश्यन्नवोचद्रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेति। अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्। १९।

(दधीचि ऋषिके सम्बन्धमे दो कथानक पाये जाते है। एक तो यह कि वृत्रासुरको मारनेकेलिये उसने अपनी अस्थिया दे दी, दूसरा यह कि उसने अश्वि-कुमारोको अश्वके सिरसे मधु-विद्याका उपदेश दिया। दधीचिकी हड्डियोसे वृत्रके मारनेका अभिप्राय तो यह है कि विद्वान् लोग जीवनमे तो ससारका उपकार करते ही है, मरनेके बाद उनकी हड्डिया भी ससारका उपकार ही करती है। दधीचिने अश्वके सिरसे अश्वि-कुमारोको 'मधु-विद्या'का उपदेश दिया, इसके सबधमे कथानक यह है कि जब अश्वि-कुमार दधीचिसे 'मधु-विद्या'के रहस्यको जाननेकेलिये आये, तो दधीचिने कहा कि इन्द्रने मुझे इस विद्याका उपदेश देनेसे मना किया है। अश्वि-कुमारोने कहा कि हम आपका सिर ऐसा बना देगे कि इन्द्र पहचान ही न सके। उन्होने दधीचिका सिर काटकर अलग रख दिया, और उसकी जगह अश्वका सिर लगा दिया। दधीचिने अश्वके सिरसे मधु-विद्याका उपदेश दिया। जब वह उपदेश दे चुका, तो इन्द्रने आकर उसका सिर काट दिया। अश्वियोने दधीचिके सिरको, जिसे उन्होने सभालकर रखा था, फिर धडसे जोड दिया। इस कथानकका अभिप्राय क्या है? इसका अभिप्राय यह है कि गुरु तथा शिष्यकी मस्तिष्क-शक्ति भिन्न-भिन्न होती है। अगर गुरु अपने मस्तिष्कसे ही शिष्यको शिक्षा देने लगे, तो शिष्यके पल्ले कुछ न पडे। इसलिये शिष्यके सिरके समान ही गुरुको अपने सिरको बनाना पडता है। अश्वि-कुमारका सिर अश्वका है, अर्थात् उनका मस्तिष्क अभी पशु-समान है, अत दधीचिको भी अश्वका ही सिर चाहिये, उसी सतहपर उसे उतरना चाहिये। ऐसी अवस्थामे मानो शिष्य गुरुका सिर काटकर अलग रख देता है। परन्तु अगर शिष्य पशु-का-पशु ही बना रहे, तो गुरु भी पशुके साथ ही टक्कर मारता रहेगा। इसलिये कथानकमे शिष्योकेऊपर यह उत्तरदायित्व डाल दिया कि शिष्य गुरुके सिरको फिरसे जोड दे, स्वय इतना योग्य बन जाय कि गुरुकी ऊची विचार-धाराके साथ अपनी विचार-धाराको मिला सके।)

द्वितीय अध्याय—[छटा ब्राह्मण]

उपनिषत्के रहस्यकी परपरा इसप्रकार चली आती है। सबसे पहले गुरु ब्रह्मा हैं। उसके बाद ब्रह्माने जिसे ज्ञान दिया, और उसने जिसे दिया, वह परपरा निम्न प्रकार है—

१ प्रथम गुरु 'स्वयभू ब्रह्मा' है, २ उसने 'परमेष्ठी ब्रह्मा'को ज्ञान दिया, फिर क्रम यो चला ३ सनग, ४ सनातन, ५. सनारु, ६ व्यष्टि, ७ विप्रचित्ति, ८ एकर्षि, ९ प्रध्वसन, १०. मृत्यु-प्राध्वसन, ११ अयर्वा-दैव, १२ दध्यड, १३ अश्वि, १४ विश्वरूप त्वाष्ट्र, १५ आभूति त्वाष्ट्र, १६ अयास्य आंगिरस, १७ पथि सौभर, १८. वत्सनपात् वाभ्रव, १९ विदर्भि कौडिन्य, २० गालव, २१ कुमार हारित, २२. कैशोर्य काप्य, २३ शाडिल्य, २४ वात्स्य, २५ गौतम, २६. गौतम, २७. माण्टि, २८ आत्रेय, २९. भारद्वाज, ३० आसुरि, ३१ औपजन्धनि, ३२ त्रैवणि, ३३ आसुरायण तया यास्क, ३४ जातूकर्ण्य, ३५ पाराशर्य, ३६ पाराशर्यायण, ३७ घृतकौशिक, ३८ कौशिकायनि, ३९ वैज वापायन, ४०. पाराशर्य, ४१ भारद्वाज, ४२ गौतम, ४३ भारद्वाज, ४४ पाराशर्य, ४५ सैतव और प्राचीनयोग्य, ४६ गौतम, ४७ आन-

---

अथ वंश पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवन पौतिमाष्यात्पौति-माष्या गौपवनाद्गौपवन कौशिकात्कौशिक कौण्डिन्यात्कौण्डिन्य शाण्डिल्याच्छाण्डिल्य कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतम ॥ १ ॥
आग्निवेश्यादाग्निवेश्य शाण्डिल्याच्चानभिम्लाताच्चानभिम्लात आन-भिम्लातादानभिम्लात आनभिम्लातादानभिम्लातो गौतमाद्गौतम सैत-वप्राचीनयोग्याभ्यां सैतवप्राचीनयोग्यौ पाराशर्यात्पाराशर्यो भारद्वाजा-द्भारद्वाजो भारद्वाजाच्च गौतमाच्च गौतमो भारद्वाजाद्भारद्वाज पारा-शर्यात्पाराशर्यो वैजवापायनाद्वैजवापायन कौशिकायने कौशिकायनि ॥ २ ॥
घृतकौशिकाद्घृतकौशिक पाराशर्यायणात्पाराशर्यायण पाराशर्यात् पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चासुरायणस्त्रैव-णेस्त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज आत्रेया-दात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद्गौतमो गौतमाद्गौतमो वात्स्याद्वात्स्य शाण्डिल्याच्छाण्डिल्य कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्य काप्य कुमारहारिता-

भिम्लात, ४८ आनभिम्लात, ४९ आनभिम्लात, ५०. आग्निवेश्य शाण्डिल्य, ५१ गौतम, ५२ शाण्डिल्य कौशिक, ५३ कौडिन्य, ५४. कौशिक, ५५ गौपवन, ५६ पौतिमाष्य, ५७ गौपवन, ५८. पौतिमाष्य। इसप्रकार स्वयभू ब्रह्मासे पौतिमाष्यतक ब्रह्म-विद्याकी परपरा चली आई है, ब्रह्मको नमस्कार हो ।१–३। (बृहदारण्यक ४र्थ अध्याय, ६ष्ठ ब्राह्मणमे भी कुछ भेदमे यही वश दिया गया है। ६ष्ठ अध्याय ५म ब्राह्मणमे एक और गुरु-शिष्य-परपरा दी गई है जो इससे भिन्न है ।)

तृतीय अध्याय—[पहला ब्राह्मण]

(याज्ञवल्क्यका जनककी सभामे ब्रह्मोपदेश, १ से ९ ब्राह्मण)

प्राचीन-कालमें किसी समय विदेहराज जनकने बहु-दक्षिण-नामक यज्ञ किया। विदेह (वर्तमान मिथिला) के ब्राह्मणोके अतिरिक्त वहा कुरु (वर्तमान दिल्लीके आस-पासके प्रदेश) तथा पचाल (कन्नौज-के आसपासके प्रदेश) से अनेक ब्राह्मण पधारे थे । विदेहराज जनक के मनमें यह कौतूहल उत्पन्न हुआ कि इन ब्राह्मणोमें 'अनूचानतम', अर्थात् अतिशय विद्वान् कौन है ? इस उद्देश्यसे राजाने एक हजार गौए रुकवा लीं, और एक-एक गौके दोनो सींगोमें दस-दस तोले सोना बधवा दिया ।१।

त्कुमारहारितो गालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो वाभ्रवाद्वत्सनपाद्बाभ्रव पथ सौभरात्पन्था सौभरोऽयास्यादागिरसादयास्य आगिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद्दध्यङ्डाथर्वणोऽथर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्यो प्राध्व`सनान्मृत्यु प्राध्व`सन प्रध्व`सनात्प्रध्व`सन एकर्षेरेकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टि सनारो सनारु सनातनात्सनातन सनगात्सनग परमेष्ठिन परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयभु ब्रह्मणे नम । ३ ।

ॐ । जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरुपञ्चालाना ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुस्तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव क स्विदेषा ब्राह्मणानामनूचानतम इति स ह गवा` सहस्रमवरुरोध दश दश पादा एकैकस्या शृङ्गयोराबद्धा बभूवु । १ ।



याज्ञवल्क्यने अपने ब्रह्मचारीको कहा—गौए हाक ले जाओ!

उनसे विदेहराज बोले, आदरणीय ब्राह्मणो! आप लोगोमें जो सबसे श्रेष्ठ ब्रह्म-ज्ञानी हो, वह इन गौओको अपने घर ले जा सकता है। इन ब्राह्मणोमेंसे किसीने गौओको हाक ले जानेका साहस नहीं किया। तब याज्ञवल्क्यने अपने ही एक ब्रह्मचारीसे कहा, हे सामश्रवा! इन गौओको हाक ले चलो! वह उन्हें हाककर याज्ञवल्क्यके आश्रममें ले गया। यह देखकर वे ब्राह्मण क्रुद्ध हो उठे, और कहने लगे कि यह अपनेको हम सबसे बढ़कर ब्रह्म-वेत्ता कैसे कहता है? वहां विदेहराज

जनकके पुरोहित अश्वल भी विराजते थे। उन्होने याज्ञवल्क्यसे पूछा, आप अपनेको हम सबसे बढकर ब्रह्म-वेत्ता समझते है ? अगर आप वास्तवमें ही इतने महान् ब्रह्म-वेत्ता है, तो हम सभी आपको नमस्कार करते है। हम सब भी इन गौओको लेना चाहते थे, परन्तु हम अपनेको सर्वोच्च ब्रह्म-वेत्ता कहनेसे हिचकते रहे। आप अपनेको इस उच्च-कोटिका समझते है, तो हमारे प्रश्नोका उत्तर दीजिये। यह कहकर अश्वलने प्रश्न करना प्रारम्भ किया——।२।

अश्वलने पूछा, हे याज्ञवल्क्य ! ससारमें जब हर वस्तुको मृत्यु व्याप रही है, सब मृत्युके वशमें है, तब किसप्रकार 'यजमान' (यज्ञ करनेवाला) मृत्युसे छुटकारा पा सकता है ? यजमानको मृत्युसे छुटकारा दिलानेकेलिये 'यज्ञ' किये जाते है, परन्तु मृत्यु तो सभीको व्याप रही है, फिर वह मृत्युसे कैसे छूट सकता है ?

याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया——ब्रह्माडका अग्नि-देवता पिंडमें वाणी बनकर बैठाहुआ है। तभी कहा है, 'अग्निर्वाक् भूत्वा मुख प्राविशत्'——अग्नि वाणी बनकर मुखमें प्रविष्ट हो गई। यज्ञमें 'होता' यजमान की 'वाणी'को फिरसे 'अग्नि'का रूप दे देता है, इसीसे यजमान मृत्यु को जीत लेता है। अपने पिंडको ब्रह्माडसे, व्यष्टिको समष्टिसे मिला देना, इनमें सामजस्य उत्पन्न कर देना——यही मृत्युके पाशसे छूट जाना है। होता, वाणी, अग्नि——इन तीनोके सहयोगसे मृत्युका मुकाबिला होता है। यह जो पिंडमें 'वाणी' है, वही ब्रह्माडमें 'अग्नि'

तान्होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठ स एता गा उदजतामिति । ते ह ब्राह्मणा न दधृपुरथ ह याज्ञवल्क्य स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैता सोम्योदज सामश्रवा३ इति ता होदाचकार ते ह ब्राह्मणाश्चुक्रुधु कथ नो ब्रह्मिष्ठो ब्रुवीतेत्यथ ह जनकस्य वैदेहस्य होताऽश्वलो बभूव स हैन पप्रच्छ त्व नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी३ इति स होवाच नमो वय ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वय् स्म इति त् ह तत एव प्रष्टु दध्रे होताऽश्वल । २ ।

है। 'वाणी'का 'अग्नि'-रूप हो जाना ही 'मुक्ति' है, मृत्युसे छूटना है, यही 'अतिमुक्ति' है ।३।

(होताका काम यजमानकी 'वाणी'को 'अग्नि'का रूप दे देना है। जैसे अग्निमें सब मल भस्म हो जाते है, तेजस्विता आ जाती है, वैसे यजमानकी वाणी अग्निकी तरह शुद्ध—सत्य—तथा तेजस्वी होजाती है, यही मृत्युको जीत लेना है ।)

अश्वलने फिर दूसरा प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! संसारमें जब सब जगह दिन-रात व्याप रहे हैं, सब जगह छाये हुए है, तब किसप्रकार 'यजमान' दिन-रातके बन्धनसे छुटकारा पा सकता है ? ये दिन-रात उसके जीवनको एक-एक दिन और एक-एक रात करके कम ही तो करते रहते है ?

याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—ब्रह्माडका सूर्य-देवता पिंडमें चक्षु बनकर बैठाहुआ है। यज्ञमें 'अध्वर्यु' यजमानके 'चक्षु'को फिरसे 'आदित्य' का रूप दे देता है, इसीसे यजमान दिन-रातसे छूट जाता है, 'चक्षु'-रूप व्यष्टिकेलिये दिन-रात होते है, 'आदित्य'-रूप समष्टिकेलिये नही रहते। अपने पिंडको ब्रह्माडसे, व्यष्टिको समष्टिसे मिला देना—यही दिन-रातके पाशसे छूट जाना है। यह जो पिंडमें 'चक्षु' है, वही ब्रह्माडमें 'आदित्य' है। 'चक्षु'का 'आदित्य'-रूप हो जाना ही 'मुक्ति' है, यही 'अतिमुक्ति' है ।४।

अश्वलने फिर तीसरा प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! जब सृष्टिकी सभी वस्तुओमें पूर्व-पक्ष और अपर-पक्ष व्याप रहे है, सबपर छारहे है,

---

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदँ सर्वं मृत्युनाऽऽप्तँ सर्वं मृत्युनाऽभिपन्नं केन यजमानो मृत्योराप्तिमतिमुच्यत इति होत्रर्त्विजाग्निना वाचा वाग्वै यज्ञस्य होता तद्येयं वाक् सोऽयमग्निः स होता स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ।३।

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदँ सर्वमहोरात्राभ्यामाप्तँ सर्वमहोरात्राभ्यामभिपन्नं केन यजमानोऽहोरात्रयोराप्तिमतिमुच्यत इत्यध्वर्युणर्त्विजा चक्षुषाऽऽदित्येन चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युस्तद्यदिदं चक्षुः सोऽसावादित्यः सोऽध्वर्युः स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ।४।

तब किसप्रकार 'यजमान' शुक्ल-कृष्ण-पक्षोंके बन्धनसे छूट सकता है ? ये पक्ष उसके जीवनको पखवाड़ा-पखवाड़ा कम ही तो करते रहते हैं ?

याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—ब्रह्मांडका वायु-देवता पिंडमें प्राण बनकर बैठाहुआ है। यज्ञमें 'उद्गाता' यजमानके 'प्राण'को फिरसे 'वायु'का रूप दे देता है, इसीसे यजमान शुक्ल-कृष्ण-पक्षके बन्धनसे छूट जाता है। अपने पिंडको ब्रह्मांडसे, व्यष्टिको समष्टिसे मिला देना—यही पखवाडोंके पाशसे छूट जाना है। यह जो पिंडमें 'प्राण' है, वही ब्रह्मांडमें 'वायु' है। 'प्राण'का 'वायु'-रूप हो जाना ही 'मुक्ति' है, यही 'अतिमुक्ति' है।५।

अश्वलने फिर चौथा प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! जब यह अन्तरिक्ष निरावलम्ब है, इसकी कोई टेकन नहीं, तब किस सीढीसे 'यजमान' स्वर्ग-लोकमें जा पहुचता है ?

याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—ब्रह्मांडका चन्द्र-देवता पिंडमें मन बनकर बैठा हुआ है। यज्ञमें 'ब्रह्मा' यजमानके 'मन'को फिरसे 'चन्द्रमा'का रूप दे देता है, इसीसे यजमानको स्वर्ग-लोक पहुचनेके लिये किसी दूसरी सीढीकी आवश्यकता नही रहती। अपने पिंडको ब्रह्मांडसे, व्यष्टिको समष्टिसे मिला देना—यही बिना सीढीके ऊपर चढ जाना है। ब्रह्मा, मन, चन्द्रमा—इन तीनोंके सहयोगसे निरावलम्ब भी सावलम्ब हो जाता है। यह जो पिंडमें 'मन' है, वही ब्रह्मांडमें 'चन्द्रमा' है। 'मन'का 'चन्द्र'-रूप हो जाना ही 'मुक्ति' है, यही 'अतिमुक्ति' है।६।

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदँ सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामाप्तँ सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामभिपन्नं केन यजमानः पूर्वपक्षापरपक्षयोराप्तिमतिमुच्यत इत्युद्गात्रर्त्विजा वायुना प्राणेन प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता तद्योऽयं प्राणः स वायुः स उद्गाता स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ।५।
याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदमन्तरिक्षमनारम्बणमिव केनाऽऽक्रमेण यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमत इति ब्रह्मणर्त्विजा मनसा चन्द्रेण मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा तद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा स मुक्तिः साऽतिमुक्तिरित्यतिमोक्षा अथ संपदः ।६।

(वैदिक विचार-धारामें—केन ३, प्रश्न २-३, बृहदा०-१-३—'विराट्-पुरुष'की वाणीमे अग्नि, आखमे आदित्य, प्राणसे वायु तथा मनसे चन्द्रका प्रकट होना बताया गया है। इस 'विराट्-पुरुष'से ब्रह्माडकी रचनाके अनन्तर, ब्रह्माडसे पिडकी रचनाका वर्णन करतेहुए अग्निसे वाणी, आदित्यसे आख, वायुसे प्राण तथा चन्द्रसे मनकी रचना कही गई है। इस विकसित अवस्थासे मुक्तावस्थामे लौटतेहुए पिडकी वाणी फिर अग्नि बन जाती है, पिडकी आख फिर आदित्य बन जाती है, पिडका प्राण फिर वायु बन जाता है, पिडका मन फिर चन्द्र बन जाता है, और इसप्रकार व्यक्ति समष्टिमें, पिड ब्रह्माडमे, मानुष-पुरुष विराट्-पुरुषमे लौट जाता है। इसी प्रक्रियाको याज्ञवल्क्यने यहा खोला है। इस प्रक्रियाका यह अभिप्राय नही कि केवल मुक्त होते समय ही वाणी अग्निका, चक्षु आदित्यका, वायु प्राणका और मन चन्द्रका रूप धारण करती है, इसका यह अभिप्राय है कि हमे हर समय अपने जीवनमे वाणीको अग्निका, चक्षुको आदित्यका, वायुको प्राणका और मनको चन्द्रका रूप देनेका प्रयत्न करते रहना चाहिये—यही मुक्तिका मार्ग है।)

अश्वलने फिर पाचवा प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य! आज जो यह यज्ञ होनेवाला है, इसमें कितनी 'ऋचाओं'से 'होता' यज्ञ करेगा? याज्ञवल्क्यने कहा, तीनसे! वे तीन ऋचाएं कौन-सी है? वे है, 'पुरोनुवाक्या'-'याज्या' तथा 'शस्या'। यज्ञके प्रारभमें जो ऋचाएं पढी जाती है वे है, 'पुरोनुवाक्या', यज्ञ जिन ऋचाओसे किया जाता है वे है, 'याज्या', यज्ञ समाप्तिपर, यज्ञ समाप्त होनेकी प्रसन्नतामें जो ऋचाए पढी जाती हैं वे हैं, 'शस्या'। इस यज्ञकी भाति मानव-जीवन एक यज्ञ है। कार्य प्रारभ करतेहुए जो सकल्पकी घोषणा की जाती है, वह मानो 'पुरोनुवाक्या'-ऋचा है, कार्यको जिस दृढतासे किया जाता है, वह मानो 'याज्या'-ऋचा है, सफलतापूर्वक कार्य-समाप्तिपर जो प्रसन्नता होती है, वह मानो 'शस्या'-ऋचा है। इन तीनोसे यजमान को क्या लाभ होता है, किन लोकोपर विजय पाता है? इनसे वह

'प्राणभृत'को, सब प्राण-धारियोंके मनको मानो जीत लेता है—जो उठायेहुए कार्यको सफलता-पूर्वक पूर्ण करता है, वह सब प्राणियोंकी वाह-वाह जीत लेता है ।७।

अश्वलने फिर छठा प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! आज जो यह यज्ञ होनेवाला है, इसमें कितनी 'आहुतियों'से 'अध्वर्यु' हवन करेगा ? याज्ञवल्क्यने कहा, तीनसे ! वे तीन आहुतियां कौन-सी हैं ? वे हैं, 'उज्ज्वलन्ति'—प्रदीप्त हो उठनेवाली, 'अतिनेदन्ते'—चटचटानेवाली, 'अधिशेरते'—कुण्डकी तलेटीमें जा सोनेवाली । घी अग्निमें पडते ही उसे प्रदीप्त कर देता है, सामग्री समिधाओंपर पडी चटचटाती है, कुछ आहुति कुण्डके तलेमें जाकर आराममे पड जाती है। यह मानव-जीवन भी एक यज्ञ है जिसमें हमारे काम ही आहुतियां हैं। जिन कर्मोंकी आहुतियोंसे मनुष्य देवोंकी भांति प्रदीप्त हो उठता है, उनसे 'देव-लोक'को जीत लेता है , जिन कर्मोंकी आहुतियोंसे जीवनके संघर्षमें पडकर चटचटाता है, राजनीतिके कोलाहलमें पडता है, उनसे 'पितृ-लोक'को जीत लेता है (तभी म्यूनिसिपैलिटियोंके सदस्योंको 'पितर'—City fathers—कहते हैं), जिन कर्मोंकी आहुतियोंसे साधारण-सा मनुष्य बना रहता है, जो आहुतियां उसे न दीप्ति देती हैं, न संघर्षमें डालकर पितरोंकी श्रेणीमें ही ले आती हैं, उनसे 'मनुष्य-लोक'को जीत लेता है—क्योंकि 'देव-लोक'मे दीप्ति है, 'पितृ-लोक'में संघर्ष है, 'मनुष्य-लोक'में सिर्फ पडे रहना है, यह सबसे नीचे है ।८।

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्यर्ग्भिर्होतास्मिन्यज्ञे करिष्यतीति तिसृभिरिति कतमास्तास्तिस्र इति पुरोऽनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया किं ताभिर्जयतीति यत्किंचेद प्राणभृदिति ।७।
याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्याध्वर्युरस्मिन्यज्ञ आहुतीर्होष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति या हुता उज्ज्वलन्ति या हुता अतिनेदन्ते या हुता अधिशेरते किं ताभिर्जयतीति या हुता उज्ज्वलन्ति देवलोकमेव ताभिर्जयति दीप्यत इव ही देवलोको या हुता अतिनेदन्ते पितृलोकमेव ताभिर्जयत्यतीव हि पितृलोको या हुता अधिशेरते मनुष्यलोकमेव ताभिर्जयत्यध इव हि मनुष्यलोक ।८।

अश्वलने फिर सातवा प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! आज जो यह यज्ञ होनेवाला है, इसमें कितने 'देवताओं'से 'ब्रह्मा' दक्षिण दिशामें बैठाहुआ यज्ञकी रक्षा करेगा ? याज्ञवल्क्यने कहा, एकसे ! वह एक देवता कौन-सा है ? वह है, मन। मन एक है, परन्तु वह जहा-तहा अनन्त दिशाओंमें, इन्द्रियोंके सब विषयोंमें भागता है। ब्रह्माका काम अनन्त दिशाओंमें न जाने देकर एकमात्र यज्ञमें लाकर मनको टिका देना है। यह मानव-जीवन भी यज्ञ है जिसमें मनको अनन्त दिशाओं में न जाने देकर लक्ष्यमें केन्द्रित कर देनेसे ही 'अनन्त-लोक'पर विजय प्राप्त होती है।९।

अश्वलने फिर आठवा प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! आज जो यह यज्ञ होनेवाला है, इसमें कितने 'स्तोत्रों'से 'उद्गाता' स्तोत्र-पाठ करेगा ? याज्ञवल्क्यने कहा, तीनसे ! वे तीन 'स्तोत्र' कौन-से है ? वे है, 'पुरोनुवाक्या'-'याज्या'-'शस्या'। अश्वलने कहा, हे याज्ञवल्क्य ! जब जीवन एक यज्ञ है, तब इन तीनोंको, अध्यात्ममें, अर्थात् पिंडमें घटाकर दिखलाओ ! याज्ञवल्क्यने कहा, 'प्राण' ही पुरोनुवाक्या-स्तोत्र-पाठ है, प्राण ही जीवनके प्रारंभमें प्रभुका गुण-गान करने लगता है, 'अपान' ही याज्या-स्तोत्र-पाठ है, अपानकी गति ठीक रहनेसे ही यह जीवन-यज्ञ ठीक से चलता है, 'व्यान' ही शस्या-स्तोत्र-पाठ है, व्यान मानो जीवनके अंग-अंग में प्रभुकी स्तुति गा रहा है। यजमान पुरोनुवाक्यासे, प्राणसे, पृथिवी-लोकको जीत लेता है; याज्यासे, अपानसे, अन्तरिक्ष-लोकको जीत लेता है, शस्यासे, व्यान से, द्यु-लोकको जीतलेता है---प्राणापानव्यानकी गति ठीक कर लेने से मानो पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्युका राजा बनकर विचरता है। यह

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्य ब्रह्मा यज्ञं दक्षिणतो देवताभिर्गोपायतीत्येकयेति कतमा सैकेति मन एवेत्यनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति।९।

सुनकर विदेहराज जनकका पुरोहित अश्वल तो चुप होकर बैठ गया ।१०।

तृतीय अध्याय—[दूसरा ब्राह्मण]

अश्वलने 'मुक्ति' तथा 'अतिमुक्ति'के सम्बन्धमें प्रश्न किये थे, अब जरत्कारु-गोत्री आर्तभाग 'ग्रह' तथा 'अतिग्रह'के सम्बन्धमें प्रश्न करने खड़े हुए। उन्होंने कहा, हे याज्ञवल्क्य! कितने 'ग्रह' हैं, कितने 'अतिग्रह' हैं? याज्ञवल्क्यने कहा—आठ ग्रह हैं, आठ ही अतिग्रह हैं! जरत्कारुने पूछा—वे कौनसे हैं ।१।

('ग्रह'का अर्थ है, 'पकड लेनेवाला', 'अतिग्रह'का अर्थ है, 'बहुत जोरसे पकड लेनेवाला'—इन दोनोंपर आगे विचार किया गया है।)

याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—'प्राण' (नासिका) 'ग्रह' है, इसने जीवको पकड रखा है, 'अपान' (गन्ध) अतिग्रह है, इसने घ्राणेन्द्रियको, उसका विषय बनकर, और भी अधिक जकड रखा है ।२।

'वाणी' ग्रह है, इसने जीवको पकड रखा है, 'नाम' अतिग्रह है, इसने वाणीको भी, उसका विषय बनकर, और भी अधिक जकड रखा है ।३।

'जिह्वा' ग्रह है, इसने जीवको पकड रखा है, 'रस' अतिग्रह

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्योद्गाताऽस्मिन्यज्ञे स्तोत्रिया स्तोष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया कतमास्ता या अध्यात्ममिति प्राण एव पुरोनुवाक्याऽपानो याज्या व्यान शस्या किं ताभिर्जयतीति पृथिवीलोकमेव पुरोनुवाक्यया जयत्यन्तरिक्षलोकं याज्यया द्युलोकं शस्यया ततो ह होताऽश्वल उपरराम । १० ।

अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच कति ग्रहा कत्यतिग्रहा इति । अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति ये तेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा कतमे त इति । १ ।

प्राणो वै ग्रहः सोऽपानेनाऽतिग्राहेण गृहीतोऽपानेन हि गन्धाञ्जिघ्रति । २ ।

वाग्वै ग्रहः स नाम्नाऽतिग्राहेण गृहीतो वाचा हि नामान्यभिवदति । ३ ।

है, इसने जिह्वाको भी, उसका विषय बनकर, और भी अधिक जकड रखा है ।४।

'चक्षु' ग्रह है, इसने जीवको पकड रखा है, 'रूप' अतिग्रह है, इसने चक्षुको भी, उसका विषय बनकर, और भी अधिक जकड रखा है ।५।

'श्रोत्र' ग्रह है, इसने जीवको पकड रखा है, 'शब्द' अतिग्रह है, इसने श्रोत्रको भी, उसका विषय बनकर, और भी अधिक जकड रखा है ।६।

'मन' ग्रह है, इसने जीवको पकड रखा है, 'कामना' अतिग्रह है, इसने मनको भी, उसका विषय बनकर, और भी अधिक जकड रखा है ।७।

दोनो 'हाथ' ग्रह हैं, इन्होने जीवको पकड रखा है, 'कर्म' अतिग्रह है, इसने हाथोको भी, उनका विषय बनकर, और भी अधिक जकड रखा है ।८।

'त्वचा' ग्रह है, इसने जीवको पकड रखा है, 'स्पर्श' अतिग्रह है, इसने त्वचाको भी, उसका विषय बनकर, और भी अधिक जकड रखा है—ये आठ 'ग्रह' हैं, और ये आठ 'अतिग्रह' हैं ।९।

आर्तभागने फिर दूसरा प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! जब 'ग्रह' तथा 'अतिग्रह'के रूपमें 'मृत्यु' प्राणीमात्र को अपना अन्न बनायेहुए है, तब मृत्युसे छुटकारा कैसे हो ? मृत्युकी मृत्यु क्या है, मृत्युका ग्रह

जिह्वा वै ग्रहः स रसेनाऽतिग्राहेण गृहीतो जिह्वया हि रसान्विजानाति । ४ ।
चक्षुर्वै ग्रहः स रूपेणाऽतिग्राहेण गृहीतश्चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति । ५ ।
श्रोत्रं वै ग्रहः स शब्देनाऽतिग्राहेण गृहीतः श्रोत्रेण हि शब्दाञ्छृणोति । ६ ।
मनो वै ग्रहः स कामेनाऽतिग्राहेण गृहीतो मनसा हि कामान्कामयते । ७ ।
हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणाऽतिग्राहेण गृहीतो हस्ताभ्यां हि कर्म करोति । ८ ।
त्वग्वै ग्रहः स स्पर्शेनाऽतिग्राहेण गृहीतस्त्वचा हि
स्पर्शान्वेदयत इत्येतेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा । ९ ।

क्या है, मृत्यु किसका अन्न है ? अगर मृत्युकी मृत्यु नहीं, तो मोक्ष-साधन व्यर्थ है, अगर मृत्युकी मृत्यु है, तो वह क्या है ?

आर्तभागने जब याज्ञवल्क्यको इसप्रकार घेरा, तो याज्ञवल्क्यने कहा, देखो, 'अग्नि' सब पदार्थोंकी मृत्यु है, सभीको भस्म कर देता है, परन्तु 'जल' उसे भी खा जाते है, बुझा देते है, उसे अपना अन्न बना लेते है । इसलिये मत कहो कि मृत्युकी मृत्यु नहीं, 'ब्रह्म-साक्षात्कार' ही मृत्युकी मृत्यु है—उसे पा लेनेमे मृत्यु भी मानो मर जाता है। जो इस रहस्यको जान जाता है, वह मृत्युको जीत लेता है ।१०।

आर्तभागने फिर तीसरा प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! जब यह पुरुष मरता है, तब ग्रह-अतिग्रह-रूपी इन्द्रिया इसके साथ जाती है, या नही ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—नही, इन्द्रिया यहीं लीन हो जाती है, प्राण निकल जाता है, और शरीर वायुसे भर जाता है, वायुसे भराहुआ मरा पडा सोता है ।११।

आर्तभागने फिर चौथा प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! मर जानेपर कौन वस्तु है, जो उसे नही छोडती ? याज्ञवल्क्यने कहा, नाम ही पीछे जाता है, अच्छा किया होता है तो अच्छा नाम चलता है, बुरा किया होता है तो बुरा नाम चलता है । 'नाम' अनन्त है—तरह-तरहके नाम मनुष्य अपने पीछे छोड सकता है, दिव्य-गुण भी अनन्त है, इन दिव्य-गुणोके कारण मनुष्य जैसा चाहे वैसा नाम पीछे छोड सकता है । जो इस रहस्यको जानता है वह अनन्त लोकोपर विजय पाता है ।१२।

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदँ सर्वं मृत्योरन्नं का स्वित्सा देवता यस्या मृत्युरन्नमित्यग्निर्वै मृत्यु सोऽपामन्नमप पुनर्मृत्यु जयति । १० ।
याज्ञवल्क्येति होवाच यत्राय पुरुषो म्रियत उदस्मा-त्प्राणा क्रामन्त्याहो३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृत शेते । ११ ।
याज्ञवल्क्येति होवाच यत्राय पुरुषो म्रियते किमेन न जहातीति नामे-त्यनन्त वै नामानन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोक जयति । १२ ।

आर्तभागने फिर पाचवां प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! अवतक हमारी-तुम्हारी 'मुक्त' होनेवाले पुरुषके विषयमें चर्चा हुई, अव 'वद्ध' जीवके विषयमें मेरे प्रश्नका उत्तर दो। जव यह पुरुष मर जाता है, और इसकी 'वाणी' अग्निमें, 'प्राण' वायुमें, 'चक्षु' आदित्यमें, 'मन' चन्द्रमामें, 'श्रोत्र' दिशाओंमें, 'शरीर' पृथिवीमें, शरीरवर्ती-'आकाश' व्रह्माडके महाकाशमें, 'लोम' औषधियोंमें, 'केश' वनस्पतियोंमें, 'शोणित और रेत' जलमें लीन हो जाते हैं—जव 'कार्य' अपने कारणमें, 'पिंड' व्रह्माडमें चल देता है, तव जीवका आधार कुछ नहीं वच रहता, फिर जीव किस आधारसे रहता है ? रहता भी है, या नहीं, या वह भी समाप्त ही हो जाता है ? याज्ञवल्क्यने कहा, हे सोम्य आर्तभाग, ला अपना हाथ दे, मेरे साथ चल, हम दोनो ही इस विषय-पर अलग वैठकर विचार करेंगे, इस जन-समूहमें इस गभीर विषयपर विचार नहीं हो सकेगा, तुम तो समझ जाओगे, दूसरे लोग नहीं समझेंगे। आर्तभागके दुराग्रहको तोडनेका याज्ञवल्क्यको यह अच्छा उपाय सूझा। वे दोनो उठकर कुछ दूर जाकर विचार-विनिमय करने लगे। उन्होने अलग वैठकर 'कर्म' ही की चर्चा की, 'कर्म' ही की प्रशंसा की, और यह निष्कर्ष निकाला कि सव-कुछ छूट जानेपर भी 'कर्म' नहीं छूटता, 'कर्म'के सहारे ही जीव टिका रहता है, 'पुण्य-कर्म'से जीव पुण्य करनेवाला होता है, 'पाप-कर्म'से पाप करनेवाला होता है। इसके वाद जरत्कारु-गोत्री आर्तभाग चुप होकर वैठ गया।१३।

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते क्वायं तदा पुरुषो भवतीत्याहर सोम्य हस्तमार्तभागाऽऽवामेवैतस्य वेदिष्यावो न नावेतत् सजन इति तौ होत्क्रम्य मन्त्रयाञ्चक्राते तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ यत्प्रशशंसतुः कर्म हैव तत्प्रशशंसतुः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति ततो ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराम।१३।

तृतीय अध्याय—[तीसरा ब्राह्मण]

जरत्कारु आर्तभागके 'ग्रह' और 'अतिग्रह' एवं 'मुक्ति' और 'चद्र' जीवोकी मृत्युके सम्बन्धमें प्रश्न हो चुकनेपर लाह्य-वशोत्पन्न भुज्यु प्रश्न करनेको खड़े हुए। उन्होंने कहा, हे याज्ञवल्क्य! समय गुजरा, जब हम अपने कुछ मित्रोंके साथ अध्ययनकेलिये मद्र-देशमें विचरण कर रहे थे। घूमते-घूमते हम पतचल काप्यके यहां पहुचे। उसकी कन्याका गन्धर्व-विवाह हुआ था। हमने उसके पतिसे पूछा, आपका शुभ-नाम क्या है? उसने कहा, मेरा नाम है, सुधन्वा आगिरस। हमने पूछा, आपने तो दिग्दिगन्तमें भ्रमण किया है, यह तो बताइये 'पारिक्षित'-लोग आजकल कहा है? हे याज्ञवल्क्य! तुम जानते हो 'पारिक्षित'-लोग कहां है? ।१।

याज्ञवल्क्यने कहा, मै बताता हू, तुम्हें गन्धर्वने क्या उत्तर दिया। यह कहकर, भुज्युको गन्धर्वने जो-कुछ कहा था, वह याज्ञवल्क्यने कह सुनाया। 'पारिक्षित' एक राजवशका नाम है। इस वशके राजा 'अश्वमेध'-यज्ञ करते थे। 'पारिक्षित' क्योंकि अश्वमेध-यज्ञ करते थे, इसलिये वे भी वहीं पहुचे जहां अश्वमेध-यज्ञ करनेवाले पहुचते है। भुज्युने कहा, कहां पहुचते है? याज्ञवल्क्यने कहा, सुनो! जहासे सूर्य उदय होता है, और जहां अस्त होता है, उतना रास्ता तय करनेके लिये देव-रथको ३२ दिन लगते है। पृथिवी जितनी इधर दीखती है उतनी नीचेकी तरफ भी है, इसलिये पृथिवी देव-रथके मार्गसे दुगुनी है। पृथिवीसे दुगुना समुद्र है। पृथिवी तथा समुद्रको ऊपरका आकाश बहुत पाससे छूता है, यह अन्तर मानो छुरेकी धार या मक्खीके पख

अथ हैन भुज्युर्लाह्यायनि पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेषु चरका पर्यव्रजाम ते पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहानैम तस्यासीद्दुहिता गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत्सुधन्वाऽऽङ्गिरस इति त यदा लोकानामन्तानपृच्छा-माथैनमब्रूम क्व पारिक्षिता अभवन्निति क्व पारिक्षिता अभवन् स त्वा पृच्छामि याज्ञवल्क्य क्व पारिक्षिता अभवन्निति । १ ।

जितना है। आकाश तथा पृथिवीके बीच इस अन्तरमें जो इस विशाल सृष्टिके विस्तारको देखतेहुए इतना थोडा है जितना पतला मक्खीका पख या छुरेकी धार—इस अन्तरमें वायु रहती है। इन्द्र, अर्थात् परमात्माने मानो स्वय पक्षीका रूप धारणकर अश्वमेध-यज्ञ करनेवाले पारिक्षितोको कहा, उड जाओ इस पृथिवीसे आकाशके 'वायु'में, और उसके साथ-साथ पहुच जाओ उस ब्रह्म-लोकमें जहा अश्वमेध करनेवाले जा पहुचते है। इसप्रकार अश्वमेध-यज्ञ करके पारिक्षित भी इस विशाल पृथिवीसे 'वायु' द्वारा आकाशमें मानो उडतेहुए उसी लोकमें जा पहुचे जहा दूसरे अश्वमेध-यज्ञ करनेवाले पहुचे है। यह सब चमत्कार वायुका है, क्योकि अस्लमें वे 'वायु', अर्थात् 'प्राण'द्वारा ही उस लोकतक पहुचे। वायुका अर्थ व्यष्टिमें, अर्थात् पिडमें, 'प्राण' है, समष्टिमें, अर्थात् ब्रह्माडमें 'वायु' है—पारिक्षितका व्यष्टि-रूप प्राण ब्रह्माडके समष्टि-रूप वायुमें लीन होकर 'ब्रह्म-लोक' पहुच गया—यही वह स्थान है, जहा अश्वमेध यज्ञ करनेवाले पहुचते है, और जहा पारिक्षित पहुचे। जो इस रहस्यको जानता है वह मृत्युको जीत लेता है। इसके बाद लाह्य-वशोत्पन्न भुज्यु चुप होकर बैठ गया।२।

तृतीय अध्याय—[चौथा ब्राह्मण]

अब उषस्त चाक्रायण प्रश्न पूछनेको खडे हुए। उन्होने कहा,

स होवाचोवाच वै सोऽगच्छन्वै ते तद्यत्राश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति क्व न्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति द्वात्रिꣳशतं वै देवरथाह्न्यान्ययं लोकस्तꣳ समन्तं पृथिवी द्विस्तावत्पर्येति ताꣳ समन्तं पृथिवीं द्विस्तावत्समुद्रः पर्येति तद्यावती क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरेणाकाशस्तानिन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत्तान्वायुरात्मनि धित्वा तत्रागमयद्यत्राश्वमेधयाजिनोऽभवन्नित्येवमिव वै स वायुमेव प्रशशꣳस तस्माद्वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद ततो ह भुज्युर्लाह्यायनिरुपरराम।२।

हे याज्ञवल्क्य ! जो साक्षात् ब्रह्म है, अपरोक्ष, अर्थात् प्रत्यक्ष 'ब्रह्म' है, इन्द्रियोंसे दीखनेवाला ब्रह्म है, जिसे लोग 'आत्मा' भी कहते हैं, जो सबके भीतर है, उसकी व्याख्या करो। याज्ञवल्क्यने कहा, 'एष ते आत्मा सर्वान्तर'—यह तेरा 'आत्मा' सबके भीतर है। भुज्युने कहा, कौन-सा आत्मा सबके भीतर है ? याज्ञवल्क्यने कहा, वही जो 'प्राण'-द्वारा जीवनमें दिखाई देता है, 'अपान'-'व्यान'-'उदान'द्वारा अपने को प्रकट कर रहा है, 'स ते आत्मा सर्वान्तर'—वह तेरा 'आत्मा' सबके भीतर है, 'एष ते आत्मा सर्वान्तर'—यह तेरा 'आत्मा' सबके भीतर है ।१।

उषस्त चाक्रायणने फिर कहा, हे याज्ञवल्क्य ! जैसे कोई गौ और अश्वके विषयमें पूछे और उसे गाय तथा घोडा न दिखाकर 'दूध देनेवाली गौ होती है'—'दौडनेवाला घोडा होता है'—यह कहकर टाल दिया जाय, वैसे ही 'साक्षात्-प्रत्यक्ष ब्रह्म आत्मा जो सबके भीतर है, क्या है'—यह पूछनेपर तुमने मुझे यह कहकर टाल दिया कि जो सबके भीतर है, वह 'आत्मा' है ! याज्ञवल्क्य ! सबके भीतर रहनेवाला 'आत्मा' कहां है, दिखाओ तो ? याज्ञवल्क्यने कहा, वह तो स्वय देखनेवाला है, उसे तुम किससे देखोगे, वह तो स्वय सुननेवाला है, उसे तुम किससे सुनोगे, वह तो स्वय मनन करनेवाला है, उसका तुम किससे मनन करोगे, वह तो स्वयं जाननेहारा है, उसका विज्ञान तुम किससे प्राप्त करोगे ? 'तेरा यह आत्मा सबके भीतर है'—'अर्थात् जब तुम पूछते हो, दिखाओ आत्मा कहा है, तो मै यही तो कह सकता हू कि आत्मा तो सबके भीतर दीख रहा है'—इससे भिन्न कोई उपदेश

अथ हैनमुपस्तश्चाक्रायण पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्त मे व्याचक्ष्व इत्येष त आत्मा सर्वान्तर कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो य प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानिति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यानिति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तर । १ ।

तो दुःख पहुचानेवाला ही है। यह सुनकर उषस्त चाक्रायण चुप होकर बैठ गया ।२।

तृतीय अध्याय—[पाचवा ब्राह्मण]

इसके बाद कुषीतकके पुत्र कहोल खडे हुए। उन्होने कहा, हे याज्ञवल्क्य! जो साक्षात्-अपरोक्ष ब्रह्म है, जो आत्मा है, जो सर्वान्तर है, सबके भीतर है, उसकी व्याख्या फिर करो। याज्ञवल्क्यने वही उत्तर, जो उषस्तको दिया था, फिर दोहरा दिया—'यह तेरा आत्मा सबके भीतर है।' कहोलने पूछा, हम तो भूख-प्यास, शोक-मोह, जरा-मृत्युसे घिरेहुए है, हमारे भीतर वह कौन-सा आत्मा है जो भूख-प्यास, शोक-मोह, जरा-मृत्युको लाघेहुए है? याज्ञवल्क्यने कहा, यह वही आत्मा है, जिसे जान लेनेपर ब्रह्म-ज्ञानी 'पुत्रैषणा' (Sex impulse)-'वित्तैषणा'(Possessive impulse)-'लोकैषणा' (Self assertive impulse)से मुह फेरकर ऊपर उठ जाते है, भिक्षासे निर्वाहकर सन्तुष्ट रहते है—ये एषणाए छूटती नहीं, पर उसके जान लेनेपर आप-से-आप छूट जाती है। ऐ कहोल! जो पुत्रैषणा है वही वित्तैषणा है, जो वित्तैषणा है वही लोकैषणा है, 'पुत्रैषणा-वित्तैषणा' और 'वित्तैषणा-लोकैषणा'—इन दोनोका जोडा भी एक ही है। वास्तवमें मनुष्यमें आधार-भूत जो एषणा(Urge, Libido) है, वही आयु तथा समय-भेद से भिन्न-भिन्न एषणाओका रूप धारण करती है। इसलिये ब्रह्म-ज्ञानी जब एषणाओको छोड देता है, तब 'पाडित्य'को छोडकर 'बाल-भाव' में आ जाता है, बालक-जैसा सरल बन जाता है। इसके बाद वह

स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो यथा विब्रूयादसौ गौरसावश्व इत्येवमे-
वैतद् व्यपदिष्टं भवति यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा
सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञ-
वल्क्य सर्वान्तरः। न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुया
न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः। एष
त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम ।२।

'पाण्डित्य' तथा 'बाल-भाव' दोनोंको छोड़कर 'मुनि' बन जाता है—मौनकी तरह शान्त हो जाता है। फिर अमौन-मौन सबको छोड़कर अपने शुद्ध ब्रह्म-ज्ञानीके रूपमें आ जाता है। कहोलने पूछा, ऐसा ब्रह्म-ज्ञानी कैसे बने? याज्ञवल्क्यने कहा, जैसे भी बने ऐसा ही बने, इससे भिन्न कोई भी मार्ग दुःख ही पहुंचानेवाला है। यह सुनकर कुषीतकका पुत्र कहोल चुप होकर बैठ गया।१।

तृतीय अध्याय—[छठा ब्राह्मण]

इसके बाद वाचक्नवी गार्गी खड़ी हुई और पूछने लगी, हे याज्ञवल्क्य! यह 'पृथिवी' चारोंतरफसे 'जल'में ओत-प्रोत है—जल ही इस पृथिवीपर छा रहा है, जल किसमें ओत-प्रोत है? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'वायु'में। वायु किसमें ओत-प्रोत है? 'अन्तरिक्ष-लोकों' में! अन्तरिक्ष-लोक किसमें ओत-प्रोत है? 'गन्धर्व-लोकों'में। गन्धर्व-लोक किसमें ओत-प्रोत है? 'आदित्य-लोकों'में। आदित्य-लोक किसमें ओत-प्रोत है? 'चन्द्र-लोकों'में। चन्द्र-लोक किसमें ओत-प्रोत है? 'नक्षत्र-लोकों'में। नक्षत्र-लोक किसमें ओत-प्रोत है? 'देव-लोकों'में। देव-लोक किसमें ओत-प्रोत है? 'इन्द्र-लोकों'में। इन्द्र-लोक किसमें ओत-प्रोत है? 'प्रजापति-लोकों'में। प्रजापति-लोक किसमें ओत-प्रोत है? हे याज्ञवल्क्य!

अथ हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः। कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति। एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः। तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याऽथ ब्राह्मणः स ब्राह्मणः केन स्याद्येन स्यात्तेनेदृश एवातोऽन्यदार्तं ततो ह कहोलः कौषीतकेय उपरराम। १।

यह बताओ कि जैसे कपडेमें ताना-बाना होता है और तभी कपडा रह सकता है, जैसे सूत्रमें मनके पिरोये होते हैं और तभी माला रह सकती है, वैसे प्रजापतिके ये सब लोक-लोकान्तर किस कपडेमें तानेवालेकी तरह या किस सूत्रमें मनकेकी तरह ओत-प्रोत हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा, हे गार्गी, 'ब्रह्म-लोक'में ! गार्गीने कहा, ब्रह्म-लोक किसमें ओत-प्रोत है ? याज्ञवल्क्य बोले, हे गार्गी 'अतिप्रश्न' मत पूछ, कहीं तेरा सिर न फिर जाय। तू 'अनतिप्रश्न्य'-देवताके विषयमें, अर्थात् उस देवताके विषयमें जिसके सबंधमें 'अतिप्रश्न' हो ही नहीं सकता पूछने लगी है, यह ब्रह्म-देवता ऐसा है जिसके विषयमें 'अतिप्रश्न' तो हो ही नहीं सकता। अर्थात् इसके विषयमें कोई भी प्रश्न आगे चल ही नहीं सकता, जो आगे-आगे प्रश्न करता चला जायगा वह कहीं नहीं रुकेगा, उसका सिर फिर जायगा, इसलिये हे गार्गी ! तू 'अतिप्रश्न' मत कर। यह सुनकर गार्गी चुप होकर बैठ रही ।१।

(गार्गीके ये प्रश्न ३३ देवताओंसे सम्बन्ध रखते हैं। ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, इन्द्र तथा प्रजापति—वैदिक साहित्यमें ये ३३ देवता माने जाते हैं। अग्नि पृथिवी, वायु अन्तरिक्ष, आदित्य, देव-

अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीति कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्चेति गन्धर्वलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु गन्धर्वलोका ओताश्च प्रोताश्चेत्यादित्यलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वादित्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति चन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति नक्षत्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु नक्षत्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति देवलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु देवलोका ओताश्च प्रोताश्चेतीन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्विन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति प्रजापतिलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ब्रह्मलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति स होवाच गार्गि माऽतिप्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तदनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि गार्गि माऽतिप्राक्षीरिति ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराम ॥ १ ॥

लोक, चन्द्र, नक्षत्र--ये आठ वसु है, इनमे अग्निका वास पृथिवीमे, वायुका अन्तरिक्षमे, आदित्यका देवलोक (द्यु-लोक)मे, चन्द्रका नक्षत्र लोकमे है । दस 'देव', अर्थात् इन्द्रिया तथा मन मिलकर ग्यारह रुद्र है । वारह मास वारह आदित्य है । गार्गीके प्रश्नमे इन्ही ३३ देवताओका हेर-फेर है । गार्गीने अपने प्रश्नोमे अग्निको नही रखा, जलको रखा है, क्योकि अग्नि इसप्रकार फैलीहुई नही पाई जाती जैसे जल पाये जाते है । ३३ देवताओके 'अग्नि-पृथिवी-वायु-अन्तरिक्ष'की जगह गार्गीने 'पृथिवी-जल-वायु-अन्तरिक्ष'—इस क्रमको लिया है, ३३ देवताओके 'आदित्य-देव-चन्द्र-नक्षत्र'की जगह गार्गीने 'गन्धर्व-आदित्य-चन्द्र-नक्षत्र'—इस क्रमको लिया है, और इस क्रम मे भी 'देव-लोक'की जगह 'गन्धर्व-लोक'के सम्बन्धमे प्रश्न किया है, और गन्धर्व-लोकको आदित्यने पहले कह दिया है, ३३ देवताओ के ११ रुद्रोको 'देव' कहकर वचेहुए देवताओको दृष्टिमे रखकर गार्गीने 'देव-इन्द्र-प्रजापति-ब्रह्म'के सम्बन्धमे प्रश्न किया है । रुद्र क्योकि इन्द्रियोका नाम है, और इन्द्रियोको उपनिषद्मे 'देव' कहा जाता है, इसलिये रुद्रोको 'देव' कहना असगत नही है । याज्ञवल्क्यके कहनेका मुख्य अभिप्राय इतना ही है कि तैतीस-के-तैतीस देवता ब्रह्म-मे ही मालाके मनकेकी तरह पिरोयेहुए है, कोई स्वतन्त्र नही है ।)

तृतीय अध्याय--[सातवा ब्राह्मण]

इसके बाद आरुणि उद्दालक खडे हुए और कहने लगे, हे याज्ञवल्क्य ! समय गुजरा जब हम लोग अपने कुछ मित्रोके साथ यज्ञ-शास्त्रका अध्ययन करनेकेलिये मद्र-देशमें पतंचल काप्यके घरमें निवास करते थे । उसकी स्त्रीका एक गन्धर्वसे गहरा परिचय था । हमने उस गन्धर्वसे पूछा, आपका शुभ-नाम क्या है ? उसने कहा, मेरा नाम है, कबन्ध आथर्वण । उसने पतचल काप्यसे और हम याज्ञिकोसे प्रश्न किया, क्या तुम उस 'सूत्र'को जानते हो जिसमें यह लोक, पर-लोक और सब भूत मनकेकी तरह पिरोयेहुए है ? काप्यने कहा, भगवन् !

मैं नहीं जानता । फिर उसने दूसरा प्रश्न किया, हे काप्य ! क्या तुम उस 'अन्तर्यामी'को जानते हो जो इस लोक, पर-लोक और सब भूतोंका अन्तर्यमन कर रहा है, भीतरसे उनका नियमन कर रहा है, नियन्त्रण कर रहा है ? काप्यने कहा, भगवन् ! मैं नहीं जानता । तब उसने कहा, हे काप्य ! जो उस 'सूत्र'को, और उस 'अन्तर्यामी' को जानता है, वही ब्रह्मवित् है, वही लोकवित् है, वही देववित् है, वही वेदवित् है, वही भूतवित् है, वही आत्मवित् है, वही सर्ववित् है । उसके बाद उसने 'सूत्र' तथा 'अन्तर्यामी'के विषयमें चर्चा की । उसने जो-कुछ कहा वह मुझे मालूम है । हे याज्ञवल्क्य ! अगर तुझे उस 'सूत्र' और 'अन्तर्यामी'का ज्ञान नहीं है, और फिर भी तुमने ब्रह्म-ज्ञानीको दी जानेवाली गौएं हकवा ली हैं, तो तुम्हारा सिर गिर पड़ेगा, तुम्हें मुंहकी खानी पड़ेगी । याज्ञवल्क्यने कहा, हे गौतम ! मैं उस 'सूत्र', और उस 'अन्तर्यामी'को जानता हूं । आरुणिने कहा, सबकोई कहा करते हैं, मैं जानता हूं, मैं जानता हूं—जो जानते हो, सो कहो ।१।

अथ हैनमुद्दालक आरुणिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेष्ववसाम पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानास्तस्यासीद्भार्या गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत् कबन्ध आथर्वण इति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकांश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तत्सूत्रं येनायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्तीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तद्भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकांश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणं य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि भूतानि च योऽन्तरो यमयतीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तं भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकांश्च यो वै तत्काप्य सूत्रं विद्यात्तं चान्तर्यामिणमिति स ब्रह्मवित्स लोकवित्स देववित्स वेदवित्स भूतवित्स आत्मवित्स सर्वविदिति तेभ्योऽब्रवीत्तदहं वेद तच्चेत्त्वं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वांस्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवीरुदजसे मूर्धा ते विपतिष्यतीति वेद वा अहं गौतम तत्सूत्रं तं चान्तर्यामिणमिति यो वा इदं कश्चिद्ब्रूयाद्वेद वेदेति यथा वेत्थ तथा ब्रूहीति ।१।

याज्ञवल्क्यने कहा, हे गौतम ! ब्रह्माण्डमें 'वायु' तथा पिण्डमें 'प्राण' ही वह सूत्र है जिसमें यह लोक, पर-लोक और सब भूत मनकेकी तरह पिरोयेहुए हैं। इसीलिये हे गौतम ! जब पुरुष मर जाता है तब लोग कहने लगते हैं कि इसके अंग गिर गये, ढीले पड़ गये। हे गौतम ! प्राण-वायु-रूपी सूत्रसे ही तो जीवित पुरुषके अंग मनकेकी तरह गुथे रहते हैं ! आरुणिने कहा, ठीक है, हे याज्ञवल्क्य ! अब 'अन्तर्यामी'के विषयमें कहो ।२।

याज्ञवल्क्यने कहा, जो 'पृथिवी'में रहताहुआ भी पृथिवीसे अलग है, जिसे पृथिवी नहीं जानती, परन्तु जिसका पृथिवी ही शरीर है, जो पृथिवीके भीतरसे उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा —'तेरा', अर्थात् जिसे तू कहता है, 'मैं जानता हूं'-'मैं जानता हूं'-- यही 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ।३।

जो 'जलों'में रहताहुआ भी जलोंसे अलग है, जिसे जल नहीं जानते, परन्तु जिसका जल ही शरीर है, जो जलोंके भीतरसे उनका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ।४।

जो 'अग्नि'में रहताहुआ भी अग्निसे अलग है, जिसे अग्नि नहीं जानती, परन्तु जिसका अग्नि ही शरीर है, जो अग्निके भीतरसे उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ।५।

जो 'अन्तरिक्ष'में रहताहुआ भी अन्तरिक्षसे अलग है, जिसे

स होवाच वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रंसिषतास्याङ्गानीति वायुना हि गौतम सूत्रेण संदृब्धानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्यान्तर्यामिणं ब्रूहीति ।२।

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।३।

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।४।

योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।५।

अन्तरिक्ष नहीं जानता, परन्तु जिसका अन्तरिक्ष ही शरीर है, जो अन्तरिक्षके भीतरसे उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ।६।

जो 'वायु'में रहताहुआ भी वायुसे अलग है, जिसे वायु नहीं जानता, परन्तु जिसका वायु ही शरीर है, जो वायुके भीतरसे उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ।७।

जो 'द्यु'में रहताहुआ भी द्युसे अलग है, जिसे द्यु नहीं जानता, परन्तु जिसका द्यु-लोक ही शरीर है, जो द्यु-लोकके भीतरसे उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ।८।

जो 'आदित्य'में रहताहुआ भी आदित्यसे अलग है, जिसे आदित्य नहीं जानता, परन्तु जिसका आदित्य ही शरीर है, जो आदित्यके भीतरसे उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ।९।

जो 'दिशाओं'में रहताहुआ भी दिशाओंसे अलग है, जिसे दिशाएं नहीं जानतीं, परन्तु जिसका दिशाएं ही शरीर हैं, जो दिशाओंके भीतरसे उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ।१०।

जो 'चन्द्र-तारक'में रहताहुआ भी उनसे अलग है, जिसे चन्द्र-तारक नहीं जानते, परन्तु जिसका चन्द्र और तारे ही शरीर हैं, जो

चन्द्र-तारकके भीतरसे उनका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ।११।

जो 'आकाश'में रहता हुआ भी आकाशसे अलग है, जिसे आकाश नहीं जानता, परन्तु जिसका आकाश ही शरीर है, जो आकाशके भीतरसे उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ।१२।

जो 'तम'में रहता हुआ भी तमसे अलग है, जिसे तम नहीं जानता, परन्तु जिसका तम ही शरीर है, जो तमके भीतरसे उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ।१३।

जो 'तेज' में रहताहुआ भी तेजसे अलग है, जिसे तेज नहीं जानता, परन्तु जिसका तेज ही शरीर है, जो तेजके भीतरसे उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ।१४।

पृथिवी, अप्, तेज आदि देवताओंके विषयमें जो कहा वह 'अधिदैवत' है । याज्ञवल्क्य कहते हैं, अब 'भूतों'के विषयमें सुनो । जो सब 'भूतों'में, प्राणियोंमें रहताहुआ भी प्राणियोंसे अलग है, जिसे प्राणी नहीं जानते, परन्तु जिसका प्राणी ही शरीर है, जो प्राणियोंके भीतरसे उनका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ।१५।

यश्चन्द्रतारके तिष्ठꣳश्चन्द्रतारकादन्तरो य चन्द्रतारक न वेद यस्य चन्द्र-तारकꣳ शरीर यश्चन्द्रतारकमन्तरो यमयत्येप त आत्मान्तर्याम्यमृत ।११।
य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याकाश शरीर य आकाशमन्तरो यमयत्येप त आत्मान्तर्याम्यमृत ।१२।
यस्तमसि तिष्ठꣳस्तमसोऽन्तरो य तमो न वेद यस्य तम शरीर यस्तमोऽन्तरो यमयत्येप त आत्मान्तर्याम्यमृत ।१३।
यस्तेजसि तिष्ठꣳस्तेजसोऽन्तरो य तेजो न वेद यस्य तेज शरीर यस्ते-जोऽन्तरो यमयत्येप त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्यधिदैवतमथाधिभूतम् ।१४।
य सर्वेपु भूतेपु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यꣳ सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीर य सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येप त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ।१५।

भूतो, अर्थात् प्राणि-जगत्के विषयमें जो कहा वह 'अधिभूत' है। याज्ञवल्क्य कहते हैं, अब 'अध्यात्म' अर्थात् 'ब्रह्माण्ड'के विषयमें सुन चुकनेके बाद 'पिंड'के विषयमें सुनो। जो 'प्राण'में रहताहुआ भी प्राणसे अलग है, जिसे प्राण नही जानता, परन्तु जिसका प्राण ही शरीर है, जो प्राणके भीतरसे उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है।१६।

जो 'वाणी'में रहताहुआ भी वाणीसे अलग है, जिसे वाणी नही जानती, परन्तु जिसका वाणी ही शरीर है, जो वाणीके भीतरसे उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है।१७।

जो 'चक्षु'में रहताहुआ भी चक्षुसे अलग है, जिसे चक्षु नही जानते, परन्तु जिसका चक्षु ही शरीर है, जो चक्षुके भीतरसे उनका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है।१८।

जो 'श्रोत्र'में रहताहुआ भी श्रोत्रसे अलग है, जिसे श्रोत्र नहीं जानते, परन्तु जिसका श्रोत्र ही शरीर है, जो श्रोत्रके भीतरसे उनका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है।१९।

जो 'मन'में रहताहुआ भी मनसे अलग है, जिसे मन नही जानता, परन्तु जिसका मन ही शरीर है, जो मनके भीतरसे उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है।२०।

य प्राणे तिष्ठन्प्राणादन्तरो य प्राणो न वेद यस्य प्राण
शरीर य प्राणमन्तरो यमयत्येप त आत्मान्तर्याम्यमृत । १६ ।
यो वाचि तिष्ठन्वाचोऽन्तरो य वाङ् न वेद यस्य वाक्
शरीर यो वाचमन्तरो यमयत्येप त आत्मान्तर्याम्यमृत । १७ ।
यश्चक्षुपि तिष्ठंश्चक्षुपोऽन्तरो य चक्षुर्न वेद यस्य चक्षु
शरीर यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येप त आत्मान्तर्याम्यमृत । १८ ।
य श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरो य श्रोत्र न वेद यस्य श्रोत्र
शरीर य श्रोत्रमन्तरो यमयत्येप त आत्मान्तर्याम्यमृत । १९ ।
यो मनसि तिष्ठन्मनसोऽन्तरो य मनो न वेद यस्य मन
शरीर यो मनोऽन्तरो यमयत्येप त आत्मान्तर्याम्यमृत । २० ।

चन्द्र-तारकके भीतरसे उनका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ।११।

जो 'आकाश'में रहता हुआ भी आकाशसे अलग है, जिसे आकाश नहीं जानता, परन्तु जिसका आकाश ही शरीर है, जो आकाशके भीतरसे उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ।१२।

जो 'तम'में रहता हुआ भी तमसे अलग है, जिसे तम नहीं जानता, परन्तु जिसका तम ही शरीर है, जो तमके भीतरसे उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ।१३।

जो 'तेज' में रहताहुआ भी तेजसे अलग है, जिसे तेज नहीं जानता, परन्तु जिसका तेज ही शरीर है, जो तेजके भीतरसे उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ।१४।

पृथिवी, अप्, तेज आदि देवताओंके विषयमें जो कहा वह 'अधिदैवत' है । याज्ञवल्क्य कहते हैं, अब 'भूतों'के विषयमें सुनो । जो सब 'भूतों'में, प्राणियोंमें रहताहुआ भी प्राणियोंसे अलग है, जिसे प्राणी नहीं जानते, परन्तु जिसका प्राणी ही शरीर है, जो प्राणियोंके भीतरसे उनका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ।१५।

यश्चन्द्रतारके तिष्ठँश्चन्द्रतारकादन्तरो य चन्द्रतारक न वेद यस्य चन्द्र-
तारकँ शरीर यश्चन्द्रतारकमन्तरो यमयत्येप त आत्मान्तर्याम्यमृत ।११।
य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याकाश
शरीर य आकाशमन्तरो यमयत्येप त आत्मान्तर्याम्यमृत ।१२।
यस्तमसि तिष्ठँस्तमसोऽन्तरो य तमो न वेद यस्य तम
शरीर यस्तमोऽन्तरो यमयत्येप त आत्मान्तर्याम्यमृत ।१३।
यस्तेजसि तिष्ठँस्तेजसोऽन्तरो य तेजो न वेद यस्य तेज शरीर यस्ते-
जोऽन्तरो यमयत्येप त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्यधिदैवतमथाधिभूतम् ।१४।
य सर्वेपु भूतेपु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यँ सर्वाणि भूतानि
न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीर य सर्वाणि भूतान्यन्तरो
यमयत्येप त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ।१५।

भूतो, अर्थात् प्राणि-जगत्के विषयमें जो कहा वह 'अधिभूत' है। याज्ञवल्क्य कहते हैं, अब 'अध्यात्म' अर्थात् 'ब्रह्माण्ड'के विषयमें सुन चुकनेके बाद 'पिंड'के विषयमें सुनो। जो 'प्राण'में रहताहुआ भी प्राणसे अलग है, जिसे प्राण नही जानता, परन्तु जिसका प्राण ही शरीर है, जो प्राणके भीतरसे उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है।१६।

जो 'वाणी'में रहताहुआ भी वाणीसे अलग है, जिसे वाणी नहीं जानती, परन्तु जिसका वाणी ही शरीर है, जो वाणीके भीतरसे उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है।१७।

जो 'चक्षु'में रहताहुआ भी चक्षुसे अलग है, जिसे चक्षु नही जानते, परन्तु जिसका चक्षु ही शरीर है, जो चक्षुके भीतरसे उनका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है।१८।

जो 'श्रोत्र'में रहताहुआ भी श्रोत्रसे अलग है, जिसे श्रोत्र नहीं जानते, परन्तु जिसका श्रोत्र ही शरीर है, जो श्रोत्रके भीतरसे उनका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है।१९।

जो 'मन'में रहताहुआ भी मनसे अलग है, जिसे मन नही जानता, परन्तु जिसका मन ही शरीर है, जो मनके भीतरसे उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है।२०।

य प्राणे तिष्ठन्प्राणादन्तरो य प्राणो न वेद यस्य प्राण
शरीर य प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत । १६ ।
यो वाचि तिष्ठन्वाचोऽन्तरो य वाङ् न वेद यस्य वाक्
शरीर यो वाचमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत । १७ ।
यश्चक्षुषि तिष्ठंश्चक्षुषोऽन्तरो य चक्षुर्न वेद यस्य चक्षु
शरीर यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत । १८ ।
य श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरो यं श्रोत्र न वेद यस्य श्रोत्रं
शरीर य श्रोत्रमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत । १९ ।
यो मनसि तिष्ठन्मनसोऽन्तरो य मनो न वेद यस्य मन
शरीर यो मनोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत । २० ।

जो 'त्वचा'मे रहताहुआ भी त्वचामे अलग है, जिसे त्वचा नहीं जानती, परन्तु त्वचा ही जिसका शरीर है, जो त्वचाके भीतरसे उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ।२१।

जो 'विज्ञान', अर्थात् चेतना (Consciousness) में रहताहुआ भी चेतनामे अलग है, जिसे चेतना नहीं जानती, परन्तु चेतना ही जिसका शरीर है, जो चेतनाके भीतरसे उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ।२२।

ससारके जितने 'रेतस्' अर्थात् 'कारण' है, जो उनमें रहताहुआ भी उनसे अलग है, जिसे 'कारण' नही जानते, परन्तु जो 'कारणोका शरीर' है, कारणोका कारण है, बीजोका बीज है, जो 'कारणो'के भीतरसे उनका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है । वह अन्तर्यामी द्रष्टा है, दृष्ट नही है, श्रोता है, श्रुत नहीं है, मन्ता है, मत नहीं है, विज्ञाता है, विज्ञात नही है । विश्वमें उसके बिना कोई द्रष्टा नही, उसके बिना कोई श्रोता नही, उसके बिना कोई मन्ता नहीं, उसके बिना कोई विज्ञाता नही । यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, उसके अतिरिक्त सब दुःख-ही-दुःख है । यह सुनकर उद्दालक आरुणि चुप होकर बैठ गया ।२३।

तृतीय अध्याय—[आठवा ब्राह्मण]

इसके बाद वाचक्नवी गार्गी फिर दोबारा खडी हुई । उसने

यस्त्वचि तिष्ठँस्त्वचोऽन्तरो य त्वङ् न वेद यस्य त्वक्
शरीर यस्त्वचमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत । २१ ।
यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो य विज्ञान न वेद यस्य विज्ञानँ
शरीर यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत । २२ ।
यो रेतसि तिष्ठन् रेतसोऽन्तरो यँ रेतो न वेद यस्य रेत शरीर
यो रेतोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽदृष्टो द्रष्टा-
ऽश्रुत श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा
नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष
त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम । २३ ।

कहा, हे आदरणीय ब्राह्मणो! आज्ञा हो तो मैं याज्ञवल्क्यसे दो प्रश्न और करना चाहूंगी। अगर इन्होंने उनका उचित समाधान कर दिया, तो आप समझ लो कि आपमेंसे कोई इस ब्रह्म-वेत्ताको जीत न सकेगा। सबने एक-स्वर होकर कहा, गार्गी! पूछो!॥१॥



राजा जनककी सभामें ऋषि याज्ञवल्क्यसे गार्गी प्रश्न कर रही हैं

अथ ह वाचक्नव्युवाच ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ताहमिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे वक्ष्यति न वै जातु युष्मा-कमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति पृच्छ गार्गीति ॥ १ ॥

गार्गीने याज्ञवल्क्यको सम्बोधन करके कहा, हे याज्ञवल्क्य! जिसप्रकार काशी या विदेहका कोई उग्र-स्वभावका वीर उतरेहुए चिल्लेको धनुषपर चढाकर, और शत्रुको वींधनेवाले दो नोकीले वाणोको हाथमें लेकर सामने खडा हो जाय, ठीक इसीतरह मैं दो प्रश्नोको लेकर तेरे सामने खडी हू। इन दोनो प्रश्नोका उत्तर दो! याज्ञवल्क्यने कहा, हे गार्गी! पूछो।२।

गार्गीने कहा, हे याज्ञवल्क्य! द्युसे जो ऊपर है, पृथिवीसे जो नीचे है, द्यु और पृथिवीके जो बीचमें है, और जिसे भूत-भवत् भविष्यत् कहा जाता है—वह सब किसमें ओत-प्रोत है?।३।

याज्ञवल्क्यने कहा, फिर तुमने ओत-प्रोतकी वात शुरू की। खैर, सुनो। द्युसे जो ऊपर है, पृथिवीसे जो नीचे है, द्यु और पृथिवीके जो बीचमें है, और जिसे भूत, भवत्, भविष्यत् कहा जाता है, वह सब 'आकाश'में ओत-प्रोत है।४।

गार्गीने कहा, याज्ञवल्क्य! मेरा तुझे नमस्कार है, तूने मेरे प्रथम प्रश्नकी विवेचना कर दी। अव दूसरे प्रश्नकेलिये तय्यार हो जाओ। याज्ञवल्क्यने कहा, गार्गी! पूछो!।५।

गार्गीने फिर वही प्रश्न दोहरा दिया। हे याज्ञवल्क्य! द्युसे जो ऊपर है, पृथिवीसे जो नीचे है, द्यु और पृथिवीके जो बीचमें है, और

सा होवाचाह वै त्वा याज्ञवल्क्य यथा काश्यो वा वैदेहो वोग्रपुत्र उज्ज्य धनुरधिज्य कृत्वा द्वौ वाणवन्तौ सपत्नातिव्याधिनौ हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठे-देवमेवाह त्वा द्वाभ्या प्रश्नाभ्यामुपोदस्था तौ मे ब्रूहीति पृच्छ गार्गीति।२।
सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूत च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिस्तदोत च प्रोत चेति।३।
स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूत च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाशे तदोत च प्रोत चेति।४।
सा होवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य यो म एत व्यवोचोऽपरस्मै धारयस्वेति पृच्छ गार्गीति।५।

जिसे भूत, भवत्, भविष्यत् कहा जाता है—वह सब किसमें ओत-प्रोत है ।६।

याज्ञवल्क्यने फिर वही उत्तर दोहरा दिया । द्युसे जो ऊपर है, पृथिवीसे जो नीचे है, द्यु और पृथिवीके जो बीचमें है, जिसे भूत, भवत्, भविष्यत् कहा जाता है, वह सब आकाशमें ओत-प्रोत है ।

इसप्रकार एक ही बातको दोहरादार, और यह देखकर कि अब याज्ञवल्क्य पहलेकी तरह झिडक नहीं देगा, गार्गीने साहस बटोरकर पूछा, हे याज्ञवल्क्य ! वह आकाश किसमें ओत-प्रोत है ।७

याज्ञवल्क्यने कहा, हे गार्गी, जिसमें आकाश ओत-प्रोत है, उसे ब्रह्म-वेत्ता लोग 'अक्षर' कहते हैं । वह 'अक्षर'—अविनाशी तत्त्व—न स्थूल है, न अणु है, न ह्रस्व है, न दीर्घ है, न अगारेकी तरह लोहित है, न घीकी तरह स्निग्ध है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है । यह तत्त्व असग है, अरस है, अगध है, अचक्षु है, अश्रोत्र है, वाक्-रहित, मन-रहित, तेज-रहित, प्राण-रहित, मुख-रहित, मात्रा-रहित । इस अविनाशी-तत्त्वके न कुछ भीतर है, न बाहर है, न वह किसीको खाता है, न कोई उसे खाता है ।८।

हे गार्गी ! इसी 'अक्षर'के शासन-सूत्रमें बधे सूर्य और चन्द्र अपने-अपने स्थानोपर ठहरेहुए है, हे गार्गी ! इसी 'अक्षर' के शासन-सूत्रमें बधे द्यावापृथिवी अपने-अपने स्थानोपर ठहरेहुए हैं, हे गार्गी !

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चेति । ६ ।
स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावा-पृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति । ७ ।
स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्व-मदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरस-मगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्र-मनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन । ८ ।

इसी 'अक्षर'के शासन-सूत्रमें बधे निमेष, मुहूर्त, रात्रि, अर्धमास, मास, ऋतु, सवत्सर ठहरेहुए है, हे गार्गी ! इसी 'अक्षर'के शासन-सूत्रमें बधी नदियां सफेद-बर्फीले पर्वतोसे पूर्वको, पश्चिमको, और भिन्न-भिन्न दिशाओंको बह रही है, हे गार्गी ! इसी 'अक्षर' के शासन-सूत्रमें बधे-हुए मनुष्य दानियोकी प्रशसा करते है, देव-लोग यजमानोंकी प्रशसा करते है, और पितर-लोग दर्वी अर्थात् होमकी कडछीको पकडे मानो मानव-सेवाकी आहुतिया डाल रहे है ।९।

हे गार्गी ! इस लोकमें जो इस 'अक्षर' को बिना जाने यज्ञ-यागादिमें लगा रहता है, या अनेक वर्षोतक तपमें लीन रहता है, उसके यज्ञ-याग-तपका अन्त आ ही जाता है, हे गार्गी ! जो इस 'अक्षर'को बिना जाने इस लोकसे प्रयाण करता है वह 'कृपण' है, कृपाका, दया-का पात्र है, हे गार्गी ! जो इस 'अक्षर'को जानकर इस लोकसे प्रयाण करता है, वह 'ब्राह्मण' है—ब्रह्मका वेत्ता है ।१०।

हे गार्गी ! यह 'अक्षर' स्वयं अदृष्ट होनेपर भी द्रष्टा है, स्वय अश्रुत होनेपर भी श्रोता है, स्वयं अमत होनेपर भी मन्ता है, स्वय अविज्ञात होनेपर भी विज्ञाता है, इससे भिन्न अन्य कोई द्रष्टा नहीं, इससे भिन्न अन्य कोई श्रोता नहीं, इससे भिन्न अन्य कोई मन्ता नहीं,

---

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतव सवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्य स्यन्दन्ते श्वेतेभ्य पर्वतेभ्य प्रतीच्योऽन्या या या च दिशमन्वेतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्या प्रशंसन्ति यजमान देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ता ।९।
यो वा एतदक्षर गार्ग्यविदित्वाऽस्मिल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति यो वा एतदक्षर गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षर गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मण ।१०।

इससे भिन्न अन्य कोई विज्ञाता नहीं। हे गार्गी! इसी 'अक्षर'में यह आकाश ओत-प्रोत है।११।

तब गार्गी कहने लगी—हे पूजनीय ब्राह्मणो! यही बहुत समझो जो इस ब्रह्म-वेत्ताको नमस्कार करके छूट जाओ। तुममेंसे कोई इस ब्रह्म-वेत्ताको कभी न जीत सकेगा। इतना कहकर वाचक्नवी गार्गी चुप होकर बैठ गई।१२।

तृतीय अध्याय—[नौवा ब्राह्मण]

गार्गीके बैठ जानेपर और कोई ब्राह्मण तो नहीं खड़ा हुआ, परन्तु विदग्ध शाकल्यसे न रहा गया। उसका नाम ही 'विदग्ध' था, 'विदग्ध', अर्थात् जलने-भुननेवाला। वह याज्ञवल्क्यसे जला-भुना बैठा था। वह उठ खड़ाहुआ, और पूछने लगा, हे याज्ञवल्क्य! 'देव' कितने हैं? याज्ञवल्क्यने वैश्वदेव-निविदा पढ़कर सुना दी। उसमें लिखाहुआ था—'त्रयश्च, त्री च शता, त्री च सहस्रेति'—अर्थात् ३ + ३०० + ३००३ = ३३०६। विदग्धने कहा, हां, ठीक है। विदग्धने फिर पूछा, हे याज्ञवल्क्य! 'देव' कितने हैं? अबकी बार याज्ञवल्क्यने कहा, ३३! विदग्धने कहा, हां, ठीक है। विदग्धने फिर पूछा, हे याज्ञवल्क्य! 'देव' कितने हैं? अब याज्ञवल्क्यने कहा, ६! विदग्धने कहा, हां, ठीक है। विदग्धने फिर प्रश्न दोहराया, 'देव' कितने हैं? अब याज्ञवल्क्यने कहा, ३! विदग्धने कहा, हां, ठीक है। विदग्धने फिर पूछा, 'देव' कितने हैं, याज्ञवल्क्यने अब कहा, २! विदग्धने कहा, हां, ठीक है। विदग्धने फिर पूछा, 'देव' कितने

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति।११।

सा होवाच ब्राह्मणा भगवन्तस्तदेव बहु मन्येध्वं यदस्मान्नमस्कारेण मुच्येध्वं न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति ततो ह वाचक्नव्युपरराम।१२।

है, याज्ञवल्क्यने अब कहा, 'अध्यर्द्ध', अर्थात् १½ । विदग्धने कहा, हा, ठीक है। विदग्धने फिर पूछा, 'देव' कितने हैं, याज्ञवल्क्य ने कहा, १--अर्थात् एक ! विदग्धने कहा, हा, ठीक है। अब विदग्धने फिर पूछा, ३३०६ 'देव' जो तुमने कहे थे, वे कौन-से हैं।१।

याज्ञवल्क्यने कहा, इतनी बडी संख्या तो देवोकी महिमा बढानेके लिये कही जाती है, वास्तवमें 'देव' तो ३३ ही हैं। विदग्धने पूछा, वे ३३ कौन-से है ? याज्ञवल्क्यने कहा, ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य—ये ३१ हुए, इन्द्र और प्रजापति—ये दो । इसप्रकार ३३ 'देव' है।२।

'वसु' कौन-से है ? 'अग्नि और पृथिवी'-'वायु और अन्तरिक्ष'-'आदित्य और द्यौ'-'चन्द्रमा और नक्षत्र'—ये ८ 'वसु' है, इन्हींपर सारी सृष्टि टिकीहुई है, यही जीव-मात्रको बसाएहुए है, इसलिये 'वसु' कहलाते है।३।

'रुद्र' कौनसे है ? पुरुषमें जो १० प्राण और ग्यारहवां आत्मा है, यही ११ रुद्र है। प्राण-अपान-उदान-व्यान-समान-नाग-कूर्म-देवदत्त-कृकट-धनंजय—ये दस प्राण माने जाते है, आतमा ग्यारहवा है। अथवा इन्द्रियोको भी प्राण कहते है। ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रिया

अथ हैनं विदग्ध शाकल्य पप्रच्छ कति देवा याज्ञवल्क्येति स हैतयैव निविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रयस्त्रिँ्शदित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति षडित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्यध्यर्ध इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्येक इत्योमिति होवाच कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति । १ ।
स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिँ्शत्त्वेव देवा इति कतमे ते त्रयस्त्रिँ्शदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिँ्शदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिँ्शाविति । २ ।
कतमे वसव इत्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदं सर्वँ् हितमिति तस्माद्वसव इति । ३ ।

और मन मिलकर ११ रुद्र बनते हैं। जब ये इस शरीरसे निकलती हैं, तब सम्बन्धियोंको रुला देती हैं, इसलिये इन्हें 'रुद्र' कहा जाता है।४।

'आदित्य' कौन-से हैं? संवत्सरके १२ मास ही १२ आदित्य हैं। ये मास—महीने—सब-कुछ समेटतेहुए, 'आदान' करतेहुए चले जा रहे हैं, इसलिये १२ महीनोंको १२ आदित्य कहा जाता है।५।

'इन्द्र' कौन-सा है? 'स्तनयित्नु', अर्थात् मेघ ही 'इन्द्र' है। परन्तु 'स्तनयित्नु' कौन-सा है? 'अशनि', अर्थात् 'विद्युत्' ही स्तनयित्नु है। बिजलीसे मेघ वृष्टि करता है, उससे अन्नादि उत्पन्न होकर ऐश्वर्यकी वृद्धि होती है—यही 'इन्द्र'का रूप है। 'प्रजापति' कौन-सा है? 'यज्ञ' ही प्रजापति है। 'यज्ञ' कौन-सा है? 'पशु' ही यज्ञ है। जीवित-जगत्में पशुके जीवनमें यज्ञ प्रारंभ है, जो संपूर्ण प्राणि-जगत्में चल रहा है। पशुसे लेकर मनुष्यतक सब जगह यज्ञ-ही-यज्ञ चल रहा है। सम्पूर्ण जीवन यज्ञ-मय है। यही यज्ञ-मय जीवन प्रजापतिका रूप है।६।

विदग्धने फिर पूछा, हे याज्ञवल्क्य! तुमने जो कहा था, 'देव' ६ हैं, उसका क्या अभिप्राय था? याज्ञवल्क्यने कहा, 'अग्नि और पृथिवी' - 'वायु और अन्तरिक्ष' - 'आदित्य और द्यौ'—ये छः हैं, इन छः में ही सारा विश्व समा जाता है।७।

विदग्धने फिर पूछा, अच्छा, ३ 'देव' कौन-से हैं? याज्ञवल्क्यने कहा, यही 'पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ'—ये ही तीन लोक हैं। इन

कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्माच्छरी-
रान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ।४।
कतम आदित्या इति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदँ
सर्वमाददाना यन्ति ते यदिदँ सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ।५।
कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति
कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञ इति पशव इति ।६।
कतमे षडित्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं
चादित्यश्च द्यौश्चैते षडेते हीदँ सर्वँ षडिति ।७।

तीनों लोकोंमें 'अग्नि-वायु-आदित्य' ये देव समा जाते हैं। विदग्धने फिर पूछा, अच्छा, २ 'देव' कौन-से हैं? याज्ञवल्क्यने कहा, 'अन्न' और 'प्राण' ही दो देव हैं। 'अन्न' प्रकृति (Matter) का प्रतिनिधि है, 'प्राण' जीवन (Life) का प्रतिनिधि है—इन दोनोंके मेलसे ही सब सृष्टि चली है। विदग्धने फिर पूछा, 'अध्यर्द्ध' कौन-सा है? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया, यह जो चलता है, अर्थात् 'प्राण'। ब्रह्माडका 'वायु' और पिंडका 'प्राण' ही 'अध्यर्द्ध' अर्थात् डेढ देव है।८।

विदग्धने कहा, यह प्राण तो एक है, इसे 'अध्यर्द्ध'—डेढ—कैसे कहते हो? याज्ञवल्क्यने कहा, इसे 'अध्यर्द्ध', अर्थात् डेढ तो मोटे अर्थोंमें कहते हैं। 'अध्यर्द्ध'का वास्तविक अभिप्राय है, जिसमें सब अधि-ऋद्धि अर्थात् सब वृद्धिको प्राप्त हो, समृद्ध हो, बढें, फूलें-फलें। 'प्राण'में ही सब ऋद्ध, वृद्ध, समृद्ध होता है, फूलता-फलता है, इसलिये 'प्राण'ही 'अध्यर्द्ध' है। फिर विदग्धने कहा, 'कतम एको देव'—तुमने जो कहा था, 'देव' एक है, वह कौन-सा है? याज्ञवल्क्यने कहा, 'प्राण' (Life) ही तो एक 'देव' है, उसीको 'ब्रह्म' कहते हैं, उसीको ब्रह्म-वेत्ता 'त्यत्' कहते हैं, 'त्यत्' अर्थात् 'वह'—'वह' कहकर ही उसका बोध होता है।९।

देवोंके सम्बन्धमें प्रश्न कर चुकनेके बाद विदग्धने दूसरा विषय छेडा। उसने कहा, हे याज्ञवल्क्य! तुम अपनेको ब्रह्म-वेत्ता कहते हो, परन्तु असल ब्रह्म-वेत्ता तो वह है जो उस 'पुरुष'को जानता है जो सब प्राणियोंका परम-धाम है। जो 'मन'को ज्योति बनाकर 'अग्नि'के सहारे मानो 'पृथिवी में आकर साक्षात् ठिकाना किये बैठा है। याज्ञवल्क्यने कहा, जिस 'पुरुष'को तू सब प्राणियोंका परम-धाम कह रहा है उसे मैं जानता हूं, परन्तु वह तो 'शारीर-पुरुष' है,

---

कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति कतमौ तौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति कतमोऽध्यर्ध इति योऽयं पवत इति। ८।

तदाहुर्यदयमेक इवैव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति यदस्मिन्निदं सर्वमध्यार्ध्नो-त्तेनाध्यर्ध इति कतम एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते। ९।

विश्वके विशाल-शरीरवाला 'पुरुष' है, 'ब्रह्म' तो इससे बहुत अधिक है, सिर्फ इस विश्वमें ही वह समाप्त नहीं हो जाता। इसके बाद याज्ञवल्क्यने कहा, हे शाकल्य! तू प्रश्न किये जा, मैं उत्तर देता जाऊंगा। शाकल्यने पूछा, अगर वह 'पुरुष' स्वयं 'ब्रह्म-देव' नहीं, तो उसका कौन 'देव' है? याज्ञवल्क्यने कहा, उसका देव 'अमृत' है, वह अमृत-रूप भगवान् ही सब देवोंका देव है। यह विश्व तो मरण-धर्मा है, वह मरणधर्मा न होकर अमर है, अमृत है।१०।

विदग्धने फिर कहा, हे याज्ञवल्क्य! तुम अपनेको ब्रह्म-वेत्ता कहते हो, परन्तु असलमें ब्रह्म-वेत्ता तो वह है जो उस 'पुरुष'को जानता है जो सब प्राणियोंका परम-धाम है, जो 'मन'को ज्योति बनाकर 'हृदय'के सहारे मानो 'कामना'में आकर साक्षात् ठिकाना लिये बैठा है। याज्ञवल्क्यने कहा, जिस 'पुरुष'को तू सब प्राणियों का परम-धाम कह रहा है उसे मैं जानता हूं, परन्तु वह तो 'काममय-पुरुष' है, विशाल-विश्वको उत्पन्न करनेकी कामनावाला 'पुरुष' है, 'ब्रह्म' इससे बहुत अधिक है, सिर्फ कामना करनेवालेके रूपमें ही वह समाप्त नहीं हो जाता। इसके बाद याज्ञवल्क्यने कहा, हे शाकल्य! तू प्रश्न किये जा, मैं उत्तर देता जाऊंगा। शाकल्यने पूछा, अगर वह 'पुरुष' स्वयं 'ब्रह्म-देव' नहीं, तो उसका कौन 'देव' है? याज्ञवल्क्यने कहा, उसका देव 'स्त्री' है, जब वह विराट्-पुरुष कामनाका रूप धारण करता है, तब स्त्री-रूपा प्रकृति ही उसकी देवता बनती है।११।

पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणं, स वै वेदिता स्यात्। याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं, सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं शारीरः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यमृतमिति होवाच ।१०।
काम एव यस्यायतनं, हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणं, स वै वेदिता स्यात्। याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं, सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं काममयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति स्त्रिय इति होवाच ।११।

विदग्धने फिर कहा, हे याज्ञवल्क्य ! तुम अपनेको ब्रह्म-वेत्ता कहते हो, परन्तु असलमें ब्रह्म-वेत्ता तो वह है जो उस 'पुरुष'को जानता है जो सब प्राणियोंका परम-धाम है, जो 'मन'को ज्योति बनाकर 'चक्षु'के सहारे मानो 'रूप'में आकर साक्षात् ठिकाना किये बैठा है। याज्ञवल्क्यने कहा, जिस 'पुरुष'को तू सब प्राणियोंका परम-धाम कह रहा है उसे मैं जानता हूं, परन्तु वह तो 'आदित्य-पुरुष' है, ब्रह्माण्डके आदित्यको अधिष्ठान बनाकर पिंडके चक्षु तथा पदार्थके रूपको उत्पन्न करनेवाला है, 'ब्रह्म' इससे बहुत अधिक है। इसके बाद याज्ञवल्क्यने कहा, हे शाकल्य ! तू प्रश्न किये जा, मैं उत्तर देता जाऊंगा। शाकल्यने पूछा, अगर वह 'पुरुष' स्वयं 'ब्रह्म-देव' नहीं, तो उसका कौन 'देव' है ? याज्ञवल्क्यने कहा, उसका देव 'सत्य' है, आदित्य पदार्थोंके सत्य रूपका प्रकाश करता है, परन्तु 'सत्य-स्वरूप' भगवान् आदित्यका भी परम-देव है।१२।

विदग्धने फिर कहा, हे याज्ञवल्क्य ! तुम अपनेको ब्रह्म-वेत्ता कहते हो, परन्तु असलमें ब्रह्म-वेत्ता तो वह है जो उस 'पुरुष'को जानता है जो सब प्राणियोंका परम-धाम है, जो 'मन'को ज्योति बनाकर, 'श्रोत्र'के सहारे, मानो 'आकाश'में आकर साक्षात् ठिकाना किये बैठा है। याज्ञवल्क्यने कहा, जिस 'पुरुष'को तू प्राणियोंका परम-धाम कह रहा है उसे मैं जानता हूं, परन्तु वह तो ध्वनि रूपमें गूंजने-वाला 'श्रोत्र-पुरुष' है, वह तो उस विराट्-पुरुषके विशाल-रूपकी ध्वनि-रूपमें एक झनक है, 'ब्रह्म' इससे बहुत अधिक है। इसके बाद याज्ञवल्क्य ने कहा, हे शाकल्य ! तू प्रश्न किये जा, मैं उत्तर देता जाऊंगा। शाकल्यने पूछा, अगर वह 'पुरुष' स्वयं 'ब्रह्म-देव' नहीं, तो उसका 'देव' कौन है ? याज्ञवल्क्यने कहा, उसका देव 'दिशा' है,

---

रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्या-त्सर्वस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्यात् । याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवासावादित्ये पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति सत्यमिति होवाच । १२ ।

दिशा-रूप भगवान् श्रोत्र, आकाश और शब्द—इन सबको अपने भीतर समायेहुए है ।१३।

विदग्धने फिर कहा, हे याज्ञवल्क्य ! तुम अपनेको ब्रह्म-वेत्ता कहते हो, परन्तु असलमें ब्रह्म-वेत्ता तो वह है जो उस 'पुरुष'को जानता है जो सब प्राणियोंका परम-धाम है, जो 'मन'को ज्योति बनाकर 'हृदय'के सहारे मानो संसारके 'तम'में—'अन्धकार'में आकर साक्षात् ठिकाना किये बैठा है—यह उजेला भी उसका है, यह अंधेरा भी उसका है । याज्ञवल्क्यने कहा, जिस 'पुरुष'को तू सब प्राणियोंका परम-धाम कह रहा है उसे मैं जानता हूं, परन्तु वह तो 'छायामय-पुरुष' है, यह अन्धकार मानो उस विराट्-पुरुषकी छाया है, 'ब्रह्म' इससे बहुत अधिक है । इसके बाद याज्ञवल्क्यने कहा, हे शाकल्य ! तू प्रश्न किये जा, मैं उत्तर देता जाऊंगा । शाकल्यने पूछा, अगर वह 'पुरुष' स्वयं 'ब्रह्म-देव' नहीं, तो उसका 'देव' कौन है । याज्ञवल्क्यने कहा, उसका देव 'मृत्यु' है, भगवानका 'मृत्यु-रूप' ही संसारमें अन्धकार या अज्ञानके रूपमें दिखाई देता है ।१४।

विदग्धने फिर कहा, हे याज्ञवल्क्य ! तुम अपनेको ब्रह्म-वेत्ता कहते हो, परन्तु असलमें ब्रह्म-वेत्ता तो वह है जो उस 'पुरुष'को जानता है जो सब प्राणियोंका परम-धाम है, जो 'मन'को ज्योति बनाकर 'चक्षु'के सहारे मानो हमारे-तुम्हारे इस पिंड-रूपी रूपमें आकर साक्षात् ठिकाना किये बैठा है । याज्ञवल्क्यने कहा, जिस

आकाश एव यस्यायतनं श्रोत्रं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्या-त्सर्वस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्यात् । याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति दिश इति होवाच । १३ ।
तम एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्या-त्सर्वस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्यात् । याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं छायामयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति मृत्युरिति होवाच । १४ ।

'पुरुष'को तू सब प्राणियोका परम-धाम कह रहा है उसे मै जानता हू, परन्तु वह तो 'आदर्श-पुरुष' है, दर्पणमें दीखनेवाला पुरुष है, वह हमारा-तुम्हारा देह है, 'ब्रह्म' इससे बहुत अधिक है। इसके बाद याज्ञवल्क्यने कहा, हे शाकल्य ! तू प्रश्न किये जा, मै उत्तर देता जाऊंगा। शाकल्यने पूछा, अगर वह 'पुरुष' स्वय 'ब्रह्म-देव' नहीं, तो उसका 'देव' कौन है ? याज्ञवल्क्यने कहा, उसका देव 'असु' है—प्राण है, प्राणके सहारे ही यह देह टिकाहुआ है, और वह तो सब प्राणोका प्राण है ।१५।

विदग्धने फिर कहा, हे याज्ञवल्क्य ! तुम अपनेको ब्रह्म-वेत्ता कहते हो, परन्तु असलमें ब्रह्म-वेत्ता तो वह है जो उस 'पुरुष' को जानता है जो सब प्राणियोका परम-धाम है, जो 'मन'को ज्योति बनाकर 'हृदय'के सहारे मानो ससारके 'जलो'में आकर साक्षात् ठिकाना किये बैठा है, इतनी विशाल जल-राशि मानो उसका शरीर है। याज्ञवल्क्यने कहा, जिस 'पुरुष'को तू सब प्राणियोका परम-धाम कह रहा है उसे मै जानता हू, परन्तु वह तो 'जल-पुरुष' है, जल मानो उस विराट्-पुरुषके देह है, 'ब्रह्म' तो इससे बहुत अधिक है। इसके बाद याज्ञवल्क्यने कहा, हे शाकल्य ! तू प्रश्न किये जा, मै उत्तर देता जाऊगा। शाकल्यने पूछा, अगर वह 'पुरुष' स्वय 'ब्रह्म-देव' नहीं, तो उसका 'देव' कौन है ? याज्ञवल्क्यने कहा, उसका देव 'वरुण' है—वरुण-रूपी भगवान् जल-रूपी देवोका देव है ।१६।

रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै त पुरुष विद्यात्सर्वस्यात्मन परायणँ स वै वेदिता स्यात् । याज्ञवल्क्य वेद वा अह त पुरुषँ सर्वस्यात्मन परायण यमात्थ य एवायमादर्शे पुरुष स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यसुरिति होवाच । १५ ।
आप एव यस्यायतनँ हृदय लोको मनोज्योतिर्यो वै त पुरुष विद्यात्सर्वस्यात्मन परायणँ स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अह त पुरुषँ सर्वस्यात्मन परायण यमात्थ य एवायमप्सु पुरुष स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति वरुण इति होवाच । १६ ।

विदग्धने फिर कहा, हे याज्ञवल्क्य ! तुम अपनेको ब्रह्म-वेत्ता कहते हो, परन्तु असलमें ब्रह्म-वेत्ता तो वह है जो उस 'पुरुष'को जानता है जो सब प्राणियोंका परम-धाम है, जो 'मन'को ज्योति बनाकर 'हृदय'के सहारे मानो 'सन्तान'में आकर साक्षात् ठिकाना किये बैठा है। याज्ञवल्क्यने कहा, जिस 'पुरुष'को तू सब प्राणियोंका परम-धाम कह रहा है उसे मैं जानता हूं, परन्तु वह तो 'पुत्रमय-पुरुष' है, विराट्-पुरुषका मानो सृष्ट्युत्पत्ति करनेवाला रूप है, 'ब्रह्म' तो इससे बहुत अधिक है। इसके बाद याज्ञवल्क्यने कहा, हे शाकल्य ! तू प्रश्न किये जा, मैं उत्तर देता जाऊंगा। शाकल्यने पूछा, अगर वह 'पुरुष' स्वयं 'ब्रह्म-देव' नहीं, तो उसका 'देव' कौन है ? याज्ञवल्क्यने कहा, उसका देव 'प्रजापति' है, भगवान्का 'प्रजापति'-रूप ही सृष्ट्युत्पत्ति करता हुआ भिन्न-भिन्न प्राणियोंमें सृष्टिकी रचना कर रहा है।१७।

(इसीप्रकारका वर्णन बृहदा० २-१ में भी पाया जाता है जिसमें अजातशत्रु तथा दृप्त बालाकिकी प्रश्नोत्तरी है। दृप्त बालाकि और विदग्ध शाकल्य एक ही स्वभावके हैं। एक 'दृप्त' अर्थात् घमंडी है तो दूसरा 'विदग्ध' अर्थात् जला-भुना है।)

इतना कह चुकनेके बाद याज्ञवल्क्यने विदग्धको एक चुटकी ली, और कहा, हे शाकल्य ! इन ब्राह्मणोंने तुम्हें सुलगा-सुलगाकर क्षीण होताहुआ, बुझताहुआ अंगारा बना दिया है, अब बस, निरा बुझाहुआ कोयला बननेवाले हो।१८।

इस ललकारसे शाकल्यका बुझताहुआ तेज फिर चमक उठा और उसने तीसरा विषय छेड़ा। उसने कहना शुरू किया, हे याज्ञवल्क्य ! तुम

रेत एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं पुत्रमयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति प्रजापतिरिति होवाच ॥ १७ ॥
शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यस्त्वां स्विदिमे ब्राह्मणा अङ्गारावक्षयणमक्रता३ इति ॥ १८ ॥

समझ रहे हो कि तुमने कुरु और पाचालके ब्राह्मणोको हरा दिया। 'ब्रह्म'को तो तुम क्या जानोगे, क्या तुम्हें 'दिशाओ'का भी ज्ञान है? कौन-कौन-सी दिशाए है, कौन-कौन उनके 'देवता' है, कहा उनकी 'प्रतिष्ठा' है ? अगर तुम्हें प्रतिष्ठा-सहित देवो और दिशाओका ज्ञान है ।१९।

तो यह बताओ कि पूर्व दिशामें तुम्हारा कौन देवता है ? याज्ञवल्क्य-ने कहा, 'आदित्य'। अच्छा, आदित्य किसमें प्रतिष्ठित है ? चक्षुमें। चक्षु किसमें प्रतिष्ठित है ? रूपमें, क्योकि आखसे ही रूप देखा जाता है। रूप किसमें प्रतिष्ठित है ? हृदयमें, क्योकि हृदयसे ही रूपका ज्ञान होता है इसलिये हृदयसे ही रूपकी प्रतिष्ठा है। हृदय न हो तो रूपका होना-न-होना एक-सा है, रूप न हो तो चक्षुका होना-न-होना एक-सा ; चक्षु न हो तो आदित्यका होना-न-होना एक-सा है— इसलिये इनमेंसे हर-एककी दूसरेपर प्रतिष्ठा है, और सबकी अन्तिम प्रतिष्ठा 'हृदय'में है। शाकल्यने कहा, ठीक है ।२०।

अच्छा, यह बताओ कि दक्षिण दिशामें तुम्हारा कौन देवता है ? याज्ञवल्क्यने कहा, 'यम'—मृत्यु। यम किसमें प्रतिष्ठित है ? यज्ञमें, क्योकि मृत्युपर विजय पानेकेलिये ही तो यज्ञ किये जाते है। यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित है ? दक्षिणामें, दक्षिणाके बिना यज्ञ बेकार है। दक्षिणा किसमें प्रतिष्ठित है ? श्रद्धामें, श्रद्धा हो तभी तो दक्षिणा दी जाती है, श्रद्धामें ही दक्षिणाकी प्रतिष्ठा है, शोभा है। श्रद्धा

याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यो यदिद कुरुपञ्चालाना
ब्राह्मणानत्यवादी कि ब्रह्म विद्वानिति दिशो वेद सदेवा
सप्रतिष्ठा इति यद्दिशो वेत्थ सदेवा सप्रतिष्ठा । १९ ।
किदेवतोऽस्या प्राच्या दिश्यसीत्यादित्यदेवत इति स आदित्य
कस्मिन्प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति कस्मिन्नु चक्षु प्रतिष्ठितमिति
रूपेष्विति चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रति-
ष्ठितानीति हृदय इति होवाच हृदयेन हि रूपाणि जानाति
हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य । २० ।

किसमें प्रतिष्ठित है ? हृदयमें, हृदयमें ही श्रद्धाका वास होता है, हृदयमें ही श्रद्धा प्रतिष्ठित है, हृदयमें ही उसका स्थान है—यम, यज्ञ, दक्षिणा, श्रद्धा इन सबकी अन्तिम प्रतिष्ठा 'हृदय'में है। शाकल्यने कहा, ठीक है।२१।

अच्छा, यह बताओ कि पश्चिम दिशामें तुम्हारा कौन देवता है ? याज्ञवल्क्यने कहा, 'वरुण'—मेघ ! वरुण किसमें प्रतिष्ठित है ? जलमें, मेघ ही से तो जल बरसते हैं। जल किसमें प्रतिष्ठित है ? रज वीर्यमें, जलद्वारा ही तो शरीरमें रज-वीर्यकी उत्पत्ति होती है। रज-वीर्य किसमें प्रतिष्ठित है ? हृदयमें, तभी प्रतिरूप सन्तानकेलिये कहते हैं मानो हृदयसे निकला है, मानो माता-पिताके हृदयसे ही बना है, इसलिये हृदयमें ही रज-वीर्यकी प्रतिष्ठा है—मेघ, जल, रेतस् सबकी अन्तिम प्रतिष्ठा 'हृदय'में है। शाकल्यने कहा, ठीक है।२२।

अच्छा, यह बताओ कि उत्तर दिशामें तुम्हारा कौन देवता है ? याज्ञवल्क्यने कहा, 'सोम'—ब्रह्मचारी ! सोम किसमें प्रतिष्ठित है ? दीक्षामें, दीक्षा लेकर ही तो ब्रह्मचारी बनता है। दीक्षा किसमें प्रतिष्ठित है ? सत्यमें, सत्य ही की तो ब्रह्मचारीको दीक्षा दी जाती है, दीक्षा ग्रहण कर चुकनेपर, दीक्षित हो जानेपर, आचार्यका अन्तिम उपदेश भी यही होता है—'सत्य वद'—इसलिये सत्यमें ही दीक्षा

किन्देवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति यमदेवत इति स यमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति यज्ञ इति कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठित इति दक्षिणायामिति कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठितेति श्रद्धायामिति यदा ह्येव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां ददाति श्रद्धायां ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति हृदय इति होवाच हृदयेन हि श्रद्धां जानाति हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २१ ॥

किन्देवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसीति वरुणदेवत इति स वरुणः कस्मिन्प्रतिष्ठित इत्यप्स्विति कस्मिन्न्वापः प्रतिष्ठिता इति रेतसीति कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितमिति हृदय इति तस्मादपि प्रतिरूपं जातमाहुर्हृदयादिव सृप्तो हृदयादिव निर्मित इति हृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २२ ॥

प्रतिष्ठित है। सत्य किसमें प्रतिष्ठित है? हृदयमें, सच्ची बात हृदयमें झट पहचानी जाती है। सोम अर्थात् ब्रह्मचारी, दीक्षा, सत्य इन सबकी अन्तिम प्रतिष्ठा 'हृदय'में है। शाकल्यने कहा, ठीक है।२३।

(पूर्व दिशाके 'आदित्य'के मुकाबिलेमे पश्चिम दिशामे 'मेघ'का होना स्वाभाविक है, इसीप्रकार दक्षिण दिशाके 'यम'के मुकाबिलेमें उत्तर दिशामे 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवामृत्युमुपाघ्नन'का घोष करनेवाले 'ब्रह्मचारी'का होना भी स्वाभाविक क्रम है।)

अच्छा, यह बताओ कि ध्रुव दिशामें तुम्हारा कौन देवता है? ध्रुव वह दिशा है जो 'ध्रुव' है, अविचल है, जो न पूर्वमें आती है, न पश्चिममें, न उत्तरमें आती है, न दक्षिणमें। याज्ञवल्क्यने कहा, उसका देवता 'अग्नि' है। अग्नि ही पृथिवीपर 'आग', अन्तरिक्षमें 'बिजली', द्युमें 'सूर्य'के रूपमें चमक रहा है—इन सबमें ध्रुव तथा अविचल सत्ता 'अग्नि' ही है। तो फिर अग्नि किसमें प्रतिष्ठित है? वाणीमें, ब्रह्मांडमें प्रकाश देनेवाली अग्नि ही पिंडमें जब ज्ञानका प्रकाश देने लगती है, तो वह वाणीका रूप धारण कर लेती है। वाणी किसमें प्रतिष्ठित है? हृदयमें, हृदयका स्रोत भर जानेपर ही तो वाणीका प्रवाह फूट पड़ता है—(Out of the abundance of the heart the mouth speaketh—बायबल)। शाकल्यने यह सुनकर कहा, याज्ञवल्क्य! हर बातमें लौट-फेरकर तुम 'हृदय' में आ पहुचते हो, यह बतलाओ कि हृदय किसमें प्रतिष्ठित है? ।२४।

किंदेवतोऽस्यामुदीच्या दिश्यसीति सोमदेवत इति स सोम: कस्मिन्प्रतिष्ठित इति दीक्षायामिति कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठितेति सत्य इति तस्मादपि दीक्षितमाहु: सत्यं वदेति सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितमिति हृदय इति होवाच हृदयेन हि सत्यं जानाति हृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ।२३।
किंदेवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीत्यग्निदेवत इति सोऽग्नि: कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वाचीति कस्मिन्नु वाक् प्रतिष्ठितेति हृदय इति कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठितमिति ।२४।

यह सुनकर याज्ञवल्क्यने झिडककर कहा, हे अहल्लिक ! हे निशाचर ! तू यह समझता प्रतीत होता है कि हृदय शरीरमें प्रतिष्ठित न होकर, शरीरमें न रहकर, कही और रहता है ! अगर हृदय शरीरको छोड किसी और जगह रहता, तो यह शरीर जीवित रह सकता ? इसे कुत्ते फाड खाते, पक्षी इसके चीथडे उडा डालते ।२५।

यह सुनकर शाकल्यने कहा, अगर यह बात है, तो यह बता कि तेरा शरीर और तेरा हृदय किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्यने कहा, 'प्राण'में । प्राण किसमें प्रतिष्ठित है ? 'अपान'में ! अपान किसमें प्रतिष्ठित है ? 'व्यान'में ! व्यान किसमें प्रतिष्ठित है ? 'उदान' में ! उदान किसमें प्रतिष्ठित है ? 'समान'में ! हे विदग्ध ! तू इस प्रकार कहांतक पूछता जायगा, 'आत्मा'का इससे अधिक वर्णन नहीं हो सकता । इससे अधिक वर्णन करना हो तब तो उसका 'नेति'-'नेति'में ही वर्णन हो सकता है, यही कहा जा सकता है कि वह 'यह नही है'-'यह नही है' । आत्मा 'अग्राह्य' है, वह पकडमें नहीं आता, वह 'अशीर्य' है, उसका क्षय नही होता, वह असग है, वह किसीसे लिप्त नही होता, वह बधन-रहित है, व्यथा-रहित है, नाश-रहित है ।

याज्ञवल्क्यने फिर विदग्धको सम्बोधन करके कहा, ऐ विदग्ध ! मेरी-तेरी ज्ञान-चर्चा आठ देवताओके विषयमें हुई, आठ पुरुषोंके विषयोमें भी हुई । तू 'शरीर-पुरुष'-'काममय-पुरुष'-'आदित्य-पुरुष'-'श्रोत्र-पुरुष'-'छायामय-पुरुष'-'आदर्श-पुरुष'-'जल-पुरुष' और 'पुत्रमय-पुरुष'को ही 'ब्रह्म' समझे बैठा था । मैंने तुझे समझाया कि ये तो 'ब्रह्म'के एक-एक अग है, उसके विशाल रूपोमेंसे एक-एक रूपकी झलक है । अबतक तू मुझसे प्रश्न कर रहा था, अब मैं तुझसे प्रश्न करता हू । विराट्-पुरुषके इन भिन्न-भिन्न रूपोका निरोध करके, इन सब रूपोसे ऊपर पहुचाहुआ जो उसका गूढ रूप है जिसे

[illegible] होवाच [illegible]-
[illegible] ।२५।

'औपनिषद्-पुरुष' कहते हैं, जिसे उपनिषद्मे ही जाना जाता है, अन्य प्रकार नहीं, उसका तो जरा वर्णन कर, और याद रख, अगर तू उसका वर्णन न कर सका, तो तेरा सिर धडसे अलग जा गिरेगा, तू लज्जाके मारे बचा न रहेगा। विदग्ध शाकल्य कुछ उत्तर न दे सका और इस पराजयका उस अभिमानीको इतना धक्का लगा कि उसका वहीं सिर फट गया, उसका प्राणांत हो गया, उसकी हड्डिया भी इतनी ढीली पड गईं मानो उन्हें चोर न जाने क्या-कुछ समझकर चुरा ले भागे हो—उससे खडा न रह गया, और वह वहीं ढेर हो गया ।२६।

विदग्धसे निपटकर अब याज्ञवल्क्य ब्राह्मणोकी तरफ मुंह करके बोला, हे पूजनीय ब्राह्मणो ! अब आपमेंसे जिसकी इच्छा हो मुझसे ब्रह्म-विषयक प्रश्न करो, आप चाहो तो आप सब मिलकर मुझसे प्रश्न करो। और, अगर आपमेंसे कोई चाहे कि मैं उससे प्रश्न करू, या अगर आप चाहो कि मैं आप सबसे प्रश्न करू, तो मैं प्रश्न करनेके लिये उद्यत हू। उन ब्राह्मणोमेंसे किसीको प्रश्न करनेका साहस नहीं हुआ ।२७।

कस्मिन्नु त्व चात्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ इति प्राण इति कस्मिन्नु प्राण प्रतिष्ठित इत्यपान इति कस्मिन्न्वपान प्रतिष्ठित इति व्यान इति कस्मिन्नु व्यान प्रतिष्ठित इत्युदान इति कस्मिन्नूदान प्रतिष्ठित इति समान इति स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसगो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति । एतान्यष्टावायतनान्यष्टौ लोका अष्टौ देवा अष्टौ पुरुषा स यस्तान्पुरुषान्निरुह्य प्रत्युह्यात्यक्रामत्त त्वौपनिषद पुरुष पृच्छामि त चेन्मे न विवक्ष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति । त ँ ह न मेने शाकल्यस्तस्य ह मूर्धा विपपातापि हास्य परिमोषिणोऽस्थीन्यपजह्रुरन्यन्मन्यमाना । २६ ।

अथ होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो व कामयते स मा पृच्छतु सर्वे वा मा पृच्छत यो व कामयते त व पृच्छामि सर्वान्वा व पृच्छामीति । ते ह ब्राह्मणा न दधृषु । २७ ।

अब याज्ञवल्क्यने ही कहना शुरू किया—वनस्पतियोंमें जैसे 'वृक्ष' है, ठीक इसीतरह प्राणियोंमें 'पुरुष' है। जैसे वृक्षके 'पत्ते' हैं वैसे पुरुषके 'लोम' हैं, जैसे वृक्षकी बाहरी 'वक्कल' है वैसे पुरुषकी 'त्वचा' है, जैसे वृक्षकी वक्कलको काटनेसे 'गोंद' झरता है वैसे पुरुषकी त्वचाके आहत होनेसे 'रुधिर' बहता है, जैसे वृक्षके वक्कलके नीचे नर्म 'तहें' हैं वैसे पुरुषकी त्वचाके नीचे 'मांस' है, जैसे वृक्षमें 'रेशे' हैं वैसे पुरुषमें 'नस-नाडी' हैं, जैसे वृक्षमें 'लकड़ियां' हैं वैसे पुरुषमें 'हड्डियां' हैं, जैसे वृक्षके अन्दर 'गूदा' है वैसे पुरुषमें 'मज्जा' है।

परन्तु हे ब्राह्मणो! यह बतलाओ कि जब वृक्षको काट गिराते हैं तब वह तो अपने 'मूल'से—अपनी जड़से—फिर उठ खड़ा होता है, परन्तु जब पुरुषको मृत्यु काट गिराती है तब वह किस 'मूल'से फिर उठ खड़ा होता है? अगर कहो कि 'वीर्य'से पुरुष मरकर उठ खड़ा होता है, तो यह बात ठीक नहीं, क्योंकि 'वीर्य' तो जीवित पुरुषमें ही होता है। अगर पुरुषके मर जानेपर भी उसका वीर्य बना रहता, तो वह मरनेपर भी वृक्षकी तरह बीजसे फिर उग खड़ा होता परन्तु पुरुषके तो मर जानेपर उसका बीज भी साथ ही नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त, अगर वृक्षके मूलको नष्ट कर दिया जाय, तो वह फिर उत्पन्न नहीं हो सकता, फिर यह बतलाओ कि मृत्यु जब पुरुषको समूल नष्ट कर देती है तो वह किस मूलसे फिर उठ खड़ा होता है, दुबारा जन्म ले लेता है? याज्ञवल्क्यके इस प्रश्नको सुनकर चारोतरफ सन्नाटा छा गई, किसीसे कोई उत्तर न बन पड़ा। यह देख याज्ञवल्क्यने स्वयं ही उत्तर दिया, हे ब्राह्मणो! वह 'आत्मा' 'ज्ञान' ही है, सदा बनाहुआ है, वह कभी उत्पन्न ही नहीं होता, फिर उसके दुबारा उत्पन्न होनेका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। वह 'आत्मा' विज्ञान-

मय है, आनन्दमय है, ब्रह्म है—वही धन आदिका दान देनेवाले 'कर्मकाडी' तथा स्थिर-वित्त, ब्रह्म-ज्ञानमें रत 'ज्ञानकाडी'का परम-धाम है।२८।

चतुर्थ अध्याय—[पहला ब्राह्मण]

(जनकको याज्ञवल्क्यका उपदेश, १ से ४ ब्राह्मण)

एक समयकी बात है कि विदेह-राज जनक बैठेहुए थे, इतनेमें महर्षि याज्ञवल्क्य वहां आ निकले। जनक महाराजने पूछा, हे याज्ञ-वल्क्य ! कैसे पधारे ? क्या पशु चाहियें, या 'अण्वन्तो' (अणु-पदार्थोंका भी अन्त) अर्थात् सूक्ष्म-तत्त्वोंका विवेचन कीजियेगा ? याज्ञवल्क्यने कहा, हे सम्राट् ! दोनो ही बात होगी।१।

याज्ञवल्क्यने कहा, राजन् ! पहले यह सुनाइये कि अबतक आपके गुरुओंने आपको क्या सिखाया है ? राजाने कहा, जित्वा शैलिनी ने तो मुझे यह उपदेश दिया है कि 'वाणी ही ब्रह्म' है ! याज्ञवल्क्यने कहा, जैसे कोई अच्छे माता-पिता और गुरुसे शिक्षा पायाहुआ उपदेश

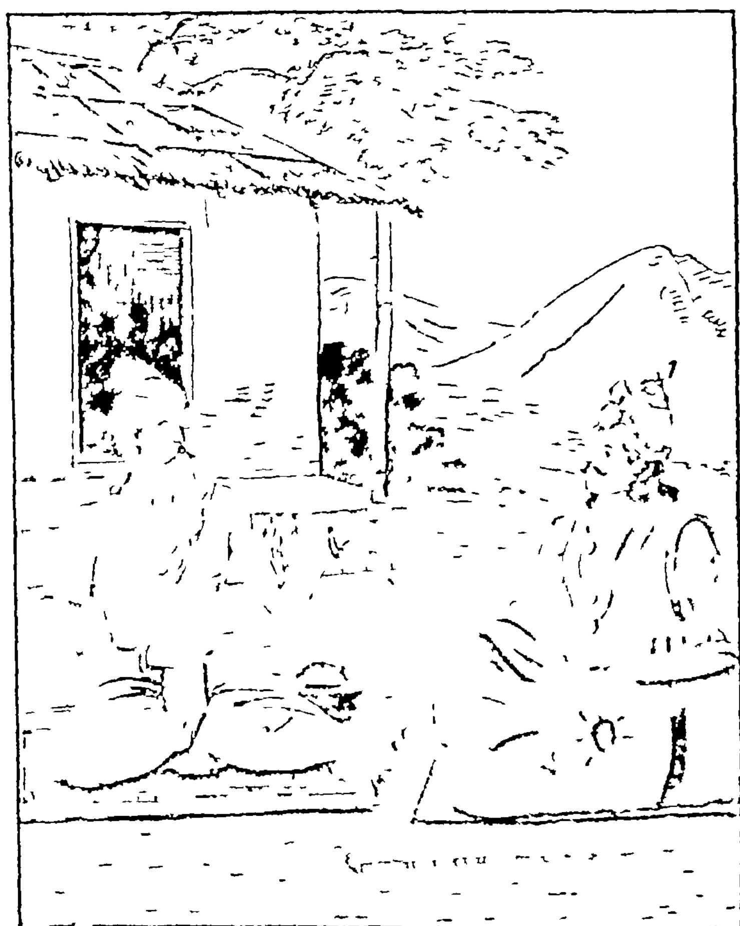
तान् हैतै श्लोकै पप्रच्छ। यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा।
तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहि। त्वच एवास्य रुधिर
प्रस्यन्दि त्वच उत्पट। तस्मात्तदातृण्णात्प्रैति रसो वृक्षादिवाऽऽहतात्।
मा॑सान्यस्य शकराणि किनाट॑स्नाव तत्स्थिरम्। अस्थीन्यन्तरतो
दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता। यद्वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतर
पुन। मर्त्य स्विन्मृत्युना वृक्ण कस्मान्मूलात्प्ररोहति। रेतस इति मा
वोचत जीवतस्तत्प्रजायते। धानारुह इव वै वृक्षोऽञ्जसा प्रेत्य सभव।
यत्समूलमावृहेयुर्वृक्ष न पुनराभवेत्। मर्त्य स्विन्मृत्युना वृक्ण
कस्मान्मूलात्प्ररोहति। जात एव न जायते को न्वेव जनयेत्पुन।
विज्ञानमानन्द ब्रह्मरातिर्दातु परायण तिष्ठमानस्य तद्विद इति।२८।
ॐ जनको ह वैदेह आसाचक्रेऽथ ह याज्ञवल्क्य आवव्राज।
त॑ होवाच याज्ञवल्क्य किमर्थमचारी पशूनिच्छ-
न्नण्वन्तानिति। उभयमेव सम्राडिति होवाच।१।

दे, वैसे ही शैलिनीने आपको वाणीको ब्रह्म होनेका उपदेश दिया है। ठीक भी है, जो बोल नहीं सकता उसका संसारमें क्या बन सकता है? परन्तु क्या 'वाक्-ब्रह्म'के 'आयतन', तथा 'प्रतिष्ठा'के विषयमें उसने आपको कुछ बताया? राजाने कहा, इनके विषयमें तो कुछ नहीं बताया। याज्ञवल्क्यने कहा, तब तो उसने एक-पाद ब्रह्मका ही उपदेश दिया, ब्रह्मके चतुर्थांशका ही वर्णन किया। इस वर्णन के अतिरिक्त उसके 'आयतन', उसकी 'प्रतिष्ठा' और उसकी 'उपासना'का वर्णन तो रह ही गया! राजाने कहा, हे याज्ञवल्क्य! फिर आप ही सर्वांश ब्रह्मका उपदेश दीजिये। याज्ञवल्क्यने कहा, पिंडमें 'वाणी' मानो ब्रह्मका 'आयतन' है, उसका शरीर है, उसका ठिकाना है, ब्रह्मांडमें 'आकाश' मानो उसकी 'प्रतिष्ठा' है, इस विशाल आकाशमें मानो वह प्रतिष्ठित हो रहा है, उसमें फैल रहा है, उसमें ठिकाना किये बैठा है। पिंडकी 'वाणी'में भी वही सिमिटा बैठा है, ब्रह्मांडके 'आकाश'में भी वही फैला बैठा है। यह ब्रह्म 'प्रज्ञा'-रूप है—इसी रूपमें उसकी उपासना करनी चाहिये। 'प्रज्ञा'-रूप ब्रह्म जो 'आकाश'की तरह सर्वत्र प्रतिष्ठित है, 'वाणी'में आसन बैठा हुआ है। राजाने कहा, हे याज्ञवल्क्य! 'प्रज्ञता'से आपका क्या अभिप्राय है? याज्ञवल्क्यने कहा, 'प्रज्ञता' वाणीसे ही तो प्रकट होती है, इसलिये वाणी ही प्रज्ञता है। हे सम्राट्! वाणीसे ही बन्धु पहिचाना जाता है, वाणीसे ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वांगिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, इष्ट, भोजन-दान, जल-दान, इह-लोक, पर-लोक, सब भूत जाने जाते हैं। हे सम्राट्! वाणी ही परम-ब्रह्म है। जो इस रहस्यको जानताहुआ वाणीद्वारा 'प्रज्ञा-ब्रह्म'की उपासना करता है उसका साथ वाणी नहीं छोड़ती, सब प्राणी उसकी रक्षा करते हैं वह स्वयं देव होकर देवोंमें जा विराजता है। यह सुनकर विदेह-राज जनकने कहा मैं आपके इस उपदेशके लिये एक सहस्र गायें और हाथीके समान बैल भेंट करता हूँ। याज्ञवल्क्यने कहा, नहीं, मेरे

पिताका यह आदेश है कि जबतक शिष्यको पूरा उपदेश न दे लेना तबतक उससे कोई भेंट न लेना ।२।

याज्ञवल्क्यने फिर कहा, राजन् ! किसी अन्य गुरुने आपको कुछ सिखाया हो, तो वह कहिये । राजाने कहा, उदङ्क शौल्वायनने मुझे यह उपदेश दिया है कि 'प्राण ही ब्रह्म' है । याज्ञवल्क्यने कहा, जैसे कोई अच्छे माता-पिता और गुरुसे शिक्षा पायाहुआ उपदेश दे, वैसे ही शौल्वायनने आपको प्राणके ब्रह्म होनेका उपदेश दिया है । ठीक भी है, जो प्राण नहीं लेता उसका संसारमें क्या बन सकता है ? परन्तु क्या 'प्राण-ब्रह्म'के 'आयतन' तथा 'प्रतिष्ठा'के विषयमें उसने आपको कुछ बताया ? राजाने कहा, इनके विषयमें तो कुछ नहीं बताया। याज्ञवल्क्यने कहा, तब तो उसने एक-पाद ब्रह्मका ही उपदेश दिया, ब्रह्मके चतुर्थांशका ही वर्णन किया। इस वर्णनके अतिरिक्त उसके 'आयतन', उसकी 'प्रतिष्ठा' और उसकी 'उपासना'का वर्णन तो रह ही गया । राजाने कहा, हे याज्ञवल्क्य ! फिर आप ही सर्वांश ब्रह्मका उपदेश दीजिये । याज्ञवल्क्यने कहा, पिंडमें 'प्राण' मानो ब्रह्मका

यत्ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे जित्वा शैलिनिर्वाग्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छैलिनिरब्रवीद्वाग्वै ब्रह्मेत्यवदतो हि किं स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य । वागेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रज्ञेत्येनदुपासीत । का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य, वागेव सम्राडिति होवाच । वाचा वै सम्राड् बन्धुः प्रज्ञायत ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राट् प्रज्ञायन्ते वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं वाग्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते । हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः । स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति । २ ।



याज्ञवल्क्य जनकको ब्रह्मका उपदेश दे रहे हैं

'आयतन' है, उसका शरीर है, उसका ठिकाना है, ब्रह्माण्डमें 'आकाश' मानो उसकी 'प्रतिष्ठा' है, इस विशाल आकाशमें मानो वह प्रतिष्ठित हो रहा है, उसमें फैल रहा है, उसमें ठिकाना लिये बैठा है। पिण्डके 'प्राण'में भी वही छिपा बैठा है ब्रह्माण्डके आकाशमें भी वही फैला बैठा है। वह ब्रह्म 'प्रिय-रूप' है—इसी रूपमें उसकी उपासना करनी चाहिये। प्रिय-रूप ब्रह्म तो 'आकाश' की तरह सर्वत्र प्रतिष्ठित है, 'प्राण'में आकर बैठा हुआ है। जानते रहो हे सम्राट् !

'प्रियता'से आपका क्या अभिप्राय है ? याज्ञवल्क्यने कहा, प्रियता प्राणसे ही तो प्रकट होती है—तभी तो कहते है 'प्राण-प्रिय'—इसलिये प्राण ही प्रियता है। प्राणके प्रेमके कारण ही याज्ञिक तो जो व्यक्ति यज्ञके योग्य नही उसे भी यज्ञ करा देते है, जो दान लेने योग्य नहीं उससे भी दान ले लेते है। प्राणके प्रेमके कारण ही जहा भी जाते है वहीं यह भय भी बना ही रहता है कि कहीं कोई मार न डाले। हे सम्राट् ! प्राण ही परम-ब्रह्म है। जो इस रहस्यको जानताहुआ प्राणद्वारा 'प्रिय-ब्रह्म'की उपासना करता है उसका साथ प्राण नहीं छोडता, सब प्राणी उसकी रक्षा करते है, वह स्वय देव होकर देवोमें जा विराजता है। यह सुनकर विदेह-राज जनकने कहा, मै आपके इस उपदेशकेलिये एक सहस्र गायें और हाथीके समान बैल भेंट करता हूं। याज्ञवल्क्यने कहा, नहीं, मेरे पिताका यह आदेश है कि जबतक शिष्यको पूरा उपदेश न दे लेना तबतक उससे कोई भेंट न लेना ।३।

याज्ञवल्क्यने फिर कहा, राजन् ! किसी अन्य गुरुने आपको कुछ सिखाया हो, तो वह कहिये। राजाने कहा, वर्कु वार्ष्णने मुझे यह

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्म उदक शौल्बायन प्राणो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छौल्बायनोऽब्रवीत्प्राणो वै ब्रह्मेत्यप्राणतो हि किं स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतन प्रतिष्ठा न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य प्राण एवायतनमाकाश प्रतिष्ठा प्रियमित्येनदुपासीत का प्रियता याज्ञवल्क्य प्राण एव सम्राडिति होवाच प्राणस्य वै सम्राट् कामायायाज्य याजयत्यप्रतिगृह्यस्य प्रतिगृह्णात्यपि तत्र वधाशक भवति या दिशमेति प्राणस्यैव सम्राट् कामाय प्राणो वै सम्राट् परम ब्रह्म नैन प्राणो जहाति सर्वाण्येन भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एव विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभं सहस्र ददामीति होवाच जनको वैदेह स होवाच याज्ञवल्क्य पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति । ३ ।

उपदेश दिया है कि 'चक्षु ही ब्रह्म है'। याज्ञवल्क्यने कहा, जैसे कोई बच्चे माता-पिता और गुरुसे शिक्षा पायाहुआ उपदेश दे वैसे ही वार्ष्णने आपको चक्षुके ब्रह्म होनेका उपदेश दिया है। ठीक भी है, जो देख नहीं सकता उसका संसारमें क्या बन सकता है? परन्तु क्या 'चक्षु-ब्रह्म'के 'आयतन' तथा 'प्रतिष्ठा'के विषयमें उसने आपको कुछ बताया? राजाने कहा, इनके विषयमें तो कुछ नहीं बताया। याज्ञवल्क्यने कहा, तब तो उसने एक-पाद ब्रह्मका ही उपदेश किया, ब्रह्मके चतुर्थांशका ही वर्णन किया। इस वर्णनके अतिरिक्त उसके 'आयतन', उसकी 'प्रतिष्ठा' और उसकी 'उपासना'का वर्णन तो रह ही गया। राजाने कहा, हे याज्ञवल्क्य! फिर आप ही ब्रह्मके वर्णन का उपदेश दीजिये। याज्ञवल्क्यने कहा, पिण्डमें 'चक्षु' मानो ब्रह्मका 'आयतन' है, उसका शरीर है, उसका ठिकाना है, ब्रह्माण्डमें 'आकाश' मानो उसकी 'प्रतिष्ठा' है, इस विशाल आकाशमें मानो वह प्रतिष्ठित हो रहा है, उसमें फैल रहा है, वहां ठिकाना किये बैठा है। पिण्डकी 'चक्षु' में भी वही स्थित बैठा है, ब्रह्माण्डके 'आकाश'में भी वही फैला बैठा है। यह ब्रह्म 'सत्य'-रूप है—इसी रूपमें उसकी उपासना करनी चाहिये। 'सत्य'-रूप ब्रह्म जो 'आकाश'की तरह सर्वत्र प्रति-ष्ठित है, 'चक्षु'में आकर बैठाहुआ है। राजाने कहा, हे याज्ञवल्क्य! 'सत्यता'से आपका क्या अभिप्राय है?

शिष्यको पूरा उपदेश न दे लेना तबतक उससे कोई भेंट न लेना ।४।

याज्ञवल्क्यने फिर कहा, राजन् ! किसी अन्य गुरुने आपको कुछ सिखाया हो, तो वह कहिये । राजाने कहा, गर्दभीविपीत भारद्वाजने मझे यह उपदेश दिया है कि 'श्रोत्र ही ब्रह्म है' । याज्ञवल्क्यने कहा, जैसे कोई अच्छे माता-पिता और गुरुसे शिक्षा पायाहुआ उपदेश दे वैसे ही भारद्वाजने आपको श्रोत्रके ब्रह्म होनेका उपदेश दिया है । ठीक भी है, जो सुन नही सकता उसका ससारमें क्या वन सकता है, परन्तु क्या 'श्रोत्र-ब्रह्म'के 'आयतन' तथा 'प्रतिष्ठा'के विषयमें उसने आपको कुछ बताया ? राजाने कहा, इनके विषयमें तो कुछ नहीं बताया । याज्ञवल्क्यने कहा, तब तो उसने एक-पाद ब्रह्मका ही उपदेश दिया, ब्रह्मके चतुर्थांशका ही वर्णन किया । इस वर्णनके अतिरिक्त उसके 'आयतन', उसकी 'प्रतिष्ठा' और उसकी 'उपासना'का वर्णन तो रह ही गया । राजा ने कहा, हे याज्ञवल्क्य ! फिर आप ही ब्रह्मके सर्वांश का उपदेश दीजिये । याज्ञवल्क्यने कहा, पिंडमें 'श्रोत्र' मानो ब्रह्मका 'आयतन' है, उसका शरीर है, उसका ठिकाना है, ब्रह्मांडमें 'आकाश' मानो उसकी 'प्रतिष्ठा' है, इस विशाल आकाशमें मानो वह प्रतिष्ठित हो रहा है, फैल रहा है, वहा ठिकाना किये बैठा है । पिंडके 'श्रोत्र'में

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे वर्कुर्वार्ष्णश्चक्षुर्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्वार्ष्णोऽब्रवीच्चक्षुर्वै ब्रह्मे-त्यपश्यतो हि किँ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतन प्रतिष्ठा न मेऽब्रवी-दित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य चक्षुरेवायत-नमाकाश प्रतिष्ठा सत्यमित्येनदुपासीत का सत्यता याज्ञवल्क्य चक्षु-रेव सम्राडिति होवाच चक्षुपा वै सम्राट् पश्यन्तमाहुरद्राक्षीरिति स आहाद्राक्षमिति तत्सत्य भवति चक्षुर्वै सम्राट् परम ब्रह्म नैन चक्षुर्जहाति सर्वाण्येन भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एव विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभँ सहस्र ददामीति होवाच जनको वैदेह स होवाच याज्ञवल्क्य पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति । ४ ।

भी वही सिमिटा बैठा है, ब्रह्माण्डके 'आकाश'में भी वही फैला बैठा है। वह ब्रह्म 'अनन्त'-रूप है---इसी रूपमें उसकी उपासना करनी चाहिये। 'अनन्त'-रूप ब्रह्म, जो 'आकाश'में सर्वत्र प्रतिष्ठित है, 'श्रोत्र'में आकर बैठाहुआ है। राजाने कहा, हे याज्ञवल्क्य! 'अनन्तता'से आपका क्या अभिप्राय है? याज्ञवल्क्यने कहा, अनन्तता दिशाओंसे प्रकट होती है। तभी तो जिस-किसी दिशाकी तरफ हम चल देते हैं उसका अन्त ही नहीं आनेमें आता, दिशाएं अनन्त हैं। हे सम्राट्! ब्रह्माण्डमें जिसे दिशा कहते हैं पिण्डमें उसीको श्रोत्र कहते हैं, इसलिये हे सम्राट्! श्रोत्र ही परम-ब्रह्म है। जो इस रहस्यको जानताहुआ श्रोत्र अथवा दिशाओंद्वारा 'अनन्त-ब्रह्म'की उपासना करता है उसका साथ श्रोत्र नहीं छोड़ते, सब प्राणी उसकी रक्षा करते हैं, वह स्वयं देव होकर देवोंमें जा विराजता है। यह सुनकर विदेह-राज जनकने कहा, मैं आपको इस उपदेशके लिये एक सहस्र गायें और हाथीके समान बैल भेट करता हूं। याज्ञवल्क्यने कहा, नहीं, मेरे पिताका यह आदेश है कि जबतक शिष्यको पूरा उपदेश न दे लेना उससे कोई भेट न लेना।५।

याज्ञवल्क्यने फिर कहा राजन्! किसी अन्य गुरुने आपको कुछ

सिखाया हो, तो वह कहिये। राजाने कहा, सत्यकाम जाबालने मुझे यह उपदेश दिया है कि 'मन ही ब्रह्म है'। याज्ञवल्क्यने कहा, जैसे कोई अच्छे माता-पिता और गुरु से शिक्षा पायाहुआ उपदेश दे वैसे ही जाबालने आपको मनके ब्रह्म होनेका उपदेश दिया है। ठीक भी है, जिसका मन काम नहीं करता उसका मनारथ क्या बन सकता है? परन्तु क्या 'मन-ब्रह्म'के 'आयतन' तथा 'प्रतिष्ठा'के विषयमें उसने आपको कुछ बताया? राजाने कहा, इनके विषयमें तो कुछ नहीं बताया। याज्ञवल्क्यने कहा, तब तो उसने एक-पाद ब्रह्मका ही उपदेश दिया, ब्रह्मके चतुर्थांशका ही वर्णन किया। इस वर्णनके अतिरिक्त उसके 'आयतन', उसकी 'प्रतिष्ठा' और उसकी 'उपासना' का वर्णन तो रह ही गया। राजाने कहा, हे याज्ञवल्क्य! फिर आप ही ब्रह्मके सर्वांशका उपदेश दीजिये। याज्ञवल्क्यने कहा, पिंडमें 'मन' मानो ब्रह्मका 'आयतन' है, उसका शरीर है, उसका ठिकाना है, ब्रह्मांडमें 'आकाश' मानो उसकी 'प्रतिष्ठा' है, इस विशाल आकाशमें मानो वह प्रतिष्ठित हो रहा है, वहां ठिकाना किये बैठा है। पिंडके 'मन'में भी वही सिमिटा बैठा है, ब्रह्मांडके 'आकाश'में भी वही फैला बैठा है। वह ब्रह्म 'आनन्द'-रूप है—इसी रूपमें उसकी उपासना करनी चाहिये। 'आनन्द'-रूप ब्रह्म जो 'आकाश'में सर्वत्र प्रतिष्ठित है, 'मन'में आकर बैठाहुआ है। राजाने कहा, हे याज्ञवल्क्य! 'आनन्दता' से आपका क्या अभिप्राय है? याज्ञवल्क्यने कहा, आनन्दता मनसे ही प्रकट होती है। हे सम्राट्! मन हीसे स्त्री-पुरुषका आकर्षण होता है, उससे अपने अनुकूल पुत्र होता है, यही आनन्द है। हे सम्राट्! मन ही परम-ब्रह्म है। जो इस रहस्यको जानताहुआ मनद्वारा 'आनन्द-ब्रह्म'की उपासना करता है उसका साथ मन नहीं छोड़ता, सब प्राणी उसकी रक्षा करते है, वह स्वयं देव होकर देवोंमें जा विराजता है। यह सुनकर विदेह-राज जनकने कहा, मैं आपके इस उपदेशकेलिये एक सहस्र गायें और हाथीके समान बैल भेंट करता हू। याज्ञवल्क्य

ने कहा, नहीं, मेरे पिताका यह आदेश है कि जबतक शिष्यको पूरा उपदेश न दे लेना तबतक उससे कोई भेंट न लेना ।६।

याज्ञवल्क्यने फिर कहा, किसी अन्य गुरुने आपको कुछ सिखाया हो, तो वह कहिये । राजाने कहा, विदग्ध शाकल्यने मुझे यह उपदेश दिया है कि 'हृदय ही ब्रह्म है' । याज्ञवल्क्यने कहा जैसे कोई अच्छे माता-पिता और गुरुसे शिक्षा पायाहुआ उपदेश दे वैसे ही शाकल्यने आपको हृदयके ब्रह्म होनेका उपदेश दिया है । ठीक भी है, जो हृदय-शून्य हो उसका सत्तासे क्या बन सकता है ? परन्तु क्या 'हृदय-ब्रह्म'के 'आयतन' तथा 'प्रतिष्ठा'के विषयमें उसने आपको कुछ बताया ? राजाने कहा, इनके विषयमें तो कुछ नहीं बताया । याज्ञवल्क्यने कहा, तब तो उसने एकपाद ब्रह्मका ही उपदेश दिया, ब्रह्मके चतुर्थांशका ही वर्णन किया । इस वर्णनसे अतिरिक्त उसके 'आयतन', उसकी 'प्रतिष्ठा' और उसकी 'उपासना'का वर्णन तो रह ही गया । राजाने कहा, फिर आप ही इन तीनोंका उपदेश दीजिये । याज्ञवल्क्यने कहा, जिसे 'हृदय' मानो इसका 'आयतन' है, इसका शरीर है, इसका ठिकाना है, ब्रह्मके 'आकाश' मानो इसकी 'प्रतिष्ठा' है, इस विशाल आकाशमें मानो वह प्रतिष्ठित हो रहा है, ठहर रहा है, वहां ठिकाना किये बैठा है । किसी 'हृदय'में भी वही स्थित

बठा है, ब्रह्माडके 'आकाश'में भी वही फल बैठा है। वह ब्रह्म 'स्थिति'-रूप है--इसी रूपमें उसकी उपासना करनी चाहिये। 'स्थिति'-रूप ब्रह्म जो 'आकाश'में सर्वत्र प्रतिष्ठित है, 'हृदय'में आकर बैठाहुआ है। राजाने कहा, हे याज्ञवल्क्य! 'स्थितता'से आपका क्या अभिप्राय है? याज्ञवल्क्यने कहा, स्थितता हृदयसे ही प्रकट होती है। हे सम्राट्! हृदय ही सब प्राणियोंका आश्रय-स्थान है, हृदयमें ही सब प्राणी प्रतिष्ठित होते हैं, आश्रय पाते हैं, इसलिये हे सम्राट्! हृदय ही परम-ब्रह्म है। जो इस रहस्यको जानताहुआ हृदयद्वारा 'स्थित-ब्रह्म'की उपासना करता है उसका साथ हृदय नहीं छोडता, सब प्राणी उसकी रक्षा करते हैं, वह स्वय देव होकर देवोंमें जा विराजता है। यह सुनकर विदेह-राज जनकने कहा, मैं आपके इस उपदेशके-लिये एक सहस्र गायें और हाथीके समान बैल भेंट करता हू। याज्ञवल्क्यने कहा, नहीं, मेरे पिताका यह आदेश है कि जबतक शिष्यको पूरा उपदेश न देलेना तबतक उससे कोई भेंट न लेना।७।

(इस उपदेशमे पिंडके 'वाणी-ब्रह्म', 'प्राण-ब्रह्म', 'चक्षु-ब्रह्म', 'श्रोत्र-ब्रह्म', 'मन-ब्रह्म', 'हृदय-ब्रह्म'से चलकर ब्रह्माडके 'प्रज्ञा-

---

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे विदग्ध शाकल्यो हृदय वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छाकल्योऽब्रवीद्धृदय ब्रह्मेत्यहृदयस्य हि किँ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतन प्रतिष्ठा न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य हृदयमेवायतनमाकाश प्रतिष्ठा स्थितिरित्ये-नदुपासीत का स्थितता याज्ञवल्क्य हृदयमेव सम्राडिति होवाच हृदय वै सम्राट् सर्वेषा भूतानामायतनँ हृदय वै सम्राट् सर्वेषा भूताना प्रतिष्ठा हृदये ह्येव सम्राट् सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठि-तानि भवन्ति हृदय वै सम्राट् परम ब्रह्म नैनँ हृदय जहाति सर्वाण्येन भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एव विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभँ सहस्र ददामीति होवाच जनको वैदेह स होवाच याज्ञवल्क्य पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति। ७।

ब्रह्म', 'प्रिय-ब्रह्म', 'सत्य-ब्रह्म', 'अनन्त-ब्रह्म', 'आनन्द-ब्रह्म', 'स्थित-ब्रह्म' तक पहुंचनेका वर्णन किया गया है। संसारमें प्रज्ञता, प्रियता, सत्यता, अनन्तता, आनन्दता, स्थिरता ही ब्रह्मके आकाशकी तरह सर्व-व्यापी रूप हैं, उन्हें पकड़नेकी डोरियां हैं वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन तथा हृदय। वाणी अपनी छोटी-सी प्रज्ञाके सहारे अनन्त प्रज्ञाको छू लेती है, प्राण अपनी छोटी-सी प्रियताके सहारे उस प्रेममयको पा लेता है, चक्षु छोटे-से सत्यका दर्शन करता-करता उस महान् सत्यतक पहुंच जाता है, श्रोत्र छोटी-छोटी ध्वनिको सुनकर ही ब्रह्मके अनन्त नादको सुन लेता है, मन संसारके विषयोंमें थोड़ा-सा भी आनन्द लेकर आनन्दके उस असीम भण्डारको स्मरण कर लेता है, हृदय चञ्चलताको छोड़कर एक क्षणकेलिये भी जब स्थिर होता है तो यह स्थिरता महान्-स्थिर ब्रह्मकी ही एक झलक होती है। संसारमें जहां भी प्रज्ञा है उसीका रूप है, जहां भी प्रियता है उसीका रूप है, जहां भी सत्य है उसीका रूप है, जहां भी अनन्तता है उसीका रूप है, जहां भी आनन्द है उसीका रूप है, जहां भी स्थिरता है उसीका रूप है। ब्रह्मके इन रूपोंको पकड़नेकेलिये ही वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, हृदय उसीके दिये हुए साधन हैं।)

चतुर्थ अध्याय—[दूसरा ब्राह्मण]

(जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिका वर्णन)

विदेह-राज जनक यह सब उपदेश सुनकर सिंहासनसे उतर आये, और बोले, हे याज्ञवल्क्य! मैं आपको नमस्कार करता हूं, आप मुझे शिष्य समझकर शिक्षा दीजिये। याज्ञवल्क्यने कहा, हे सम्राट्! जैसे कोई यात्री लम्बा रास्ता तय करनेकेलिये रथ या नावका सहारा लेता है वैसे जीवन-यात्राको तय करनेकेलिये आपने उपनिषदोंके ज्ञानका सहारा लिया है। आपको लोग पूजाकी दृष्टिसे देखते हैं, आपके पास धन है, आपने वेद पढ़े हैं, उपनिषद्का ज्ञान आपको सुनाया जा चुका है। परन्तु, आप जानते हैं, यहांसे छूटकर आप कहां

जायेंगे ? राजाने कहा, भगवन् ! मैं नहीं जानता, मैं कहां जाऊंगा। याज्ञवल्क्यने कहा, मैं आपको बतलाऊंगा, आप कहां जाओगे। राजाने कहा, भगवन् ! कहिये ।१।

याज्ञवल्क्यने कहा, 'आत्म-तत्त्व' अपनेको दायें और बायें नेत्रों-द्वारा प्रकट करता है। कौन यह पुरुष है, जो शरीरके भीतर बैठाहुआ मानो दायीं आंखके झरोखेमें बाहर झांक रहा है ? इसका गुप्त-नाम 'इन्ध' है, क्योंकि यह दीप्तिमान् है, प्रकाशमान है। 'इन्ध'को ही 'इन्द्र' कहा जाता है। उस झांकनेवालेका प्रत्यक्ष-नाम 'इन्ध' है, परोक्ष नाम 'इन्द्र' है—देव-गण परोक्ष नामसे ही पुकारा जाना पसन्द करते हैं, प्रत्यक्ष-नामोंसे पुकारे जानेको बुरा मनाते हैं ।२।

'आत्म-तत्त्व' बायीं आंखके झरोखेसे भी बाहर झांक रहा है। बायीं आंखमेंसे पुरुष-जैसी झांकनेवाली यह मानो इन्द्रकी स्त्री है। इसका प्रत्यक्ष-नाम 'विराट्' है, परोक्ष-नाम 'इन्द्राणी' है—शरीरमें स्त्रीका स्थान बायां भाग ही तो है ! शरीरकी 'जाग्रतावस्था'में 'आत्म-तत्त्व' मानो 'इन्ध' और 'विराट्', 'इन्द्र' और 'इद्राणी' या 'पुरुष' और 'स्त्री'के रूपमें मानो आंखोंमें अधिष्ठित है, बाहर झांकता-सा है, और इसीमें आत्म-तत्त्वके प्रत्यक्ष दर्शन हो जाते हैं। 'इन्ध' और 'विराट्' दोनोंका अर्थ 'दीप्ति' है, 'प्रकाश' है—'प्रकाश' अर्थात् 'ज्ञान' (Con-sciousness) ही 'आत्म-तत्त्व'का प्रत्यक्ष रूप है। इन स्त्री-पुरुषोंका, इन्द्र-इन्द्राणीका, आत्माकी पुरुष-शक्ति तथा स्त्री-शक्तिका 'संस्ताव'

ॐ जनको ह वैदेह कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्यानु मा शाधीति स होवाच यथा वै सम्राण्महान्तमध्वानमेष्यन् रथं वा नावं वा समाददीतैवमेवैताभिरुपनिषद्भिः समाहितात्मा-ऽस्येवं वृन्दारक आढ्यः सन्नधीतवेद उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्य-मानः क्व गमिष्यसीति नाहं तद्भगवन्वेद यत्र गमिष्यामीत्यथ वै तेऽहं तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति ब्रवीतु भगवानिति ।१। इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तं वा एतमिन्धं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणैव परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ।२।

(Rendevous), अर्थात् मिलनेकी जगह है हृदयका अन्तराकाश—वहां जाकर आत्म-तत्त्वकी बिखरी बहिर्मुख वृत्तियां एक हो जाती हैं, मानो वह भटकेहुए प्रेमियोंका मिलन-स्थान हो। शरीरकी 'स्वप्नावस्था'में 'आत्म-तत्त्व' हृदयके भीतरके आकाशमें आविराजता है, मानो सब काम समेटकर कोई अपने विश्रामके स्थानपर आ पहुंचे। शरीरकी जाग्रत-अवस्थामें तो वह खाता-पीता था, परन्तु शरीरकी स्वप्नावस्थामें हृदयका लोहित-पिंड ही इसका भोजन रहजाता है—शरीरमें हृदयद्वारा रुधिरका सञ्चार ही इसे जीवित रखता है। शरीरकी जाग्रत-अवस्थामें तो इन्द्र और इन्द्राणी आंखोंके मार्गसे संसारकी सैर करते फिरते थे, अब शरीरके सो जानेपर वे हृदयाकाशके संसारकी सैर करते हैं। हृदयके भीतर जो नाड़ियोंका जाल बिछा है उसमेंही ढके हुए, मानो उसमें बंद रहते हैं। हृदयसे ऊपरको जो नाड़ी (Aorta) निकली है, [illegible] उस चोटी-से मार्गमें ये दोनों घूमा करते हैं। केशके हजार भाग कर दिये जाय, तो उन-जैसी बारीक 'हिता' नामकी नाड़ियां हृदयमें फैली हुई हैं, इनमेंसे [illegible] [illegible] [illegible] साथ 'आत्म-तत्त्व' स्वप्नावस्थामें संक्रमण करता है, सैर करता है। स्वप्नावस्थामें इसे 'हिता' नामक नाड़ियोंसे शुद्ध आहार मिलता है, इसलिये जाग्रतावस्थाकी अपेक्षा स्वप्नावस्थाका आहार अधिक शुद्ध है ([illegible], [illegible] छान्दोग्य ८-६, बृहदा० २-१-१९, ४-३-२० [illegible])।३।

शरीरकी जब 'जाग्रतावस्था' होती है, तब आत्म-तत्त्वका 'जाग्रत-स्थान' होता है और वह स्थान है 'आंख'। शरीरकी जब 'स्वप्नावस्था' होती है, तब आत्म-तत्त्वका 'स्वप्न-स्थान' होता है और वह

स्थान है 'हृदय', शरीरकी जब 'सुषुप्तावस्था' होती है, तब आत्म-तत्त्वका 'सुषुप्ति-स्थान' होता है, और वह स्थान है 'प्राण'। आत्म-तत्त्व जागता-सोता नहीं, शरीर जागता-सोता है, शरीरकी इन अवस्थाओ के अनुसार आत्म-तत्त्व अपनी सत्ताके प्रकाशके 'स्थान' बदलता रहता है। शरीरकी 'सुषुप्तावस्था'में 'आत्म-तत्त्व' प्राणोंमें चला जाता है। जिस तरह जागतावस्थामें आत्म-तत्त्वका रूप 'आखें' है, स्वप्नावस्थामें इसका रूप 'हृदय' है, वैसे सुषुप्तावस्थामें आत्म-तत्त्वका रूप 'प्राण' है। उसकी पूर्व दिशामें, दक्षिण दिशामें, पश्चिम दिशामें, उत्तर दिशा में, ऊपर-नीचे, सब दिशाओंमें, उसका रूप प्राण-मय हो जाता है।

'आत्म-तत्त्व'के इन तीन रूपोंके अतिरिक्त उसका एक चौथा रूप रह जाता है, यह उसका तुरीय-रूप है, अनिर्वचनीय रूप है, इसे 'नेति'-'नेति' कहा जाता है, वह ऐसा रूप है जिसतक कोई नहीं पहुच पाता। वह 'अग्राह्य' रूप है, पकडमें नहीं आता, 'अशीर्य' रूप है, उसका क्षय नही होता, वह 'असग' है, किसीसे लिप्त नहीं होता, वह बन्धन-रहित है, व्यथा-रहित है, नाश-रहित है। फिर याज्ञवल्क्यने कहा, हे राजन्! तुमने उपनिषदोंका ज्ञान प्राप्त करके 'आत्म-तत्त्व' को पहचान लिया इसलिये यहासे छूटकर तुम इसी 'अग्राह्य', 'अशीर्य', 'असग', 'असित' रूपमें पहुच जाओगे--तुम 'अभय' प्राप्त करोगे, 'अभय-रूप' हो जाओगे! विदेह-राज जनक यह सुनकर बोले, हे याज्ञवल्क्य! आपने जिस अभय-पदपर मुझे पहुचाया है आपको भी वह पद प्राप्त हो, मेरा आपको नमस्कार हो, मेरा विदेह-राज्य और मै स्वय अपनेको आपके चरणो में अर्पित करते है।४।

तस्य प्राची दिक् प्राञ्च प्राणा दक्षिणा दिग्दक्षिणे प्राणा प्रतीची दिक् प्रत्यञ्च प्राणा उदीची दिगुदञ्च प्राणा ऊर्ध्वा दिगूर्ध्वा प्राणा अवाची दिगवाञ्च प्राणा सर्वा दिश सर्वे प्राणा स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो नहि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्यभय वै जनक प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्य। स होवाच जनको वैदेहोऽभय त्वा गच्छताद्याज्ञवल्क्य यो नो भगवन्नभय वेदयसे नमस्तेऽस्त्विमे विदेहा अयमहमस्मि।४।

(माण्डूक्योपनिषद्, छान्दोग्य ८-१२, बृहदा० २-१, ४-३ और इस स्थलको एक-साथ पढनेसे भाव और अधिक स्पष्ट होजाता है।)

चतुर्थ अध्याय—[तीसरा ब्राह्मण]

याज्ञवल्क्य विदेह-राज जनकके यहा पहुचे। इस बार वे अपने मनमें यह ठानकर गये कि कुछ नहीं बोलेंगे, सिर्फ सुनेंगे। जनकने इस बातको ताड लिया, और निश्चय कर लिया कि वे भी उन्हे बुलवाकर ही छोडेंगे। एक बारकी बात है कि किसी अग्निहोत्रमें विदेह-राज जनक और महर्षि याज्ञवल्क्य दोनो उपस्थित थे। उस समय जनकसे प्रसन्न होकर याज्ञवल्क्यने उन्हे वर मागनेको कहा था, और राजाने 'काम-प्रश्न' वर मागा था, अर्थात् जब मैं चाहू आपसे प्रश्न कर सकू। याज्ञवल्क्यने यह वर दे दिया था। इसी वरकी याद दिलाकर सम्राट्ने प्रश्न कर दिया, और याज्ञवल्क्यको उत्तर देना पडा।१।

राजाने पूछा, हे याज्ञवल्क्य! पुरुषको ज्योति—प्रकाश—कहासे प्राप्त होती है? याज्ञवल्क्यने कहा, 'आदित्य' से! जाग्रतावस्थामें आदित्यकी ज्योतिसे ही यह बैठता है, चलता-फिरता है, काम करता है, काम करनेके बाद घरको लौट आता है। राजाने कहा, आपने ठीक कहा।२।

राजाने फिर पूछा, हे याज्ञवल्क्य! जब आदित्य अस्त हो जाता है, तब पुरुषको ज्योति—प्रकाश—कहासे प्राप्त होती है? याज्ञवल्क्यने कहा, 'चन्द्रमा'से! सूर्य न होनेपर चन्द्रकी ज्योतिसे ही यह बैठता है, चलता-फिरता है, काम करता है, काम करनेके बाद घरको लौट आता है। राजाने कहा आपने ठीक कहा।३।

राजाने फिर पूछा, हे याज्ञवल्क्य ! जब आदित्य अस्त हो जाता है, चन्द्र अस्त हो जाता है, तब पुरुषको ज्योति—प्रकाश—कहासे प्राप्त होती है ? याज्ञवल्क्यने कहा, 'अग्नि'से ! उस समय अग्निकी ज्योतिसे ही यह बैठता है, चलता-फिरता है, काम करता है, काम करनेके बाद घरको लौट आता है। राजाने कहा, आपने ठीक कहा ।४।

राजाने फिर पूछा, हे याज्ञवल्क्य ! आदित्य और चन्द्रके अस्त होनेपर, अग्निके शान्त होनेपर, पुरुषको ज्योति—प्रकाश—कहा से प्राप्त होती है ? याज्ञवल्क्यने कहा, 'वाणी'से ! रातके प्रगाढ अन्धकारमें वाणीकी ही ज्योतिसे यह बैठता है, चलता-फिरता है, काम करता है, काम करनेके बाद घरको लौट आता है। जब अन्धेरेमें अपना हाथ भी नहीं दीखता तब उसीका सहारा लेना पडता है जहा से वाणीका उच्चारण होता है। राजाने कहा, आपने ठीक कहा ।५।

राजाने फिर पूछा, 'आदित्य' और 'चन्द्र'के अस्त होनेपर, 'अग्नि' और 'वाणी'के शान्त हो जानेपर, जब जाग्रतावस्था नही रहती, तब पुरुषको ज्योति—प्रकाश—कहांसे प्राप्त होती है ? याज्ञवल्क्यने कहा, 'आत्मा'से ! स्वप्नावस्थामें आत्माकी ही ज्योतिसे यह बैठता है, चलता-फिरता है, काम करनेके बाद घरको लौट आता है ।६।

राजाने फिर पूछा, वह 'आत्मा' कौन-सा है ? याज्ञवल्क्यने कहा,

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते किंज्योतिरेवाय पुरुष इत्यग्निरेवास्य ज्योतिर्भवतीत्यग्निनैवाय ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य । ४ ।
अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ किंज्योतिरेवाय पुरुष इति वागेवास्य ज्योतिर्भवतीति वाचैवाय ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति तस्माद्वै सम्राडपि यत्र स्व पाणिर्न विनिर्ज्ञायतेऽथ यत्र वागुच्चरत्युपैव तत्र न्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य । ५ ।
अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्ताया वाचि किंज्योतिरेवाय पुरुष इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवाय ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति । ६ ।

आत्माका स्वरूप 'विज्ञानमय' है, जाग्रतावस्थामें वह 'बहिर्ज्योति' होता है, इसके बाद 'अन्तर्ज्योति' हो जाता है , स्वप्नावस्थामें उसकी ज्योति 'हृदय'में, और सुषुप्तावस्थामें 'प्राणों'में प्रकाशित होती है । वह स्वयं सब अवस्थाओंमें एक-समान है, और 'जाग्रत' तथा 'सुषुप्त'—इन दोनों लोकोंमें आता-जाता रहता है, जाग्रत-लोकमें आकर मानो चेष्टा करने लगता है, सुषुप्त-लोकमें जाकर मानो ध्यानावस्थित हो जाता है । जाग्रत तथा सुषुप्त—इन दोनोंके बीचके 'स्वप्न-लोक'में जाकर वह इस दुनियाको, जो मृत्युके ही नाना-रूप हैं, लांघ जाता है ।७।

जैसे पुरुष जन्म लेनेके बाद, शरीरसे बंधा रहता है, मानो पापसे जुड़ जाता है, मरनेके बाद शरीरको छोड़ता है, मानो पापको परे छोड़ देता है, इसीप्रकार आत्मा जाग्रत-लोकको जब छोड़ता है मानो पाप-लोकको छोड़ता है, और स्वप्न तथा सुषुप्त-लोकको चला जाता है, मानो पापको छोड़कर आगे चल देता है ।८।

इस पुरुषके—आत्माके—दो ही स्थान हैं, यह स्थान, जिसे 'जाग्रत-स्थान' कहते हैं, और वह स्थान, परलोक-स्थान, जिसे 'सुषुप्त-स्थान' कहते हैं । इन दोनों स्थानोंकी सन्धिमें एक तीसरा स्थान है, 'स्वप्न-स्थान' है । इस सन्धि-स्थानमें बैठकर आत्मा दोनों स्थानोंको देखता है—'जाग्रत-स्थान'को भी, 'सुषुप्त-स्थान'को भी । जिस क्रमसे आत्मा 'सुषुप्त-स्थान'में गया होता है, उसी क्रमसे 'पाप'को या 'आनन्द'को देखता है । अगर 'जाग्रत-स्थान'से 'सुषुप्त-स्थान'को गया है, तो 'पाप' देखता हुआ गया है, अगर 'सुषुप्त-स्थान'से 'जाग्रत-स्थान'को आया है, तो 'आनन्द' देखता हुआ आता है । इस क्रमसे

'स्वप्न'-लोकको जाता है, तो इस दुनियांकी, जिसमें सब-कुछ है, मात्राओंको—उसके सूक्ष्म-अंशोंको—अपने साथ लेकर जाता है। फिर 'स्वप्न-लोक'में इन्हीं मात्राओंसे दुनियाको बनाता है, बिगाडता है, उस समय इसके पास बाहरकी ज्योति नहीं होती, अपने ही प्रकाशसे, अपनी ही ज्योतिसे सपनेकी दुनिया देखता है। इस अवस्थामें पुरुषको 'स्वय-ज्योति' कहा जाता है। उस समय इसकी अपनी ही दुनिया होती है, बनाता है, बिगाडता है, और अपने ही प्रकाशसे उसे देखता है।९।

'स्वप्नावस्था'में रथ नहीं होते, घोड़े नहीं होते, सडकें नहीं होतीं, वह अपने-आप रथ-घोड़े-मार्ग—सभी-कुछ रच लेता है। वहा आनन्द नहीं, मोद नहीं, प्रमोद नहीं, वह आनन्द, मोद, प्रमोदकी सृष्टि रच लेता है। वहां तालाब नहीं, झीलें नही, नदियां नहीं, वह तालाब, झील, नदी बना डालता है। आत्मा तभी तो 'कर्ता' कहा जाता है—वही रचना करनेवाला है।१०।

किसीने इसी आशयको श्लोक-बद्ध किया है—जिस समय आत्मा 'स्वप्न-स्थान'में चला जाता है, तब क्या होता है? उस समय आत्मा शरीरके जाग्रत-स्थानको छोडकर, अपनी ज्योतिको समेटकर, स्वप्न-स्थानमें जा बैठता है, उस समय वह स्वय 'अप्रसुप्त' ही रहता है, परन्तु बैठा-बैठा सुप्त इन्द्रियोंको निहारा करता है। 'स्वप्न-स्थान'

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इद च परलोकस्थान च सन्ध्य तृतीय् स्वप्नस्थान तस्मिन्सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीद च परलोकस्थान च। अथ यथाक्रमोऽय परलोकस्थाने भवति तमाक्रममाक्रम्योभयान् पाप्मन आनन्दा्श्च पश्यति स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वय विहत्य स्वय निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्राय पुरुष स्वयज्योतिर्भवति। ९।

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथ सृजते न तत्रानन्दा मुद प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान् मुद प्रमुद सृजते न तत्र वेशान्ता पुष्करिण्य स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणी स्रवन्ती सृजते स हि कर्ता। १०।

से, फिर जब 'जाग्रत-स्थान'को आता है, तब यह हंसकी भांति शुभ 'हिरण्मय-पुरुष' अपनी ज्योतिको बाहर ले आता है जिससे शरीर जाग जाता है ।११।

यह 'हिरण्मय-पुरुष' इकले अमर हंसकी भांति अपने शरीर-रूपी निचले घोसलेकी रक्षाकेलिये 'प्राण'को छोड जाता है, और स्वयं घोसलेसे बाहर 'स्वप्न-लोक'में इच्छा-पूर्वक घूमा करता है ।१२।

'स्वप्न-लोक'मे यह बहुत ऊंच-नीचमेंसे गुजरता है नाना-रूपों का निर्माण करता है, कभी स्त्रियोंके साथ आमोद-प्रमोद करता है, कभी बन्धु-बान्धवोंके साथ हंसता-खेलता है, कभी भयानक दृश्य देखता है ।१३।

है । यह सब उपदेश सुनकर राजा जनकने याज्ञवल्क्यसे कहा, भगवन्! आपके इस उपदेशकेलिये मैं एक सहस्र गायें भेंट करता हूं । अब इसके आगे आप मुझे 'मोक्ष'का ही उपदेश दें ।१४।

याज्ञवल्क्यने कहा, हे राजन्! आत्मा 'सम्प्रसाद'—प्रसाद अर्थात् प्रसन्नताके, अर्थात् 'सुषुप्ति'के स्थानमें रमणकर, भ्रमणकर पाप-पुण्यको देखकर, जिस मार्गसे गया था, उसी मार्गसे, अपनी 'योनि', अर्थात् अपने कारण—'स्वप्न-स्थान'—के प्रति लौट आता है। 'सुषुप्त-स्थान'में रहतेहुए उसने जो-कुछ देखा था, वह वहीं छूट जाता है, वह इसके साथ नहीं आता, क्योंकि 'असगो ह्यय पुरुष'—पुरुष अपने स्वाभाविक रूपमें तो 'असग' ही है । राजाने कहा, याज्ञवल्क्य! यह ठीक है । भगवन्! आपके इस उपदेशकेलिये मैं एक सहस्र गायें भेंट करता हूं । अब इसके आगे आप मुझे 'मोक्ष'-का ही उपदेश दें ।१५।

याज्ञवल्क्य ने कहा, हे राजन्! 'सुषुप्त-स्थान' से 'स्वप्न-स्थानों'में आनेपर, वहां रमणकर, भ्रमणकर, पाप-पुण्यको देखकर, जिस मार्गसे गया था, उसी मार्गसे, अपनी 'योनि', अर्थात् अपने कारण—'जाग्रत-स्थान'—के प्रति लौट आता है । 'स्वप्न-स्थान'में रहतेहुए उसने जो-कुछ देखा था, वह वहीं छूट जाता है, वह इसके साथ नहीं आता, क्योंकि 'असंगो ह्यय पुरुष'—पुरुष अपने स्वाभाविक रूपमें तो 'असग' ही है। राजाने कहा, याज्ञवल्क्य! यह ठीक है। भवगवन्!

आराममस्य पश्यन्ति न त पश्यति कश्चनेति । त नायत बोधयेदित्याहु दुर्भिषज्य्ँ हास्मै भवति यमेष न प्रतिपद्यते । अथो खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्त इत्यत्राय पुरुष स्वयज्योतिर्भवति सोऽह भगवते सहस्र ददाम्यत ऊर्ध्व विमोक्षाय ब्रूहीति । १४ ।
स वा एष एतस्मिन्सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्य च पाप च पुन प्रतिन्याय प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव स यत्तत्र किंचि-त्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसगो ह्यय पुरुष इत्येवमेवैतद्या-ज्ञवल्क्य सोऽह भगवते सहस्र ददाम्यत ऊर्ध्व विमोक्षायैव ब्रूहीति । १५ ।

आपके इस उपदेशकेलिये मैं एक सहस्र गायें भेंट करता हूं। अब इसके आगे आप मुझे 'मोक्ष'का ही उपदेश दें।१६।

याज्ञवल्क्यने कहा, हे राजन् ! 'स्वप्न-स्थान'से 'जाग्रत-स्थान'में आनेपर, वहां रमणकर, भ्रमणकर, पाप-पुण्यको देखकर, जिस मार्गसे आया था उसी मार्गसे, अपनी 'योनि', अर्थात् अपने कारण—'स्वप्न-स्थान'—के प्रति फिर लौट जाता है।१७।

सो, जैसे महा-मत्स्य नदीके पूर्व तथा अपर दोनों किनारोंको आता-जाता है, और किनारोंसे अलग रहता है, इसीप्रकार यह पुरुष जाग्रत तथा स्वप्न-स्थानोंमें आया-जाया करता है, और इन अवस्थाओंसे स्वयं अलग रहता है।१८।

जैसे श्येन या गरुड़ पक्षी आकाशमें उड़-उड़कर थकाहुआ, दोनों पंखोंको समेटकर घोंसलेकी तरफही दौड़ता है, इसीप्रकार यह पुरुष 'जाग्रत' तथा 'स्वप्न'-रूपी परोंको समेटकर 'सुषुप्त-स्थान'-रूपी घोंसलेकी तरफ दौड़ता है, जहां सोकर जाग्रतावस्थाकी कामनाएं नहीं रहतीं, स्वप्नावस्थाके सपने नहीं रहते।१९।

में किये गये वर्णनोंके अनुसार 'हिता' तथा 'पुरीतत' का अर्थ Capillaries है ।) शरीर जब सो जाता है, तब आत्मा इन्हीं हिता-नामक नाडियोंमें विचरता है । जागतेहुए जिन बातोंसे डरा था, स्वप्न-स्थानमें जाकर उन्हीं बातोंसे अविद्याके कारण भय मानकर यह सम-झता है कि मानो कोई मार रहा है, मानो कोई अपने वशमें कर रहा है, मानो हाथी पीछा कर रहा है, मानो गढेमें गिर रहा है । जिस स्थानमें जाकर यह अपनेको राजाकी तरह मानता है, 'अहमेवेद सर्वोस्मि'––'यह सब-कुछ मैं ही हूं'––यह अनुभव करता है, वह आत्माका 'परम-लोक' है, 'सुषुप्त-स्थान' है ।२०।

यह आत्माका 'अतिच्छन्द' रूप है, छन्द अर्थात् इच्छा, अति अर्थात् अधिकता । इच्छाकी अति आत्माके इसी रूपमें हो सकती है, यह रूप पाप-रहित रूप है, अभय-रूप है । जैसे अपनी प्रिय स्त्रीका आलिंगन करते समय न बाहरकी सुध रहती है, न अन्दरकी, इसी तरह पुरुष जब प्राज्ञ आत्माके गले लग जाता है, तब इसे न बाहरकी सुध रहती है, न अन्दरकी । आत्माका यह 'आप्तकाम' रूप है, जिसमें सब कामनाएं पूर्ण हो जाती है, यही 'आत्मकाम' रूप है, जिसमें सिर्फ आत्माकी ही कामना रह जाती है, यही 'अकाम' रूप है, जिसमें आत्म प्राप्तिकी कामनाके पूर्ण हो जानेपर कोई कामना ही बची नहीं रहती, यह 'अशोक' रूप है, जिसमें कोई शोक नहीं रहता ।२१।

ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्ता-वताऽणिम्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहि-तस्य पूर्णा अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययति गर्तमिव पतति यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यतेऽथ यत्र देव इव राजेवाहमेवेदं सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः । २० । तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभयं रूपम् । तद्यथा प्रियया स्त्रिया सपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम् । २१ ।

इस रूपमें पहुंचकर, पिता पिता नहीं रहता, माता माता नहीं रहती, दुनिया दुनिया नहीं रहती, देव देव नहीं रहता, वेद वेद नहीं रहता, चोर चोर नहीं रहता, गर्भघाती गर्भघाती नहीं रहता, जाति-दोषसे अपनेको दूषित माननेवाला उस दोषसे मुक्त हो जाता है, श्रमण श्रमण नहीं रहता, तापसी तापसी नहीं रहता, इस रूपमें पहुंचने-पर इसके पीछे पुण्य नहीं आता, पाप नहीं आता, उस समय आत्मा हृदय-समुद्रके सब शोकोंको तरकर पार पहुंच चुका होता है।२२।

सुषुप्त-स्थानमें जाकर यह देखता नहीं, इसका यही अभिप्राय है कि देखताहुआ ही नहीं देखता, आत्मा तो स्वभावसे ही 'द्रष्टा' है, उसकी दृष्टिका लोप थोड़े ही हो सकता है, आत्मा तो अविनाशी है। इस स्थानमें पहुंचकर वह इसलिये नहीं देखता क्योंकि उससे अतिरिक्त वहां दूसरा कुछ होता ही नहीं जिसे वह देखे।२३।

सुषुप्त-स्थानमें वह सूंघता नहीं, तो सूंघताहुआ ही नहीं सूंघता, आत्मा तो स्वभावसे 'घ्राता' है, उसकी घ्राण-शक्तिका लोप थोड़े ही हो सकता है, आत्मा तो अविनाशी है। इस स्थानमें पहुंचकर वह इसलिये नहीं सूंघता क्योंकि उससे अतिरिक्त वहां दूसरा-कुछ होता ही नहीं जिसे वह सूंघे।२४।

सुषुप्त-स्थानमें वह रस नहीं लेता, तो रस लेताहुआ ही रस नहीं लेता, आत्मा तो स्वभावसे 'रसयिता' है, उसकी रस-शक्तिका लोप थोड़े ही हो सकता है, आत्मा तो अविनाशी है। इस स्थानमें पहुंचकर

वह इसलिये रस नहीं लेता क्योंकि उसके अतिरिक्त वहा दूसरा-कुछ होता ही नहीं जिसका वह रस ले ।२५।

सुषुप्त स्थानमें वह बोलता नहीं, सो बोलताहुआ ही नहीं बोलता, आत्मा तो स्वभावसे 'वक्ता' है, उसकी वाक्-शक्तिका लोप थोडे ही हो सकता है, आत्मा तो अविनाशी है । उस स्थानमें पहुचकर वह इसलिये नहीं बोलता क्योंकि उसके अतिरिक्त वहा दूसरा-कुछ होता ही नहीं जिसके विषयमें वह बोले ।२६।

सुषुप्त-स्थानमें वह सुनता नहीं, सो सुनताहुआ ही नहीं सुनता, आत्मा तो स्वभावसे 'श्रोता' है, उसकी श्रवण-शक्तिका लोप थोडे ही हो सकता है, आत्मा तो अविनाशी है । उस स्थानमें पहुंचकर वह इसलिये नहीं सुनता क्योंकि उसके अतिरिक्त वहां दूसरा-कुछ होता ही नहीं जिसे वह सुने ।२७।

सुषुप्त-स्थानमें वह मनन नहीं करता, सो मनन करताहुआ ही मनन नहीं करता, आत्मा तो स्वभावसे 'मन्ता' है, उसकी मनन-शक्ति का लोप थोडे ही हो सकता है, आत्मा तो अविनाशी है । उस स्थानमें पहुंचकर वह इसलिये मनन नहीं करता क्योंकि उसके अतिरिक्त वहा दूसरा-कुछ होता ही नहीं जिसे वह मनन करे ।२८।

सुषुप्त-स्थानमें वह स्पर्श नहीं करता, सो स्पर्श करताहुआ ही स्पर्श नहीं करता, आत्मा तो स्वभावसे 'स्प्रष्टा' है, उसकी स्पर्श-शक्ति का लोप थोडे ही हो सकता है, आत्मा तो अविनाशी है । उस स्थान

यद्वै तन्न रसयते रसयन्वै तन्न रसयते नहि रसयितु रसयतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्रसयेत् । २५ ।
यद्वै तन्न वदति वदन्वै तन्न वदति न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्वदेत् । २६ ।
यद्वै तन्न शृणोति शृण्वन्वै तन्न शृणोति न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यच्छृणुयात् । २७ ।
यद्वै तन्न मनुते मन्वानो वै तन्न मनुते न हि मन्तुर्मतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यन्मन्वीत । २८ ।

में पहुंचकर वह इसलिये स्पर्श नहीं करता क्योंकि उसके अतिरिक्त वहां दूसरा-कुछ होता ही नहीं जिसे वह स्पर्श करे।२९।

सुषुप्त-स्थानमें उसे कोई ज्ञान नहीं होता, तो ज्ञान होतेहुए ही ज्ञान नहीं होता, आत्मा तो स्वभावसे 'विज्ञाता' है, उसके ज्ञानका लोप थोड़े ही हो सकता है, आत्मा तो अविनाशी है। उस स्थानमें पहुंचकर उसे इसलिये ज्ञान नहीं होता क्योंकि उसके अतिरिक्त वहां दूसरा-कुछ होता ही नहीं जिसे वह जाने।३०।

यदि उसके अतिरिक्त वहां दूसरी कोई वस्तु हो, या दूसरी वस्तुके होनेकी जरा-सी गुंजाइश भी हो, तभी तो कोई किसीको देखे, कोई किसीको सूंघे, कोई किसीको चखे, कोई किसीसे बात करे, कोई किसी-को सुने, कोई किसीको सोचे, कोई किसीको छुये, कोई किसीको जाने-पहचाने।३१। (जैसे 'स्वयं-ज्योति' सब विषयोंके [illegible] शित करता है, विषय न हो तो स्वयं प्रकाशमान [illegible] 'स्वयं-ज्योति' आत्मा जाग्रत् तथा स्वप्न [illegible] प्रकाशित करता है, सुषुप्तिमें 'स्वयं-ज्योति' [illegible]।)

जैसे समुद्रमें सब नदियां आकर एक हो जाती हैं वैसे आत्मामें इन्द्रियां आकर एक हो जाती हैं, नदियोंकी पृथक्-पृथक् [illegible] नहीं है। नहीं, आत्माकी एक चेतन-शक्ति ही नाना-रूप धारण कर [illegible] जैसे समुद्रके बीचमें पहुंचकर [illegible] जाता है, और कुछ नहीं रहता, [illegible] ही-आत्मा रह जाता है, और कुछ नहीं रहता।

'द्रष्टा' रहता है, 'अद्वैत'—उसके बिना दूसरा नहीं होता। याज्ञवल्क्यने कहा, हे सम्राट्! सुषुप्तिमें आत्माके जिस स्वरूपकी मैंने आपको झाकी दिखाई यह ब्रह्म-लोककी झाकी है, आत्माके यथार्थ स्वरूपकी यह हल्की-सी झलक है। जब वह अपने यथार्थ रूपको प्राप्त कर लेता है, तो वही इसकी परम-गति है, वही इसकी परम-सपद् है, यह इसका परम लोक है, यही इसका परम-आनन्द है। संसारके प्राणी जिस आनन्दका उपभोग करते है, वह ब्रह्म-ज्ञानीके परम-आनन्दकी छोटी-छोटी मात्राका ही उपभोग करते है—'एतस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' ।३२।

मनुष्योंमें जो अग-अंगमें ऋद्ध—हृष्ट पुष्ट है, समृद्ध है, भोग-सामग्रीसे युक्त है, दूसरोका अधिपति है, सब मानुष-भोगोसे सम्पन्न है, उस व्यक्तिको जो आनन्द प्राप्त होता है, वह मनुष्योका परम-आनन्द कहाता है। यह 'मानुष-आनन्द' आनन्दकी एक इकाई (Unit of Happiness) है। इसप्रकारके सौ 'मानुष-आनन्दों'-से लोक-लोकान्तरोको जीतनेवाले 'पितरों' (Elders)का एक आनन्द बनता है। लोक-लोकान्तरोको जीतनेवाले विश्व-विजयी पितरोंके सौ आनन्दोसे 'गन्धर्वों'का एक आनन्द बनता है। सौ गन्धर्व-लोकोंके आनन्दसे 'कर्म-देवो' का, जो कर्मसे देवत्व प्राप्त करते है, उनका एक आनन्द बनता है। सौ कर्म-देवोके आनन्दसे 'जन्मदेवों'-का, जो जन्मसे ही दिव्य-गुण लेकर पैदा होते है, उनका एक आनन्द बनता ह। श्रोत्रिय, पाप-रहित तथा कामनासे न बिंधेहुए व्यक्तिको भी ऐसा ही आनन्द प्राप्त होता है। सौ 'जन्म-देवों'के आनन्दसे 'प्रजापति-लोक'का एक आनन्द बनता है। श्रोत्रिय, पाप-रहित तथा कामनासे न बिंधेहुए व्यक्तिको भी ऐसा ही आनन्द प्राप्त होता है। सौ प्रजापति-

---

सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोक सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति। ३२।

लोकोंके आनन्दसे एक 'ब्रह्म-लोक'का आनन्द बनता है। श्रोत्रिय, पाप-रहित तथा कामनासे न बिंधेहुए व्यक्तिको भी ऐसा ही आनन्द प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्यने कहा, हे सम्राट्! ब्रह्म-ज्ञानीके जिस परम-आनन्दका मैंने वर्णन किया उसका यह स्वरूप है, यह ब्रह्म-लोकका आनन्द है (तैत्तिरीय, ब्रह्मानन्द वल्ली, ८ अनुवाक्)।

यह उपदेश सुनकर विदेहराज जनकने कहा, मैं आपके इस उपदेश-के लिये एक सहस्र गायें भेंट करता हूं, आप मुझे इसके आगे भी मोक्षका ही उपदेश दें। विदेह-राजकी इस उत्कट ज्ञान-पिपासुको देखकर याज्ञवल्क्य डर गये। उन्होंने मन-ही-मन कहा मेधावी राजाने तो मुझे सब रहस्य खोल देनेकेलिये मजबूर कर दिया।३३।

याज्ञवल्क्यने फिर कहना शुरू किया, हे राजन्! 'स्वप्न-स्थान' में रमणकर, भ्रमणकर पुण्य-पापको देखकर आत्मा जिस मार्गसे गया था, उसी मार्गसे 'जाग्रत-स्थान'में लौट आता है।३४।

सो, जैसे लदीहुई गाड़ी ठिकाने पहुंचकर [illegible] [illegible] [illegible] है इसीप्रकार जाग्रत-रूपी यात्रासे [illegible] [illegible] मार्ग [illegible]

प्राज्ञ-आत्मासे लदीहुई यह शरीरकी गाडी अपनी सवारीको उतार देती है—आत्मा तो इस शरीर-रूपी गाडीकी सवारी कर रहा है। ।३५।

जब यह शरीर कृशताकी तरफ चल देता है, बुढापेसे या बीमारीसे कृशतामें जा डूबता है, तब जैसे आम, गूलर या पीपलका फल अपनी टहनीसे टपक पडता है, वैसे यह पुरुष अपने भिन्न-भिन्न अंगोंसे छूट जाता है, और जिस मार्गसे आया था, उसी मार्गको, फिर अपनी योनिके प्रति प्राण धारण करनेकेलिये चल देता है। जैसे इस जीवनमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें आता-जाता था, वैसे इस शरीरको छोडकर नवीन योनियोंके आवागमनके मार्गपर चल देता है ।३६।

जैसे राजा आ रहा हो तो पुलिस, मैजिस्ट्रेट, घोडोंवाले, गावोंके मुखिया, अन्न-पान और डेरे लेकर उसकी राह देखते हैं—यह आ रहा है, यह आया—कहकर उसकी प्रतीक्षा करते हैं, वैसे ही ब्रह्म-ज्ञानके रहस्यको जाननेवालेके स्वागतमें सब प्राणी और सब महाभूत टकटकी लगाये खडे रहते हैं, कहते हैं, यह ब्रह्म आया—यह ब्रह्म अर्थात् महान् व्यक्ति—महात्मा आया ।३७।

और, जब राजा जाने लगता है तब जैसे पुलिस, मैजिस्ट्रेट, नम्बर-दार जमा हो जाते हैं, इसीप्रकार अन्तकालमें जब यह ऊंचा सास लेने लगता है तब सब इन्द्रियां आकर इकट्ठी हो जाती हैं, और यह अपनी महा-यात्रा पर चल देता है ।३८।

तद्यथाऽन सुसमाहितमुत्सर्जद्यायादेवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन्याति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति । ३५ ।
स यत्रायमणिमानं न्येति जरया वोपतपता वाणिमानं निगच्छति तद्यथाम्रं वोदुम्बरं वा पिप्पलं वा बन्धनात्प्रमुच्यत एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः सप्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैव । ३६ ।
तद्यथा राजानमायान्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽन्नैः पानैरा-वसथैः प्रतिकल्पन्तेऽयमायात्ययमागच्छतीत्येवं हैवंविदं सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इदं ब्रह्मायातीदमागच्छतीति । ३७ ।
तद्यथा राजानं प्रयियासन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽभिसमायन्त्येवमेवे-ममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति । ३८ ।

चतुर्थ अध्याय—[चौथा ब्राह्मण]

(पुनर्जन्मका वर्णन)

जब शरीर दुर्बल हो जाता है, मन बेखबरीकी हालतमें आ जाता है, तब इन्द्रियां इकट्ठी होकर आत्माके पास पहुंचती हैं। वह इनमें-से तेजकी मात्राको जिसके कारण ये काम करती थीं खींच लेता है, और उस तेजको, जो वास्तवमें इसीका था, अपने साथ लेकर हृदय-प्रदेशमें उतर आता है। चक्षुमें बैठा हुआ पुरुष जब अन्दरसे बाहर जाता है तब देखता-सुनता है, परन्तु जब बाहरसे अन्दरको लौट जाता है तब देखता-सुनता नहीं [illegible] इसे ज्ञान नहीं रहता तब वह अल्पज्ञ हो जाता है ।१।

जब अपनी शक्तियोंको बाहर बखेरनेके बजाय वह उन्हें भीतर खींच लेता है, समेट लेता है, तब वह मानो [illegible] पहुंच जाता है। मृत्युके समय जब वह अपनी शक्तियोंको समेट कर एकीभूत हो जाता है, तब लोग कहते हैं, यह देख नहीं रहा, [illegible] हो जाता है, लोग कहते हैं, वह सूंघ नहीं रहा, [illegible], लोग कहते हैं, वह चख नहीं रहा, वह एकीभूत हो [illegible], वह बोल नहीं रहा, वह एकीभूत हो जाता है, लोग [illegible] वह [illegible] नहीं रहा, वह एकीभूत हो जाता है, लोग कहते हैं वह सोच नहीं रहा, वह एकीभूत हो जाता है, लोग कहते हैं [illegible] नहीं रहा, वह एकीभूत हो जाता है, लोग कहते हैं, वह जान नहीं रहा। उस समय वह हृदयके अग्र-प्रदेशसे, जहांसे 'हिता'-नामक नाड़ियां [illegible] जाती हैं, आ जाता है। हृदयका अग्र-प्रदेश आत्माकी ज्योतिसे प्रकाशित हो उठता है ([illegible])। इस ज्योतिके साथ आत्मा [illegible] प्रदेशसे निष्क्रमण कर देता है। [illegible]

पीछे-पीछे निकलते है, प्राणके निकलनेके साथ-साथ 'इन्द्रिया' पीछे-पीछे निकलती है। जीव मरते समय 'सविज्ञान' हो जाता है, अर्थात् जीवनका सार। खेल इसके सामने आ जाता है। यह 'विज्ञान' उसके साथ-साथ जाता है। 'विद्या', 'कर्म' और 'पूर्व-प्रज्ञा'--ये तीनो भी इसके साथ जाते है।२।

जैसे तृण-जलायुका—सुडी—तिनकेके अन्तपर पहुचकर, दूसरे तिनकेको सहारेके तौरपर पकड़कर, अपने-आपको खीच लेती है, इसी-प्रकार यह आत्मा इस शरीर-रूपी तिनकेको परे फेंककर, अविद्या को दूर कर, दूसरे शरीर-रूपी तिनकेका सहारा लेकर अपने-आपको खींच लेता है।३।

जैसे सुनार सोनेकी एक मात्रा लेकर उसीसे नवतर और कल्याण-तर रूप बना देता है, इसीप्रकार यह आत्मा, इस शरीरको परे फेंक-कर, अविद्याको दूरकर, दूसरा नवतर और कल्याणतर रूप बना देता है--पितर, गन्धर्व, देव, प्रजापति, ब्रह्म व। अन्य भूतोमेंसे किसी रूपको अपनी 'विद्या'-'कर्म'-'पूर्व-प्रज्ञा'के अनुसार धारण करता है।४।

यह 'आत्म-ब्रह्म' जिस-जिसके साथ अपने सञ्चयको जोडता है

एकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकीभवति न जिघ्रतीत्याहुरेकीभवति न रसयत इत्याहुरेकीभवति न वदतीत्याहुरेकीभवति न शृणोतीत्याहुरेकीभवति न मनुत इत्याहुरेकीभवति न स्पृशतीत्याहुरेकीभवति न विजानातीत्या-हुस्तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रा-मति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति स विज्ञानो भवति स विज्ञानमेवान्ववक्रामति। तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च।२।

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रम-माक्रम्यात्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽ-विद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति।३।

तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वा-ऽन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम्।४।

उसी-उसीका रूप हो जाता है। 'विज्ञान', अर्थात् बुद्धिके साथ जुड़ता है, तो विज्ञानमय हो जाता है, 'मन'के साथ जुड़ता है, तो मनोमय हो जाता है, इसीप्रकार 'प्राण', 'चक्षु', 'श्रोत्र'के साथ जुड़नेसे यह प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय हो जाता है। भूतोंके साथ अपनेको जोड़ता है, तो पृथ्वीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय हो जाता है। जिसके साथ अपनेको जोड़ता है उसीका रूप हो जाता है, उनसे अपनेको हटा लेता है, तो उस रूपको छोड़ देता है। तेजके साथ अपनेको एक कर दे, तो तेजोमय, उससे अपनेको हटा ले, तो अतेजोमय, कामनाकी डोरीमें खिचा रहे, तो काममय, उससे अपनेको हटा ले, तो अकाममय, क्रोधमें डूब जाय, तो क्रोधमय, उससे अलग हो जाय, तो अक्रोधमय, धर्ममें लीन हो जाय, तो धर्ममय उससे दूर हट जाय, तो अधर्ममय—आत्मा तो सर्वमय है। आत्मा 'इदमय'-'अदोमय', 'यह रूप'-'वह रूप'—क्यों है? क्योंकि यह जैसा कर्म और आचरण करता है वैसा ही हो जाता है, अच्छे कर्म करनेसे अच्छा और बुरे कर्म करनेसे बुरा, पुण्य-कर्मोंसे पुण्यात्मा, पाप-कर्मोंसे पापात्मा। यह सब देखकर यह कहना अधिक स्पष्ट है कि आत्मा 'काममय' है—'काममय एवायं पुरुष', क्योंकि जैसी 'कामना' (Desire) होती है, वैसा ही 'क्रतु', अर्थात् 'प्रयत्न' (Effort) होता है, जैसा क्रतु होता है, वैसा ही 'कर्म' (Action) होता है और जैसा कर्म होता है, वैसा ही 'फल' (Result) होता है।५।

इसी विषयमें किसीने कहा भी है—जहां इसका लिङ्ग-शरीर और मन निषक्त हो जाता है जिस कामनासे इसका शरीर और

पीछे-पीछे निकलते हैं, प्राणके निकलनेके साथ-साथ 'इन्द्रियां' पीछे-पीछे निकलती हैं। जीव मरते समय 'सविज्ञान' हो जाता है, अर्थात् जीवनका सारा खेल इसके सामने आ जाता है। यह 'विज्ञान' उसके साथ-साथ जाता है। 'विद्या', 'कर्म' और 'पूर्व-प्रज्ञा'—ये तीनों भी इसके साथ जाते हैं।२।

जैसे तृण-जलायुका—सुंडी—तिनकेके अन्तपर पहुंचकर, दूसरे तिनकेको सहारेके तौरपर पकड़कर, अपने-आपको खींच लेती है, इसी-प्रकार यह आत्मा इस शरीर-रूपी तिनकेको परे फेंककर, अविद्याको दूर कर, दूसरे शरीर-रूपी तिनकेका सहारा लेकर अपने-आपको खींच लेता है।३।

जैसे सुनार सोनेकी एक मात्रा लेकर उसीसे नवतर और कल्याण-तर रूप बना देता है, इसीप्रकार यह आत्मा, इस शरीरको परे फेंक-कर, अविद्याको दूरकर, दूसरा नवतर और कल्याणतर रूप बना देता है—पितर, गन्धर्व, देव, प्रजापति, ब्रह्म वा अन्य भूतोंमेंसे किसी रूपको अपनी 'विद्या'-'कर्म'-'पूर्व-प्रज्ञा'के अनुसार धारण करता है।४।

यह 'आत्म-ब्रह्म' जिस-जिसके साथ अपने सम्बन्धको जोड़ता है

एकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकीभवति न जिघ्रतीत्याहुरेकीभवति न रसयत इत्याहुरेकीभवति न वदतीत्याहुरेकीभवति न शृणोतीत्याहुरेकीभवति न मनुत इत्याहुरेकीभवति न स्पृशतीत्याहुरेकीभवति न विजानातीत्या-हुस्तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रा-मति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति स विज्ञानो भवति स विज्ञानमेवान्ववक्रामति। तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च।२।

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रम-माक्रम्यात्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽ-विद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति।३।

तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वा-ऽन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम्।४।

उसी-उसीका रूप हो जाता है। 'विज्ञान', अर्थात् बुद्धिके साथ जुडता है, तो विज्ञानमय हो जाता है, 'मन'के साथ जुडता है, तो मनोमय हो जाता है, इसीप्रकार 'प्राण', 'चक्षु', 'श्रोत्र'के साथ जुडनेसे यह प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय हो जाता है। भूतोंके साथ अपनेको जोडता है, तो पृथ्वीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय हो जाता है। जिसके साथ अपनेको जोडता है, उसीका रूप हो जाता है, उनसे अपनेको हटा लेता है, तो उस रूपको छोड देता है। तेजके साथ अपनेको एक कर दे, तो तेजोमय, उससे अपनेको हटा ले, तो अतेजोमय, कामनाकी डोरीमें खिचा रहे, तो काममय, उससे अपनेको छुडा ले, तो अकाममय, क्रोधमें डूब जाय, तो क्रोधमय, उससे अलग हो जाय, तो अक्रोधमय, धर्ममें लीन हो जाय, तो धर्ममय, उससे दूर हट जाय, तो अधर्ममय—आत्मा तो सर्वमय है। आत्मा 'इदमय'-'अदोमय', 'यह रूप'-'वह रूप'—क्यों है ? क्योंकि यह जैसा कर्म और आचरण करता है वैसा ही हो जाता है, अच्छे कर्म करनेसे अच्छा और बुरे कर्म करनेसे बुरा, पुण्य-कर्मोंसे पुण्यात्मा, पाप-कर्मोंसे पापात्मा। यह सब देखकर यह कहना अधिक उपयुक्त है कि आत्मा 'काममय' है— 'काममय एवाय पुरुष', क्योंकि जैसी 'कामना' (Desire) होती है, वैसा ही 'क्रतु', अर्थात् 'प्रयत्न' (Effort) होता है, जैसा 'क्रतु' होता है, वैसा ही 'कर्म' (Action) होता है, और जैसा 'कर्म' होता है, वैसा ही 'फल' (Result) होता है ।५।

इसी विषयमें किसीने कहा भी है—जहां इसका लिंग-शरीर और मन निषक्त हो जाता है, जिस कामनासे इसका शरीर और

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमय प्राणमयश्चक्षुर्मय श्रोत्रमय पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमय काममयोऽकाममय क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममय सर्वमयस्तद्यदेतदिदमयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्य पुण्येन कर्मणा भवति पाप पापेन। अथो खल्वाहु काममय एवाय पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते । ५ ।

मन बंध जाता है, फिर मानो बंधाहुआ कर्मो-सहित यह उधर ही खिंचा चला जाता है। जब उस 'कर्म'को पूरा कर लेता है, तब किसी दूसरे काम करनेके लिये छुट्टी पाता है। वह 'कर्म' मानो इसकेलिये एक 'लोक' हो जाता है। उस 'कर्म-लोक'का जबतक आवेग पूरा नहीं कर लेता, तबतक दूसरे किसी 'कर्म-लोक'की तरफ मुह उठाकर नहीं देखता, एक कामनाको पूरा करके ही दूसरी कामनाकी तरफ फिरता है। आत्माको 'काम-मय' अथवा 'कामयमान' कहनेका यही अभि-प्राय है। 'अकाम-मय' वा 'अकामयमान' कहनेका क्या अभिप्राय है? जो अकाम है, निष्काम है, आप्तकाम है, आत्मकाम है——जिसमें कोई कामनाए नहीं रही, जो थीं वे निकल गईं, या जिसने सब कामनाए पा ली, आत्मा भी जिसने पा लिया, वह 'अकामयमान' है, उसके प्राण नहीं निकलते, अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाता है, वह मानो ब्रह्म ही हुआ ब्रह्मको जा पहुंचता है ।६।

इस विषयमें और भी किसीने कहा है——जो कामनाए इसके हृदय में बैठी हुई है, जब वे सब छूट जाती है, तब यह मरणशील मनुष्य अमृत हो जाता है, और इसी लोकमें ब्रह्मका रस ले लेता है। जैसे सांपकी केंचुली, मरीहुई और फेंकीहुई, मिट्टीके ढेरपर पड़ी रहती है, इसीप्रकार ब्रह्म-ज्ञानीका शरीर बना रहता है, आत्मा तो अशरीर है, अमृत है, प्राण है, ब्रह्म ही है, तेज ही है। विदेह-राज जनक यह उपदेश सुनकर कहने लगे, हे याज्ञवल्क्य! आपके इस उपदेशकेलिये मैं एक सहस्र गायें आपको भेंट करता हूं ।७।

तदेष श्लोको भवति। तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य। प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मण इति नु कामयमानोऽथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति। ६। तदेष श्लोको भवति। यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति। तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेतेऽथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव सोऽहं भगवते सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः। ७।

इसी विषयपर और भी किसीने कहा है—उसे पानेका मार्ग अणु है, सूक्ष्म है, परन्तु सूक्ष्म होताहुआ भी वह सब जगह फैल रहा है। मैंने उस मार्गको छू लिया है, और टटोल-टटोलकर ही मैं उसतक पहुंच गया हूं, मैंने उसे पा लिया है। धीर और ब्रह्म-ज्ञानी उसी मार्गसे स्वर्ग-लोकको पहुंचते हैं, और मुक्त होकर उससे भी ऊपर उठ जाते हैं।८।

उस मार्गमें भिन्न-भिन्न ज्योतियोंके दर्शन होते हैं—शुक्ल, नील, पिंगल, हरित और लोहित। यह ब्रह्मको पानेका ढूंढाहुआ मार्ग है, ब्रह्म-ज्ञानी, पुण्य-कर्मा और तेजस्वी व्यक्ति इसी मार्गसे ब्रह्म-लोकको पहुंचता है।९।

जो 'अविद्या' अर्थात् 'भौतिकवाद' (Materialism)की उपासना करते हैं, वे गहन अन्धकारमें जा पहुंचते हैं, और जो 'विद्या' अर्थात् कोरे 'अध्यात्मवाद' (Spiritualism) में रत रहने लगते हैं भौतिक जगतकी पर्वा ही नहीं करते, वे उससे भी गहरे अन्धकारमें जा पहुंचते हैं (ईश १-९)।१०।

जो अविद्वान् और अबुध हैं—अविद्या-विद्या दोनोंसे खाली हैं—जिन्हें भौतिक-वाद और अध्यात्म-वाद दोनोंने स्पर्श नहीं किया—वे तो मरकर आनन्दसे शून्य और गाढ अन्धकारसे आवृत लोकोंमें जा पहुंचते हैं (ईश १-३)।११।

अगर कोई आत्माको पहचान ले—'अयमस्मि'—यह समझ जाय,

तदेते श्लोका भवन्ति। अणुः पन्था विततः पुराणो मां स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव। तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः ।८।
तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिंगलं हरितं लोहितं च।
एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च ।९।
अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ।१०।
अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वांसोऽबुधो जनाः ।११।

तो फिर किस इच्छासे, किस कामनासे शरीरमे शरीरके पीछे-पीछे चलकर अपने ऊपर यह जन्मका बुखार चढाये ? ।१२।

इस शरीर-रूपी गहन जगलमें आत्मा छिपाहुआ है या नहीं—जिसका यह सदेह नष्ट हो जाता है, जिसका आत्मा प्रतिबुद्ध हो जाता है, जो उसे पा लेता है, वह 'विश्वकृत' हो जाता है, सब-कुछ कर सकता है, 'स हि सर्वस्य कर्ता', वही तो इस सबके करनेहारा है, लोक सब उसीके हो जाते है, अर्थात् लोक-लोकान्तर उसके सामने सिर झुका देते है, वह मानो स्वयं ही एक लोक हो जाता है, अपने-आप एक दुनियां हो जाता है ।१३।

अगर हमने इस जन्ममें रहतेहुए ही उसे जान लिया, तब तो ठीक है, 'न चेदवेदि. महती विनष्टि'—न जाना, तो महाविनाश है। जो उसे जान जाते है वे अमृत हो जाते है, और दूसरे लोग दु ख पाया करते है (केन २-५, कठ ६-४) ।१४।

जो भूत और भव्यके स्वामी आत्म-देवको निकटसे निहार लेते है, वे फिर उसकी निन्दा नहीं करते ।१५।

जिस आत्माके पीछे-पीछे दिन-रातको लेकर सवत्सर फिरा करता है, देव लोग उसीको ज्योतियोकी ज्योति, आयु और अमृत कहते है, और इसी रूपमें उसकी उपासना करते है ।१६।

आत्मान चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुष ।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसज्वरेत् । १२ ।
यस्यानुवित्त प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन्सदेह्ये गहने प्रविष्ट ।
स विश्वकृत्स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोक स उ लोक एव । १३ ।
इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वय न चेदवेदीर्महती विनष्टि ।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दु खमेवापियन्ति । १४ ।
यदैतमनुपश्यत्यात्मान देवमञ्जसा ।
ईशान भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । १५ ।
यस्मादर्वाक्सवत्सरोऽहोभि परिवर्तते ।
तद्देवा ज्योतिषा ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् । १६ ।

जिस आत्मामें पंच रहते हैं, जिसमें पंचजन रहते हैं, जिसमें आकाश रहता है—जिसके आश्रयमें सब-कुछ रहता है, मैं उसीको 'आत्मा' मानता हूं, विद्वान् मानता हूं, ब्रह्म मानता हूं, अमृतोंका अमृत मानता हूं ।१७।

वह प्राणोंका प्राण है, चक्षुओंका चक्षु है, श्रोत्रोंका श्रोत्र है, मनोंका मन है। जो ऐसा जानते हैं, वे ब्रह्मके यथार्थ, पुरातन, उग्र रूपको जान जाते हैं ।१८।

ये सब मनसे ही देखनेकी बातें हैं, सृष्टिमें नानात्व कहीं नहीं है—'नेह नानास्ति किञ्चन'—जो सृष्टिमें एकताको न देखकर नानात्वको देखता है, वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है। (कठ ४-११) ।१९।

इस अप्रमेय और ध्रुव आत्म-तत्त्वको नानात्वमें नहीं, एकत्वमें ही देखना चाहिये, यह आत्मा महान् ध्रुव है, मल-रहित आकाशसे भी बढ़कर ध्रुव है ।२०।

धीर ब्राह्मणको उचित है कि इसी आत्म-तत्त्वका बोध करके अपनेको प्रज्ञा-युक्त करे, बहुत शब्द-जालोंमें न उलझे, क्योंकि आत्म-बोधके अतिरिक्त सब-कुछ 'वाचो विग्लापनं हि तत्'—वाणीका थकानामात्र है ।२१।

यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥ १७ ॥
प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो
ये मनो विदुः । ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम् ॥ १८ ॥
मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १९ ॥
एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम् ।
विरजः पर आकाशादज आत्मा महान्ध्रुवः ॥ २० ॥
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तदिति ॥ २१ ॥

यह महान् तथा अजन्मा आत्मा 'विज्ञानमय' (Consciousness) है, प्राणोंमें रहता है, और हृदयके भीतर जो आकाश है उसमें विश्राम करता है। यह सबको वशमें करनेवाला है, सबका ईश्वर है, सबका अधिपति है। वह साधु-कर्मसे बड़ा नही होता, असाधु-कर्मसे छोटा नहीं होता, वह सर्वेश्वर है, भूताधिपति है, भूतपाल है—वही तो सब लोकोको आपसमें मिलानेवाला पुल है, आत्मा ही तो कभी यहा जन्म लेकर, कभी वहा जन्म लेकर लोकोको मिलाये रखता है, नही तो भिन्न-भिन्न लोक भिन्न-भिन्न ही न बने रहें ? 'ब्राह्मण' लोग उसी आत्माको वेदके अनुवचनसे, यज्ञ, दान, तप, उपवाससे जाननेका प्रयत्न करते है। उसीको जानकर 'मुनि' होता है। उसी आत्माके लोककी चाहना करतेहुए 'परिव्राजक' लोग घर-बार छोड देते हैं। उसीको पानेकी अभिलाषासे प्राचीन-कालके विद्वान् सन्तानकी कामना नहीं करते थे, और कहते थे, हमने आत्माको पा लिया, आत्म-लोकको पा लिया, हम सन्तान पाकर क्या करेंगे ? ऐसे ही लोग 'पुत्रैषणा'-'वित्तैषणा'-'लोकैषणा'से ऊपर उठकर भिक्षा-वृत्तिसे जीवन-यापन करते हैं। पुत्रैषणा ही वित्तैषणा है, वित्तैषणा ही लोकैषणा है। पुत्रैषणा-वित्तैषणा और वित्तैषणा-लोकैषणाका जोडा मूलत 'एषणा' (Libido, Urge) ही है। 'आत्मा' इन सबसे परे है, वह 'नेति'-'नेति'के रूपमें ही समझमें आता है, वह 'अग्राह्य' है—पकडमें नही आता, 'अशीर्य' है—क्षीण नहीं होता, 'असग' है—लिप्त नही होता, बन्धन-रहित है, व्यथा-रहित है, नाश-रहित है। मैंने इस कारण पाप-कर्म किया, या इस कारण कल्याण-कर्म किया—ये दोनो विचार उसका वार-पार नहीं पाते, वह इन दोनोको तर जाता है, उसने जो-कुछ किया है, जो कुछ नहीं किया—इन कृताकृतका भी उसपर कोई प्रभाव नहीं

पडता, क्योंकि मूलतः वह पाप-पुण्यसे अलग है, कृत-अकृत से अलग है, नेति-रूप है, असंग है, अग्राह्य है।२२।

यही बात ऋचाओंमें कही गई है—आत्मा नित्य है, ब्रह्म-ज्ञानीकी महिमा कर्मसे न बढती है, न घटती है, मनुष्यको आत्माकी ही खोज करनी चाहिये, इसे जानकर वह पाप-कर्ममें लिप्त नही होता। इसलिये 'आत्म-वित्' शान्त, दान्त, विरक्त और सहनशील होकर पिंडके आत्मामें ही ब्रह्माण्डके आत्माके दर्शन कर लेता है, सबको आत्म-रूप देखता है, इसे पाप नहीं तर सकता, यह सब पापोंको तर जाता है, इसे पाप नही तपाता, यह सब पापोंको तपा देता है। ब्रह्म-ज्ञानी पाप-रहित, मल-रहित, संशय-रहित हो जाता है। याज्ञवल्क्यने कहा, हे सम्राट्! आत्मामें परमात्माके दर्शन कर लेना ही ब्रह्म-लोकको पा लेना है, यह आत्म-लोक ही ब्रह्म-लोक है। मैंने आपको ब्रह्म-लोकमें पहुँचा दिया। यह सुनकर विदेह-राज जनकने कहा, हे याज्ञवल्क्य! मैं आपके इस उपदेशकेलिये आपको संपूर्ण विदेह-राज्य भेंट

स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय
आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न
साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष
भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय
तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशके-
नैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः
प्रव्रजन्ति। एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं
प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति ते ह स्म पुत्रैष-
णायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं
चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैष-
णोभे ह्येते एषणे एव भवतः। स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो
न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न
व्यथते न रिष्यत्येतमु हैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यतः
कल्याणमकरवमित्युभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः।२२।

करता हूं, और मैं अपनेको भी आपकी सेवाकेलिये प्रस्तुत करता हूं ।२३।

यह आत्मा महान् है, अजन्मा है, भक्षण कर रहा है परन्तु साथ ही अपनी विभूतिका दान कर रहा है । जो इस रहस्यको जानता है उसे सब प्रकारका लाभ होता है ।२४।

यह आत्मा महान् है, अजन्मा है, अजर है, अमर है, अमृत है, अभय है, ब्रह्म है, अभय हो जाना ही तो ब्रह्म-पद पाना है । जो इस रहस्यको जानता है वह अभय हो जाता है, ब्रह्म हो जाता है ।२५।

चतुर्थ अध्याय--[पाचवा तथा छठा ब्राह्मण]

याज्ञवल्क्यकी दो स्त्रिया थी—मैत्रेयी तथा कात्यायनी । उनमेंसे मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी, कात्यायनी 'स्त्री-प्रज्ञा' थी—इतनी ही बुद्धि रखती थी जितनी साधारण स्त्रियोकी होती है । याज्ञवल्क्यने जब जीवनका दूसरा मार्ग लेना चाहा ।१।

तदेतदृचाभ्युक्तम् । एप नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् । तस्यैव स्यात्पदवित्त विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति । तस्मादेवविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षु समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मान पश्यति सर्वमात्मान पश्यति नैन पाप्मा तरति सर्व पाप्मान तरति नैन पाप्मा तपति सर्व पाप्मान तपति विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवत्येप ब्रह्मलोक सम्राडेन प्रापितोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि मा चापि सह दास्यायेति । २३ ।
स वा एप महानज आत्माऽन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एव वेद । २४ ।
स वा एप महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभय वै ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एव वेद । २५ ।
अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि कात्यायन्यथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद्वृत्तमुपाकरिष्यन् । १ ।

तब मैत्रेयीको सम्बोधित करके कहा, हे मैत्रेयी ! मै इस स्थानसे प्रव्रज्या लेनेवाला हू,आ, तेरा इस कात्यायनीसे फैसला कराता जाऊ ।२।

इसके आगे ५म तथा ६ष्ठ ब्राह्मण वही है जो बृहदारण्यक २ अध्यायके ४ र्थ तथा ६ष्ठ ब्राह्मणमें पहले लिखा जाचुका है।

२ य अध्यायके ६ष्ठ ब्राह्मणमें जो गुरु-शिष्य-उपदेश-परपरा दी गई है, उसमें तथा इस ४र्थ अध्यायके ६ष्ठ ब्राह्मणमें दी गई परम्परामें कुछ भेद है, वह नीचे दिया जा रहा है। सस्कृतमें हमने यह भाग नहीं दिया।

३८ सख्यातक तो गुरु-शिष्य-परपराका वही क्रम है। उसके आगे, कौशिकायनिने ३९ साकायनको ज्ञान दिया, उसके आगे पर-परा यू चली—४० काषायण, ४१ सौकरायण, ४२. माध्यन्दिना-यन ४३ जावाल्लायन, ४४. उद्दालकायन, ४५. गार्ग्यायिण, ४६. पाराशर्यायिण, ४७ सैतव, ४८. गौतम, ४९ गार्ग्य, ५०. गार्ग्य, ५१ अग्निवेश्य। इसके बाद वही परंपरा है, जो बृहदारण्यक के २ य अध्यायके ६ष्ठ ब्राह्मणमें दी गई है। ६ष्ठ अध्यायके ५ म ब्राह्मणमें भी एक गुरु-शिष्य-परपरा दी गई है, जो इससे भिन्न है।

पचम अध्याय—[पहला ब्राह्मण]

('ख' का अर्थ)

वह ब्रह्म पूर्ण है, यह जगत् भी पूर्ण है, पूर्ण ब्रह्मसे ही यह पूर्ण जगत् उदित होता है, पूर्णसे ही पूर्णता लेकर जब यह जगत् बन चुकता है, तब भी वह ब्रह्म पूर्ण-का-पूर्ण बच रहता है। ब्रह्मको तीन नामोसे स्मरण किया जाता है—'ओ३म्'-'ख'-'ब्रह्म'। 'ओ३म्' और 'ब्रह्म' तो परमात्माके प्रसिद्ध नाम है, 'ख' भी उसका पुराना नाम है, परन्तु कौरव्यायणी-पुत्रका कथन है कि वायुवाले आकाशका नाम ही 'ख' है, कई ब्राह्मणोका कथन है कि वेदका नाम 'ख' है। कुछ भी हो, 'ख'से यह सब-कुछ जाना जाता है। 'ख'का अर्थ उसका 'पुरातन-नाम'

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य प्रव्रजिष्यन्वा अरेऽहमस्मा-त्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति। २।

करें, तो इसका अभिप्राय 'पुराण-पुरुष'से है, 'ख' का अर्थ 'आकाश' करें, तो इसका अभिप्राय आकाशकी भांति 'व्यापक-पर-ब्रह्म'से है, 'ख' का अर्थ 'वेद'करें, तो इसका अभिप्राय भी उसी ज्ञानके भडारसे है। हर हालतमें 'ख'का अर्थ 'ब्रह्म' ही है।१।

पचम अध्याय--[दूसरा ब्राह्मण]

('द' का अर्थ)

प्रजापति पिता थे, उनकी तीन प्रकारकी सन्तान थी, देव-मनुष्य-असुर। उन तीनोने अपने पिताके निकट आकर ब्रह्मचर्य-पूर्वक वास किया। निश्चित अवधि तक ब्रह्मचर्य-वास कर चुकनेपर 'देवों'ने प्रजापतिसे कहा, अब उपदेश दीजिये। प्रजापतिने देवोको 'द' अक्षरका उपदेश दिया, और पूछा, समझ गये ? देवोने कहा, हा, समझ गये, आपने हमें 'दाम्यत' अर्थात् इन्द्रियोका 'दमन' करो--यह उपदेश दिया। प्रजापतिने कहा, हा, तुम समझ गये।१।

अब प्रजापतिके पास 'मनुष्य' पहुचे। उन्होने कहा, अब हमें उपदेश दीजिये। उन्हें भी उसने 'द' अक्षरका ही उपदेश दिया, और पूछा, समझ गये ? मनुष्योने कहा, हा, समझ गये, आपने हमें 'दत्त' अर्थात् 'दान दो'---यह उपदेश दिया है। प्रजापतिने कहा, हा, तुम समझ गये।२।

ॐ पूर्णमद पूर्णमिद पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते। ॐ ख ब्रह्म ख पुराण वायुर खमिति ह स्माह कौरव्यायणीपुत्रो वेदोऽय ब्राह्मणा विदुर्वेदैनेन यद्वेदितव्यम्। १।
त्रया प्राजापत्या प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्य देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा३इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति। १।
अथ हैन मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति। २।

अब प्रजापतिके पास 'असुर' पहुचे । उन्होंने कहा, अब हमें भी उपदेश दीजिये । उन्हें भी उसने 'द' अक्षरका उपदेश दिया, और पूछा, समझ गये ? असुरोने कहा, हा, समझ गये, आपने हमें 'दयध्व' अर्थात् 'दया करो'—यह उपदेश दिया है । प्रजापतिने कहा, हा, तुम समझ गये ।

प्रजापतिने जो देव-मनुष्य-असुरोको उपदेश दिया, उसीका विद्युत् की कडकमें 'द-द-द' का उच्चारण करके मानो दैवी-वाणी अनुवाद कर रही है, मानो वह ससारमें कडक-कडक कर कह रही है—'दाम्यत-दत्त-दयध्वम्'—'इन्द्रियोका दमन करो, ससारकी वस्तुओका सग्रह न करतेहुए दान दो, और प्राणि-मात्रपर दया करो'। ससारकी सपूर्ण शिक्षा इन तीनमें समा जाती है, इसलिये इन तीनकी ही शिक्षा दे—दम, दान, दया—'त्रय शिक्षेत् दम दान दयामिति' ।३।

(देवोकी कमजोरी इन्द्रियोकी शिथिलतामे है, मनुष्योकी कमजोरी दान न देनेमें है, असुरोकी कमजोरी दया न करनेमे है—इसलिये अपने-अपने हृदयकी बात तीनो 'द' अक्षरसे समझ गये ।)

पचम अध्याय—[तीसरा ब्राह्मण]

(हृदयका अर्थ)

प्रजापतिकी तीन सन्तान—देव-मनुष्य-असुर—का अभी वर्णन किया। 'प्रजापति' क्या है ? 'हृदय' ही प्रजापति है, अपने हृदयकी ही देव-मनुष्य-असुर—ये तीन सन्तानें है । यह तीन अक्षरोका 'हृ-द-य' ही प्रजापति है, हृदय ही ब्रह्म है, हृदय ही यह सब-कुछ है । 'हृ'—यह एक अक्षर है, 'हृञ् हरणे' धातुसे बना है, इसका अर्थ

अथ हैनमसुरा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा३इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत्त्रय शिक्षेद्दम दान दयामिति । ३ ।

है, अभिहरण—लाना । जो इस रहस्यको समझ लेता है कि हृदय ही प्रजापति है, हृदय ही ब्रह्म है, हृदय ही सब-कुछ है, उसके सामने अपने और पराये उपहार अभिहरण कर ला-लाकर रखते हैं । 'द'—यह दूसरा अक्षर है । जो हृदयके प्रजापति, ब्रह्म और सब-कुछ होनेके रहस्यको समझ लेता है, उसे सब देते-ही-देते हैं । 'य'—यह तीसरा अक्षर है । 'इण् गतौ' धातुसे बना है, इसका अर्थ है—जाना । जो हृदय-सबंधी रहस्यको जान जाता है वह स्वर्ग-लोकको जाता है ।१।

(निरुक्तमे 'हृदय'की व्युत्पत्ति करतेहुए लिखा है कि हृदयको हृदय इसलिये कहते हैं क्योंकि यह तीन काम करता है—'हृ' से हरति, 'द'से ददाति, 'य'से याति—यह लेना है, देता है, और चलना है। हृदयद्वारा लेना-देना रुधिरका होता है। हृदय शरीरके अशुद्ध रुधिरको लेकर, फिर उसे फेफडोद्वारा शुद्धकर, शरीरको देता रहता है, और इसी उद्देश्यसे सदा गति करता रहता है । इस दृष्टि से 'हृदय'-शब्दके अर्थमे ही 'रुधिरकी गति' (Circulation of blood) का भाव आ जाता है। इसका पता योरप मे हार्वे (१५७८-१६५७) ने १७वी शताब्दीमे लगाया था, परन्तु उससे बहुत पहले भारतमें इसका, जैसा इस शब्दकी व्युत्पत्तिसे स्पष्ट है, ज्ञान था ।)

पचम अध्याय—[चौथा ब्राह्मण]

(सत्य-ब्रह्म)

यह जो 'हृदय' है, उसीमें आकर 'सत्य' बैठाहुआ है, यह 'सत्य' ही 'ब्रह्म' है, यह 'सत्य-ब्रह्म' महान् है, पूजनीय है, सबसे पहले प्रकट होता है । जो प्राणी-मात्रके हृदयमें निवास करनेवाले 'सत्य-ब्रह्म'को

एष प्रजापतिर्यद्हृदयमेतद्ब्रह्मैतत्सर्वं तदेतत्त्र्यक्षरं हृदयमिति हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद । १ ।

जानता है, वह इन लोकोंको जीत जाता है, जो इस महान्, पूजनीय, सबसे प्रथम प्रकट होनेवाले 'सत्य-ब्रह्म'को असत् मानता है, वह पराजित हो जाता है। सत्य ब्रह्म है, सत्य ही ब्रह्म है।१।

पचम अध्याय--[पाचवा ब्राह्मण]

(सत्यका अर्थ--भूर्भुव स्व का अर्थ)

सृष्टिके प्रारभमें 'आप्' ही थे, 'आप्', अर्थात् सर्वत्र व्याप्त होरही 'अव्यक्त-प्रकृति' (Eternal matter) ही थी। प्रकृति जब अव्यक्तसे व्यक्त (From Indefinite to Definite) अवस्थामें आने लगी, तब 'सत्य' (Eternal Laws) प्रकट हुआ। अव्यक्तमें भी 'सत्य' रहता है, परन्तु अव्यक्तमें अव्यक्त-रूपसे (Latent form) रहता है, व्यक्तमें व्यक्त-रूपसे (Patent form) प्रकट होता है। 'सत्य'के प्रकट होनेपर 'ब्रह्म' प्रकट हुआ। अर्थात्, जबतक 'सत्य'-रूप विश्वके नियम, अव्यक्त-जगत्को व्यक्त करनेके लिये क्रियाशील नहीं होते, तबतक ब्रह्म भी अव्यक्त, अप्रकट ही रहता है, सत्य-रूप नियम जब प्रकट होने लगते हैं, तब अप्रकट ब्रह्म मानो प्रकट हो जाता है। ब्रह्मके प्रकट होनेपर 'प्रजापति' प्रकट हुआ--वही आधार-भूत 'सत्य-शक्ति' जो 'ब्रह्म-रूप'में प्रकट हुई थी, अब 'प्रजापति'-रूपमें प्रकट हुई, अर्थात् विश्वका निर्माण तथा प्रजाओंका पालन-पोषण होने लगा। 'प्रजापति'के प्रकट होनेपर 'देव' प्रकट हुए, अर्थात् जब विश्वका निर्माण प्रारंभ हुआ, तब दिव्य-गुणोंको उत्पन्न किया गया, क्योंकि निर्माणकी पूर्णता दिव्य-गुणोंके प्रकट होनेमें ही है। इन दिव्य-गुणोंका प्रारंभ 'सत्य'से ही है, अत देव 'सत्य'की ही उपासना करते हैं--'सत्य'की ही शक्ति सब दिव्य-गुणोंको दिव्य-गुण बनाती है। 'सत्य'--इसमें तीन अक्षर हैं। 'स' पहला अक्षर है, 'त्' दूसरा

तद्वै तदेतदेव तदास सत्यमेव स यो हैत महद्यक्ष प्रथमज वेद सत्य ब्रह्मेति जयतीमाल्लोकान् जित इन्न्वसावसद्य एवमेत महद्यक्ष प्रथमज वेद सत्य ब्रह्मेति सत्य ह्येव ब्रह्म। १।

अक्षर है, 'य' तीसरा अक्षर है—इनमेंसे पहले अक्षर 'स' और तीसर अक्षर 'य' में स्वर है, अतः ये दोनों स-स्वर हैं, 'सत्य' है, अविनाशी है, इनके मध्यमें 'त्' है, इसमें स्वर नहीं है, अतः यह स्वर-हीन है, 'अनृत', है, विनाशी है। यह अनृत 'त्' मानो दोनों ओरसे 'स' और 'य' रूपी सत्यसे जकड़ाहुआ है—अर्थात्, यह अनृतरूपा प्रकृति सत्य-रूप ब्रह्म तथा जीवसे जकड़ी पड़ी है, और क्योंकि सत्यने इसे दोनोंतरफसे जकड़ रखा है, इसलिये यह अनृत होतीहुई भी सत्य-रूप ही हो रही है। जो इस रहस्यको जान जाता है उसे 'अनृत' नहीं मार सकता।१।

यह 'सत्य' ब्रह्माडके इस मंडलमें 'आदित्य-पुरुष'के रूपमें और पिंडके मंडलमें दायीं आंखमें बैठे 'दक्षिणाक्षि-पुरुष'के रूपमें विराज रहा है। 'आदित्य-पुरुष' तथा 'अक्षि-पुरुष' एक दूसरेमें प्रतिष्ठित हैं। आदित्य रश्मियोंसे इसमें, और यह प्राणोंसे उसमें प्रतिष्ठित है—दोनों में एक ही 'सत्य'की सत्ता है। ब्रह्मके सत्यके रूपमें दर्शन करनेवाला जब शरीरसे उत्क्रमण करने लगता है, तब वह ब्रह्माडके महामंडल को अपने शुद्ध रूपमें देख रहा होता है—फिर ये सूर्यकी किरणें उसकेलिये लौटकर नहीं आतीं, वह मुक्त हो जाता है।२।

'ब्रह्माड'के मंडलमें जो विराट् 'आदित्य-पुरुष' है, उसका 'भूः'- यह मानो सिर है, सिर एक होता है, और 'भूः' भी एक ही अक्षर है। उस विराट्-पुरुषके 'भुवः' मानो भुजाएं हैं, भुजा दो होती हैं, और

आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवाँस्ते देवाः सत्यमेवोपासते तदेतत्त्र्य-क्षरँ सत्यमिति स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरं प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतं तदेतदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतँ सत्यभूयमेव भवति नैवं विद्वाँसमनृतँ हिनस्ति। १।
तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तावेतावन्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ रश्मि-भिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन् स यदोत्क्रमिष्यन्भ-वति शुद्धमेवैतन्मण्डलं पश्यति नैनमेते रश्मयः प्रत्यायन्ति। २।

'भुव' मे भी दो ही अक्षर है। उसके 'स्व' मानो प्रतिष्ठा है, पैर है, पैर दो होते है, और 'सुव' में भी दो ही अक्षर है। जैसे पुरुषकी उपनिषद् होती है, उसका ज्ञान होता है, वैसे सूर्य-रूपमें प्रकट हो रहे विराट्-पुरुषकी उपनिषद् 'अह' है, दिनका प्रकाश है। जो ब्रह्माडके विराट् तथा सत्य-रूप पुरुषकी 'भूर्भुव स्व'—इन तीन व्याहृतियोमें कल्पनाकर उसकी उपासना करता है वह पापको मार भगाता है, और पाप भी उसे छोड भागता है।३।

'पिंड'के मडलमें जो 'दक्षिणाक्षि-पुरुष' है, उसका 'भू'—यह मानो सिर है, सिर एक होता है, और 'भू' भी एक ही अक्षर है। पिंड-पुरुषके 'भुव' मानो भुजाए है, भुजा दो होती है, और 'भुव' में भी दो ही अक्षर है। उसके 'स्व' मानो प्रतिष्ठा है, पैर है, पैर दो होते है, और 'सुव' में भी दो ही अक्षर है। जैसे पुरुषकी उपनिषद् होती है, उसका ज्ञान होता है, वैसे 'दक्षिणाक्षि'में प्रकट हो रहे पिडके पुरुषकी उपनिषद् 'अहम्' है, 'मै' के दीपकसे ही वह अपना प्रकाश करता है। जो पिंडके सत्य-रूप पुरुषकी 'भुर्भुव स्व'—इन तीन व्याहृतियोमें कल्पना कर उसकी उपासना करता है वह पापको मार भगाता है, और पाप भी उसे छोड भागता है।४।

पचम अध्याय—[छठा ब्राह्मण]

सत्यकी आभाको लिये वह विराट्-पुरुष मनोमय है। वही हृदयमें है। हृदय छोटा है, मानो ब्रीहि या यवके समान क्षुद्र है, परन्तु इस शुद्ध हृदयमें रहताहुआ भी वह विराट् मनोमय-पुरुष सबका स्वामी है,

---

य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकं शिर एकमेतदक्षर भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहरिति हन्ति पाप्मान जहाति च य एव वेद। ३।
योऽय दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकं शिर एकमेतदक्षर भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहमिति हन्ति पाप्मान जहाति च य एव वेद। ४।

सबका अधिपति है, यह जो-कुछ है उस सबपर वह शासन कर रहा है ।१।

पचम अध्याय—[सातवा ब्राह्मण]

(विद्युत्-ब्रह्मका अर्थ)

कई कहते है, 'विद्युत्' ब्रह्म है । 'विद्युत्' विदारण करती है, चीर डालती है, इसलिये 'विद्युत्' कहाती है । जो ब्रह्मको 'विद्युत्' कहता-हुआ इस रूपको जानता है, विद्युत्-रूप ब्रह्म उसके पापोका विदारण कर देता है, उन्हें चीर-फाड़ डालता है, इन अर्थोमें 'विद्युत्'को ब्रह्म मानना ठीक ही है ।१।

पचम अध्याय—[आठवा ब्राह्मण]

(वाक्-ब्रह्म)

वाणीको धेनु मानकर उसकी उपासना करे । वेद-वाणी-रूपी धेनु के चार स्तन है । 'स्वाहा'-'वषट्'-'हन्त'-'स्वधा' । मन्त्रोके साथ 'स्वाहा' तथा 'वषट्' उच्चारण करके देवोको हवि दी जाती है—मानो देवगण 'स्वाहाकार' और 'वषट्कार'-रूपी वाणीके स्तनोका दूध पीकर जीते है । मनुष्योको 'हन्त' और पितरोको 'स्वधा'से हवि दी जाती है, मानो ये वाणीके इन स्तनोसे दुग्ध-पान करते है । इस 'वाणी'-रूपी धेनुका वृषभ—इसका बैलकी तरह स्वामी 'प्राण' है, इनका बछड़ा 'मन' है । 'वाणी', 'प्राण', 'मन' मानो 'गाय', 'बैल' और 'बछड़ा' है—वाणीका स्वामी प्राण है, वाणीका ज्ञान-रूपी दूध मन-रूपी बछडेकी प्रेरणासे ही थनोमें उतरता है ।१।

मनोमयोऽय पुरुषो भा सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा
स एष सर्वस्येशान सर्वस्याधिपति सर्वमिद प्रशास्ति यदिद किच । १ ।
विद्युद्ब्रह्मेत्याहुर्विदानाद्विद्युद्विद्यत्येन पाप्मनो य
एव वेद विद्युद्ब्रह्मेति विद्युद्ध्येव ब्रह्म । १ ।
वाच धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वार स्तना स्वाहाकारो
वषट्कारो हन्तकार स्वधाकारस्तस्या द्वौ स्तनौ देवा
उपजीवन्ति स्वाहाकार च वषट्कार च हन्तकार मनुष्या
स्वधाकार पितरस्तस्या प्राण ऋषभो मनो वत्स । १ ।

पचम अध्याय—[नौवा ब्राह्मण]

(वैश्वानर क्या है ?)

इसी पुरुषके भीतर जो अग्नि है, जिससे खायाहुआ अन्न पचता है, यह 'वैश्वानर-अग्नि' है, कानोको बन्द करनेसे जो भीतरका घोष सुनाई देता है, इसीका घोष है, जब यह मरनेके आस-पास होता है, तब यह घोष नहीं सुन पडता ।१।

पचम अध्याय—[दसवा ब्राह्मण]

(मरणानन्तर ऊर्ध्व-गमन)

जब पुरुष इस लोकसे मरकर प्रस्थान करता है, तब पहले-पहल वह 'वायु-लोक'में जाता है । 'वायु-लोक'से ऊपर निकलनेका एक सूक्ष्म-मार्ग है—रथ-चक्रके सूक्ष्म छिद्रके समान । यह पुरुष 'वायु-लोक'को छोडकर इस छिद्रसे ऊपर चढ जाता है, और 'आदित्य-लोक' को पहुच जाता है । 'आदित्य-लोक'से ऊपर निकलनेका एक सूक्ष्म-मार्ग है—लम्बर बाजेके सूक्ष्म-छिद्रके समान । यह पुरुष 'आदित्य-लोक'को छोडकर इस छिद्रसे ऊपर चढ जाता है, और 'चन्द्र-लोक' को पहुंच जाता है । 'चन्द्र-लोक'से ऊपर निकलनेका एक सूक्ष्म-मार्ग है—दुन्दुभि बाजेके सूक्ष्म-छिद्रके समान । यह पुरुष 'चन्द्र-लोक' को छोडकर इस छिद्रसे ऊपर चढ जाता है और शोक-रहित, हिम-रहित लोकमें पहुच जाता है जहां यह अनन्त वर्षो तक रहता है ।१।

अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्त पुरुपे येनेदमन्न पच्यते यदिदमद्यते तस्यैप घोपो भवति यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन्भवति नैन घोप शृणोति । १ ।

यदा वै पुरुपोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य ख तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा लम्बरस्य ख तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभे ख तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स लोकमागच्छत्यशोकमहिम तस्मिन्वसति शाश्वती समा । १ ।

(ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषत्कार मरनेके बाद वायु-की-सी धुंधली-सी अवस्था, सूर्य-की-सी उग्र तेजकी अवस्था, चन्द्र-की-सी शान्त-तेजकी अवस्था, और पूर्ण आनन्दकी अवस्था—जीवकी इस प्रकारकी अवस्थाएं मानते थे, या कई लोग कहते हैं कि वे सचमुचके ऐसे लोक मानते थे जिनमेंसे आत्मा गुजरता है। ऐसा ही वर्णन मुंडक १-२, छान्दोग्य ४-१५, ५-१०-५, ८-६-५ में भी पाया जाता है।)

पंचम अध्याय—[ग्यारहवां ब्राह्मण]

(तपका स्वरूप)

व्याधि-ग्रस्त होकर घबरानेके स्थानमें यह समझना कि यह व्याधि भी एक तप है—परम-तप है। जो इस रहस्यको समझता है वह परम-लोकको जीत लेता है। व्याधिसे मर जानेकेबाद मुझे जलानेके-लिये जंगल ले जायेंगे—इस विचारसे भी न घबराना परम-तप है। जो इस रहस्यको समझता है वह परम-लोकको जीत लेता है। मरनेके बाद मेरे मृत-देहको अग्निमेंजला देंगे—इस विचारसे उद्विग्न न होना भी परम-तप है। जो इस रहस्यको जानता है वह परम-लोकको जीत लेता है।१।

पंचम अध्याय—[बारहवां ब्राह्मण]

(अन्न-ब्रह्म—प्राण-ब्रह्म)

कई लोग कहते हैं कि 'अन्न' ब्रह्म है, परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि प्राणके बिना अन्न सड जाता है, कई लोग कहते हैं कि 'प्राण' ब्रह्म है, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि बिना अन्नके प्राण सूख जाता है। सचाई तो यह है कि 'अन्न' तथा 'प्राण'—ये दोनो एक होकर अपना ध्येय पूरा करते हैं। कहते हैं कि 'अन्न' (Materialism) तथा

एतद्वै परमं तपो यद्व्याहितस्तप्यते परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यꣳ हरन्ति परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधति परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेद। १।

'प्राण' (Spiritualism) को मिलकर काम करना चाहिये--इस तत्त्वको समझ चुकनेपर प्रातृद नामक आचार्यने अपने पितासे कहा, 'अन्न' तथा 'प्राण' के, अर्थात आधिभौतिक-वाद तथा अध्यात्म-वादके समन्वय करनेवाले ब्रह्म-ज्ञानीकेलिये मैं क्या कर सकता हू ? उसका भला भी नही कर सकता, बुरा भी नहीं कर सकता—वह तो इतना ऊपर उठाहुआ है कि मैं उसका न कुछ बना सकता हू, न बिगाड़ सकता हू। यह सुनकर पिताने हाथ हिलाते हुए कहा, प्रातृद! नहीं, कौन है जो ससारमें इन दोनोकी एकता करके परम लक्ष्यकी तरफ पहुच जाय—'अन्न'वाला अन्नमें डूबा रहता है, 'प्राण'वाला प्राणमें डूबा रहता है। प्रातृदने अपने पितासे कहा, नहीं पिताजी, संसारमें 'वीर' पुरुष है, जो इन दोनोका समन्वय कर देते है। 'वीर' के 'वी' का अभिप्राय 'अन्न' है—अन्नमें ही तो सब प्राणी 'विष्ट' है, 'वीर'के 'र'का अभिप्राय 'प्राण' है—प्राणमें ही तो सब प्राणी 'रमण' करते है। जो इस रहस्यको जानता है, उसमें सब प्राणी प्रविष्ट हो जाते है, सब उसमें रमण करते है—वह सबका आश्रय-स्थान बन जाता है।१।

पंचम अध्याय—[तेरहवा ब्राह्मण]

(उक्थ, यजु, साम, क्षत्रका अर्थ)

कर्म-काडमें 'उक्थ'-'यजु'-'साम'-'क्षत्र' आदि शब्द आते है। उन

अन्न ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा पूयति वा अन्नमृते प्राणात्प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नादेते ह त्वेव देवते एकधाभूय भूत्वा परमता गच्छतस्तद्ध स्माह प्रातृद पितर किं स्विदेवैव विदुषे साधु कुर्या किमेवास्मा असाधु कुर्यामिति स ह स्माह पाणिना मा प्रातृद कस्त्वेनयोरेकधाभूय भूत्वा परमता गच्छतीति तस्मा उ हैतदुवाच वीत्यन्न वै व्यन्ने हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्टानि रमिति प्राणो वै र प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते सर्वाणि ह वा अस्मिन्भूतानि विशन्ति सर्वाणि भूतानि रमन्ते य एव वेद।१।

सबको ऋषि अध्यात्ममें घटातेहुए कहते हैं कि इनकी उपासना तभी सार्थक है जब उपासक 'प्राण'की उपासना करे। 'प्राण' ही 'उक्थ' है. प्राण ही 'यजु'-'साम'-'क्षत्र' है, अत इनकी नहीं, 'प्राण' की उपासना करे।

पहले 'उक्थ'के विषयमें कहते हैं। 'प्राण' ही 'उक्थ' है क्योंकि प्राण ही सबको उठाता है। प्राणके सहारे बीज भूमि फाडकर उठ आता है, प्राणके वेगसे ही जन्तु गर्भमे बाहर आता है। जो प्राणके इस रहस्यको जानता है उसका उक्थ-वेत्ता वीर-पुत्र होता है, और वह स्वयं उक्थ की सायुज्यता और सलोकताको जीत लेता है। 'सायुज्य'का अर्थ है, साथ जुड जाना, 'सलोक'का अर्थ है, उसी धरातलपर आ जाना। उक्थके साथ 'सायुज्य'का अर्थ है उसके साथ एक हो जाना; उक्थके साथ 'सलोक'का अर्थ है उसीके लोकमें, धरातलमें, स्तरमें जा पहुंचना।।१।

अब 'यजु' के विषयमें कहते हैं। 'प्राण' ही 'यजु' है, क्योंकि प्राण में ही सब जीव-जन्तु 'युक्त' है, जुडेहुए हैं। जो प्राणके इस रहस्यको जानता है, सब प्राण-धारी मानो उसकी श्रेष्ठताको बढानेकेलिये उसके साथ जुड जाते हैं, और वह स्वयं यजुकी सायुज्यता और सलोकताको जीत लेता है।२।

अब 'साम'के विषयमें कहते हैं। 'प्राण' ही 'साम' है, क्योंकि प्राण में ही सब जीव-जन्तु सिमटेहुए हैं। जो प्राणके रहस्यको जानता है, सब प्राण-धारी मानो उसकी श्रेष्ठता बढानेकेलिये आ सिमिटते हैं, और वह स्वयं सामकी सायुज्यता और सलोकताको जीत लेता है।३।

उक्थ प्राणो वा उक्थ प्राणो हीदँ सर्वमुत्थापयत्युद्धास्मादुक्थ-
विद्वीरस्तिष्ठत्युक्थस्य सायुज्यँ सलोकता जयति य एव वेद। १।
यजु प्राणो वै यजु प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते युज्यन्ते हास्मै
सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय यजुष सायुज्यँ सलोकता जयति य एव वेद। २।
साम प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि
सम्यञ्चि सम्यञ्चि हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय
कल्पन्ते साम्न सायुज्यँ सलोकता जयति य एव वेद। ३।

अब 'क्षत्र'के विषयमें कहते हैं। 'प्राण' ही 'क्षत्र' है, क्योंकि प्राण ही शरीरको क्षतिसे—नष्ट होनेसे—बचाता है। जो प्राणके इस रहस्यको जानता है, वह उस 'क्षत्र', अर्थात् बलको प्राप्त करता है, जो 'अ+त्र' है, अर्थात् जो किसी दूसरेसे त्राण नहीं चाहता, और वह स्वय क्षत्रकी सायुज्यता और सलोकताको जीत लेता है।४।

पचम अध्याय--[चौदहवा ब्राह्मण]

(गायत्रीका अर्थ)

'भूमि-अन्तरिक्ष-दिऔ'—ये आठ अक्षर हैं। गायत्रीके 'तत् स वि तु र्व रे णि यम्'—इस एक पदमें भी आठ ही अक्षर हैं। इसलिये गायत्रीके प्रथम पादके अक्षर मानो भूमि-अन्तरिक्ष-द्यौ—ये तीनो लोक हैं। इस पादका उच्चारण करताहुआ तीनो लोकोका ध्यान करे। जो गायत्रीके प्रथम पादको इसप्रकार जानता है वह तीनो लोकोंमें जितना प्राप्तव्य है उतना पा जाता है।१।

'ऋच यजूषि सामानि'—ये आठ अक्षर हैं। गायत्रीके 'भ र्गो दे व स्य धी म हि'—इस एक पदमें भी आठ ही अक्षर हैं। इसलिये गायत्रीके द्वितीय पादके अक्षर मानो ऋक्-यजु-साम—ये त्रयीविद्या हैं। इस पादका उच्चारण करताहुआ वेदकी त्रयी-विद्याका ध्यान करे। जो गायत्रीके द्वितीय पादको इसप्रकार जानता है वह त्रयीमें जितना प्राप्तव्य है उतना पा जाता है।२।

'प्राण अपान विआन'—ये आठ अक्षर हैं। गायत्रीके 'धि यो यो न प्र चो द या त्'—इस एक पदमें भी आठ ही अक्षर हैं।

क्षत्र प्राणो वै क्षत्र प्राणो हि वै क्षत्र त्रायते हैन प्राण क्षणितो
प्रक्षत्रमत्रमाप्नोति क्षत्रस्य सायुज्य सलोकता जयति य एव वेद । ४ ।
भूमिरन्तरिक्ष द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षर ह वा एक गायत्र्यै पदमेतदु
हैवास्या एतत्स यावदेष त्रिषु लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेव पद वेद । १ ।
ऋचो यजूषि सामानीत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षर ह वा एक गायत्र्यै पदमेतदु
हैवास्या एतत्स यावतीय त्रयी विद्या तावद्ध जयति योऽस्या एतदेव पद वेद । २ ।

इसलिये गायत्रीके तृतीय पादके अक्षर मानो प्राण-अपान-व्यान— ये तीनो प्राण है । इस पादका उच्चारण करताहुआ तीनो प्राणोंका ध्यान करे । जो गायत्रीके तृतीय पादको इसप्रकार जानता है वह जितना प्राणि-समुदाय में प्राप्तव्य है उतना पा जाता है ।

गायत्रीके तीन पदोकी व्याख्या हो गई । गायत्रीका एक 'तुरीय', दर्शत', 'परोरजा' पद भी है । 'तुरीय'का अर्थ है, 'चतुर्थ-पद', 'दर्शत' का अर्थ है, 'जो दीखता-सा' है, 'परोरजा'का अर्थ है, 'प्रकृतिसे भी जो परे' है । गायत्रीका यह प्रकृतिसे भी परे, दीखता-सा, चतुर्थ पाद वही है, जो विश्वमें तप रहा है—गायत्रीके उसी चतुर्थ पादके प्रतापसे यह निखिल-विश्व, एकके ऊपर दूसरा, मानो एक महान् तपस्यामें लीन है । जो गायत्रीके चतुर्थ पादको प्रकृतिसे भी परे हो रही, दीखती-सी, तुरीय-रूप प्रभुकी तपस्यामें देख लेता है, वह भी श्री और यशसे तप उठता है, चमक उठता है ।३।

गायत्रीकी प्रतिष्ठा अपने पहले तीन पदोमें नहीं, इसी 'तुरीय', 'दर्शत', 'परोरज'-पदमें है, और वह तुरीय-पद 'सत्य'में प्रतिष्ठित है । 'चक्षु' 'सत्य' है, 'चक्षु' ही 'सत्य' है, इसीलिये जब दो व्यक्ति विवाद करतेहुए आते है, एक कहता है मैंने देखा, दूसरा कहता है मैंने सुना, तो जो कहता है मैंने देखा, उसीकी बात हम मानते है । गायत्रीका 'दर्शत' नामका चतुर्थ पद मानो प्रभुके उस चतुर्थ 'दर्शत' पदका स्मरण करा रहा है जो विश्वमें तपस्या करताहुआ मानो आखोसे प्रत्यक्ष दीख रहा है । 'दर्शत' होनेसे यही उसका 'सत्य' पद है । 'सत्य' (Laws) 'बल' (Energy)में प्रतिष्ठित है—'सत्य'में ही तो 'बल' होता है,

---

प्राणोऽपानो व्यान इत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरँ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदिदं प्राणि तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेदाथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति यद्वै चतुर्थं तत्तुरीयं दर्शतं पदमिति ददृश इव ह्येष परोरजा इति सर्वमु ह्येवैष रज उपर्युपरि तपत्येवँ हैव श्रिया यशसा तपति योऽस्या एतदेवं पदं वेद । ३ ।

सत्य'में 'वल' नही होता। यह 'बल' क्या सिर्फ 'भौतिक-वल' Physical Energy—Material force) है ? नहीं, 'वल' Energy) तो 'प्राण' (Life) है—इसलिये 'सत्य' 'वल'में और ल' 'प्राण'में प्रतिष्ठित है, विना प्राण-शक्तिके वल नही होता, तभी ते है 'वल' 'सत्य'से वडा है। जिसप्रकार गायत्री आधिभौतिक-तमें, 'ब्रह्माड'में, उपासकको प्राण-शक्तिके महत्त्वको दर्शाती है, ीप्रकार अध्यात्ममें, 'पिंड'में भी गायत्रीकी ऐसी ही प्रतिष्ठा है। य' नाम प्राणोका है, क्योंकि यह शरीरके 'गय', अर्थात् प्राणोका ण करती है, इसलिये इसे गायत्री कहते है। गायत्रीका ध्यान स्तवमें प्राणोका—इन्द्रियोका—सयमन है। आचार्य उपनयनके मय ब्रह्मचारीको जिस गायत्रीका उपदेश देता है वह यही गायत्री । गायत्रीके उपदेश देनेका यही अभिप्राय है कि शिष्य प्राणोकी रा करना, अपने भीतर नव-जीवनका सचार करना सीखता ।४।

कई लोग कहते है कि अनुष्टुप् छन्दवाली गायत्री (तत्सवितुर्वृणी-हे, वय देवस्य भोजनम्, श्रेष्ठ सर्वधातमम्, तुर भगस्य धीमहि) । उपदेश करे, क्योकि यह अनुष्टुप् छन्दवाली गायत्री चार पदोकी नेसे वाणी-रूपा है, परन्तु नहीं, ऐसा न करे। हम तो यही कहते कि त्रिपदा सावित्री ही गायत्री है, इसीका उपदेश करे। त्रिपदा यत्रीके जिस रहस्यका ऊपर उद्घाटन किया गया है, उसे जाननेवाला

सैपा गायत्र्येतस्मिंस्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता तद्वै तत्सत्ये प्रतिष्ठित चक्षुर्वै सत्य चक्षुर्हि वै सत्य तस्माद्यदिदानी द्वौ विवदमानावेयातामहमदर्शमहमश्रौषमिति य एव ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम तद्वै तत्सत्य वले प्रतिष्ठित प्राणो वै वल तत्प्राणे प्रतिष्ठित तस्मादाहुर्वल सत्यादोजीय इत्येवम्वैपा गायत्र्य-ध्यात्म प्रतिष्ठिता सा हैपा गयांस्तत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे तद्यद्गयांस्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम स यामेवामूं सावित्री-मन्वाहैपैव सा स यस्मा अन्वाह तस्य प्राणांस्त्रायते । ४ ।

अगर भारी दक्षिणा भी ले ले, तो वह गायत्रीके एक पदके बराबर भी नहीं है ।५।

अगर किसीको भरेहुए तीनो लोकोकी प्राप्ति हो जाय, तो वह गायत्रीके प्रथम-पद पानेके समान है, अगर किसीको त्रयी-विद्याकी प्राप्ति हो जाय, तो वह गायत्रीके द्वितीय-पद पानेके समान है, अगर किसीको सम्पूर्ण प्राणि-जगत्की प्राप्ति हो जाय, तो वह गायत्रीके तृतीय-पद पानेके समान है, गायत्रीका जो 'दर्शत'-'तुरीय'-'परोरज' पद है, जो पद विश्वमें तप रहा मानो दीखता है, इसकी तुलना तो किसी भौतिक-पदार्थ से नही की जा सकती । कहासे इतना लाये जिससे इसकी तुलना की जाय ? ।६।

अब गायत्रीका 'उपस्थान' कहते है, मानो गायत्रीको मूर्त रूपमें देखतेहुए उसके समीप खडे होकर उसे सम्बोधन करते है । हे गायत्री! त्रिलोकी तेरा प्रथम पद है, त्रि-विद्या तेरा द्वितीय पद है, तीनो प्राण तेरा तृतीय पद है, सबका प्रकाश करनेवाला 'परोरज'-'दर्शत'-रूप तेरा चतुर्थ पद है । यद्यपि तेरे इतने पद है तथापि तू पद-रहित है, अपद है, क्योकि तू जानी नही जा सकती। तेरे 'तुरीय'-'दर्शत'-'परोरज' पदको मेरा नमस्कार है। जिसे मै द्वेष करता हू वह इस पदको न प्राप्त हो, उसकी कामना समृद्ध न हो। जिसकेलिये गायत्रीविद् इसप्रकार गायत्रीका उपस्थान करता है और यह प्रार्थना करता है कि उसको अभीष्ट प्राप्त न हो, उसका अभीष्ट भी मै ही प्राप्त करू, उस

तां ँ हैतामेके सावित्रीमनुष्टुभमन्वाहुर्वागनुष्टुबेतद्वाचमनुब्रूम इति न तथा कुर्याद्गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयाद्यदिह वा अप्येवंविद् बह्विव प्रतिगृह्णाति न हैव तद्गायत्र्या एकचन पदं प्रति । ५ ।
स य इमाँ स्त्रींल्लोकान्पूर्णान्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्प्रथमं पदमाप्नुयादथ यावतीयं त्रयी विद्या यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतद्द्वितीयं पदमाप्नुयादथ यावदिदं प्राणि यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्तृतीयं पदमाप्नुयादथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति नैव केनचनाप्यं कुत उ एतावत्प्रतिगृह्णीयात् । ६ ।

शत्रुकी कामना सिद्ध नहीं होती, और गायत्रीविद्‌की प्रार्थना सिद्ध हो जाती है ।७।

एक बार की बात है कि विदेह-राज जनकने अश्वतराश्वके पुत्र बुडिलसे कहा, आपतो अपनेको गायत्रीके जाननेवाले कहते थे, फिर क्यों दुनियाका माल ऐसे ढोते फिरते हो जैसे कोई हाथी ढो रहा हो ? बुडिल ने कहा, सम्राट् ! मैं गायत्रीके 'शरीर'को तो जानता हूं, उसके 'मुख'को नही जानता, अर्थात् पढा ही हू, गुढा नही हू । जनकने कहा, गायत्रीका 'अग्नि'मुख है, गायत्रीको गुढोगे, तो अग्नि-मुख हो जाओगे । अग्निके मुखमें जितना भी डाल देते है सबको भस्म कर देती है, इसीप्रकार गायत्रीके अग्नि-रूपको जो सिद्ध कर लेता है वह अगर ऐसा भी दीखता है कि भारी पाप कर रहा है, तो उसे भी वह अग्निकी तरह खा डालता है, उसे भस्म कर देता है, और शुद्ध, पूत, अजर, अमर हो जाता है ।८।

(गायत्रीमे पहले तीन व्याहृतिया है—भू, भुव, स्व । इन तीनकी व्याख्या हम छान्दोग्य० २य प्रपाठक, २३ खडमे कर आये है । भूर्भुव स्व —इन तीनका अर्थ अस्ति, भाति, प्रीति—Being, Becoming, Bliss—है । ससारकी गति, इसका प्रवाह, इसके विकासकी दिशा भू से भुव की तरफ, भुव से स्व की तरफ जा रही है । जो वस्तु 'है', जो 'भू' है, जिसकी सत्ता है, वह तभीतक है, या

तस्या उपस्थान गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि नहि पद्यसे । नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसेऽसावदो मा प्रापदिति य द्विष्यादसावस्मै कामो मा समृद्धीति वा न हैवास्मै स काम समृद्ध्यते यस्मा एवमुपतिष्ठतेऽहमद प्रापमिति वा । ७ । एतद्ध वै तज्जनको वैदेहो बुडिलमाश्वतराश्विमुवाच यन्नु हो तद्गायत्रीविद्ब्रूथा अथ कथं हस्तीभूतो वहसीति मुखं ह्यस्या सम्राण्न विदाचकारेति होवाच तस्या अग्निरेव मुख यदि ह वा अपि बह्विवाग्नावभ्यादधति सर्वमेव तत्सदहत्येवं हैवैवविद्यद्यपि बह्विव पाप कुरुते सर्वमेव तत्सप्साय शुद्ध पूतोऽजरोऽमृत सभवति । ८ ।

तभीतक वह अस्तिकी कोटिमे है, जबतक वह 'हो रही' है, जहा उसमेसे 'होनापन', या 'भुव ' की प्रक्रिया समाप्त हुई, वही वह स्वय समाप्त हो जाती है। 'भू ' तबतक 'भू ' है, अर्थात् अस्ति (Being) तबतक अस्ति है, 'है' तबतक 'है' है, जबतक 'भू ' का विकास 'भुव ' की तरफ, 'है' का विकास 'होने' (Becoming) की तरफ हो रहा है। जहा 'है' (Being)ने 'होना' (Becoming) छोड दिया, वहा 'है' ही समाप्त हो जाता है । इसी तरह यह 'होना'—Becoming—भी एक खास दिशाकी तरफ जा रहा है, वही दिशा 'स्व ' है, उसीको सुख कहते है, अग्रेजीमे Bliss कहते है । परन्तु इस अस्ति-भाति-प्रीति की प्रक्रियाको—Being, Becoming, Bliss—के एक निश्चित दिशाके प्रवाहको चला कौन रहा है ? यह स्वय तो नही चल रहा। इस प्रवाहको जो बहा रहा है, जिसने ऐसा विधान रचा है जिसके कारण प्रत्येक सद्वस्तु तभीतक टिकी हुई है जबतक वह अपने-आपको होनेकी प्रक्रियामे—Becoming—मे बनाये रखती है, और होनेकी प्रक्रिया भी एक निश्चित दिशाकी तरफ ही मुह उठाये चली जा रही है, सुखकी, आनन्दकी तलाशमे यह सारा प्रवाह बह रहा है—इस सारे प्रवाहका बहानेवाला कौन है ? गायत्री मन्त्रमे प्रवाहके उस बहाने-वालेको 'सविता' कहा गया है। 'सविता' शब्द 'पूञ्् प्रसवे' धातुसे बना है। 'सविता', अर्थात् प्रसव करनेवाला—पैदा करनेवाला । उस पैदा करनेवालेने, सविताने, हरेक वस्तुकी रचना करते हुए हर वस्तुमे भु -भुव -स्व का पुट दे दिया है, हर वस्तुमे अस्ति, भाति, प्रीति—'है', 'होना', 'सुखके लिये होना'—Being, Becoming, Bliss—का बीज डाल दिया है । सविताकी उस शक्तिका क्या नाम है जिससे हर वस्तु उस निश्चित प्रक्रियामेसे गुजर रही है जिसका अभी वर्णन किया गया ? गायत्री मन्त्रमे सविताकी उस शक्तिका नाम 'भर्ग' कहा गया है। 'भर्ग' क्यो कहा गया है ? 'भर्ग' शब्द 'भ्रस्ज पाके' धातुसे बना है । 'भर्ग' का अर्थ है—पकानेकी शक्ति । जैसे कुम्हार घडेको पकाता है, घडा ज्यो-ज्यो पकता जाता है, त्यो-त्यो अपने

निर्दिष्ट कार्यकेलिये तय्यार होता जाता है, इसीप्रकार सविता ससार की हर वस्तुको पका रहा है, और पकते-पकते हरवस्तु अपने लक्ष्यकी तरफ बढती चली जारही है। 'सविता' का 'भर्ग' ही है जिससे हर वस्तु धीरे-धीरे पकती हुई भू -भुव -स्व --Being, Becoming, Bliss-- की प्रक्रियाओमेंसे गुजर रही है। इसलिये गायत्री मन्त्रका अर्थ हुआ--हम सविता देवके उस भर्गका ध्यान करते है, जो ससारकी हर वस्तुको एक खास दिशामे धीरे-धीरे पकाताहुआ ले जारहा है। किस दिशामे ? भूर्भुव स्व की दिशामे, अस्ति-भाति-प्रीतिकी दिशामे-- Being, Becoming, Bliss--की दिशामे ! सवितु देवस्य भर्गो धीमहि--इसका यही अर्थ हुआ। वाकी रहा--'धियो यो न प्रचोदयात्'--इसका अर्थ तो स्पष्ट ही है। सविताका जो 'भर्ग' ससारकी हर वस्तुको एक निश्चित 'स्व'की दिशामे प्रवाहित कर रहा है, वही 'भर्ग' हमारी वुद्धिको भी ऐसी प्रेरणा दे कि हम भी अपनेको विकासकी इसी प्रक्रियामेसे ले चले, हम अपनेको ससारका प्रसव करनेवाली सविताशक्तिके भर्गके साथ, उस प्रक्रियाके साथ जो हर वस्तुको धीरे-धीरे पकातीहुई निश्चित उद्देश्यतक पहुचा रही है, ऐसे समन्वयमे ले आये, ताकि हमारे जीवनके विकासकी दिशा भी वही वन जाय, हम भी विश्वके विकासके एक अग वन जाय, हम भी अपने-आपको धीरे-धीरे वैसे ही पकाने लगे जैसे हर वस्तुका सहज-पाक हो रहा है, जैसे वह गायत्रीकी व्याहृतियोमे प्रतिपादित एक खास प्रक्रियामेसे गुजर रही है। गायत्री मन्त्रमे 'सविता' और 'भर्ग' शब्द एक खास महत्त्व रखते है। 'सविता' का अर्थ जहा 'पूञ् प्रसवे' धातुसे 'उत्पन्न करनेवाला' यह होता है, वहा इसका अर्थ 'सूर्य' भी है--वह सूर्य जो हर वस्तुको पकाता है। 'सविता'के सूर्य अर्थको सामने रखकर ही 'भर्ग' शब्दका प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ 'भ्रस्ज पाके' धातुसे 'पकाना' है। सूर्य हर वस्तुको पका रहा है, सविता भी--वह शक्ति जिसने ससार पैदा किया--हर वस्तुको पका रहा है। यह पकना, यह क्रमिक-विकास ही 'भूर्भुव स्व' है। 'भूर्भुव स्व'--ये तीन अक्षर विश्व-

नियन्ता प्रभुद्वारा निर्धारित विकासकी एक निश्चित प्रक्रियाका वर्णन करते है। ब्रह्माडकी, अर्थात् भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ की यही प्रक्रिया हमारे पिडमे भी चले—ब्रह्माडमे सूर्य (सविता) इस प्रक्रिया का प्रतिनिधि है, पिडमे बुद्धि (धी) इस प्रक्रियाकी प्रतिनिधि है—यही गायत्री-मन्त्रका अर्थ है। तभी कहा कि ब्रह्माडका 'सविता' जो विश्व को भू-भुव-स्व मे से धीरे-धीरे गुजार रहा है, अस्ति-भाति-प्रीति मे से ले जारहा है—Being, Becoming, Bliss की प्रक्रिया मे डालकर अपने 'भर्ग', अर्थात् पकानेकी शक्तिसे पका रहा है, वही हमारे पिडमे हमारी 'धी', अर्थात् बुद्धिको ऐसी प्रेरणा दे, जिससे हमारे पिड मे हमारी 'धी' वही काम करे, जो ब्रह्माडमे 'सविता' करता है। 'सविता' जैसे विश्वको, बुद्धि वैसे मनुष्यको अस्ति, भाति, प्रीतिकी, भू भुव स्व की, Being, Becoming Bliss की प्रक्रियामेसे गुजार दे—यह गायत्री मन्त्रका अर्थ है।)

पचम अध्याय—[पन्द्रहवा ब्राह्मण]

हिरण्मय चमक-दमकवाले ढकनेसे सत्यका मुख ढकाहुआ है। हे पूषन्!—अपनी पुष्टि अर्थात् पोषण चाहनेवाले उपासक!—अगर तू सत्य-धर्मको देखना चाहता है तो उस ढक्कनका, आवरणका अपवरण कर दे, उस ढक्कनको हटा दे, पर्देको उठा दे।

हे पूषन्—पुष्टि देनेवाले! एकर्षे—ऋषियोंमें एक—अनोखे! यम—नियमन करनेवाले! सूर्य—प्रचण्ड प्रकाशमान! प्राजापत्य—प्रजाओंके पति! आपकी रश्मियोका जो व्यूह चारोतरफ फैल रहा है उसे समेटिये। मै आपकी रश्मियोको नहीं, आपके निजी कल्याणतम तेजस्वी रूपको देखना चाहता हू। अ-हा! वह जो कल्याणतम तेजस्वी पुरुष-रूप प्रकट हुआ वह कितना ज्योतिर्मय है। मै भी वही हू—मै भी ज्योतिर्मय पुरुष हू।

प्राण-वायु शरीरमें रहता है, वह विश्वके अनिल अर्थात् विश्वके प्राणमें लीन हो जाता है। वही अमर है। शरीर तो जबतक भस्म

नही हो जाता तभीतक है। हे कर्म करनेवाले जीव ! 'ऋतु' (Future action) को—'प्रयत्न'को, जो तूने आगे कर्म करना है उसे स्मरण कर, और 'कृत' (Past action)—जो तू अवतक कर्म कर चुका है, उसे स्मरण कर।

हे अग्ने ! हे देव ! तुम सव प्रकारके कर्मोको जानते हो। आप हमें उन्नतिकेलिये ऐसे मार्गसे ले चलो जो सुपथ हो। जो कुटिल पाप-मार्ग है, उसे हमसे अन्तरात्माका युद्ध कराकर पृथक् करो। हम वार-वार तुझे नमस्कार करते है ।१। (ईशमे १५, १६, १७, १८ मन्त्र यही है)

षष्ठ अध्याय—[पहला ब्राह्मण]

(प्राण तथा इन्द्रियोका विवाद)

यह कथा छान्दोग्य ५म प्रपाठक १म तथा २य खडमे लगभग इन्ही शब्दोमे आ चुकी है, अत यहा नही दी जा रही। जो शब्दोके हेर-फेरका तुलनात्मक अध्ययन करना चाहे वे सस्कृतके दोनो स्थलोकी तुलना करके पढे।

षष्ठ अध्याय—[दूसरा ब्राह्मण]

(श्वेतकेतु तथा राजा जैवलि प्रवहणके ५ प्रश्न)

यह कथा छान्दोग्य ५म प्रपाठक ३य से १०म खडमे लगभग इन्ही शब्दोमे कुछ हेर-फेरके साथ आ चुकी है, अत यहा नही दी जा रही। जो शब्दोके हेर-फेरका तुलनात्मक-अध्ययन करना चाहें वे सस्कृतके दोनो स्थलोकी तुलना करके पढें।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुख। तत्त्व पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये। पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह तेजो यत्ते रूप कल्याणतम तत्ते पश्यामि। योऽसावसौ पुरुप सोऽहमस्मि। वायुरनिलममृतमथेद भस्मान्त शरीरम्। ॐ क्रतो स्मर कृत स्मर क्रतो स्मर कृत स्मर। अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठा ते नम उक्तिं विधेम। १।

षष्ठ अध्याय—[तीसरा ब्राह्मण]
(मन्थ-रहस्य)

यह वर्णन छान्दोग्य ५ प्रपाठक, २ खड, ४ मे भी पाया जाता है। वहा सक्षेपमे है, यहा विस्तारमे है। इसमे कर्म-काडका वर्णन है।

जो यह कामना करे कि मुझे 'महत्त्व' प्राप्त हो, वह सूर्यके उत्तरायणमें शुक्ल पक्षके १२ दिन 'उपसद्-व्रत' करे—अर्थात् दुग्धाहार करे। फिर गूलर या कासेके चमस अर्थात् पात्रमें सब औषधियो और फलोको मिलाकर रख दे। फिर भूमि का परिसमूहन करे, उसे झाडे-पोछे, परिलेपन करे, वहा अग्निका आधान करे, बैठनेकेलिये चारो ओर कुशा बिछा दे। फिर ढकेहुए घीका सस्कार करे, और किसी पुल्लिगी नक्षत्रमें 'मन्थ'को—अर्थात् औषधियो, फलो आदिको मिलाकर जो-कुछ तय्यार किया गया था उसे—लेकर इन प्रार्थनाओसे आहुति दे—हे जातवेदस् ! जो देव, अर्थात् प्राकृतिक-शक्तिया तिरछामार्ग ग्रहण करके मनुष्यकी कामनाका हनन करती है उन सबकेलिये मै अग्नि द्वारा उनका भाग देता हू, वे तृप्त हो जाय, और तृप्त होकर मुझे सब कामनाओसे तृप्त करें। जो शक्ति मुझसे तिरछी हो गई है, जो 'अहं विधारणी'—मै ही सब-कुछ कर सकती हू—यह समझने लगी है, 'ता त्वा घृतस्य धारया यजे'—उसकी मै घृतकी धारासे पूजा करता हू, वह मेरे प्रतिकूल होनेके स्थानपर मेरे मनोरथोकी सिद्धि करे।१। (प्रतिकूल शक्तिका विरोध करनेसे

स य कामयेत महत्प्राप्नुयामित्युदगयन आपूर्यमाणपक्षस्य पुण्याहे द्वादशाहमुपसद्व्रती भूत्वौदुम्बरे कंसे चमसे वा सर्वौपध फलानीति सभृत्य परिसमुह्य परिलिप्याग्निमुपसमाधाय परिस्तीर्यावृताज्य संस्कृत्य पुंसा नक्षत्रेण मन्थ सनीय जुहोति। यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्यञ्चो घ्नन्ति पुरुषस्य कामान्। तेभ्योऽह भागधेय जुहोमि ते मा तृप्ता सर्वै कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा। या तिरश्ची निपद्यतेऽह विधरणी इति। ता त्वा घृतस्य धारया यजे संराधनीमह स्वाहा। १।

उसकी प्रतिकूलता और बढती है। महत्त्व प्राप्त करनेकेलिये प्रतिकूल शक्तियोका भी तर्पण करना होता है, यही इसका अभिप्राय है।)

अब 'मन्थ'में प्राणकी भावना करे। प्राण ज्येष्ठ है, श्रेष्ठ है, इसलिये 'ज्येष्ठाय स्वाहा'-'श्रेष्ठाय स्वाहा' कहकर, अग्निमें घीकी आहुति देकर 'मन्थ' में घीकी बूदें चुआ दे। फिर 'प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहा' - 'वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहा' - 'चक्षुषे स्वाहा सपदे स्वाहा'-'श्रोत्राय स्वाहा आयतनाय स्वाहा'-'मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहा'-'रेतसे स्वाहा'—इनका उच्चारणकर अग्निमें घीकी आहुति देकर 'मन्थ'में घी की बूदें चुआ दे।२।

फिर 'अग्नये स्वाहा'-'सोमाय स्वाहा', 'भू स्वाहा'-'भुव स्वाहा'-'स्व स्वाहा', 'ब्रह्मणे स्वाहा'-'क्षत्राय स्वाहा', 'भूताय स्वाहा'- 'भविष्यते स्वाहा', 'विश्वाय स्वाहा'-'सर्वाय स्वाहा'-'प्रजापतये स्वाहा' कहकर अग्निमें घीकी आहुति देकर 'मन्थ'में घीकी बूदें चुआ दे।३।

ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति चक्षुषे स्वाहा सपदे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति श्रोत्राय स्वाहाऽऽयतनाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति रेतसे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति। २।

अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति सोमाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भू स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भुव स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति स्व स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भूर्भुव स्व स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति ब्रह्मणे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति क्षत्राय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भूताय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भविष्यते स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति विश्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति सर्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति प्रजापतये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति। ३।

'मन्थ'में इसप्रकार 'प्राण' तथा 'विश्व-कल्याण'की भावना मानो भरकर उसे स्पर्श करे और कहे, हे 'मन्थ' ! तू वायुके समान भ्रमणशील है, अग्निके समान जाज्वल्यमान है, ब्रह्मके समान पूर्ण है, आकाशके समान निष्कम्प है, जगत्की सभाका मानो सभापति है। हे मन्थ ! तू ही हिंकार करनेवाला है, तू ही स्वयं हिंकार है, तू ही गानेवाला है, तू ही गाया जाता है, तू ही ध्वनि है, तू ही प्रतिध्वनि है; तू ही जलमें आग है—अर्थात् बादलमें बिजली है, तू विभु है, प्रभु है, अन्न है, ज्योति है, निधन है, सवर्ग है—विनाश है, उत्पत्ति है ।४।

इसप्रकार 'मन्थ'में 'प्राण'को, 'विश्व-कल्याण'की तथा 'उच्च-से-उच्च भावना' भरकर उसे हाथमें लेकर खडा हो जाये, और प्रार्थना करे—हे मन्थ ! हम तेरे महान् 'आम' अर्थात् 'अम'को मानते हैं। तू 'अ म' है, मापा नहीं जा सकता। तू राजा है, ईशान है, अधिपति है—मुझे भी राजा, ईशान और अधिपति बना ।५।

यह कहकर 'मन्थ' का चार ग्रासोंमें सेवन करे। पहला ग्रास इस मधुमान मन्त्रसे भक्षण करे—'तत्सवितुर्वरेण्यम् । मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धव माध्वीर्न सन्त्वोषधी । भूः स्वाहा ।' दूसरा ग्रास इस मधुमान मन्त्रसे भक्षण करे—'भर्गो देवस्य धीमहि। मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रज मधु द्यौरस्तु न पिता। भुवः

अथैनमभिमृशति भ्रमदसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रस्तब्धमस्येक-सभमसि हिंकृतमसि हिंक्रियमाणमस्युद्गीथमस्युद्गीयमान-मसि श्रावितमसि प्रत्याश्रावितमस्यार्द्रे सदीप्तमसि विभू-रसि प्रभूरस्यन्नमसि ज्योतिरसि निधनमसि संवर्गोऽसीति ।४।
अथैनमुद्यच्छत्याम ँ स्याम ँ हि ते महि स हि राजे-शानोऽधिपतिः स माँ राजेशानोऽधिपतिं करोत्विति ।५।

स्वाहा।' तीसरा ग्रास इस मधुमान मन्त्रसे भक्षण करे—'धियो यो नः प्रचोदयात् । मधुमान्नो वनस्पति मधुमां अस्तु सूर्यः माध्वीर्गावो भवन्तु न । स्व स्वाहा।' चौथा ग्रास संपूर्ण सावित्री, संपूर्ण मधुमान मन्त्रो और तीनो व्याहृतियोको इकट्ठा पढकर भक्षण कर जाय । यह संकल्प करे कि जो-जो सस्कार, जो-जो भावनाए इस 'मन्थ'में डाली गई है, वे मानो मूर्त-रूपमें इसमें मौजूद है, मै यह सब-कुछ हो जाऊं ! अन्तमें 'भू र्भुव स्व स्वाहा' कहकर, आचमन करके, हाथ धोकर, अग्निके पीछे, पूर्वकीतरफ सिर करके सो जाय, प्रात काल उठकर आदित्यको सम्बोधनकर प्रार्थना करे—हे सूर्य ! तू दिशाओमें इकला कमलकी न्याई खिल रहा है, मै भी मनुष्योमें इकला कमलकी न्याई खिल जाऊं ! फिर लौटकर, अग्निके पीछे बैठकर, जिसप्रकार गुरु-शिष्य परंपरासे यह विद्या आई है उस वंशका ध्यान करे, सोचे कि उनके प्रतापसे यह विद्या मुझतक पहुंची है ।६।

'मन्थ'के इस रहस्यको उद्दालक आरुणिने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्यको बतलाया, उसने मधुक पैङ्ग्यको, उसने चूल भागवित्तिको उसने जानकि आयस्थूणको और उसने जाबाल सत्यकामको बतलाया, और प्रत्येकने अपने शिष्यको 'मन्थ-रहस्य' बतलातेहुए कहा कि यदि कोई पुरुष इस 'मन्थ'को सूखी छड़ीपर भी छिडक दे, तो उसमें भी शाखाएं उत्पन्न हो जाय और पत्ते फूट निकलें। 'मन्थ'के

अथैनमाचामति तत्सवितुर्वरेण्यम् । मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धव । माध्वीर्न सन्त्वोषधी । भू स्वाहा। भर्गो देवस्य धीमहि । मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिव॑ रज । मधु द्यौरस्तु न पिता। भुव स्वाहा। धियो यो न प्रचोदयात् । मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमा ३ अस्तु सूर्य । माध्वीर्गावो भवन्तु न । स्व स्वाहेति। सर्वां च सावित्रीमन्वाह सर्वाश्च मधुमती रहमेवेद॑ सर्वं भूयास भूर्भुव स्व स्वाहेत्यन्तत आचम्य पाणी प्रक्षाल्य जघनेनाग्निं प्राक्शिरा सविशति प्रातरादित्यमुपतिष्ठते दिशामेकपुण्डरीकमस्यह मनुष्याणामेकपुण्डरीक भूयासमिति यथेतमेत्य जघनेनाग्निमासीनो व॑श जपति । ६ ।

विवाहके अनन्तर पत्नी पतिको सहयोग न दे, तो उसे सुन्दर-सुन्दर वस्तुएं लाकर दे जिससे वह सन्तुष्ट होकर सहयोग दे, फिर भी सहयोग न दे तो यष्टिसे वा पाणिसे उसको खूब ताडना करे, और कहे कि अपने इन्द्रिय-बलसे और अपने यशसे तेरा यश खींच लूंगा, तुझे यश-हीन बना दूंगा, इसप्रकार पत्नी अयशस्विनी हो जाती है, अपनी अलग न चलाकर पतिके साथ सहयोग देने लगती है ।७।

अगर पत्नी सहयोग दे, तो उसे कहे कि अपने इन्द्रिय-बलसे और अपने यशसे तुझे भी यशस्विनी बनाता हूं—इसप्रकार पति-पत्नी दोनों यशस्वी हो जाते हैं ।८।

अगर पति चाहे कि उसकी पत्नी उससे प्रसन्न रहे, तो पत्नीकी इच्छामें ही अपनी इच्छा मिला दे, उसकी हां में हां मिला दे, उसके समीप बैठकर, उसे स्पर्श कर कहे—हे प्रेमके देवता ! तू मेरे अंग-अंगसे उत्पन्न हो रहा है, तू मेरे हृदयसे फूट रहा है, तू मेरे अंगोंका मानो रस है, तू मेरी स्त्रीको मुझपर मदान्वित कर दे, इसे ऐसा कर दे जैसे विषसे बुझेहुए बाणसे विद्ध मृगी व्याधके वशमें हो जाती है ।९।

अगर पति चाहे कि उसकी स्त्री सन्तानोत्पत्तिके कार्यमें न लगकर उसके साथ ब्रह्मचर्य-पूर्वक जीवन व्यतीत करे, तो पत्नीके साथ ऐसा बर्ताव करे जिससे उसकी इच्छा पत्नीकी इच्छा बन जाय, उसके मुखसे निकली बात पत्नीकी बात बन जाय। फिर दोनों प्राणापानकी गतिको साधें, अर्थात् प्राणायाम करें—(अभिप्राण्य अपान्यात्)—और एक दूसरेके प्रति इस भावनाको जन्म दें कि हम अपनी शक्तिको

सा चेदस्मै न दद्यात्काममेनामवक्रीणीयात् सा चेदस्मै नैव दद्यात्काममेना यष्ट्या वा पाणिना वोपहृत्यातिक्रामेदिन्द्रियेण ते यशसा यश आदद इत्ययशा एव भवति । ७ ।

सा चेदस्मै दद्यादिन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामीति यशस्विनावेव भवत । ८ ।

स यामिच्छेत्कामयेत मेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं सधायोपस्थमस्या अभिमृश्य जपेदगादगात्सभवसि हृदयादधि-जायसे । स त्वमगकषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादयेमाममू मयीति । ९ ।

एक-दूसरेकी इन्द्रियोंकी शक्तिमें सम्मिलित करते हैं--इसप्रकार वे दोनो अरेता हो जाते हैं, प्रजनन नहीं करते और ब्रह्मचर्यका जीवन व्यतीत करते हैं ।१०।

अगर पति चाहे कि उसकी पत्नी सन्तानोत्पत्ति करे, तो उसके साथ अपनी इच्छा और वाणीको एक करके गर्भाधान करे—(अपान्य अभिप्राण्यात्)—दोनोके रेत एक होनेसे स्त्री गर्भवती हो जाती है।११।

अगर स्त्रीका कोई जार हो, गुप्त-प्रेमी हो, उससे अगर पति द्वेष करे, तो कच्चे पात्रमें अग्निको रखे, शर सदृश वर्हिको प्रतिलोम बिछा दे, और फिर उन्हें उठा-उठाकर उल्टी तरफसे घीमें सिक्त करके अग्निमें हवन करे, और कहे--मेरी प्रदीप्त अग्निमें--यज्ञ-रूपा पत्नीमें —तूने होम किया, इस कारण हे अमुक ! मैं तेरे प्राण और अपानको खींच लेता हू, तूने मेरी प्रदीप्त अग्निमें होम किया, इस कारण हे अमुक ! मैं तेरे पुत्र और पशुओंको खींच लेता हूं, तूने मेरी प्रदीप्त-अग्निमें होम किया, इस कारण हे अमुक ! मैं तेरे इष्ट और सुकृतको खींच लेता हू, तूने मेरी प्रदीप्त अग्निमें होम किया, इस कारण हे अमुक ! मैं तेरी आशा और प्रत्याशाको खींच लेता हू । इस रहस्यको जाननेवाला ब्राह्मण जब शाप देता है, तो वह जार निरिन्द्रिय और सुकृत-हीन होकर इस लोकसे चल देता है, इसलिये ऐसे श्रोत्रियकी स्त्रीसे कभी उपहास न करे क्योंकि ऐसा शत्रु भयकर शत्रु होता है ।१२।

अथ यामिच्छेन्न गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखँ सधायाभिप्राण्यापान्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदद इत्यरेता एव भवति । १० ।
अथ यामिच्छेद्दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखँ सधायापान्याभिप्राण्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति । ११ ।
अथ यस्य जायायै जार स्यात्त चेद्द्विष्यादामपात्रेऽग्निमुपसमाधाय प्रतिलोमँ शरबर्हिस्तीर्त्वा तस्मिन्नेता शरभृष्टी प्रतिलोमा सर्पिषाक्ता जुहुयान्मम समिद्धेऽहौषी प्राणापानौ त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषी पुत्रपशूँस्त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीरिष्टासुकृते त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीराशापराकाशौ त आददेऽसाविति स वा एष निरिन्द्रियो विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रैति यमेवविद्ब्राह्मण शपति तस्मादेवविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेदुत ह्येववित्परो भवति । १२ ।

प्रजापतिने ईक्षण किया, सोचा, वीर्य कितना सामर्थ्य-शाली है, इसे यह पुरुष यूं ही न विगाड़े, इसलिये इसकी प्रतिष्ठा बना दूं। उसने स्त्रीको रचा। उसे रचकर इस भू-लोकमें लाकर मानो उसकी उपासना की, अर्थात् सोचा कि बहुत अच्छी रचना हुई, इसलिये भू-लोकमें स्त्रीकी उपासना करे, अर्थात् प्रभुकी कृतिकी प्रशंसा करे। प्रजापति ने मानो अपने पवित्र वज्र-सदृश वलको पार लगा दिया, अर्थात् अपना पूरा वल लगाकर उसने स्त्रीकी रचना की—अपने संपूर्ण सामर्थ्यसे स्त्रीको रचा ।२।

स्त्री मानो एक पवित्र यज्ञ है। उसका जनन-स्थान ही वेदी है, लोम वर्हि है, यज्ञमें विछानेका मृग-चर्म तथा अधिषवण ये मध्यमें समिद्ध दोनो मुष्क हैं। जो इसप्रकार स्त्रीमें यज्ञकी कल्पना कर उसे यज्ञके समान पवित्र समझकर उसके साथ बरतना है वह स्त्रियोंके सुकृतको पा लेता है, जो इस रहस्यको न जानकर उनसे वरतता है उसका सुकृत स्त्रियां पा लेती हैं ।३।

गृहस्थीका यही आचार-धर्म है, स्त्रीको यज्ञके समान पवित्र समझे। इस रहस्यको जानतेहुए अरुणके पुत्र उद्दालकने कहा था कि गृहस्थीका यही आचार-धर्म है, मुद्गलके पुत्र नाक और कुमार हारित भी इसीको गृहस्थीका आचार-धर्म कहते थे। अनेक मनुष्य जो अपनेको व्यर्थमें ब्राह्मण कहते हैं—वे इन्द्रिय-हीन, सुकृत-हीन होते हैं—इस लोकसे चले जाते हैं, परन्तु उन्हें अन्ततक स्त्रीको यज्ञ-रूप समझकर उसके साथ बरताव करना नहीं आता। कई संयम-हीन व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनका सोते या जागते वीर्य स्खलन

स ह प्रजापतिरीक्षाञ्चक्रे हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पयानीति स स्त्रियं ससृजे तां सृष्ट्वाऽध उपास्त तस्मात्स्त्रियमध उपासीत स एतं प्राञ्चं ग्रावाणमात्मन एव समुदपारयत्तेनैनामभ्यसृजत् । २ ।

तस्या वेदिरुपस्थो लोमानि बर्हिश्चर्माधिषवणे समिद्धो मध्यतस्तौ मुष्कौ स यावान् ह वै वाजपेयेन यजमानस्य लोको भवति तावानस्य लोको भवति य एवं विद्वानधोपहासं चरत्यासां स्त्रीणां सुकृतं वृङ्क्तेऽथ य इदमविद्वानधोपहासं चरत्यस्य स्त्रियः सुकृतं वृञ्जते । ३ ।

हो जाता है, अर्थात् जो स्त्री को यज्ञके समान पवित्र न समझकर उसे विषयका साधन समझते है और इसीलिये स्वप्नमें बुरे विचारो के कारण उन्हें स्वप्नदोष हो जाता है ।४।

जिसका वीर्य-नाश हो गया है, वह पश्चात्ताप करताहुआ अनामिका और अगुष्ठसे छातीको, जहां 'हृदय' है, और भवोको, जहा 'मस्तिष्क' है, जलसे स्पर्श करे--हृदय और मस्तिष्कके असंयत होने ही से तो सयम टूटा है—और मनमें जपे--मेरा आज वीर्य-स्खलन हुआ है, आगेसे ऐसा न होगा, मै अपने वीर्यको फिरसे अपने भीतर धारण करू, 'पुन र्माम् एतु इन्द्रियम्', अर्थात् इन्द्रिय-वल मुझे फिर प्राप्त हो, मेरा तेज, मेरा सौभाग्य फिर मेरे पास लौट आये, अग्निधिष्ण्य देव फिरसे मुझ स्थान-भ्रष्टको यथा-स्थान कर दें ।५।

स्नान करताहुआ जव जलमें अपने प्रतिविम्वको देखे तव भी वीर्य-धारणकी प्रार्थना करताहुआ जपे--मुझे तेज, इन्द्रिय-वल, यश, धन और सुकृत प्राप्त हो । इसप्रकार वीर्य-रक्षा कर, अपनेको वलशाली वनाकर निर्मल, यशस्विनी स्त्रीका उपमन्त्रण करे, उसे चाहे, उससे विवाह करे । स्त्रीकी श्री, अर्थात् शोभा इसीमें है कि वह घुलेहुए वस्त्रके समान निर्मल हो, और इसीप्रकारका निर्मल व्यक्ति उससे विवाह करे ।६।

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानुद्दालक आरुणिराहैतद्ध स्म वैतद्विद्वान्नाको मौद्गल्य आहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्कुमारहारित आह वहवो मर्या ब्राह्मणायना निरिन्द्रिया विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रयन्ति य इदमविद्वाँसोऽधोपहास चरन्तीति वहु वा इदँ सुप्तस्य वा जाग्रतो वा रेत स्कन्दति । ४ ।

तदभिमृशेदनु वा मन्त्रयेत यन्मेऽद्य रेत पृथिवीमस्कान्त्सीद्यदोषधीरप्यसरद्यदप । इदमहं तद्रेत आददे पुनर्मामैत्विन्द्रिय पुनस्तेज पुनर्भग । पुनरग्निर्धिष्ण्या यथास्थान कल्पन्तामित्यनामिकाऽङ्गुष्ठाभ्यामादायान्तरेण स्तनौ वा भ्रुवौ वा निमृज्यात् । ५ ।

अथ यद्युदक आत्मान पश्येत्तदभिमन्त्रयेत मयि तेज इन्द्रिय यशो द्रविणँ सुकृतमिति श्रीर्ह वा एषा स्त्रीणा यन्मलोद्वासास्तस्मान्मलोद्वाससं यशस्विनीमभिक्रम्योपमन्त्रयेत । ६ ।

इस रहस्यको अपने पुत्र अथवा शिष्यके अतिरिक्त किसीको न वतलाये ।७-१२।

'मन्थ-कर्म'में गूलरकी चार वस्तुएं होती हैं—गूलरका स्रुवा, गूलर का चमस अर्थात् पात्र, गूलरकी समिधा और गूलरकी दो उपमन्थियां। ग्रामके दस धान होते हैं—व्रीहि और यव (चावल और जौ), तिल और माष, अणु और प्रियगु (वाजरा और कगनी) गेहूं, मसूर, खल्व (मटर) और खलकुल (कुलथी) । इनको पीसकर दधि, मधु तथा घृतमें मिलाकर घृतसे होम करे ।१३।

षष्ठ अध्याय—[चौथा ब्राह्मण]

(गर्भाधान)

'मन्थ-कर्म' करनेवाला 'पुत्र-कर्म' करे, सन्तानोत्पत्ति करे, ताकि

तँ हैतमुद्दालक आरुणिर्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ।७।

एतमु हैव वाजसनेयो याज्ञवल्क्यो मधुकाय पैङ्ग्या-
यान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनँ शुष्के स्थाणौ
निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ।८।

एतमु हैव मधुकः पैङ्ग्यश्चूलाय भागवित्तयेऽन्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ।९।

एतमु हैव चूलो भागवित्तिर्जानकय आयस्थूणायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ।१०।

एतमु हैव जानकिरायस्थूणः सत्यकामाय जाबालायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ।११।

एतमु हैव सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि
य एनँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः
पलाशानीति तमेतं नापुत्राय वाऽनन्तेवासिने वा ब्रूयात् ।१२।

चतुरौदुम्बरो भवत्यौदुम्बरः स्रुव औदुम्बरश्चमस औदुम्बर इध्म औदुम्बर्या उपमन्थन्यौ दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति व्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियङ्गवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च तान् पिष्टान्दधनि मधुनि घृत उपसिञ्चत्याज्यस्य जुहोति ।१३।

उच्च कोटिकी सन्तान हो। इस ब्राह्मणमे आगे जो-कुछ लिखा है उसे कई लोग अश्लील समझते है। कईयोने इस स्थलके अश्लील ही अर्थ किये है। परन्तु किसी स्थलका ठीक अर्थ तभी समझमे आ सकता है जब उसका आगे-पीछे के स्थलोके साथ समन्वय किया जा सके। इस ब्राह्मणसे पहले ३य ब्राह्मणमे 'मन्थ-कर्म'का वर्णन है। 'मन्थ-कर्म'मे औषधियो तथा फलोके रसोको मिलाकर उसमे उच्च-विचारोकी भावना दी जाती है। फिर उसे पीकर यह भावना जागृत की जाती है कि जो भावनाए 'मन्थ'मे डाली गई है, वे पीनेवालेमे आ जाये। 'मन्थ' पीनेमात्रसे तो ऊची भावनाए क्या आयेगी, परन्तु उच्च विचारोको जागृत करनेका यह एक भौतिक तरीका है। फिर 'मन्थ-कर्म' करनेवाला 'पुत्र-कर्म' करे, अर्थात् उसी-जैसे ऊचे विचारोवाली सन्तान उत्पन्न करनेका प्रयत्न करे--यह इस चतुर्थ ब्राह्मणके प्रारभमें लिखा है। इस ब्राह्मणके अन्तमे यह लिखा है कि इसप्रकार जिस माताके पुत्र हो वह वीरवती है, उसने वीर पुत्रको जन्म दिया है, उस पुत्रके कानमें कहे--'वेद' तेरा नाम है। जो पुत्र हो वह 'अति-पिता' हो, 'अति-पितामह' हो, अर्थात् उच्च गुणोमे पितासे आगे निकल जाय, पितामहसे भी आगे निकल जाय। आगे-पीछेके इन स्थलोको देखकर क्या इस ब्राह्मणमे कही अश्लीलताको स्थान रह जाता है? मैक्समूलरने इस स्थलको अश्लील समझकर इसका अग्रेजीमे अनुवाद न कर लैटिनमे अनुवाद किया था। परन्तु यह अश्लील स्थल नही, इसमे गर्भाधानके उच्च-कोटिके सस्कारका वर्णन है। उमे एक यज्ञ कहा है। इस विषयको उठातेहुए ऋषि कहते है--

महाभूतोका रस पृथिवी है, पृथिवीका रस जल है, जलोका रस ओषधि, ओषधियोका रस पुष्प, पुष्पोका रस फल, फलोका रस पुरुष, पुरुषका रस वीर्य है।१।

एषा वै भूताना पृथिवी रस पृथिव्या आपोऽपामोषधय ओष-धीना पुष्पाणि पुष्पाणा फलानि फलाना पुरुष पुरुषस्य रेत । १ ।

जिसकी स्त्रीको ऋतु-धर्म प्राप्त हो वह तीन दिनतक कांसेके वर्तनमें जल न पिये, और न तीन दिनतक कपडे धोये, उसे धर्म-हीन पुरुष या स्त्री स्पर्श न करें। तीन रात वीत जानेपर वह स्नान करे और चरु वनानेके लिये व्रीहि अर्थात् धानको कूटकर तय्यार करे ।१३।

जो चाहे कि मेरा पुत्र शुक्ल-वर्ण हो, कम-से-कम एक वेदका ज्ञाता हो, पूरी आयु भोगे, तो दूध-चावल पकवाकर, घृत डालकर पति-पत्नी दोनो खायें। ऐसा करनेसे वे दोनो ऐसा ही पुत्र उत्पन्न करनेमें समर्थ होते हैं ।१४।

जो चाहे कि मेरा पुत्र कपिल-वर्ण हो, पिंगलाक्ष हो, दो वेदोका ज्ञाता हो, पूरी आयु भोगे, तो चावल पकाकर उसमें दही तथा घी डालकर पति-पत्नी दोनो खायें। ऐसा करनेसे वे दोनो ऐसा ही पुत्र उत्पन्न करनेमें समर्थ होते हैं ।१५।

जो चाहे कि मेरा पुत्र श्याम-वर्ण हो, लोहिताक्ष हो, तीन वेदोका ज्ञाता हो, पूरी आयु भोगे, तो खाली पानीमें चावल पकाकर उसमें घी डालकर पति-पत्नी दोनो खायें। ऐसा करनेसे वे दोनो ऐसा ही पुत्र उत्पन्न करनेमें समर्थ होते हैं ।१६।

जो चाहे कि मेरी कन्या पडिता हो, पूरी आयु भोगे, तो तिल तथा चावल पकाकर, घी डालकर पति-पत्नी खायें। ऐसा करनेसे वे दोनो ऐसी कन्या उत्पन्न करनेमें समर्थ होते हैं ।१७।

अथ यस्य जायामार्तवं विन्देत्त्र्यहं कंसेन पिबेदहतवासा नैना
वृषलो न वृषल्युपहन्यात्त्रिरात्रान्त आप्लुत्य व्रीहीनवघातयेत् । १३ ।
स य इच्छेत्पुत्रो मे शुक्लो जायेत वेदमनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति
क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै । १४ ।
अथ य इच्छेत्पुत्रो मे कपिलः पिङ्गलो जायेत द्वौ वेदावनुब्रुवीत सर्वमायु-
रियादिति दध्योदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै । १५ ।
अथ य इच्छेत्पुत्रो मे श्यामो लोहिताक्षो जायेत त्रीन्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायु-
रियादित्युदौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै । १६ ।
अथ य इच्छेद्दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति
तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै । १७ ।

जो चाहे कि मेरा पुत्र पंडित हो, प्रख्यात हो, सभा-सोसाइटियोमें जानेवाला हो, प्रियवाणी बोलनेवाला हो, सब वेदोंका ज्ञाता हो, पूरी आयु भोगे, तो माष अर्थात् उडदके साथ चावल पकवाकर पति-पत्नी दोनो खायें। ऐसा करनेसे वे दोनो ऐसा पुत्र उत्पन्न करनेमें समर्थ होते हैं जो शरीरमें बैलके समान और ज्ञानमें ऋषियोंके समान होता है।१८। (इस स्थलमे 'मासौदन'की जगह 'माषौदन' पाठ ठीक है क्योंकि इस सारे प्रकरणमे चावल-घी-दही-तिल आदिका वर्णन है। दही, घी, चावल, तिल आदिके सिलसिलेमे उडद तो प्रकरण-सगत है, मास सर्वथा असगत है।)

अब प्रातःकाल ही थालीमें रखेहुए पाक तथा ढककर रखेहुए घीको अच्छीप्रकार हिलाकर थोडा-थोडा लेकर होम करे और आहुति देताहुआ कहे, यह आहुति अग्निकेलिये है, यह आहुति पति-पत्नीकी सन्तानोत्पत्तिकेलिये जो अनुमति है उसकेलिये है, यह आहुति उस सविता देवकेलिये है जिससे सत्य रूप प्रसव होता है। इसप्रकार हवन कर अवशिष्ट चरुको लेकर उसका भक्षण करे, खाकर कुछ पत्नी को दे। फिर हाथ धोकर पात्रमें जल भरकर पत्नीको तीन बार छीटे दे और कहे हे विश्वकी धन-स्वरूप पत्नी! पतिके साथ मिलकर, अत्यन्त आगे बढनेवाली, अपनेसे भिन्न, अन्य सन्तानकी इच्छा कर।१९।

फिर गर्भाधान करे और पत्नीसे कहे, मैं 'अम' हू, तू 'सा' है, अर्थात् मै 'प्राण' हू, तू 'वाणी' है, तू 'सा' है, मै 'अम' हू, अर्थात् तू

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पण्डितो विगीत समितिगम शुश्रूषिता वाच भाषिता जायेत सर्वान्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति मा॑ँसौदन पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वार्षभेण वा। १८।
अथाभिप्रातरेव स्थालीपाकावृताज्य चेष्टित्वा स्थालीपाकस्योपघात जुहोत्यग्नये स्वाहाऽनुमतये स्वाहा देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नाति प्राश्येतरस्या प्रयच्छति प्रक्षाल्य पाणी उदपात्र पूरयित्वा तेनैना त्रिरभ्युक्षत्युत्तिष्ठातो विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्या स जाया पत्या सहेति। १९।

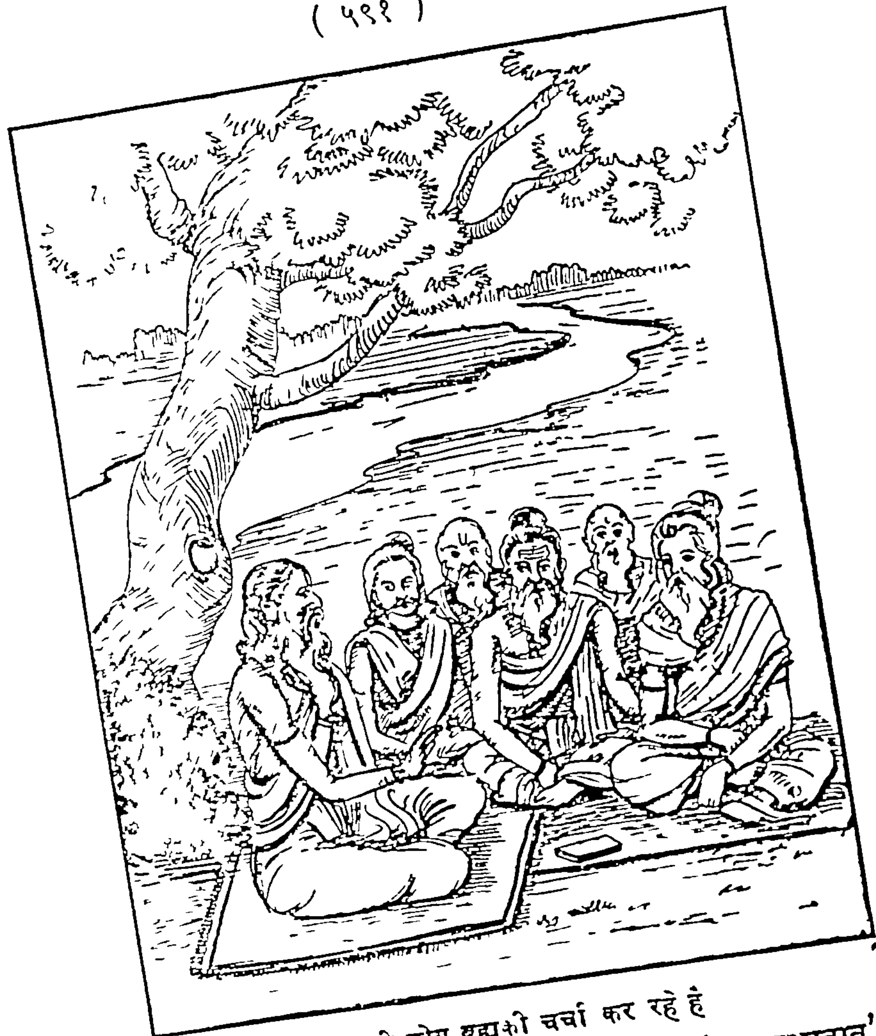
श्वेताश्वतरोपनिषत्

प्रथम अध्याय

किसी समय ब्रह्म-वादी लोग एकत्रित होकर विचार करने लगे—सृष्टिका कारण क्या 'ब्रह्म' है, या कुछ और ? हम कहांसे उत्पन्न हुए हैं ? किससे जीते हैं ? किसमें प्रतिष्ठित, अर्थात् स्थित हैं ? किसकी व्यवस्थामें बंधेहुए हम सुख-दुःखोंमें बरतते हैं ? ।१।

वे विचार करने लगे, सृष्टिका कारण ब्रह्म नहीं, तो क्या है ? क्या 'काल' कारण है ? तभी क्या कोई वस्तु ग्रीष्ममें होती है, कोई शरद्में, कोई वर्षामें। अगर काल कारण नहीं, तो क्या 'स्वभाव' कारण है ? अग्निका स्वभाव ताप है शीतलता नहीं, जलका स्वभाव शीतलता है ताप नहीं। क्या इसीप्रकार सृष्टि स्वभावसे बनी ? अगर स्वभाव भी कारण नहीं, तो क्या 'नियति' कारण है ? हम कुछ चाहते हैं, होता कुछ और है। लोग कहते हैं भाग्यको कौन मेट सकता है ? अगर नियति नहीं, तो क्या 'यदृच्छा' कारण है ? नियतिसे उल्टी यदृच्छा है। कोई नियत नियम नहीं, यूं ही यह सब-कुछ हो रहा है ? ये भी नहीं, तो क्या 'पंच-महाभूत' कारण है ? पंच-भूत नहीं, तो क्या 'योनि' कारण है, अर्थात् माता-पिता ही कारण हैं, पुत्र पितासे, वह अपने पितासे, यही परम्परा चली आ रही है ? ये भी नहीं, तो क्या 'पुरुष', अर्थात् यह 'आत्मा' कारण है ? ये सब अलग-अलग नहीं, तो क्या इन सबका 'संयोग' कारण है ? उत्तर देते हैं, नहीं, इनमेंसे कोई भी कारण नहीं। ये सब कारण 'चिन्त्य'

ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति ।
किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठा ।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् । १ ।



ब्रह्म-वादी लोग ब्रह्मकी चर्चा कर रहे हैं

हैं, विचार-कोटिके हैं, सन्देहास्पद हैं। क्यो ? 'अनात्मभावात्' !
क्योंकि इनमें आत्म-भाव नहीं है, ये स्वय जड हैं। तो फिर क्या
ुरुष —अर्थात् 'आत्मा'—'जीवात्मा' —सृष्टिका कारण है, उसमें तो
'आत्म-भाव' है ?

इसका भी उत्तर देते हैं, नहीं, वह भी कारण नहीं, क्योंकि अगर
जीवात्मा सृष्टिका कारण हो, तो उसे सुख-दुःख कौन देगा। जीवात्मा
को सुख-दुःख तो होता है। वह स्वयं अपनेको सुख-दुःख देनेकेलिये

'भुवस्ते दधामि'-'स्वस्ते दधामि'-'भूर्भुव स्वस्ते दधामि'—इन चार मन्त्रोंसे चार वार दधि-मधु-घृतको चटावे ।२५।

अब इसका नामकरण करे, और कहे, 'वेदोऽसि' - -तू वेद-स्वरूप है, ज्ञान-स्वरूप है । यही इसका गुह्य नाम है, इसका चालू नाम पीछे रखा जाता है ।२६।

फिर इसे माताको देकर उसका स्तन-पान कराये और कहे, हे सरस्वति ! जो तेरा शशय—'श' अर्थात् सुख + उसका 'शय' अर्थात् स्थान—सुखकारी, जो मयोभू अर्थात् आनन्दप्रद, जो रत्नोंको, अनोखे बालकोंको धारण करनेवाला, जो वसुवाला और दूध देनेवाला तेरा स्तन है, जिस स्तनसे तू सब वरनेयोग्य पुत्र-पुत्रियोंको पालती है, उसे इस शिशुकेलिये आगे कर ।२७।

फिर माताको सम्बोधन करे, तू इला है—स्तुति-योग्य है, तू मित्रके समान स्नेहमयी है, तू वरुणके समान न्याय-प्रिया है, 'वीरे वीरमजीजनत्'—तूने वीर पुरुषकी वीर सन्तानको जन्म दिया है, तू वीरवती हो, और हमें भी वीर पुत्रोंवाला बना । इस पुत्रको लोग कहें 'अति पिता बताभू अति पितामहो बताभू '—यह पितासे आगे निकल गया, पितामहसे आगे निकल गया । इस रहस्यको जाननेवाले ब्राह्मणके घर जो पुत्र उत्पन्न होता है वह श्री, यश और ब्रह्मवर्चस्की पराकाष्ठा को प्राप्त करता है ।२८।

अथास्य दक्षिण कर्णमभिनिधाय वाग्वागिति त्रिरय दधि मधु घृतँ सनीयानन्तर्हितेन जातरूपेग प्राशयति । भूस्ते दधामि भुवस्ते दधामि स्वस्ते दधामि भूर्भूव स्व सर्वं त्वयि दधामीति । २५ ।
अथास्य नाम करोति वेदोऽसीति तदस्य तद्गुह्यमेव नाम भवति । २६ ।
अथैन मात्रे प्रदाय स्तन प्रयच्छति यस्ते स्तन शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्य सुदत्र । येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे करिति । २७ ।
अथास्य मातरमभिमन्त्रयते, इलाऽसि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनत् । सा त्व वीरवती भव याऽस्मान वीरवतोऽकरदिति त वा एतमाहु-रतिपिता वताभूरतिपितामहो वताभू परमा वत काष्ठा प्रापच्छ्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवविदो ब्राह्मणस्य पुत्रो जायत इति । २८ ।

षष्ठ अध्याय---[पाचवा ब्राह्मण]

यह विद्या किस गुरु-शिष्य-परंपरा से आई इसका उल्लेख पहले बृहदारण्यक २य अध्याय ६ष्ठ ब्राह्मण तथा ४र्थ अध्याय ६ष्ठ ब्राह्मणमे दिया जा चुका है। यहा एक और परपरा दी गई है जो पहली दोनोसे भिन्न है और पिताके नामपर चलनेके स्थान-पर माताके नामपर चली है। पिताके नामपर तो वश-परपरा हर जगह चलती है, माताके नामपर चलना सिद्ध करता है कि माताका स्थान उस सस्कृतिमे इतने ऊचे दर्जेका था कि उसके नामसे वश प्रसिद्ध हो सकता था। इस प्रकरणमे एक माताका नही, पचासो माताओसे ऋषि-मुनियोकी वश-परपराका उल्लेख है। समाज-शास्त्री माताके नामसे चलनेवाली इस वश-परपराके आधारपर कहते है कि सामाजिक-विकासमे एक ऐसा भी समय था जब परिवारमे पिताके स्थानपर माताका स्थान मुख्य था। इस समयको वे 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) कहते है।

'वाणी' है, मैं 'प्राण' हूं। मैं 'साम' हूं, तू 'ऋक्' है, मैं 'द्यौ' हूं, तू 'पृथिवी' है। हम दोनों मिलकर उद्योग करें, मिलकर वीर्य-स्थापन करें, और पुमान् पुत्रको प्राप्त करें।२०।

अब अलग होकर कहे, पुत्रोत्पत्तिकेलिये मानो द्यु और पृथिवी मिले थे, अब अलग होते हैं। पत्नीकी इच्छामें ही अपनी इच्छाको स्थापित करे, उसके मुखसे जो बात निकले वही अपने मुखसे निकाले, उसका चित्त प्रसन्न रखे, तीन बार उसपर प्यारसे अनुलोम हाथ फेरे और कहे, 'विष्णु' तेरी योनिको स्वस्थ बनाये, 'त्वष्टा' योनिमें बन रहे शिशुके भिन्न-भिन्न रूपोंका मानो तराश-तराशकर निर्माण करे, 'प्रजापति' गर्भको सींचे, 'धाता' गर्भको धारण करे। हे शोभन-केशवाली ! तू गर्भ धारण कर, हे अत्यन्त स्तुतिके योग्य ! तू गर्भ धारण कर, कमलकी मालाको धारण करनेवाले 'अश्वि'-वैद्य तेरे गर्भको बढ़ायें।२१।

सुवर्णकी भांति देदीप्यमान पुरुष तथा स्त्री मानो दो अरणी हैं। अरणियोंके मन्थनसे जैसे अग्नि प्रदीप्त हो उठती है, वैसे इनके मन्थनसे सन्तान-रूपी अग्नि उत्पन्न होती है। 'अश्वि'-वैद्योंकी सहायता से दसवें महीनेमें उत्पन्न होनेकेलिये उस गर्भका हम आवाहन करते हैं। जैसे पृथिवीके गर्भमें 'अग्नि' है, जैसे द्युके गर्भमें 'इन्द्र' है, जैसे दिशाओंके गर्भमें 'वायु' है, इसीप्रकार मैं तेरा गर्भ स्थापित करता हूं।२२।

अथैनामभिपद्यतेऽमोऽहमस्मि सा त्वँ् सा त्वमस्यमोऽहं सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि सँ्रभावहै सह रेतो दधावहै पुँ्से पुत्राय वित्तय इति । २० ।
अथास्या ऊरू विहापयति विजिहीथां द्यावापृथिवी इति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखँ् संधाय त्रिरेनामनुलोमामनुमार्ष्टि विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिँ्शतु । आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते । गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके । गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ । २१ ।
हिरण्मयी अरणी याभ्यां निर्मन्थतामश्विनौ । तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतये । यथाऽग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी । वायुर्दिशां यथा गर्भ एवं गर्भं दधामि तेऽसाविति । २२ ।

प्रसूताको जलके छींटे दे और कहे, जैसे वायु सरोवरको चारोतरफ से चलायमान कर देती है, वैसे तेरा गर्भ चलायमान होकर जारायुके साथ बाहर आ जाय। इन्द्र अर्थात् जीवात्माका यही ससारमें आने का मार्ग है, दस मासतक इस मार्गमें जरायुका अर्गल बना रहता है, हे इन्द्र ! तू गर्भ और पीछे निकलनेवाली अवराके साथ निकल आ।२३।

शिशुके उत्पन्न होनेपर अग्निका आधान करे, शिशुको गोदमें ले, कासेके पात्रमें घृत-मिश्रित दधिको लेकर--इस 'पृषदाज्य'का अग्निमें होम करे और कहे, मैं अपने घरमें सहस्रो वर्षोतक अपने नामद्वारा समृद्ध होताहुआ पुष्टि प्राप्त करूं, मेरे वशमें प्रजा और पशुका कभी उच्छेद न हो। यह कहकर प्रथम आहुति दे। फिर कहे, हे पुत्र ! मेरे भीतर जो प्राण है उन्हें मनद्वारा तुझमें समर्पित करता हू। यह कहकर दूसरी आहुति दे। फिर कहे, जो-कुछ मैने अधिक या न्यून कर्म किया है, उसे जानताहुआ 'स्विष्टकृत् अग्नि' स्विष्ट और सुहुत बनाये--स्विष्ट अर्थात् 'सु+इष्ट', सुन्दर यज्ञ और सुहुत अर्थात् 'सु+हुत' सुन्दर आहुति रूप बना दे।२४।

फिर शिशुके दायें कानके पास मुख करके वाक्-वाक्-वाक्-- इसप्रकार तीन बार उच्चारण करे, और दधि-मधु-घृतको मिलाकर शुद्ध-सुवर्णकी शलाकासे उसे चटाये, और कहे, मैं तुझमें 'भू', तुझमें 'भुव' और तुझ ही में 'स्व'को धारण करता हू, मैं 'भू भुव स्व'-- इन तीनो लोकोको तुझमें ही धारण करता हू। 'भूस्ते दधामि'-

---

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति, यथा वायु पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वत । एवा ते गर्भ एजतु सहावैतु जरायुणा। इन्द्रस्याय व्रज कृत सार्गल सपरिश्रय। तमिन्द्र निर्जहि गर्भेण सावरां सहेति।२३। जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क आधाय कंसे पृषदाज्यं सनीय पृषदाज्यस्योपघात जुहोत्यस्मिन्सहस्र पुष्यासमेधमान स्वे गृहे। अस्योपसद्या मा च्छैत्सीत् प्रजया च पशुभिश्च स्वाहा। मयि प्राणांस्त्वयि मनसा जुहोमि स्वाहा। यत्कर्मणाऽत्यरीरिच यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्वान्स्विष्टं सुहुत करोतु न स्वाहेति।२४।

सृष्टिकी रचना क्यो करने लगा ? इसप्रकार ये आठो सृष्टिके कारण नहीं ।२।

तब वे ध्यान-योगके पीछे चले, और देखा। यह देखा कि उस देवकी आत्म-शक्ति इतनी महान् है कि अपने गुणोकी महानताके कारण ही वह आत्म-शक्ति निगूढ हो गई है, इतनी महान् है कि दीखती नहीं। वही देव 'काल'से लेकर 'आत्मा'तक जिन ८ का ऊपर उल्लेख किया गया है, इन सब कारणोका अकेला अधिष्ठाता है ।३।

उन्होने 'ब्रह्म-चक्र'को देखा । गीतामें कहा है, 'भ्रामयन् सर्व-भूतानि यन्त्रारूढानि मायया'—वह मानो सबको यन्त्रपर चढाकर घुमा रहा है। वह यन्त्र 'ब्रह्म-चक्र' है। 'चक्र'का अर्थ है, 'पहिया'।

पहियेकी परिधिको 'नेमि' कहते है, इस 'नेमि'पर ही पहिया घूमता है। चक्रकी 'एक' ही नेमि होती है, 'ब्रह्म-चक्र' की नेमि 'प्रकृति' है, 'प्रकृति'पर ही 'ब्रह्म-चक्र' चल रहा है।

पहियेपर लोहेका वृत्त, अर्थात् लपेट चढा होता है, 'ब्रह्म-चक्र'पर सत्त्व-रज-तमके तीन वृत्त—तीन लपेटें चढ़ी है, अत वह 'त्रिवृत्त' है।

पहिया गोल होता है, अत किसी एक लकडीसे तो बनता नहीं, १६ कुछ-कुछ कुबडी लकडियोको एक-दूसरीके साथ गांठनेसे गोलाकार बनता है, ब्रह्म-चक्रमें इन १६को विकार कहा है। साख्य-कारिकामें लिखा है, 'मूल प्रकृतिरविकृति महदाद्या प्रकृति-विकृतय सप्त। षोडशकस्तु विकार न प्रकृतिर्न विकृति पुरुष'। 'षोडशकस्तु विकार'—'विकार १६ है', ये १६ 'ब्रह्म-चक्र'के 'अन्त' है, सिरे है, इनके आगे प्रकृतिका विकार नहीं होता। पंच-महाभूत, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय और मन—ये १६ विकार 'ब्रह्म-चक्र'के १६ सिरे है, टुकडे है, जिनके जोडसे 'ब्रह्म-चक्र' बना है।

काल स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनि पुरुष इति चिन्त्यम्।
सयोग एषा न त्वात्मभावादात्माप्यनीश सुखदु खहेतो । २ ।
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम् ।
य कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येक । ३ ।

पहियेके ५० अरे होते हैं। अरे वे लकड़ियां हैं, जो चक्रको दृढ़ बनानेकेलिये चक्र और नाभिमें लगी होती हैं। सांख्य-कारिकाने बुद्धिके ५० प्रकार कहे हैं—'एष प्रत्यय सर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टि-सिद्धाख्या गुणवैषम्य विमर्दात् तस्य च भेदास्तु पचाशत्'—अर्थात्, गुणोंके न्यूनाधिक होनेसे 'प्रत्यय' अर्थात् 'बुद्धि'के ५० भेद हैं। वे हैं, 'विपर्यय', 'अशक्ति', 'तुष्टि' और 'सिद्धि'—ये चार, तथा इनके अवान्तर-भेद। इनके अवान्तर-भेदोंका वर्णन करतेहुए सांख्यकारिका कहती है—'पंच विपर्ययभेदा भवत्यशक्तिश्च करणवैकल्यात् अष्टा-विंशतिभेदा, तुष्टिर्नवधाऽष्टधासिद्धि.'—अर्थात्, 'विपर्यय'के ५, 'अशक्ति'के २८, 'तुष्टि'के ९, 'सिद्धि'के ८—इसप्रकार बुद्धिके ५० भेद हुए। ये ५० ही 'ब्रह्म-चक्र'के ५० अरे हैं।

'विपर्यय'के ५ भेद—'विपर्यय'के ५ भेद कौन-से हैं ? 'विपर्यय', अर्थात् 'अज्ञान' या 'अविद्या'के भेद सांख्यने 'तम', 'मोह', 'महामोह', 'तामिस्र' और 'अन्धतामिस्र'—ये ५ कहे हैं। इनमेंसे 'तम'के ८, 'मोह'के ८, 'महामोह'के १०, 'तामिस्र'के १८ और 'अन्धतामिस्र'के १८ भेद कहे हैं।

आठ प्रकारका 'तम' क्या है ? मन, बुद्धि, अहंकार तथा पंच-तन्मात्र—इन आठको जो 'अनात्म' है, 'आत्मा' समझना आठ प्रकारका 'तम' है।

आठ प्रकारका 'मोह' क्या है ? अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व—इन आठ सिद्धियोंमें रम जाना आठ प्रकारका 'मोह' है।

दस प्रकारका 'महामोह' क्या है ? इस लोकमें तथा परलोकमें दस इन्द्रियोंके दस विषयोंके भोगकी उत्कट कामना १० प्रकारका 'महामोह' है।

अठारह प्रकारका 'तामिस्र'-नामक अज्ञान क्या है ? आठ सिद्धियों तथा दस इन्द्रियोंके विषयोंके भोग न प्राप्त होनेपर एक-एककेलिये जो क्रोध उत्पन्न होता है वह १८ प्रकारका 'तामिस्र' है।

अठारह प्रकारका 'अन्ध-तामिस्र' क्या है ? आठ सिद्धियो तथा दस इन्द्रियके विषयोका आधा भोग मिले, और विघ्न-बाधाओसे या मृत्युसे बीचमें ही ये भोग नष्ट होते नजर आने लगें, तब जो हाय-हाय मचाना है वह 'अन्ध-तामिस्र' है।

'अशक्ति'के २८ भेद—'अशक्ति'के २८ भेद कौन-से है ? दस इन्द्रियोमें दस प्रकारकी शक्ति न रहे, यह तो 'इन्द्रियोकी अशक्ति' हुई। इन दसके अलावा १८ प्रकारकी 'मनकी अशक्ति' है। अभी हम ९ तुष्टियोका वर्णन करेंगे, ये तुष्टिया 'मनकी शक्ति'की सूचक है, इनका न होना 'मनकी अशक्ति' है। इन ९ तुष्टियोकी कमीको दो-दो प्रकारसे देखा जा सकता है जिससे तुष्टिकी कमीके १८ भेद हो जाते है। १० प्रकारकी इन्द्रियोकी अशक्ति और १८ प्रकारकी अतुष्टि मिलकर २८ 'अशक्तिया' होजाती है। 'तुष्टि'के सम्बन्धमें दो-दो प्रकार यू होते है। कोई व्यक्ति धनके बिना सन्तुष्ट है, तो कोई धन मिलनेपर उसे छोड सकता है। जो धनके बिना सन्तुष्ट है उसमें 'अभावात्मक-गुण' (Negative virtue) है, जो धनको छोड सकता है उसमें 'भावात्मक-गुण' (Positive virtue) है। इन दोनो प्रकारकी तुष्टियोका न होना 'मनकी अशक्ति' है जिसके १८ प्रकार कहे गये है।

'तुष्टि'के ९ भेद—'तुष्टि'के ९ भेद कौन-से है ? कोई व्यक्ति 'तत्त्व-ज्ञान'के कारण सतुष्ट है, कोई 'वैराग्य'के कारण, कोई 'रुढि'के कारण, कोई 'भाग्य'के कारण, कोई 'अहिसा', 'सत्य', 'अस्तेय', 'ब्रह्मचर्य' तथा 'अपरिग्रह'को जीवनका ध्येय बनालेनेके कारण। ये ९ तुष्टिया है।

'सिद्धि'के ८ भेद—'सिद्धि'के आठ भेद कौन-से है ? 'जन्म-सिद्धि', 'शब्द-सिद्धि', 'शास्त्र-सिद्धि', 'आध्यात्मिक-ज्ञान सिद्धि', 'आधिभौतिक-ज्ञान सिद्धि', 'आधिदैविक-ज्ञान सिद्धि', 'सत्सग-सिद्धि' तथा 'गुरु-सिद्धि'—ये आठ सिद्धिया है।

इसप्रकार ५ 'विपर्यय', २८ 'अशक्तिया', ९ 'तुष्टि' तथा ८ 'सिद्धि' मिलकर 'ब्रह्म-चक्र'के ५० अरे कहे गये है।

पहियेके २० प्रत्यरे—छोटे अरे—होते हैं। 'ब्रह्म-चक्र'में दस इन्द्रियां और दस उनके विषय—ये बीस प्रत्यरे हैं।

पहियेमें ६ अष्टक होते हैं। 'ब्रह्म-चक्र'में 'प्रकृत्यष्टक', 'धातु-अष्टक', 'सिद्धि-अष्टक', 'मदाष्टक', 'अशुभाष्टक', 'धर्माष्टक'—ये छ अष्टक हैं। 'प्रकृत्यष्टक'में अहंकार, बुद्धि, मन तथा पञ्च-तन्मात्र आ जाते हैं। 'धातु-अष्टक'में त्वक्, चर्म, मांस, रुधिर, मेदा, अस्थि, मज्जा, वीर्य आ जाते हैं। 'सिद्धि-अष्टक'में अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व आ जाते हैं। 'मदाष्टक'में तनमद, धनमद, जनमद, बलमद, ज्ञानमद, बुद्धिमद, कुलमद, जातिमद आ जाते हैं। 'अशुभाष्टक'में अशुभ सोचना, सुनना, देखना, बोलना, स्पर्श करना, करना, कराना, होने देना आ जाते हैं। 'धर्माष्टक'में नित्य-धर्म, निमित्त-धर्म, देश-धर्म, काल-धर्म, कुल-धर्म, जातीय-धर्म, आपद्धर्म और अपवाद-धर्म आ जाते हैं। 'ब्रह्म-चक्र'में ये छ अष्टक हैं—आठ-आठका छक्का है।

पहिया पाशोंसे बंधा होता है। 'ब्रह्म-चक्र' भी विश्वके रूप-रूपी पाशसे बंधाहुआ है।

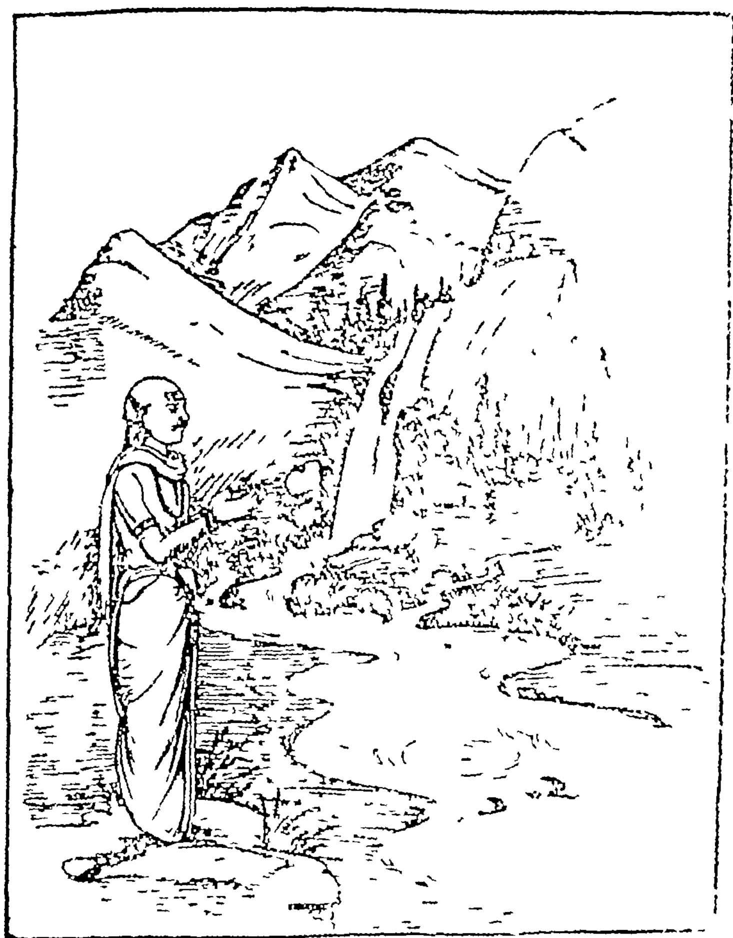
पहिया आगे, पीछे या इधर-उधर—इन तीन मार्गोंका भेदन करता है। 'ब्रह्म-चक्र' भी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय-रूप तीनों मार्गोंका भेदन करता है।

यह 'ब्रह्म-चक्र' शुभ तथा अशुभ इन दो निमित्तोंसे चल रहा है, परन्तु असलमें इस चक्रके निरन्तर चलनेका कारण केवल एक है, और वह कारण है—'मोह' ।४।

संसार, अर्थात् 'ब्रह्माण्ड'का 'ब्रह्म-चक्र'के रूपमें दर्शनकर अब शरीर, अर्थात् 'पिंड'की एक प्रचण्ड नदीसे तुलना करते हैं। जैसे नदीका पाट कई सोतोंसे फूटता है, वैसे शरीर-रूपी नदीको पांचों

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ।४।

ज्ञानेन्द्रियां पांच सोते हैं, इनमेंसे ज्ञान-रूपी जल फूटकर निकल रहा है। जैसे नदीके सोतोंकी योनि, उनका कारण पहाड़ होता है, उसीके बड़े-छोटे होनेसे नदी उग्र तथा वक्र हो जाती है, वैसे पांचों इन्द्रियोंके उत्पत्ति-स्थान पंच महाभूत हैं जिनके कारण यह नदी उग्र है, वेगवाली है, वक्र है, टेढ़े-मेढ़े मार्गोंमें बहती है। नदीमें तरगें उठा करती हैं, शरीर-रूपी नदीमें पांचों प्राण ही तरगें हैं। जैसे नदी अपने मूलसे प्रारंभ होती है, वैसे इस शरीर-रूपी नदीका



जीवनका प्रवाह नदीके प्रवाहकी तरह बह रहा है

आदि-मूल पंच-बुद्धि है—किसीकी बुद्धि 'रूप'में है, किसीकी 'रस'में, किसीकी 'स्पर्श'में, किसीकी 'शब्द'में, किसीकी 'गन्ध'में । इन्हीं विषयोंमें बद्ध-मूल होनेके कारण यह नदी बहती चली जा रही है। जैसे नदीमें आवर्त होते हैं, भंवर होते हैं, वैसे शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इस नदीके भंवर हैं, जिनमें जीवात्मा डूबने लगता है। जैसे नदीमें कभी-कभी प्रवाह उमड आता है, वैसे गर्भ, जन्म, जरा, व्याधि, मरण—ये पांच दुःखोंके प्रवाह हैं। जैसे नदीको तैरनेके पचासों भेद होते हैं, रहस्य होते हैं, वैसे इस शरीर-रूपी नदीको तैरनेके भी पचासों भेद हैं, पचासों तरीके हैं। जैसे नदीके जोड होते हैं, वैसे शरीर-रूपी नदीके भी अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश—ये पांच जोड हैं।५।

सब जीव उसी महान् 'ब्रह्म-चक्र'में जीते हैं, उसीमें स्थित हैं, उसी 'ब्रह्म-चक्र'में इस 'हंस'को, जीवात्माको, कोई घुमा रहा है। अपनेको इस चक्रके प्रेरकसे पृथक् जानकर जो उसकी प्रीतिका पात्र बन जाता है, वह 'अमृतत्व'को प्राप्त हो जाता है । 'चक्र'को चलता देखकर जैसे उसपर बैठा 'हंस' अपनेको ही उस 'चक्र'का चलानेवाला समझ बैठता है, वैसे इस 'ब्रह्म-चक्र'को चलता देखकर 'जीवात्मा' अपनेको इसका चलानेवाला समझने लगता है । जो अपनेको नहीं, परन्तु उसे सबका प्रेरक समझकर उसकी प्रीतिमें लग जाता है वह अमर हो जाता है ।६।

हमने यह जो-कुछ गाया वह परम-ब्रह्मका गीत गाया। इस ब्रह्ममें 'ईश्वर', 'जीव', 'प्रकृति' ये तीन अक्षर, अर्थात् अविनाशी तत्त्व सुप्रतिष्ठित हैं। 'ब्रह्म' इन तीनोंसे अलग है । ब्रह्मवित् लोग इन तीनोंमें

पञ्चस्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः । ५ ।
सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति । ६ ।

अन्तरको, भेदको, जानकर, ब्रह्ममें लीन होकर, उसीमें तत्पर होकर, योनिसे, अर्थात् जन्मके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं ।७।

प्रकृतिको अभी 'अक्षर'—'अविनाशी'—कहा, परन्तु वह 'क्षर'—'विनाशी'—भी है । कारण-रूपमें वह 'अक्षर' है, कार्य-रूपमें, पृथिव्यादि-रूपमें वह 'क्षर' है । उसका अक्षर-रूप 'अव्यक्त' है, क्षर-रूप 'व्यक्त' है, दीखता है । विश्वके इन क्षर-अक्षर, व्यक्त-अव्यक्त दोनो रूपोको 'ईश' पालता है । जीवात्मा 'अनीश' है, वह संसारके भोग में पड़ जाता है, और भोगोमें पड जानेके कारण उन्हींसे बंध जाता है । जब जीवात्मा देवके दर्शन कर लेता है तब सब प्रकारके पाशोसे, बन्धनोसे मुक्त हो जाता है ।८।

दो 'अज' है—'ज्ञ' और 'अ ज्ञ' । 'ज्ञ' ईश है, 'अ ज्ञ' अनीश है । इन दो 'अजो' के अतिरिक्त एक तीसरी 'अजा' है । दो 'अज' (ईश्वर और जीव) और एक 'अजा' (प्रकृति) है—इसमें भोक्ता और भोग्य दोनोके गुण हैं । चौथा आत्मा अनन्त है, विश्व-रूप है, अकर्ता है । जब पहले तीनको—ईश (ईश्वर), अनीश (जीव), प्रकृति (प्रकृति)—प्राप्त कर लेता है—दो 'अज' और एक 'अजा'—तब इस चौथे 'ब्रह्म'को प्राप्त करता है । यहा 'ब्रह्म'को इन तीनोसे अलग कहा है । इन तीनोकी महानताके ज्ञानके बाद जो असीमताका ज्ञान है, वही ब्रह्मका ज्ञान है ।९।

'प्रधान', अर्थान् प्रकृति 'क्षर' है, खर जानेवाली है, 'अमृत', अर्थात् ईश्वर 'अक्षर' है, 'हर' है, खरनेवाला नहीं है, हरनेवाला है । क्षर-रूपा प्रकृति तथा जीवात्मा—इन दोनोपर स्वामित्व उसी एक

उद्गीतमेतत्परम तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रय सुप्रतिष्ठाऽक्षर च ।
अत्रान्तर ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ता । ७ ।
सयुक्तमेतत्क्षरमक्षर च व्यक्ताव्यक्त भरते विश्वमीश ।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशै । ८ ।
ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रय यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् । ९ ।

देवका—ईश्वरका है। उसी देवके ध्यानसे, उसके साथ अपनेको जोड देनेसे, अपनेको मिटाकर उसीमें लीन हो जानेसे सदाकेलिये यह आत्मा 'विश्व-माया'से निवृत्त हो जाता है, मायाके बन्धनोंसे छूट जाता है।१०।

उस देवको जानकर सब पाश छूट जाते हैं, पाशोंके, अविद्यादि क्लेशोंके छूट जानेसे जन्म-मृत्यु छूट जाते हैं। पहले पाश छूटना, फिर देह छूटना—ये दो अवस्थाएं हुईं। अभीतक देहके कारण संसारके सुख प्राप्त होते थे परन्तु अब देह छूटनेके बाद तृतीय-अवस्था आती है जब देवके ध्यानसे ही विश्वके ऐश्वर्यको, सुख आदिको प्राप्त कर लेता है, 'केवल' हो जाता है, अर्थात् अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाता है, 'आप्त-काम' हो जाता है, कोई कामना उसे प्राप्त नहीं—ऐसा नहीं होता।११।

वह नित्य 'देव' कहीं दूर नहीं, आत्मामें ही स्थित है, उसीको जानना चाहिये। उसे जाननेके बाद, उससे परे, जानने योग्य कुछ भी नहीं रहता। जीव 'भोक्ता' है, प्रकृति 'भोग्य' है, ईश्वर 'प्रेरक' है—'भोक्ता', 'भोग्य' और 'प्रेरक'—यह त्रिविध ब्रह्म है। 'ब्रह्म', अर्थात् महानताके ये ही तो तीन रूप हैं।१२।

जैसे अग्नि जब अपने कारणमें चली जाती है तब उसकी मूर्ति तो नहीं दीख पडती परन्तु उसका नाश नहीं होता, इन्धनके रूपमें उसका कोई-न-कोई लिंग बना रहता है जिससे वह फिर-फिर ग्रहण की जा सकती है, इसीप्रकार 'प्रणव', अर्थात् ओंकारके द्वारा 'देह'में जीव तथा ईश्वर दोनोंको ग्रहण किया जा सकता है।१३।

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।१०।
ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः।११।
एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किंचित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।१२।
वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे।१३।

अपने 'देह'को नीचेकी और 'प्रणव'को ऊपरकी अरणि बनाकर, 'ध्यान'की रगडके अभ्याससे, बार-बार करनेसे, छिपीहुई आगकी भांति जीव तथा ईश्वरकी ज्योतिको देखे ।१४।

जैसे तिलोंमें तेल, दहीमें घृत, स्रोतोंमें जल, अरणियोंमें अग्नि रहती है, और तिलोंको पीडनेसे, दहीको बिलोनेसे, स्रोतोंको खोदनेसे, अरणियोंको रगडनेसे ये प्रकट होते हैं, वैसे जीवात्मामें परमात्मा निहित है और वहीं उसका ग्रहण होता है, परन्तु वह दीखता 'सत्य' और 'तप'की रगडसे है ।१५।

दूधके कण-कणमें जैसे घृत व्याप्त है इसीप्रकार सर्वव्यापी आत्माको जानकर 'आत्म विद्या' और 'तप' से उसे जान लेना ही 'परम-ब्रह्मोपनिषत्' है, 'परम-ब्रह्मोपनिषत्' है ।१६।

द्वितीय अध्याय

परमेश्वर संसारका 'प्रसव' करनेवाला है, 'सविता' है। उसने सृष्टि कैसे रची ? सर्व-प्रथम 'प्रकृति' थी, प्रकृतिसे महान् हुआ—'महत्-तत्त्व' हुआ। —'प्रकृतेर्महान्' । 'महत्-तत्त्व'का नाम ही 'बुद्धि' है, 'धी' है। अर्थात्, 'प्रकृति' (Matter)से 'धी' (Consciousness) हुई। 'धी'के संयोगसे उत्पत्तिकी शृंखलामें आगे-आगे चलकर 'मनस्-तत्त्व' (Mind) हुआ। उसके अनन्तर उत्पत्तिकी शृंखला ज्यों-ज्यों बढी, तो आगे चलकर ज्योतिकेलिये 'अग्नि' हुई, और यह उत्पत्ति-क्रम 'पृथिवी'तक आकर पूर्ण हुआ। संक्षिप्त उत्पत्ति-क्रम यह है—प्रकृति—धी—मनस्—अग्नि—पृथिवी ।१।

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ॥ १४ ॥
तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः ।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥ १५ ॥
सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् । आत्म-
विद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परं तद्ब्रह्मोपनिषत्परमिति ॥ १६ ॥
युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥ १ ॥

जिसप्रकार सविता-देवका यह सृष्टि-रूप प्रसव-यज्ञ है, और इसमें उत्तरोत्तर उसकी शक्ति प्रकट होती है, इसीप्रकार हम भी स्वर्ग-रूपी शक्तिको प्रकट करनेकेलिये मन-पूर्वक लग जाय ।२।

सम्पूर्ण-सृष्टि 'सुव'की तरफ़, सुखकी तरफ़ जा रही है । लक्ष्य सुख ही है । इस सृष्टिमें जो द्यु-लोक है, जो देव है, जो महान् ज्योति करनेवाले नक्षत्र हैं—इन सबका 'धी' और 'मनस्'के संयोगसे सविता ही प्रसव करनेवाला है ।३।

विप्र लोग, ज्ञानी लोग, अपने 'धी' और 'मनस्'को, उस विप्र, महान् ज्ञानी, सर्वज्ञ भगवान्‌के 'धी' और 'मनस्'के साथ जोड देते हैं, जिसने इकले ही हमारे कर्मोको जानतेहुए 'होता'के रूपमें यह सृष्टि-रूपी यज्ञ रचा । सविता-देवकी यह कितनी महान् स्तुति है ।४।

पूर्व्य-ब्रह्मको, अर्थात् सृष्टिके प्रसवसे पूर्व जो ब्रह्म था, उसे मैं नमस्कार करता हू, मेरे मार्गमें कीर्ति ऐसे फैले जैसे किसी शूर-वीरके मार्गमें कीर्ति फैल जाती है । तुम जो दिव्य-धामोमें पहुंच चुके हो, हे सम्पूर्ण अमृत-पुत्रो, मेरी प्रार्थनाको सुनो ।५।

जिस दिव्य-धाममें तुम हो, मेरा मन भी उस दिव्य-धाममें जा पहुचे । ऐसा दिव्य-धाम जिसमें 'अग्नि' मथी जाती है, प्रचड हो जाती है, 'वायु' जुड जाता है, प्रबल हो जाता है, और जिसमें 'सोम'का अतिरेक हो जाता है, अर्थात् सोमको जब निचोडा जाता है तो वह लबालब भर जाता है । सोम-यागमें जैसे 'अग्नि', 'वायु' और 'सोम' की आवश्यकता है, वैसे समाधिके दिव्य-धाम-रूपी-यागमें मथने-

---

युक्तेन मनसा वय देवस्य सवितु सवे । सुवर्ग्याय शक्त्या । २ ।
युक्त्वाय मनसा देवान्सुवर्यतो धिया दिवम् ।
बृहज्ज्योति करिष्यत सविता प्रसुवाति तान् । ३ ।
युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चित ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितु परिष्टुति । ४ ।
युजे वा ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरे ।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थु । ५ ।

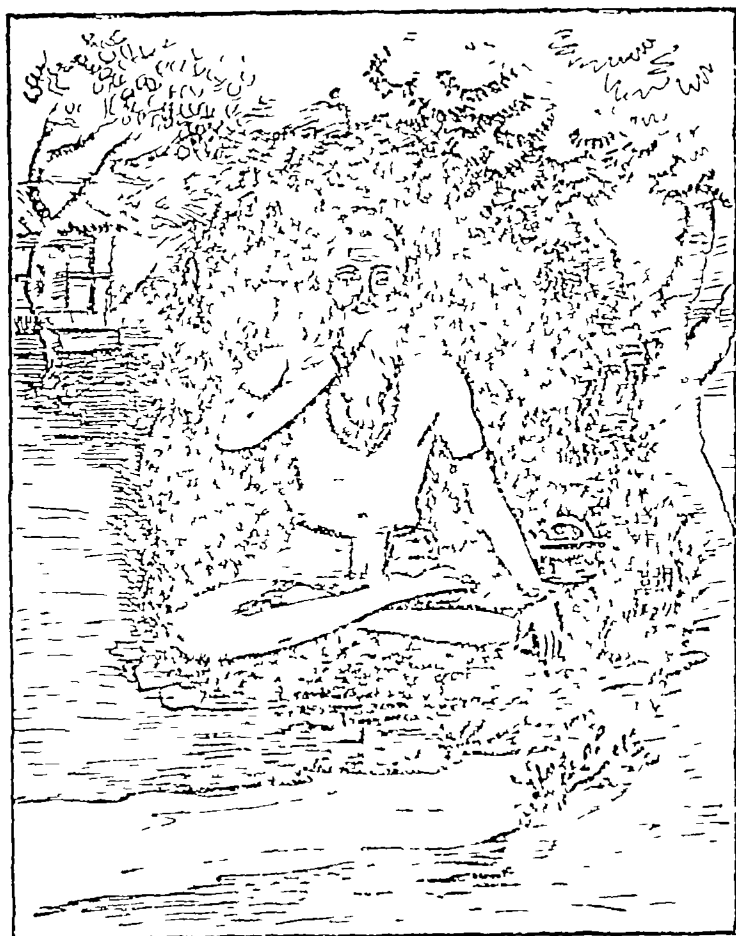
पर 'परमात्म-ज्योति' प्रकट होती है, यही मानो 'अग्नि' है, 'प्राणा-याम' के रूपमें वायु प्रचंड हो जाती है, यही मानो 'वायु' है, और 'प्रसाद-भाव' लबालब भर जाता है, यही मानो 'सोम-रस' है ।६।

'सविता'ने सृष्टिका जो महान् प्रसव किया है उसे देखकर सृष्टि के पूर्व वर्तमान ब्रह्मके साथ प्रीति करे क्योंकि उसी ब्रह्मने सविताके रूपमें यह प्रसव किया है। अगर तू भी उसीके प्रसवमें अपना स्थान बना ले—जैसे वह सृष्टिका प्रसव कर रहा है उस प्रसवके साथ साथ तू अपना भी प्रसव होने दे, उसीपर अपनेको छोड़ दे—तो तू प्रसवसे पूर्व नहीं गिरेगा। जो भगवान्के रचे सृष्टि-क्रमके साथ अपनेको नहीं जोडता, वह ऐसे ही गिर जाता है जैसे प्रसवसे पूर्व बच्चा, उसका मानो गर्भपात हो जाता है ।७।

जैसे तैरते समय सिर, गर्दन, छाती उन्नत रखी जाती है, ऐसे ही शरीरके इन तीन भागोंको उन्नत रखकर, इन्द्रियोंको मनके अधीन और मनको हृदयमें निविष्ट करके विद्वान् व्यक्ति 'ब्रह्म'-नाम रूपी नौकापर सवार होकर संसार-रूपी नदीके जितने पाप-रूपी भयावह स्रोत है सबको तर जाय ।८।

चेष्टाओंको वशमें करके प्राणको भीतर रोके, उसका पीड़न करे। जब प्राण भीतर न रुके, वह क्षीण होने लगे, तब नासिकासे उसे बाहर निकाल दे। दुष्ट घोडोंवाले रथमें जैसे घोडोंको वशमें किया जाता है, वैसे अप्रमादी होकर प्राणायामके साधनसे मन-रूपी घोडेको वशमें करे ।९।

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते ।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः ।६।
सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम् ।
तत्र योनिं कृणवसे न हि ते पूर्तमक्षिपत् ।७।
त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ।८।
प्राणान्प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत ।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ।९।



प्राणायाम शान्त तथा स्वच्छ स्थानपर करे

मनको वशमें करनेवाले प्राणायामका यह प्रयोग ऐसे स्थानमें करे जो सम हो, पवित्र हो, अग्नि, कङ्कड-रेतसे रहित हो, जो जलके कल-कल-रव तथा लतादिके आश्रयके कारण मनोनुकूल हो, जहा आखोंको कष्ट न हो, गुफा हो—जहा वायुके झोंके न चलें ।१०।

जब योगी ब्रह्मका ध्यान करता है, तो उसे शुरू-शुरूमें भिन्न-भिन्न

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभि ।
मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ।१०।

रूप दिखाई देते हैं। कुहरा-सा, धूआ-सा, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, बिजली, स्फटिक, चन्द्र—इनकी ज्योतियां दिखाई देती हैं। योगमें ब्रह्म-दर्शनसे पहले-पहल ये रूप ब्रह्मको अभिव्यक्त करनेकेलिये होते हैं। ब्रह्मका इतना भारी प्रकाश है कि उसे सहनेकेलिये पहले ये प्रकाश दिखाई देते हैं ताकि योगी उस प्रकाशको झेल सके।११।

योगका गुण, उसका फल कब प्रवृत्त होता है, कब मिलता है? जब पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश—ये पंचात्मक महाभूत उठ खड़े होते हैं, जब योगी इन्हें सिद्ध कर लेता है। पांच भूतोंको वश करनेके अनन्तर योगीका शरीर योगकी अग्निसे देदीप्यमान हो जाता है, उसे रोग नहीं सताता, उसे जरा और मृत्यु नहीं सतातीं, वह रोग हीन, जरा-हीन, मृत्यु-हीन हो जाता है।१२।

योगमें प्रवृत्तिका पहला फल यह होता है कि योगीका शरीर हलका हो जाता है, नीरोग हो जाता है, विषयोंकी लालसा मिट जाती है, कान्ति बढ़ जाती है, स्वर मधुर हो जाता है, शरीरसे सुगन्ध निकलता है, मल-मूत्र अल्प हो जाता है।१३।

जैसे मिट्टीसे लत-पत स्वर्ण-पिंड खूब धोनेपर तेजोमय होकर चमकने लगता है, इसीप्रकार देहको कीच समझ जानेवाला जब उसके भीतर प्रकाशमान आत्म-तत्त्वको देख लेता है, तब संसारकी 'अनेकता'मेंसे अपनेको खींचकर, 'एक' हो जाता है, कृतार्थ और वीत-शोक हो जाता है।१४।

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे।११।
पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।१२।
लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति।१३।
यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधौन्तम्।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः।१४।

जैसे दीपसे दूसरे पदार्थ देखे जाते हैं, ऐसे जब योगी आत्म-तत्त्वके प्रकाशसे ब्रह्म-तत्त्वको सावधान होकर देख लेता है, तब सब तत्त्वोंसे अधिक शुद्ध, अज, ध्रुव, देवको जानकर सब बन्धनोंसे छूट जाता है ।१५।

वही देव सब दिशाओं-प्रदिशाओंमें अनुव्याप्त है, वही सृष्टिके पूर्व प्रकट हुआ था, वही प्रत्येक पदार्थके भीतर वर्तमान है । जो-कुछ उत्पन्न हुआ, वह वही था, जो उत्पन्न होगा, वह भी वही होगा । जिधर देखो उधर उसीका मुख दिखलाई देता है—सब तरफ मानो अपने मुखको लेकर वह हमारे सामने आ खड़ा होता है—'जिधर देखता हूं उधर तू ही तू है' ।१६।

जो भगवान् अग्निमें है, जलोंमें है, सम्पूर्ण भुवनमें सब जगह पहुंचा हुआ है, जो औषधियोंमें है, वनस्पतियोंमें है—उस देवको नमस्कार हो, नमस्कार हो ।१७।

तृतीय अध्याय

संसारके माया-जालको बिछानेवाला वही एक है, अपनी शक्तियोंसे वही इस माया-जालका स्वामी है, अपनी शक्तियोंसे सब लोकोंका भी वही स्वामी है । संसारके उद्भव और संभवमें, उत्पत्ति और स्थितिमें वही एक कार्य कर रहा है । जो यह जान जाते हैं, वे अमृत हो जाते हैं ।१।

रुद्र-रूप भगवान् एक ही है । 'दूसरा भी है'—यह कहनेवाले

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।१५।
एष ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ।१६।
यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ।१७।
य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
य एवैक उद्भवे संभवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।१।

टिक नही सकते। वही अपनी शक्तियोसे इन लोकोका स्वामी है। सृष्टिका सर्जन करनेके बाद वही इसकी रक्षा करता है, और अन्त-कालमें वही इसे समेट लेता है। इस सृष्टिके रूपमें वह हरेक व्यक्तिके सामने मानो प्रत्यक्ष खड़ा है।२।

उसके नेत्र सब जगह है, वह सब-कुछ देख रहा है; उसका मुख सब जगह है, परमाणु-परमाणु में उसके दर्शन होते है, उसकी भुजाएँ सब जगह है, जहा चाहो उसकी अगुली पकड सकते हो, उसके पाव सब जगह है, कौन-सी जगह है जहां वह नहीं पहुचाहुआ ? जैसे कोई लोहार किसी वस्तुकी रचना करताहुआ हाथोसे धौंकनीको धौंकता है, वैसे वह एक देव, द्यु और पृथिवीकी मानो धौंकनी धौंक रहा है।३।

जो देवोका प्रभव तथा उद्भव करनेवाला है, जो विश्वका स्वामी है, रुद्र-रूप है, महर्षि है, जिसने सृष्टि-रचनासे पूर्व 'हिरण्यगर्भ' (Nebula) की रचना की, वह हमें शुभ बुद्धिसे सयुक्त करे।४।

पर्वतोपर जो गम्भीर शान्ति विराज रही है उसका सचार करने-वाले रुद्र ! तेरा जो शिव, अघोर तथा पाप-रहित रूप है, उस शान्ति-मय रूपसे हमारी तरफ आख उठाकर देख, हमें भी उसीप्रकारकी शान्तिका वर-दान प्रदान कर।५।

हे रुद्र, तुम 'गिरिशन्त' हो, पर्वतोमें स्तब्धता, शान्ति उत्पन्न करने-वाले हो। जिस वाणको फेंकनेकेलिये तुम हाथमें लियेहुए हो उससे

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाल्लोकानीशत ईशनीभि ।
प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सचुकोचान्तकाले समृज्य विश्वा भुवनानि गोपा ।२।
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
स बाहुभ्या धमति स पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एक ।३।
यो देवाना प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षि ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्धया शुभया सयुनक्तु ।४।
या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी ।
तया नस्तनुवा शतमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ।५।

हे रुद्र, जैसे तुम वन-पर्वतोंकी रक्षा करते हो, गिरित्र हो, वैसे इस पुरुषकी, और इस जगत्की भी रक्षा करो, इनका भी कल्याण करो।६।

'रुद्र'-रूप भगवान्के दर्शन करनेके बाद 'ब्रह्म'के दर्शन होते हैं, वह अत्यन्त महान् है, हर स्थानमें, हर भूतमें वह छिपाहुआ है, अकेला सम्पूर्ण विश्वको घेरे हुए है, लपेटेहुए है, इसका स्वामी है, उसे जानकर योगी लोग अमृत हो जाते हैं।७।

मैं उस महान् पुरुषको जानता हूं जो आदित्यकी भांति चमक रहा है, अन्धकारसे अत्यन्त दूर है। उसीको जानकर मृत्युको लांघा जा सकता है, इस संसारसे सदाकेलिये प्रयाण करनेकेलिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है।८।

जिससे न कुछ परे है, न वर है, जिससे न कुछ सूक्ष्मतर है, न महत्तर है, जैसे वृक्ष पृथिवीमें जमाहुआ आकाशमें सिर उठाये खड़ा होता है, इसीप्रकार जो इकला जमकर सम्पूर्ण द्यु-लोकमें खड़ा है, उस पुरुषने इस सबको पूर्ण कियाहुआ है—इस सबमें वह मानो भरा पड़ा है।९।

उस पुरुषसे भी जो परे है, वह रूप-रहित है, दुःख-रहित है। उस ब्रह्मको जो जान जाते हैं, वे अमृत हो जाते हैं, और दूसरे लोग लौट-लौटकर दुःखको पाते हैं।१०।

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे ।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत् ।६।
ततः परं ब्रह्मपरं बृहन्तं यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति ।७।
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।८।
यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ।९।
ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम् । य एत-
द्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापि यन्ति ।१०।

सब जगह उसका मुख है, सिर है, ग्रीवा है, सब प्राणियोकी हृदय-रूपी गुफामें वह विराजमान है। वह भगवान् सर्वव्यापी है, इसलिये वह सब जगह पहुंचाहुआ है, शिव है।११।

वह महान् पुरुष ससारका प्रभु है, सम्पूर्ण अस्तित्वका वह प्रवर्तक है। उसका ध्यान करनेसे जिस निर्मल आनन्दकी प्राप्ति होती है उसका वही स्वामी है। वह कभी न क्षीण होनेवाली ज्योति है।१२।

वह पुरुष, अगुष्ठ-मात्र, आत्माके भीतर, सदा मनुष्योके हृदयमें सन्निविष्ट है। हृदयसे, बुद्धिसे और मनसे उसे पाया जाता है। जो यह जानते है, वे अमृत हो जाते है (पहुचा पकडकर ही तो किसीको पकडा जाता है। अगुष्ठ-मात्र वह हृदयमे है, तो ध्यानसे उसके अगूठेको पकडकर उसे पकडा जा सकता है।) ।१३।

वह पुरुष सहस्र सिरोवाला, सहस्र आंखोवाला, सहस्र पावोवाला है। वह हाथसे ब्रह्मांडको सब तरफसे छुये हुए है, फिर भी उसकी दसो उगलियां दूर खडी है। घेरनेसे तो दसो उगलियां भर जानी चाहियें, परन्तु यह ब्रह्मांड उसकेलिये इतना तुच्छ है कि इसे घेरकर भी उसके दोनो हाथोंकी दसों उंगलियां मानो खाली रह जाती है।१४।

जो हुआ है, जो होगा, सब पुरुषमें ही है। वह अमृतका स्वामी है, और जो अमृत नहीं है, अन्नसे बढता है, उसका भी वही स्वामी है ।१५।

सर्वाननशिरोगीव सर्वभूतगुहाशय ।
सर्वव्यापी स भगवास्तस्मात्सर्वगत शिव । ११ ।
महान्प्रभुर्वै पुरुष सत्त्वस्यैष प्रवर्तक ।
सुनिर्मलामिमा प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्यय । १२ ।
अगुष्ठमात्र पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनाना हृदये सनिविष्ट ।
हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति । १३ ।
सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात् ।
स भूमि विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् । १४ ।
पुरुष एवेदँ सर्वं यद्भूत यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनाति रोहति । १५ ।

सब ओर उसके हाथ-पैर है, सब ओर आंख, सिर, मुख है, सब ओर कान है, संसारमें सबको घेरकर वह खडा है--फिर कहो कौन उससे बचकर किधरसे निकल जायगा, कौन कैसे उससे छिप जायगा ?।१६।

सब इन्द्रियोंके गुण उसमें भास रहे है, परन्तु सभी इन्द्रियोंसे वह रहित है। सबका वह प्रभु है, स्वामी है, इसीलिये सभीकेलिये वह महान् शरण है, आश्रय-स्थान है, सहारा है ।१७।

देहके नौ द्वार है--सात ऊपर, दो नीचे। 'देही', अर्थात् जिसने देहको ही अपना सब-कुछ बना रखा है, वह तो इस नौ द्वारोंवाली नगरीमें रमा रहता है। जो 'परमहंस' है, हंसकी तरह देहके बन्धनोंसे छूटकर उड़ना चाहता है, वह इस बन्धनसे बाहर प्रकाशमान् होता है, इस शरीर-रूपी बन्धनसे ऊपर उठ जाता है। आत्माके इन दोनों रूपोंके अतिरिक्त परमात्माका एक रूप है, जो 'वशी'-रूप है, वह स्थावर तथा जंगम लोकोंका वश करनेवाला रूप है ।१८।

वह बिना पांवोंके शीघ्र गति करता है, बिना हाथोंके झट-से पकड लेता है, बिना आंखोंके देखता, बिना कानोंके सुनता है। जानने योग्य जो-कुछ भी है, उसे तो वह जानता है, परन्तु उसे जाननेवाला कोई नहीं, उसीको आदिम-महान्-पुरुष कहते है ।१९।

वह अणु-से-अणु है, महान्-से-महान् है, वह आत्मा जीव-मात्रकी हृदय-रूपी गुफामें छिपा हुआ है। वह कर्म नहीं करता, 'अक्रतु' है।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।१६।
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ।१७।
नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ।१८।
अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ।१९।

उस परमेश्वरकी महिमाको वीत-शोक भक्त-गण उस विधाताके प्रसाद से ही, उसकी कृपासे ही प्राप्त करते हैं ।२०।

मैं इसे जानता हूं, यह अजर है, पुरातन है, सम्पूर्ण सबमें आत्मा ही-आत्मा है, सब जगह पहुंचाहुआ है, विभु है। ब्रह्मवादी लोग सदा उसका बखान किया करते हैं, उसका कभी जन्म नहीं होता, वह नित्य है—ऐसा उसका वर्णन किया जाता है ।२१।

चतुर्थ अध्याय

जो भगवान् स्वयं 'एक' है, 'अवर्ण' है, 'निराकार' है, किन्तु अपनी शक्तिके द्वारा जिसने 'अनेक', 'वर्ण'वाले, 'साकार' संसारको रचा है, जिसने प्रत्येक पदार्थमें कोई-न-कोई प्रयोजन रख दिया है, जो विश्व का आदिमें संचयन तथा अन्तमें विचयन करता है—विश्वके इस विशाल-भवनको मानो पहले खड़ा कर देता है, और फिर ढा देता है—वह देव हमें शुभ-बुद्धिसे युक्त करे ।१।

वही देव अग्नि है, वही आदित्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वही शुक्र है, वही ब्रह्म है, वही जल है, वही प्रजापति है ।२।

हे देव ! तू ही स्त्री है, तू ही पुरुष है, तू ही कुमार है, तू ही कुमारी है, तू ही वृद्ध होकर दंडसे हमें ठग लेता है—हम तुझे इन भिन्न-भिन्न रूपोंमें अलग-अलग समझकर भरमा जाते हैं, पर अस्लमें सब तू-ही-

---

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहाया निहितोऽस्य जन्तो ।
तमक्रतु पश्यति वीतशोको धातु प्रसादान्महिमानमीशम् ।२०।
वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात् ।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ।२१।
य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति ।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देव स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ।१।
तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापति ।२।

तू है। तू जब सृष्टिके रूपमें प्रकट होता है, तो स्वयं एक होताहुआ भी नाना-रूप हो जाता है।३।

नीले-हरे रंगके पक्षी तू ही है, तू ही मेघ है, तू ही ऋतुएं हैं, तू समुद्र है। तू स्वयं अनादि है, तू विभु-रूपमें वर्तमान है, तुझसे ही सम्पूर्ण लोक उत्पन्न हुए हैं।४।

लाल, सफेद, काले रंगकी एक 'अजा' है, जो अपने ही रंग-रूपवाली अनेक प्रजाओंका सर्जन कर रही है। एक 'अज' है, जो उस 'अजा' के साथ प्रीति करता है, उसके साथ सो जाता है, एक दूसरा 'अज' है, जो भुक्त-भोगा 'अजा'को छोड देता है। 'अज'का अर्थ 'अ+ज'— जो पैदा नहीं होता, अजन्मा, अनादि है। तीन 'अ+ज', अर्थात् अनादि हैं, एक भोग्य सत्त्व, रज, तम-रूपी 'अजा' प्रकृति, दूसरा भोगनेवाला ='अज' जीवात्मा, तीसरा न भोगनेवाला 'अज' परमात्मा। जीवात्मा प्रकृतिमें रम जाता है, परमात्मा नहीं रमता।५।

(इस मन्त्रका यह भी अर्थ हो सकता है कि 'अजा'—प्रकृति— तो भोग्य है, परन्तु 'अज'—आत्मा—दो प्रकारके हैं—एक ऐसे जीव हैं, जो भोगमें ही रमे रहते हैं, उसे छोडते ही नहीं, दूसरे ऐसे जीव हैं, जो प्रकृतिका भोग करके उसे छोड देते हैं, शान्त हो जाते हैं।)

सुन्दर पंखोंवाले, सदा साथ रहनेवाले, एक-दूसरेके मित्र दो पक्षी हैं, दोनों एक ही वृक्षका आलिंगन कर रहे हैं। दोनोंमेंसे एक पक्षी पिप्पलके स्वादु फलको मजेमें खाता है, दूसरा न खाताहुआ देखता-मात्र है। परमात्मा-जीवात्मा दो पक्षी हैं, प्रकृति अथवा शरीर वृक्ष

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ।३।
नीलः पतंगो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा।४।
अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ।५।

है, जीवात्मा कर्मफलका भोग करता है, परमात्मा साक्षी-रूप रहता है ।६।

(इस मन्त्रका यह भी अर्थ हो सकता है कि ससारमे जीव दो प्रकारके है––एक भोगमे रमेहुए, दूसरे वे जिन्होने भोगोमे अपनेको अलग कर लिया है। मुडक ३।१ मे भी यह भाव है ।)

एक ही वृक्षपर पुरुष फल भोगनेमें निमग्न हो जाता है, भोगता-भोगता असमर्थ हो जाता है, मोहमें पडकर शोक करने लगता है, उसी वृक्षपर जब दूसरेको, ईश्वरको देखता है, और यह देखता है कि उसकी सेवा हो रही है, आराधना हो रही है, तो उसकी महिमाको देखकर वीत-शोक हो जाता है। वृक्ष यहां ब्रह्मांडमें 'प्रकृति' तथा पिंडमें 'शरीर'को कहा है। पुरुष फल-भोगमें रमाहुआ अपनेको असमर्थ कर लेता है, ईश्वरकी शक्ति अखड रहती है ।७।

(इस मन्त्रका यह भी अर्थ होसकता है कि ससारमे पुरुष दो प्रकार के है––एक वे जो ससारके भोगोमे फसकर अपनी शक्ति क्षीण कर लेते है, दूसरे वे जो भोगोमे न फसकर अपनी शक्ति बनाये रखते है। क्षीण-शक्ति जब शक्तिमान्‌को देखता है तो सजग होजाता है।)

सब ऋचाएं परम-व्योममें वर्तमान अक्षर-ब्रह्मका प्रतिपादन करती है, उस ब्रह्मका जिसमें सब देव निवास करते है। ऋचाए जिसका प्रतिपादन करती है उस ब्रह्मको जो नही जानता, वह ऋचाओसे क्या करेगा, जो उसे जानते है, वे ही शान्त होकर बैठ सकते है ।८।

छन्द, यज्ञ, ऋतु, व्रत, भूत, भव्य, वेद और हम––इस सम्पूर्ण

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते ।
तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति । ६ ।
समाने वृक्ष पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमान ।
जुष्ट यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोक । ७ ।
ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदु ।
यस्त न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते । ८ ।

विश्वको मायावाला मायावी सृजता है। इसके मुकाविलेमें एक दूसरा है, जो इसी माया-जालमें फसा पडा है ।९।

प्रकृति ही 'माया' है, महेश्वर ही 'मायावी' है, यह सम्पूर्ण-जगत् उस मायावीके अवयवोंसे, अगोंसे व्याप्त है—उसका प्रत्येक अग सब जगह मौजूद है ।१०।

जो इकला ससारके प्रत्येक कारणका अधिष्ठाता है, जिसमें यह सपूर्ण विश्व 'सचित' हो जाता है और 'विचित' हो जाता है, सिमिट जाता है और बिखर जाता है, उस शक्तिमान्, वरद तथा स्तुत्य देवका जब ठीक-ठीक निश्चय हो जाता है, उसपर जब ठीकठीक विश्वास जम जाता है, तब भक्त अत्यन्त शान्तिको प्राप्त होता है ।११।

जिससे देव 'उद्भूत' होते हैं, प्रकट होते हैं, और 'प्रभूत' होते हैं, प्रभावशाली होते हैं, जो रुद्र है, महर्षि है, विश्वका 'अधिप' है, सब ओरसे पालन करनेहारा है—वह देव हमें शुभ-बुद्धिसे युक्त करे। वह देखो सृष्टिके प्रारम्भमें जाज्वल्यमान हिरण्यगर्भ उत्पन्न हो रहा है, उसे जिसने उत्पन्न किया, वह देव हमें शुभ-बुद्धिसे युक्त करे ।१२।

जो देवोंका अधिपति है, जिसमें लोक अधिश्रित हैं, जो इस दोपाये और चौपायेका स्वामी है, उस सुख-स्वरूप देवकी हम 'हवि'से पूजा करते हैं। जो-कुछ अपना कहा जा सकता है, उसे ब्रह्मार्पण कर देना 'हवि' है। अपना सब-कुछ उसके चरणोंमें अर्पित करते हैं ।१३।

छन्दांसि यज्ञा क्रतवो व्रतानि भूत भव्य यच्च वेदा वदन्ति ।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सनिरुद्ध ।९।
माया तु प्रकृति विद्यान्मायिन तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्त सर्वमिद जगत् ।१०।
यो योनि योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निद स च वि चैति सर्वम् ।
तमीशान वरद देवमीड्य निचाय्येमा शान्तिमत्यन्तमेति ।११।
यो देवाना प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षि ।
हिरण्यगर्भ पश्यत जायमान स नो बुद्ध्या शुभया सयुनक्तु ।१२।
यो देवानामधिपो यस्मिंल्लोका अधिश्रिता ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पद कस्मै देवाय हविषा विधेम ।१३।

संसारके बीच जो सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म वस्तु है, उस सबका वह अनेक रूपसे स्रष्टा है। वह इकला सम्पूर्ण विश्वको ढापेहुए है, लपेटेहुए है। उस शिवको जानकर अत्यन्त शान्ति प्राप्त होती है।१४।

वही समयपर भुवनका रक्षक है, विश्वका अधिपति है, सब भूतों में छिपाहुआ है। जिसकी आराधनामें ब्रह्मर्षि और देवता लगेहुए है, उसीको जानकर मनुष्य मृत्युके पाशोंको काटता है।१५।

बर्तनमें घीके ऊपर जो तरल घी रहता है, उसे 'मण्ड' कहते है। जो शिव-स्वरूप ब्रह्म घृतसे परे 'मण्ड'की भाति अति सूक्ष्म है, जो सब भूतोमें छिपाहुआ है, जो सम्पूर्ण विश्वको इकला लपेटेहुए है, उस देवको जानकर मनुष्य सब पाशोसे मुक्त हो जाता है।१६।

यह देव महान् आत्मा है, 'विश्वकर्मा' है, विश्वका रचनेवाला है, सदा मनुष्योके हृदयमें सन्निविष्ट है। वह हृदयसे, बुद्धिसे, मनसे पाया जाता है। हृदयसे उसकी चाहना हो, बुद्धिसे उसकी खोज हो, मनसे उसका ध्यान हो, तभी वह हाथ आता है। जो यह जानते है, वे अमृत हो जाते है।१७।

('बुद्धि' और 'मन'को यहा अलग-अलग कहा है। तैत्तिरीय उपनिषद्में जहा 'कोशो'का वर्णन है, वहा भी 'विज्ञानमय-कोश' और 'मनोमय-कोश'—ये दो 'कोश' कहे गये है। इन दोनोका निर्माण 'विज्ञान-तत्त्व' तथा 'मनस्-तत्त्व'से हुआ है। 'विज्ञान-तत्त्व' ही 'बुद्धि' है, मनस्-तत्त्व ही 'मन' है—ये दोनो उपनिषद्की परिभाषामे

सूक्ष्मातिसूक्ष्म कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैक परिवेष्टितार ज्ञात्वा शिव शान्तिमत्यन्तमेति ।१४।
स एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिप सर्वभुतेषु गूढ ।
यस्मिन्युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेव ज्ञात्वा मृत्युपाशाश्छिनत्ति ।१५।
घृतात्पर मण्डमिवातिसूक्ष्म ज्ञात्वा शिव सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैक परिवेष्टितार ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशै ।१६।
एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनाना हृदये सनिविष्ट ।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।१७।

'तत्त्व' (Substances) है। 'मनस्-तत्त्व' निम्न-तत्त्व है, 'बुद्धि-तत्त्व' अथवा 'विज्ञान-तत्त्व' उच्च-तत्त्व है। कठोपनिषद्मे भी 'बुद्धि तु सारथि विद्धि मन प्रग्रहमेव च'—इसमे 'बुद्धि' तथा 'मन'मे भेद किया गया है। निम्न-स्तर (Lower plane)मे जो 'मन' , उच्च-स्तर (Higher plane)मे वह 'विज्ञान' अर्थात् 'बुद्धि' है। श्वेताश्वतरके द्वितीय अध्यायके प्रारभमे भी 'धी' और 'मन'मे भेद किया गया है। 'अन्तःकरणचतुष्टय'में 'मन'-'बुद्धि'-'चित्त'-'अहकार'—ये चार अन्तःकरण माने गये हैं—इससे भी स्पष्ट है कि 'मन' तथा 'बुद्धि'मे भेद है।)

जब 'तम'का अभाव हो जाता है, अज्ञान हट जाता है, तब जो ज्ञानका प्रकाश उदित होता है, उसकी तुलना न दिनके प्रकाशसे है, न रात्रिके प्रकाशसे। परमात्माका वह दिव्य-रूप न सत् है, न असत् है, वह उसका केवल शिव-रूप है, वह 'अक्षर', अर्थात् अविनाशी-रूप है, वह सविताका वरेण्य-रूप है, भगवान्के उसी रूपसे पुरातन प्रज्ञाका, सनातन ज्ञानका अवतरण होता है।१८।

उसे कोई ऊपरसे, इधर-उधरसे, बीचसे नहीं पकड सकता। जिसका नाम 'महद्-यश' है, उसकी 'प्रतिमा' नहीं है, उसकी तुलना किसी वस्तुसे नही की जा सकती।१९।

उसका कोई 'रूप' नहीं है जो आखोंके सामने ठहरे, और न आंखों से उसे कोई देख पाता है। वह हृदयमें स्थित है, इसलिये जो 'हृदयसे' और 'मनसे'—उसे इसप्रकार जानते हैं, वे अमृत हो जाते हैं।२०।

'तू अजन्मा है'—ऐसा कहताहुआ कोई धर्म-भीरु पुरुष ही

यदाऽतमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी।१८।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।१९।
न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति।२०।

भगवान्‌की शरणमें आता है। हे रुद्र! तेरा जो 'दक्षिण-मुख' है, 'वाम' नहीं 'दक्षिण', बाया नहीं दायां, अर्थात् तेरा जो क्रियाशील स्वरूप है, उससे मेरी नित्य पालना कर।२१।

हे रुद्र! हमारे नव-जात शिशुओंपर, बालकोंपर, युवाओंपर, गौओंपर, घोडोंपर प्रहार मत कर, हमारे आभामे युक्त वीरोंका वध मत कर, हम हवि लेकर सदा तेरा आह्वान करते है।२२।

पचम अध्याय

जीवात्मा तथा प्रकृति दोनो अक्षर है, अनन्त है, ब्रह्मपर है—'ब्रह्म पर', अर्थात् ब्रह्ममें पर, अर्थात् लगेहुए है, ब्रह्मको—महानताको—हर समय ढूढ रहे है, जहां उन्हें बृहत्ता, महानता दीखती है, उसीतरफ जीव तथा प्रकृतिकी गति है। दोनोमें 'विद्या' तथा 'अविद्या' गहराईतक पहुंची हुई हैं। 'विद्या' तथा 'अविद्या'मेंसे 'अविद्या' 'क्षर' है, 'खर जानेवाली' है, 'विद्या' 'अक्षर' है, न 'खरनेवाली', अर्थात् 'अमृत' है। अविद्या तथा प्रकृतिका मेल तो समझ पडता है, परन्तु 'क्षर'-अविद्याके साथ 'अक्षर'-जीवात्माका क्या मेल? क्यो जीवात्मा अविद्यामें रमा रहता है? क्यो नहीं निकल जाता? 'विद्या' तथा 'अविद्या'पर जो निगरानी कर रहा है, वह 'जीवात्मा'से अन्य 'परमात्मा' है, जैसे वह अविद्यासे अलग है, वैसे जीवात्मा भी अविद्यासे अलग निकल सकता है।१।

(इस उपनिषद्-वाक्यका यह अर्थ भी किया जा सकता है कि विद्या तथा अविद्या—ज्ञान तथा कर्म—आध्यात्मिक-दृष्टि तथा आधिभौतिक-दृष्टि—Spiritualism and Materialism—ये दोनो

अजात इत्येव कश्चिद्भीरु प्रपद्यते।
रुद्र यत्ते दक्षिण मुख तेन मा पाहि नित्यम्। २१।
मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिष।
वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्त सदमित्त्वा हवामहे। २२।
द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षर त्वविद्या ह्यमृत तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्य। १।

उस अक्षर, अनन्त, परब्रह्ममे गूढ निहित है, उसीसे ये दोनो उत्पन्न होती है । इन दोनोमेसे अविद्या क्षर है, विद्या अक्षर है, अमृत है । विद्या तथा अविद्याका स्वामी वह ब्रह्म इन दोनोसे अलग है ।)

जो इकला ससारकी एक-एक 'योनि', अर्थात् एक-एक कारण तथा सब 'योनियो', अर्थात् सब 'कारणो'का अधिष्ठाता है, जो सब रूपो, अर्थात् 'कार्यो'का अधिष्ठाता है—अर्थात्, जो ससारके सब कारण तथा सब कार्यका प्रवर्तक है—जो पूर्वकालमें उत्पन्नहुए कपिल ऋषिको, अर्थात् किसी भी प्राचीन-विचारकको वैसे ही ज्ञानसे भर देता है जैसे आजके किसी विचारकको, उस जायमान-ब्रह्मको, अर्थात्, ऐसे ब्रह्मको जो हर-समय अपनेको किसी-न-किसी रूपमें जायमान कर रहा है, प्रकट कर रहा है, ऐसे ब्रह्मको उपासक देखे ।२।

जैसे हरिण आदिके पकडनेके लिये कोई जालको फैला दे, उसमें जीव-जन्तु आ-आकर पकडे जाते है, वैसे मानव-देह, पशु-देह आदि योनियोके जालको यह देव अनेक प्रकारसे इस ससार-रूपी क्षेत्रमें फैला देता है, और इसी ससार-क्षेत्रमें उन्हें पकडकर उनका सहार कर देता है । हे यतियो ! इसीप्रकार वह महात्मा जगदीश सृष्टिको बार-बार रचता है, और इसपर शासन करता है ।३।

जैसे सूर्य ऊपर, नीचे, तिरछे—सब दिशाओको प्रकाशित करता-हुआ स्वय भी प्रकाशमान है, इसीप्रकार वह देव, वरणीय भगवान् ससारकी योनियोके स्वभावोका इकला अधिष्ठाता है । सूर्य अपने प्रकाशसे अन्नादिको पकाता है, प्रत्येक अन्नका जो स्वभाव है उसीके अनुसार वह पकता है—आम अपने स्वभावसे पककर आम बन जाता है, अनार नहीं, और अनार अपने स्वभावसे पककर अनार बन जाता है, आम नही, इसीप्रकार भगवान् ही, जैसे सर्य योनियोको

यो योनि योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वा ।
ऋषि प्रसूत कपिल यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमान च पश्येत् । २ ।
एकैक जाल बहुधा विकुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे सहरत्येष देव ।
भूय सृष्ट्वा पतयस्तथेश सर्वाधिपत्य कुरुते महात्मा । ३ ।

पकाता है, वैसे सब योनियोंको अपने-अपने स्वभावके अनुसार परिपक्व कर रहा है ।४।

वह 'विश्वयोनि.' है—सबका कारण है, प्रत्येक वस्तुको अपने स्वभावके अनुसार पका देता है, जो भी परिपाकके योग्य वस्तु है उसको वही परिणत करता है, अपने निष्कर्षतक पहुंचाता है । वह इकला ही इस सम्पूर्ण विश्वका अधिष्ठाता है । ससारके 'द्रव्यों'का ही नहीं, सब 'गुणों'का भी वह इकला ही विनियोग करता है । प्रत्येक पदार्थ 'द्रव्य' (Quantity) है, यह द्रव्य जिस काम आता है वह इसका 'गुण' (Quality) है । संसारके सभी द्रव्यों तथा गुणोंका वही अधिष्ठाता है ।५।

ब्रह्मका जो 'कारण'-स्वरूप है, वह वेदोंके रहस्यका प्रतिपादन करनेवाली उपनिषदोंमें छिपाहुआ है । ब्रह्मके उस रूपको ब्रह्मा ही जानता है । पहले जो देव और ऋषि हुए है, वे उस रूपको जानते थे, वे उस रूपको जानकर 'तन्मय' हो गये, 'अमृत' हो गये ।६।

अब जीवात्माका वर्णन करतेहुए ऋषि कहते हैं—गुण प्रकृतिके हैं, परन्तु जीव उन गुणोंका सम्बन्ध अपने साथ जोड़ लेता है; जीव फलकेलिये कर्म करता है और जैसे कर्म करता है उसीका फल भोगता है; जीव सब तरहके रूप—देह—धारण कर लेता है, सत्त्व-रज-तम—इन तीन गुणोंवाला और उत्तम-मध्यम-अधम—इन तीन मार्गोंमें जानेवाला यह जीव है; यह जीव प्राणोंका स्वामी होकर अपने कर्मोंके अनुसार विचरण करता फिरता है ।७।

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक्प्रकाशयन्भ्राजते यद्वनड्वान् ।
एव स देवो भगवान्वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येक ।४।
यच्च स्वभाव पचति विश्वयोनि पाच्याश्च सर्वान्परिणामयेद्य ।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणाश्च सर्वान्विनियोजयेद्य ।५।
तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढ तद्ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् ।
ये पूर्वदेवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवु ।६।
गुणान्वयो य फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिप सचरति स्वकर्मभि ।७।

जैसे परमात्माको उपनिषदोंमें 'अंगुष्ठमात्र' कहा है, वैसे जीवात्मा को भी हृदय-प्रदेशमें विद्यमान होनेसे ऋषिने 'अंगुष्ठमात्र' कह दिया है। जीवात्मा 'अंगुष्ठमात्र' है, परन्तु 'संकल्प' और 'अहंकार'से युक्त होनेके कारण उसका सूर्यके तुल्य विशाल रूप है। 'अंगुष्ठ-मात्र' कहनेका यह अभिप्राय नहीं कि वह अंगूठेके बराबर है, इसलिये फिर कहते हैं, वह 'आराग्रमात्र' है—सुईकी नोकके बराबर है—अत्यन्त सूक्ष्म है, परन्तु फिर भी उस 'अपर'को—जीवात्माको—बुद्धिके और आत्माके गुणोंसे देखा जाता है।८।

परन्तु 'आराग्रमात्र' कहनेका यह अभिप्राय नहीं कि वह वास्तवमें सुईकी नोकके ही बराबर है, इसलिये ऋषि फिर कहते हैं कि अगर बालके अगले हिस्सेके सौ भाग किये जायं, फिर उन सौमेंसे एकके सौ हिस्से किये जायं, तो उतना भाग जीवका समझना चाहिये, परन्तु इतना सूक्ष्म-रूप होते हुए भी जीवात्मा अनन्त सामर्थ्यवाला कल्पित किया जाता है।९।

जीवात्मा न स्त्री-लिंगी है, न पुल्लिंगी, न नपुंसक-लिंगी। ये लिंग शरीरके हैं, जिस-जिस शरीरको यह ग्रहण करता है उस-उसके लिंगके साथ युक्त हो जाता है।१०।

उत्पन्न होनेके अनन्तर उसकी वृद्धि कैसे होती है? अन्न तथा जल-सिंचनसे उसका शरीर बढ़ता है, 'संकल्प'-'स्पर्श'-'दृष्टि'के मोहसे उसका मन बढ़ता है। यह देही—जीवात्मा—क्रमसे कर्मा-नुसार रूपोंको—देहोंको—भिन्न-भिन्न स्थानोंमें प्राप्त होता है।११।

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहङ्कारसमन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः । ८ ।
बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते । ९ ।
नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते । १० ।
संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासाम्बुवृष्ट्या चात्मविवृद्धिजन्म ।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते । ११ ।

('सकल्प'-'स्पर्श'-'दृष्टि'के मोहमे मन कैसे वढना है ? 'सकल्प' का सम्वन्ध मनसे है, 'स्पर्श' और 'दृष्टि'का सम्वन्ध मनकी सावन त्वचा तथा आखसे है। त्वचा तथा आख दोनो एक-दूसरेका काम करती है। आख न हो तो छूकर काम होना है। अत असलमे मनका विकास 'सकल्प' तथा 'दृष्टि'से है। मनकी आख 'सकल्प' है, शरीरकी आख 'स्पर्श' तथा 'दृष्टि' है। यथार्थ दृष्टि हो जाय, तव तो मुक्ति हो जाती है, दृष्टिमे मोह आ पडे, तभी ससारका चक्र चलता है। इसलिये ऋषिने कहा कि शरीरका विकास तो अन्न तथा जलसे होता है, परन्तु मनका विकास तव होता है जव यथार्थ दृष्टि नही रहती, जव सकल्प, स्पर्श तथा दृष्टिका मोह मनुष्यको घेर लेता है। यथार्थ-दृष्टि उत्पन्न हो जानेसे मनुष्य मनके वन्धनसे छूट जाता है।)

देहधारी जीवात्मा अपने शुभाशुभ गुणोमे स्थूल तथा सूक्ष्म अनेक रूपोको चुन लेता है। देहके साथ आत्माका सयोग किस कारण हुआ ? इसका उत्तर देते हुए ऋषि कहते है कि आत्मामें अपनी क्रियाके, अर्थात् कर्मोके जो गुण है, और क्रियाके अतिरिक्त अपने जो दूसरे गुण है, उनके कारण वह 'अपर', अर्थात् जीवात्मा शरीरके साथ सयोगका हेतु बन जाता है।१२।

इस परिवर्तनशील ससारके बीच जो अनादि है, अनन्त है, विश्व का स्रष्टा है, अनेक-रूप है, इकला विश्वका परिवेष्टन कर रहा है—विश्वको घेरेहुए है—उस देवको जानकर यह जीव सव पाशोसे मुक्त हो जाता है।१३।

वह शिव-रूप भगवान् 'भावना'से, अर्थात् श्रद्धासे ग्रहण किया जाता है; उसका कोई 'नीड' नही, आश्रय-स्थान नही, वही सवका आश्रय है, वह संसारका भाव भी कर देता है, अभाव भी कर

स्थूलानि सूक्ष्माणि वहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषा सयोगहेतुरपरोऽपि दृष्ट ।१२।
अनाद्यनन्त कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैक परिवेष्टितार ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशै ।१३।

देता है, वह कलाओंसे युक्त सृष्टिको रचनेवाला है। उसे जो जान जाते है, वे उस देवकी आराधनामें अपने शरीरको आहुतिके रूपमें दे देते है ।१४।

षष्ठ अध्याय

श्वेताश्वतर-उपनिषद्के प्रथम अध्यायमे ब्रह्म-वादीलोग विचार करनेके लिये एकत्रित हुए थे, और सोचने लगे थे कि सृष्टिका कारण क्या है? उसी विचार-धाराको फिरसे उठाकर ऋषि कहते हैं—कई विद्वान् भ्रममें पडकर सृष्टिका कारण 'स्वभाव', और कई 'काल' को बतलाते है, परन्तु असलमें यह तो उस देवकी महिमा है जिससे यह 'ब्रह्म-चक्र' घुमाया जा रहा है ।१।

जिससे यह ब्रह्माड सदा आवृत रहता है, घिरा रहता है, जो सर्वज्ञ है, जो कालका भी काल है, जो गुणी हैं, जो सर्ववित् है, उसीके प्रभुत्व से 'कर्म'का विवर्त हो रहा है। बिना 'कर्म'के सृष्टि नहीं चल सकती, परन्तु 'कर्म' स्वय जड है, अत इसका सचालन वही कर रहा है। जो विद्वान् यह कहते है कि पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश—ये 'भूत' सृष्टिका सचालन कर रहे है, वे ऐसी बात कह देते है जो चिन्तनीय है, ठीक नहीं है ।२।

वह 'कर्म'का सचालन करके फिर स्वय उसमेंसे निवृत्त हो जाता है। हा, सृष्टि-सचालनकेलिये 'तत्त्व'का 'तत्त्व'के साथ 'सयोग' (Combination of Elements or Principles) वह कर देता है। इस उपनिषद्के प्रथम अध्यायमें 'काल-स्वभाव-नियति-यदृच्छा-

---

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ।१४।

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमाना ।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ।१।

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्य ।
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ।२।

भूत-योनि-संयोग-आत्मा'—ये आठ कारण कहे गये थे। ये आठ कारण ही आठ 'तत्त्व' है। 'काल'से लेकर 'आत्माके सूक्ष्म-गुणों' तक जो ये आठ तत्त्व है इनमेंसे एक, दो, तीन या आठो तत्त्वोके संयोग से वह देव 'कर्म'का सचालन करता है, ये स्वतन्त्र कुछ नहीं कर सकते।३।

'कर्म' तो जड है, उसका आरंभ कौन करता है? वही देव सृष्टिके प्रारभमें सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोसे युक्त 'कर्म'को अपने मार्ग में प्रवृत्त कर देता है। परन्तु 'कर्म' भी कुछ नहीं कर सकता अगर उसमें 'भाव' न हो। 'कर्म' (Action) शरीर है, 'भाव' (Intention) उसकी आत्मा है। मनुष्य हाथ चलाता है, यह 'कर्म' है। यह 'कर्म' शुभ अथवा अशुभ तभी हो सकता है, अगर इसमें क्रोध अथवा प्रेमका 'भाव' हो। देवने सत्त्व-रज-तम इन तीन गुणोसे युक्त कर्मोको प्रवृत्त किया, परन्तु साथ ही कर्मोके साथ सब 'भावो'को भी विनियुक्त कर दिया। अगर 'भाव' का, मनकी सकाम-भावनाका अभाव हो जाय, वह हट जाय, तो कृत-कर्मका, कियेहुए 'कर्म'का नाश हो जाता है। 'भाव' न रहे, तो कर्म होनेपर भी मानो कर्म नही होता, क्योकि 'कर्म'का 'कर्मपना' उसमें निहित 'भाव'पर ही आश्रित है। इसप्रकार जब 'भाव'के, अर्थात् कामनाके नाशसे कर्मका क्षय हो जाय, तो वह देव संसारके रचना करनेवाले तत्त्वोसे अलग हो जाता है।४।

(हम बुरा काम करते है। क्यो? एक व्यक्तिने हमे गाली दी। उसे क्रोध आया था, उसकी गाली सुनकर हमारा क्रोध भी भभक उठा। हमने गालीका जवाब गालीमे दिया। मामला बढ गया। डडे चल पडे, कत्ल हो गया। यह सब क्यो हुआ? 'क्रोध'से हुआ। यह क्रोध ही तो 'भाव' है, 'कामना' है। 'भाव' न होता, तो 'कर्म'का जो

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयस्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम्।
एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः।३।
आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावाश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः।४।

लम्बा-चौडा सिलसिला चल पडा वह न चलता। अस्ली चीज 'कर्म' नही, 'भाव' है—यह 'भाव' ही 'कर्म'मे जान डालता है। 'कर्म' के बन्धनसे छूटनेका उपाय 'भाव'से छूट जाना, 'कामना'को छोड देना है। इसीको गीतामे 'निष्काम-कर्म' कहा है। 'कर्म' जीवको तभीतक बाध सकता है जबतक उसमे 'भाव' या 'कामना' है। काम-क्रोध-लोभ-मोह—यही तो 'भाव' है। 'भावो'के वशमे होकर जीव अन्धा हो जाता है, और जो-कुछ नही करना चाहिये कर डालता है। इसीसे कर्म-चक्र चलता है। भावोसे अलग हो जानेपर वह कर्म तो करता है, परन्तु क्योकि उन कर्मोमे 'भाव' नही होता, अत वे कर्म बन्धनका कारण नही बनते। इस विषयको हमने 'आर्य-सस्कृतिके मूल-तत्त्व' मे अधिक स्पष्ट किया है।)

इस उपनिषद्के प्रथम अध्यायमें कहा था कि क्या 'काल-स्वभाव-नियति-यदृच्छा-भूत-योनि-आत्मा' इनका 'सयोग' सृष्टिका कारण है? ऋषि कहते है, इनके सयोगका कारण 'कर्म' ही हो सकता है, परन्तु वह देव 'कर्म' का भी कारण है, वह कारणोका कारण है, 'आदि' वही है, वह तीनो कालोसे परे है। वह 'अकल' है, परन्तु अकल होताहुआ भी वह 'विश्वरूप' है, 'भवभूत' है, विश्व तथा भवके रूपसे प्रकट हो रहा है। ऐसे स्तुति-योग्य देवकी, जो चित्तमें स्थित है, पहले उपासना करे।५।

वह प्रकृति-रूपी 'वृक्ष' तथा 'काल'की नाना आकृतियो, उनके नाना भेदोसे परे है, वह इनसे 'अन्य' है, उसीसे यह विश्वका प्रपच परिवर्तित हो रहा है, चल रहा है। वह धर्मको प्राप्त करानेवाला और पापको काटनेवाला है भाग्यका वही स्वामी है, विश्वके धाम उस अमृत-स्वरूप भगवान्को आत्मामें स्थित जानकर उनकी उपासना करे।६।

आदि स सयोगनिमित्तहेतु परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्ट ।
त विश्वरूप भवभूतमीड्य देव स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ।५।
स वृक्षकालाकृतिभि परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्च परिवर्ततेऽयम् ।
धर्मावह पापनुद भगेश ज्ञात्वात्मस्थममृत विश्वधाम ।६।

वह ईश्वरोंका परम-महेश्वर है, वह देवोंका परम-देव है, वह पतियोंका परम-पति है, वह परेसे भी परे है, भुवनके स्वामी, स्तुतिके योग्य उस देवको हम जानते हैं ।७।

उसे अपनेलिये कुछ भी नहीं करना, वह जो-कुछ करता है उसके-लिये उसे साधनोंकी आवश्यकता नहीं, उसके समान कोई नहीं दीख पडता, उससे अधिक कोई नहीं दीख पड़ता । सुनते हैं, उसकी परम शक्ति है, विविध शक्ति है, उसमें 'ज्ञान'-'बल'-'क्रिया'—ये तीनों स्वाभाविक हैं, अर्थात् किसी अन्य कारणपर आश्रित नहीं ।८।

लोकमें उसका कोई पति नहीं, अर्थात् उसपर कोई हुकूमत करने-वाला नहीं, उसका कोई लिंग नहीं, चिह्न नहीं । वह जगत्का कारण है, इन्द्रियोंके अधिपका भी वह अधिप है, जीवात्माका स्वामी है, उसका कोई उत्पादक नहीं, अधिपति नहीं ।९।

जैसे मकड़ी तन्तुओंसे अपनेको आच्छादित कर लेती है, इसीप्रकार जो देव इकला 'प्रधान', अर्थात् प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले तन्तु-रूप माया-जालसे अपनेको स्वभावसे घेर लेता है, वह हमें ब्रह्ममें लीनता प्रदान करे ।१०।

वह देव एक है, परन्तु अनेक भूतोंमें गूढ है, सर्व-व्यापी है, सब भूतोंके अन्तरात्मा तक गयाहुआ है । 'कर्म' का वह अध्यक्ष है, वह सब भूतोंमें है, परन्तु सब भूत उसमें है—वह सब भूतोंका अधिवास

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ।७।
न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।८।
न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।
न कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ।९।
यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत् ।
स नो दधाद्ब्रह्माप्ययम् ।१०।

है। वह साक्षी है, चेतन है, केवल है, निर्गुण है—सत्त्व, रज, तम, इन तीनो गुणोसे अलग है ।११।

वह इकला अनेक निष्क्रिय तत्त्वोको वशमें करनेवाला है, वह एक बीज-रूप प्रकृतिको अनेक बना देता है। जो धीर लोग आत्मामें स्थित उसे निकटसे देखते है उन्हें निरन्तर सुख प्राप्त होता है, दूसरो को नही ।१२।

, जो नित्योका नित्य, चेतनोंका चेतन है, जो एक होताहुआ अनेक जीवोकी कामनाओको पूर्ण करता है—वही इस सृष्टिका कारण है, साख्य और योगसे वह प्राप्त होता है। यह जीव उस देवको जानकर सब पाशोसे मुक्त हो जाता है ।१३।

वहा न सूर्य चमकता है, न चांद और तारे, न विजलिया चमकती है, यह अग्नि तो कहां ? उसीकी चमकसे यह-सब चमकता है, उसीकी ज्योतिसे यह-सब ज्योतिमान हो रहा है ।१४।

भुवन-रूपी जलाशयके मध्यमें देव-रूपी एक हंस है। वह हस वही है, जो अग्नि होकर भी जलमें जा बैठा है। आत्मासे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि और अग्निसे जल—यही तो सृष्ट्युत्पत्तिका क्रम है। आग्नेय-तत्त्वसे जब जलीय-तत्त्व उत्पन्न होता है, तब मानो अग्नि ही जलमें जा बैठती है। जलमें छिपेहुए अग्नि-रूप हसको जानकर मृत्यु-रूप नदीको यह जीव पार कर सकता है, वहा जानेके-लिये और कोई मार्ग नहीं है ।१५।

एको देव सर्वभूतेषु गूढ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवास साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।११।
एको वशी निष्क्रियाणा बहूनामेक बीज बहुधा य करोति ।
तमात्मस्थ येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषा सुख शाश्वत नेतरेषाम् ।१२।
नित्यो नित्याना चेतनश्चेतनानामेको बहूना यो विदधाति कामान् ।
तत्कारण साख्ययोगाधिगम्य ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशै ।१३।
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्व तस्य भासा सर्वमिद विभाति ।१४।
एको हसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्नि सलिले सनिविष्ट ।

वह विश्वको रचनेवाला है, विश्वको जाननेवाला है, उसका कोई रचयिता नहीं, वह 'आत्म-योनि' है, अपने-आप अपनेको उत्पन्न करनेवाला है—स्वयं-भू है, 'ज्ञ' है, वह सब जानता है, कालका वह काल है, गुणोका आगार है, सर्ववित् है। वह 'प्रधान' अर्थात् प्रकृति तथा 'क्षेत्रज्ञ' अर्थात् जीवात्मा—इन दोनोका पति है, प्रकृतिके तीनो गुणोका स्वामी है, जगत्की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय तथा जीवके बन्धनका वही कारण है ।१६।

वह 'तत्-मय' है, वही-वह है, वह 'अमृत' है, वह 'ईश-सस्थ' है, इस जगत्का स्वामित्व करनेकेलिये जो मर्यादा होनी चाहिये, वह उसमें पाई जाती है, वह 'ज्ञ' है—प्रज्ञान-घन है, सब जगह पहुंचकर सब-कुछ जान रहा है, इस भुवनका रक्षक है। वह इस जगत्का नित्य स्वामी है। जगत्पर हुकूमत करनेकेलिये, उसके अतिरिक्त अन्य कोई कारण है ही नही, अर्थात् ससारका वही एक अन्तिम कारण है ।१७।

जो पहले-पहल ब्रह्माका निर्माण करता है, उसके अनन्तर जो उसके पास वेदोका प्रकाश भेजता है, जो आत्मामें बुद्धिके प्रकाशका संचार करता है, मै मुमुक्षु उस देवकी शरणमें जाता हूं ।१८।

जो निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, निर्दोष, निर्लेप है, जो अमृततक पहुंचानेवाला पुल है, जो जलेहुए इन्धनकी अग्निकी भाति निर्धूम है, मै मुमुक्षु उस देवकी शरणमें जाता हूं ।१९।

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञ कालकारो गुणी सर्वविद् य ।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश सं॑सारमोक्षस्थितिबन्धहेतु । १६ ।
स तन्मयो ह्यमृत ईशसस्थो ज्ञ सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता ।
य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय । १७ ।
यो ब्रह्माण विदधाति पूर्वं यो वै वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं॑ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाश मुमुक्षुर्वै शरणमह प्रपद्ये । १८ ।
निष्कल निष्क्रियं॑ शान्त निरवद्य निरञ्जनम् ।
अमृतस्य परं॑ सेतु दग्धेन्धनमिवानलम् । १९ ।

जब लोग चर्मसे आकाशको लपटने लगेंगे, तब उस देवको जाने बिना भी दुःखका अन्त होने लगेगा, अर्थात् जैसे चमडेसे आकाश नहीं लपेटा जा सकता, वैसे उसे जाने बिना दुःख भी नहीं छूट सकता ।२०।

तपके प्रभावसे और देवके प्रसादसे विद्वान् श्वेताश्वतर ऋषिने ऋषियोंके सघद्वारा सेवित ब्रह्मका सन्यासियोंको उपरि वर्णित उपदेश दिया ।२१।

पुराकल्पमें इस परम-गुह्य ब्रह्मका वर्णन वेदान्त-शास्त्रमें पाया जाता है । अशान्त-चित्त, अपुत्र अथवा अशिष्यको इसका उपदेश नहीं करना चाहिये । शान्त-चित्त व्यक्तिको, पुत्रको अथवा शिष्यको ही इसका उपदेश करे ।२२।

जिन रहस्योंको इस उपनिषद्में कहा गया है, वे उसी महात्माको प्रकाशित होते हैं जिसकी देवमें—भगवान्में—परम-भक्ति होती है, और जिसकी जैसी भगवान्में भक्ति होती है वैसी ही भक्ति गुरुमें भी होती है ।२३।

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति । २० ।
तपःप्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान् ।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम् । २१ ।
वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम् ।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः । २२ ।
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः प्रकाशन्ते महात्मन इति । २३ ।

अशुद्ध-शुद्धि-पत्र

(वैसे तो ये अशुद्धियां बहुत साधारण हैं। कहीं मात्रा नहीं उठी, कहीं हलन्त्य आदि की गलतियां हैं, परन्तु फिर भी पाठकों के लिये पुस्तक अत्यन्त शुद्ध हो जाय इसलिये ये गलतियां दी जा रही हैं। इनमें से प्रेस ने दो गलतियां अत्यन्त भयंकर की हैं जो पृष्ठ ४३ तथा ३६८ में हैं। उनकी तरफ पाठकों का ध्यान विशेष तौर पर आकर्षित किया जाता है। उन्हें वे अवश्य ठीक कर लें।)

पृष्ठ तथा पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ तथा पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०-३३	ऋषयो	ऋषियो	४२-३	फिरता	फिरता है
१३-२,३, २५,२७	श्रोक्षण	श्रोक्ष	४३-२	और अपेक्षा	और अव्यक्त की अपेक्षा
१३-२८	उक्षण	उक्षा	४३-३	नहीं अव्यक्त की है	नहीं है
१५-२३	दप	तप	४६-१५	अव्यजायत्	अव्यजायत
५-२	ह	है	५३-३	ह	है
६-८	पदको	पदेंको	६०-९	चछरू	चक्षुरू
११-२७	प्राणीयते	प्रणीयते	६१-५	खोजम	खोजमें
११-२८	उपासत	उपासते	६१-५	पहुंच	पहुंचे
१३-२०	रहा	रहा है	६२-२२	ॐ	ॐ
१४-१९	देवत	×	६३-२७	करिष्यत	करिष्यंते
१६-५,६	मान्	मान	६४-८	तत्व हे	तत्व है
२१-७	दक्षिण	दक्षिणा	७६-२०	ह	है
२७-८	गहस्थ	गृहस्थ	७८-२	उपनिष्त्कार	उपनिषत्कार
३०-१	निचिकेता	नचिकेता	९२-१६	ॐ	ॐ
३५-१०	नाचिकेता-अग्नि	नाचिकेत-अग्नि	९२-१८	वागिरे	वागिरसे
३६-१६	अचरण	आचरण	९३-२२	ज्योतिप	ज्यौतिप
४०-१०	मारथी	सारथि	९३-२३	द्रेश्य	दृश्य
४१-७	सारथ	सारथे	९९-७	ह	है

पृष्ठ तथा पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ तथा पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०१-२१	गफाए	गुफाए	१४१-९	अनुवाक्	अनुवाक
१०४-२८	पराय	पाराय	१४२-१८	अनुवाक्	अनुवाक
१०५-६	गाठे	गाठें	१४३-१	व	वे
११०-२३	मनसा	मनमा	१४३-९	अनुवाक्	अनुवाक
१११-२१	सव	सर्वे	१४३-२५	अप्यो	अप्यों
११३-२५	जुव्हत	जुह् वत	१४३-२५	आवये त्या	आवयेत्या
११५-२१	भत	भूत	१४३-२५	ओ	ओं
११८-१७	निगुण	निर्गुण	१४३-२८	प्नवा नीति	प्नवानीति
११८-२२	जागृत्	जाग्रत्	१४४-१,१६	अनुवाक्	अनुवाक
११९-१८,२०	तैजस्	तैजस	१४४-१८	ऽवाङ्	ऽवाक्
१२०-१६,२३	तैजस्	तैजस	१५७-१	ह	हे
१२१-१९	तैजस्	तैजस	१५८-१,३	अजानज	आजानज
१२२-२८	सक्ष्म	सूक्ष्म	१६१-१,११	अनुवाक्	अनुवाक
१२३-९	निगुर्ण	निर्गुण	१६१-२५	ब्रह्मेति-व्यजानात्	ब्रह्मेति व्यजानात्
१२५-१४	तैजस्	तैजस	१६२-१,११	अनुवाक्	अनुवाक
१२५-१५	जनता हैं	जानता हैं	१६३-१,१९	अनुवाक्	अनुवाक
१२५-२६	दिमत्वा	दिमत्त्वा	१६३-२४	ब्रह्मति	ब्रह्मेति
१२९-२१,२२,२५,२७	तैजस्	तैजस	१६७-२१	मल	मूल
१२९-२८	नरोक	नरोके	१६८-२,३	अनुवाक्	अनुवाक
१३०-२,१०	तैजस्	तैजस	१६८-१०	श्लोककृतदह	श्लोककृदह
१३३-३,१०	अनुवाक्	अनुवाक	१६८-१३	सुवर्न	सुवर्ण
१३३-२०	ॐ	ॐ	१७०-२४	समुद्	समु
१३४-१६	अनुवाक्	अनुवाक	१७१-२३	प्रापतन्-मशना	प्रापतेंस्नमशनाया
१३४-२५	ॐ	ॐ			
१३५-५,८	ज्यौतिष्	ज्यौतिष			
१३५-२०	ज्यौतिष	ज्यौतिष	१७२-२५,२७	अशना	अशनाया
१३५-२७	नघानम	मधानम्	१७३-७	सम्मख	सम्मुख
१३८-४	अनुवाक्	अनुवाक	१७४-२५	मग्रप्स्यत	मग्रप्स्यन्
१३९-१३	अनुवाक्	अनुवाक	१७६-१३,१६,१७	अवमय	आवमय
१४०-१९	अनुवाक्	अनुवाक	१७७-२४	[illegible]	[illegible]

पृष्ठ तथा पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८७-१०	मख	मुख
१८८-५	आगिरम्	आगिरस
१८८-६,८	वृहस्पति	बृहस्पति
१८८-८	वृहती	बृहती
१८८-१९	अविदित्वो	अविदित्वो
१८९-९	आधिदैवत	अधिदैवत
१९१-२२	ह्युत्तिष्ठति	ह्युत्तिष्ठति
१९३-५	अच्छादित	आच्छादित
१९७-९,१७	आधिदैवत	अधिदैवत
२१०-१३	वक	वक्र
२११-२१	उपविष्य	उपविश्य
२१२-११	सप्तविधि	सप्तविध
२१४-२७	उद्गृहणाति	उद्गृह्णाति
२१८-२०	श्रेष्ट	श्रेष्ठ
२१९-५,११	अपराह्न	अपराह्ण
२१९-७	वेला	वेला
२१९-१३	वन	वन
२२२-४	वृहत्	बृहत्
२२२-५	यज्ञिय	यज्ञीय
२२४-७	अपराह्न	अपराह्ण
२२४-८, ९,१०	वृहत्	बृहत्
२२६-१८	यज्ञिय	यज्ञीय
२२७-१	यज्ञिय	यज्ञीय
२२९-२७	आत्मान	आत्मन
२३२-१८	भांति लक्ष्य	भांतिका लक्ष्य
२४७-१८	मख	मुख
२५८-२३	प्रपद्य	प्रपद्ये
२६३-११, १३,१६, १७,१९	असोष्ठ	असोष्ट
२६३-२०	आगिरम	आगिरम

पृष्ठ तथा पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६८-१	'कृति'	'कृत'
२७०-२८	आहारेमा	आजहारेमा
२७९-१	'ज्योतिष्मान्	'ज्योतिष्मान्'
२९१-२६	जन	जनु
२९२-२८	यज्ञ	यज्ञस्य विशिष्ट
	स्यविशिष्ट	
३०८-२८	चक्षर्वाव	चक्षुर्वाव
३११-२८	पहल	पहले
३१४-६	दगा	दूंगा
३१७-२०	'आकश'	'आकाश'
३१८-१८	रयिमान	रयिमान्
३२०-२	कंकय	कैकेय
३२१-१६	ब्रह्मवर्चत्	ब्रह्मवर्चस
३२२-६,१८	"	"
३२२-२६	यकिच	यत्किंच
३२३-२	हू।	हू।'
३२३-९	ब्रह्मवर्चत्	ब्रह्मवर्चस
३२५-१	डाल	डाले
३२८-१	आसीन्	आसीत्'
३२८-१	तत्वमसि'	'तत्त्वमसि'
३२९-२३	यद्धेत	यद्धयेत
३३०-२७	आण्डज	अण्डज
३३३-९	तीनमें	तीन भागो ने
३३३-१५	तैजस्	तैजस
३३४-२७	भय	भूय
३३५-१	पीत	पीते
३४८-२०	देव	दैव
३५६-२४	भवन्ति	भवति
३५९-४	प्रकाशमान्	प्रकाशवान् या प्रकाशमान
३६२-२२	व	वै
३६४-२४	ज्योति	ज्योति

पृष्ठ तथा पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३६८-२५वीं पंक्ति के 'शुद्धौ' के बाद २६वीं पंक्ति का 'सत्त्वशुद्धि सत्त्वशुद्धौ' यह भाग आना चाहिये। जहा है वहा से हटा दें।		
३७४-२४	ब्रह्मीति	ब्रह्मेति
३७६-९	अनाश-कायण	अनाश-कायन
३७८-१६	एरमदीय	ऐरमदीय
३८३-१	लोमस	लोमसे
३८९-२३	वर्षाण्यवास	वर्षाण्युवास
३९२-२०,२२	शवल	शबल
४०१-२६	यदिद	यदिदं
४१४-९	ो	तो
४१५-१०	अ ात्	अर्थात्
४२०-२६	प्रमायक	प्रमायुक
४२२-२९	सर्द	सर्व
४२६-२१	म	मे
४३०-१	जीवत	जीवित
४३२-१८	अनन्त	अनन्त
४३४-९	साधरण	साधारण
४४१-७	'बल'	'बलाका'
४४१-७	अप है	सर्प है बगुलो की पंक्ति, अर्थात् बगुलो में बैठने वाला
४४४-४	अ यतस्त्य	अन्यतस्त्य-जायी
४४८-१६,१७	सुषुन्ना	सुषुम्णा
४४९-९	तुन्तु	तन्तु
४५२-६	कश्यप	कश्यप
४५२-९	प्रत्यह	प्रत्येह
४५९-६,९	निचद्नास	निद्दास

पृष्ठ तथा पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४६०-२५	समत्याय	समुत्थाय
४६३-२	आत्मा	आत्मा
४६४-२७	पु)षो	पुरुषो
४७४-११,१९	निरावलम्ब	निरवलम्ब
४७४-१५	'चन्द्रमा'क	'चन्द्रमा' का
४७६-१	प्राणभृत	प्राणभृत
४८९-२९	कश्चिद	कश्चिद्
४९३-१९	है	हैं
४९६-८	भवत्	भवत्-
४९६-२३	कस्मि	कस्मिं
५०१-१७	वा	वायु
५०४-४	चक्ष	चक्षु
५०४-२०	श्रोत्र-पुरुष	श्रोत्र-पुरुष
५०६-२	ह	हैं
५०७-९	ेता	देता
५०७-१२	प्राणि ो	प्राणियों
५१०-१६	•	हैं
५११-७	प्रतिि त	प्रतिष्ठित
५११-२०	श्रोत्र-पुरुष	श्रोत्र-पुरुष
५११-२२	' ह्म'	'ब्रह्म'
५१२-१	औपनिषद्	औपनिषद
५१३-१८	वक्ष	वृक्ष
५२०-५	वक्ष	वृक्ष
५२४-१	बठा	बैठा
५२४-१	फला	फैला
५३४-२०	भवगवन्	भगवन्
५३५-२९	भ्रियत	ध्रियत
५४०-२१	ह	हैं
५४१-८	विद्यासु	[illegible]
५४४-१५	धारणा	धारणा
५४४-२५	[illegible]	[illegible]

पृष्ठ तथा पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ तथा पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५४८-११	चेदवेदि	चेदवेदी	६०२-२५	कृणवमे	कृण्वमे
५५१-१५	अन्तहृदय	अन्तर्हृदय	६०२-२५	पूर्त	पूर्व
५५१-१९	ब्राह्मण	ब्राह्मणा	६०४-२७	सुधीन्तम्	सुधीतम्
५५३-३	ी	दी	६०५-१	जमे	जैमे
५५३-१३	अग्निवेश्य	आग्निवेश्य	६०५-१५	विछानेवाला	बिछानेवाला
५५४-८	पूर्वव	पूर्वक	६०६-२०	वाण	बाण
५५५-१	हम	हमें	६०७-१	पर्व ोकी	पर्वतोकी
५५७-२५	तदेतदेव	तदेव	६०७-५	घे हुए	घेरेहुए
५५८-१	तीसर	तीसरे	६०७-८	अन्धकारस	अन्धकारसे
५५९-११	पैर ह	पैर हैं	६०७-११	वर	वरे
५५९-१५	भुर्भुव	भूर्भुव	६०७-१७	ह्मको	ब्रह्मको
५५९-२१	शुद्र	क्षुद्र	६०७-२६	सर्वम	सर्वम्
५६२-२२	ोनो	दोनो	६०८-५	ाप्ति ोती	प्राप्ति होती
५७०-२१	भु	भू	६०८-१२	पुरु	पुरुष
५७४-२४	आज्य्	आज्यॅ	६०८-२५	मन्वीशो	मनीषा
५७४-२४	मन्यु्	मन्यॅ	६०९-११	प्रकाशमान्	प्रकाशमान
५७५-१७	स्स्रवम	सॅस्रवम	६१०-३	ह	हैं
५७६-१६,१८	मधुमान	मधुमान्	६१५-४	'मन' ,	'मन' है,
५७७-१,३	,,	,,	६१५-५	'बुद्धि' ह।	'बुद्धि' है।
५७९-२	कईयो	कइयो	६१५-११	प्रकाशस	प्रकाशसे
५८१-६	मास्तष्क	मस्तिष्क	६१५-२०	'हृदयस'	'हृदयसे'
५८२-१५	वाण	बाण	६१७-२७	क्षत्रे	क्षेत्रे
५८८-१८	व्रह्मवर्चस्	ब्रह्मवर्चस	६१७-२७	सहरन्येष	सहरत्येष
५८८-२८	अस्मान	अस्मान्	६१७-२८	पतय	यतय
५९३-१०	बुद्धिक	बुद्धिके	६१८-२६	वेदते	वेदयते
६०१-२१	आवश्कता	आवश्य-कता	६२३-१६	तीो	तीनो
६०२-२२	अधिरुध्यते	अभियुज्यते	६२५-१३	ज्योतिमान	ज्योतिमान्

-- फिर मन बाहर निकल गया। सालभर बाहर रहकर लौटा, तो अन्य इन्द्रियोसे बोला, मेरे बिना कैसे बने रहे ? उन्होने उत्तर दिया, जैसे बालक सोचते-विचारते नहीं, परन्तु प्राण-से-प्राण लेते, वाणीसे बोलते, नेत्रसे देखते और श्रोत्रसे सुनते है, वैसे ही हम भी रहे। मन भी अपनी हैसियत समझ गया, और शरीरमें प्रविष्ट हो गया ।११।

अब जब प्राण निकलनेको उद्यत हुआ, तब उसने दूसरे प्राणो, अर्थात् इन्द्रियोको इस तरह उखाड दिया जैसे खूटेसे बधाहुआ एक उत्तम घोडा दौडने लगे, तो खूटोको उखाड फेंके। यह देखकर इन्द्रिया प्राणके निकट आकर बोलीं, भगवन् ! तुम फूलो-फलो, तुम्हीं हम सबमें श्रेष्ठ हो, तुम यहासे मत जाओ ।१२।

तब वाणी कहने लगी, मै क्या वसिष्ठ हू, तुम्हीं वसिष्ठ हो, चक्षुने कहा, मै क्या प्रतिष्ठा हू, तुम्हीं प्रतिष्ठा हो ।१३।

श्रोत्रने कहा, मै क्या सपदा हू, तुम्ही सपदा हो, मनने कहा, मै क्या आयतन हू, तुम्हीं आयतन हो ।१४।

इसीलिये इन्द्रियोको वाणी-नामसे नही पुकारते, चक्षु-नामसे, श्रोत्र-नामसे, मन-नामसे भी नही पुकारते, तभी इन सब इन्द्रियोको 'प्राण' ही नामसे पुकारते है क्योकि वही ज्येष्ठ है, श्रेष्ठ है, वसिष्ठ है, सपदा है, आयतन है ।१५।

मनो होच्चक्राम । तत्सवत्सर प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति। यथा बाला अमनस प्राणन्त प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्त श्रोत्रेणैवमिति । प्रविवेश ह मन । ११ ।
अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्स यथा सुहय पड्वीशशङ्कून्सखिदेदेवमितरान्प्राणान्समखिदत्तँ हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्व न श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति । १२ ।
अथ हैन वागुवाच यदह वसिष्ठोऽस्मि त्व तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैन चक्षुरुवाच यदह प्रतिष्ठास्मि त्व तत्प्रतिष्ठासीति । १३ ।
अथ हैन श्रोत्रमुवाच यदहँ सपदस्मि त्व तत्सपदसीत्यथ हैन मन उवाच यदहमायतनमस्मि त्व तदायतनमसीति । १४ ।
न वै वाचो न चक्षूँषि न श्रोत्राणि न मनाँसीत्याचक्षते । प्राणा इत्येवाचक्षते । प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति । १५ ।

(यह कथा बृहदारण्यक ६ष्ठ अध्याय १म ब्राह्मणमे भी लग-भग इन्ही शब्दोमे पाई जाती है ।)

पचम प्रपाठक—[दूसरा खड]

(मथ-रहस्य)

प्राणने इन्द्रियोसे कहा, मेरा अन्न क्या होगा ? इन्द्रियोने उत्तर दिया, कुत्तेसे लेकर पक्षियोतक सबका जो अन्न है, वही तेरा अन्न होगा। 'अन' शब्दसे ही 'अन्न' बना है—'अन'का अर्थ है 'प्राण'। जो 'अन', अर्थात् प्राण-शक्ति देता है, वह 'अन्न' है। 'अन'से 'अन्न' बनता है, यह तो प्रत्यक्ष है। जो यह जानता है उसकेलिये कोई वस्तु 'अनन्न' नहीं होती, 'अनन्न', अर्थात् 'अन्न' न होना, उसकेलिये सब जगह अन्न-ही-अन्न, अर्थात् जीवन-ही-जीवन हो जाता है ।१।

फिर प्राणोने इन्द्रियोसे कहा, मेरा वस्त्र—ओढना—क्या होगा ? इन्द्रियोने उत्तर दिया, जल। तभी खाना खानेसे पहले और पीछे जल-पान करते है। यह जल-पान मानो प्राणको वस्त्र पहनाना है। जो ऐसा करता है वह वस्त्र-लाभ करता है और कभी नग्न नहीं होता ।२।

(इसप्रकार प्राण-रक्षाकेलिये अन्न तथा जल दोनो आवश्यक है।)

यह रहस्य सत्यकाम जाबालने व्याघ्रपदके वंशज गोश्रुति को देकर कहा, यदि यह उपदेश सूखे पेडको भी दिया जाय, तो उसमें भी शाखाए निकल आयें, और पत्ते फूट निकलें। (इस प्राण-विद्याके ज्ञानमे श्रद्धा-हीन व्यक्तिके जीवनमे भी प्रभु-भक्तिकी सरसता फूट पडती है—यही अभिप्राय है।) ।३।

स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति । यत्किंचिदिदमाश्वभ्य आशकुनिभ्य इति होचुस्तद्वा एतदनस्यान्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्ष, न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवतीति । १ ।
स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भि परिदधति । लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति । २ ।
तद्धैतत्सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघ्रपद्यायोक्त्वोवाच यद्यप्येनच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जायेरन्नेवास्मिञ्छाखा प्ररोहेयु पलाशानीति । ३ ।

(नीचे जो स्थल है यह कुछ विस्तारसे बृहदारण्यक ६ अध्याय, ३य ब्राह्मणमे भी आता है ।)

यदि कोई 'महत्त्व'को पाना चाहे, तो अमावस्याकी रातमें जब और कुछ दिखाई न दे--अपना संकल्प-ही-संकल्प दिखाई दे—दीक्षा ग्रहण करे । फिर उसी मासकी पूर्णमासीको, उस समय जब वह संकल्प मानो घोर-अन्धकारसे पूर्ण-प्रकाशमें विकसित हो उठे, सब औषधियो (सर्वौषध)के रसको दधि तथा मधुकेसाथ मथ ले, और उसे एक तरफ रख दे । इसीको 'मन्थ' कहते है, मथाहुआ होनेके कारण 'मन्थ'। फिर प्राणकी श्रेष्ठता प्रतिपादित करनेवाले--'ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा'--इस वाक्यका उच्चारण करके अग्निमें आज्य की आहुति दे, और 'सर्वौषध रस'–'दधि'–'मधु'का जो 'मन्थ' रखा था, उसमें स्रुवेसे चू रहा घृत टपका दे ।४।

फिर, 'वसिष्ठाय स्वाहा'--'प्रतिष्ठायै स्वाहा'—'संपदे स्वाहा'—'आयतनाय स्वाहा'--प्राणकी श्रेष्ठता प्रतिपादित करनेवाले वाक्योका उच्चारण करके आज्यकी आहुति दे, और उसी 'मन्थ'में स्रुवेसे चू रहा घृत टपका दे ।५।

इसके बाद अग्निके समीप सरककर 'मन्थ'को अंजलिमें लेकर जप करे--हे प्राण ! तेरा नाम 'अम' है—यह जो-कुछ है, वह तेरी 'अमा' है--'अम'की शक्ति 'अमा' हुई—'अ-मा', अर्थात् जिसे मापा नहीं जासकता, अपरिमेय ! हे प्राण, आप ज्येष्ठ हो, श्रेष्ठ हो, राजा हो, अधिपति हो--आप मुझे ज्येष्ठता, श्रेष्ठता, राज्य तथा

अथ यदि महज्जिगमिषेदमावास्यायां दीक्षित्वा पौर्णमास्यां रात्रौ सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनोरुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् । ४ ।
वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्संपदे स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् आयतनाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् । ५ ।

आधिपत्य प्राप्त करायें—मैं यह सब-कुछ हो जाऊं, ज्येष्ठ हो जाऊं, श्रेष्ठ हो जाऊं, राजा और अधिपति हो जाऊ ।६।

इसके बाद इस ऋचासे 'मन्थ'का आचमन करे—'तत्सवितुर्वृणीमहे'—'हम उस प्राण-रूप सविताके गुणोको वरते हैं'—यह बोलकर आचमन करे । फिर, 'वय देवस्य भोजनम्'—'हम उस प्राण-देवके भोजनका वरण करते हैं'—यह कहकर आचमन करे । फिर, 'श्रेष्ठं सर्वधातमम्'—'श्रेष्ठ और सबको धारण करनेवाले सकल्पका धारण करते हैं'—यह कहकर आचमन करे । फिर, 'तुर भगस्य धीमहि'—'हम भगवान्के तेजोमय रूपका ध्यान करते हैं'—यह कहकर सारा मन्थ पी जाय ।७।

(इस सम्पूर्ण स्थलका अभिप्राय यह है कि 'ज्येष्ठ'-'श्रेष्ठ'-'वसिष्ठ'-'प्रतिष्ठा'-'सपद्'-'आयतन' बननेके सकल्प-रूपी बीजको निराशारूप अमावसकी घोर निशामे बो दे । अर्थात्, ऐसे समयमे इनका बीज मनमे बोये, जब इनकी कोई आशा ही न दिखाई देती हो । इसप्रकार 'ज्येष्ठ' आदि होनेके बीजको अकुरित करके खिला दे, ऐसे जैसे पूर्णमासीकी चादनी छिटकती है । फिर स्थावर (औषध), जगम (दधि), तथा विहगम (मधु)के सार-तत्त्वको लेकर उनमें प्राणकी भावना करे, यह सोचे कि स्थावर-जगत् मुझे महानताकी तरफ ले जा रहा है, जगम-जगत् मुझे महानताकी तरफ ले जा रहा है, विहगम-जगत् मुझे महानताकी तरफ ले जा रहा है । ये भावनाए औषध-दधि-मधुमे करता हुआ इन सबका 'मन्थ' बनाकर मन्त्रोका जापकरके उसे पी जाय, इसप्रकार ऊची भावनाओसे भावित कियेहुए मन्थका

अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थमाधाय जपत्यमो नामास्यमा हि ते सर्वमिदं स हि ज्येष्ठ श्रेष्ठो राजाऽधिपति स मा ज्यैष्ठ्यं श्रैष्ठ्यं राज्यमाधिपत्य गमयत्वहमेवेदं सर्वमसानीति । ६ ।
अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति तत्सवितुर्वृणीमह इत्याचामति वय देवस्य भोजनमित्याचामति श्रेष्ठं सर्वधातममित्याचामति तुर भगस्य धीमहीति सर्व पिबति । ७ ।

पान करनेसे सकल्प दृढ होता है, और महान् बननेकी इच्छावाला स्वय महान् हो जाता है ।)

इसके पश्चात् कस-पात्र और चमसको धोकर रखदे, और अग्नि-कुण्डके पीछे चर्मपर या भूमिपर बैठ जाय । वाणीका सयम करके, काम-क्रोधादिपर विजय पाकर सो जाय, और यदि स्वप्नमें स्त्रीके दर्शन करे—स्त्री-रूपा मातृ-शक्तिके दर्शन करे—तो समझे कि काम सफल हुआ ।८।

इस विषयमें एक श्लोक भी है—'जब अभीष्ट कार्योंके समय स्वप्नमें स्त्रीको—स्त्री-रूपा मातृ-शक्तिको—देखे, तो समझ ले कि मातृ-शक्तिका आशीर्वाद मिला, समृद्धि होगी ऐसा स्वप्न देखनेपर, ऐसा स्वप्न देखने पर ।९।

पचम प्रपाठक—[तीसरा खण्ड] ।

(श्वेतकेतु तथा राजा जैवलि प्रवाहणके पाच प्रश्न, ३ से १० खड)

एक समय आरुणिका पुत्र श्वेतकेतु पचाल-देशके क्षत्रियोंकी समितिमें आया । उसे जैबलि प्रवाहण (छा० १-८-१ मे भी इस राजाका वर्णन है)ने पूछा, कुमार ! क्या तुम अपने पितासे शिक्षा पा चुके ? श्वेतकेतुने उत्तर दिया, हा, भगवन ! ।१।

जैवलिने पूछा, (१) क्या तुम्हें मालूम है कि मरकर मनुष्य यहासे कहा जाता है ? कुमारने उत्तर दिया, भगवन् ! मै नहीं जानता । (२) क्या तुम्हें मालूम है कि लौटकर कैसे आते है ? उसने उत्तर दिया, भगवन् ! मै नहीं जानता । (३) क्या तुम्हें मालूम है कि

निर्णिज्य कंस चमस वा पश्चादग्ने सविशति चर्मणि वा स्थण्डिले वा वाचयमोऽप्रसाह स यदि स्त्रिय पश्यत्समृद्ध कर्मेति विद्यात् ।८।
तदेष श्लोक । यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति ।
समृद्धि तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने इति । ९ ।
श्वेतकेतुर्हारुणेय पञ्चालाना समितिमेयाय । त ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच, कुमारानु त्वाऽशिषत्पितेत्यनु हि भगव इति । १ ।

'देवयान' और 'पितृयाण' के मार्ग कहा अलग-अलग होते है ? उसने उत्तर दिया, भगवन् ! मै नही जानता ।२।

राजाने आगे पूछा, (४) क्या तुम्हें मालूम है कि इतने प्राणियोके मरते रहनेपर भी वह लोक भर क्यो नही जाता ? उसने उत्तर दिया, भगवन् ! मै नहीं जानता । (५) क्या तुम्हें मालूम है कि 'जल' पाचवीं आहुतिमें जाकर किस प्रकार 'पुरुष' बनकर बोलने लगते है ? उसने उत्तर दिया, भगवन् ! मै नहीं जानता ।३।

तब राजाने कहा, तो तूने कैसे कह दिया था कि तू शिक्षा ग्रहण कर चुका ? जो इन बातोको नहीं जानता वह कैसे कह सकता है कि उसने शिक्षा ग्रहण कर ली ? श्वेतकेतुने अपनेको परास्त अनुभव किया, वह पिताके घर लौट आया, और उसे कहा—आपने मुझे बिना पूरी शिक्षा दिये ही कह दिया कि तुझे सब सिखा दिया ।४।

उस 'क्षत्रिय-बन्धु', अर्थात् क्षत्रिय-भाईने मुझसे पांच प्रश्न पूछे, मै उनमेंसे एकका भी तो उत्तर न दे सका । पिताने पूछा, वे प्रश्न क्या थे ? प्रश्नोको सुनकर उसने कहा कि जैसे ये प्रश्न तूने मुझे सुनाये है, मै भी इनमेंसे किसीका उत्तर नहीं जानता । अगर मै इनका उत्तर जानता होता, तो तुझे क्यो न बतलाता ? ।५।

श्वेतकेतुका पिता गौतम स्वयं राजाकेपास पहुंचा । राजाने उसकी पूजा की । प्रात काल जब राजा सभामें गया, तो गौतम भी

वेत्थ यदितोऽधि प्रजा प्रयन्तीति । न भगव इति । वेत्थ यथा पुनरावर्तन्त ३ इति । न भगव इति । वेत्थ पथोर्देव-यानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना ३ इति । न भगव इति । २ ।
वेत्थ यथासौ लोको न सपूर्यत ३ इति । न भगव इति । वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्तीति । नैव भगव इति । ३ ।
अथानु किमनुशिष्टोऽवोचथा, यो हीमानि न विद्यात्कथँ सोऽनुशिष्टो ब्रुवीतेति । स हाऽऽयस्त पितुरर्धमेयाय तँ होवाचाऽननुशिष्य वाव किल मा भगवानब्रवीदनु त्वाऽशिषमिति । ४ ।
पञ्च मा राजन्यबन्धु प्रश्नानप्राक्षीत्तेषा नैकचनाशक विवक्तु-मिति । न होवाच यथा मा त्व तदेतानवदो यथाऽहमेषा नैकचन वेद । यद्यहमिमानवेदिष्य कथ ते नावक्ष्यमिति । ५ ।

पान करनेसे सकल्प दृढ होता है, और महान् बननेकी इच्छावाला स्वय महान् हो जाता है ।)

इसके पश्चात् कस-पात्र और चमसको धोकर रखदे, और अग्नि-कुण्डके पीछे चर्मपर या भूमिपर बैठ जाय । वाणीका सयम करके, काम-क्रोधादिपर विजय पाकर सो जाय, और यदि स्वप्नमें स्त्रीके दर्शन करे--स्त्री-रूपा मातृ-शक्तिके दर्शन करे--तो समझे कि काम सफल हुआ ।८।

इस विषयमें एक श्लोक भी है--'जब अभीष्ट कार्योंके समय स्वप्नमें स्त्रीको--स्त्री-रूपा मातृ-शक्तिको--देखे, तो समझ ले कि मातृ-शक्तिका आशीर्वाद मिला, समृद्धि होगी ऐसा स्वप्न देखनेपर, ऐसा स्वप्न देखने पर ।९।

पचम प्रपाठक--[तीसरा खण्ड]

(श्वेतकेतु तथा राजा जैवलि प्रवाहणके पाच प्रश्न, ३ से १० खड)

एक समय आरुणिका पुत्र श्वेतकेतु पचाल-देशके क्षत्रियोकी समितिमें आया । उसे जैवलि प्रवाहण (छा० १-८-१ मे भी इस राजाका वर्णन है)ने पूछा, कुमार ! क्या तुम अपने पितासे शिक्षा पा चुके ? श्वेतकेतुने उत्तर दिया, हा, भगवन् ! ।१।

जैवलिने पूछा, (१) क्या तुम्हें मालूम है कि मरकर मनुष्य यहासे कहां जाता है ? कुमारने उत्तर दिया, भगवन् ! मै नहीं जानता । (२) क्या तुम्हें मालूम है कि लौटकर कैसे आते है ? उसने उत्तर दिया, भगवन् ! मै नहीं जानता । (३) क्या तुम्हें मालूम है कि

निर्णिज्य कँस चमस वा पश्चादग्ने सविशति चर्मणि वा स्थण्डिले वा वाचयमोऽप्रसाह स यदि स्त्रिय पश्येत्समृद्ध कर्मेति विद्यात् ।८।

तदेष श्लोक । यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियँ स्वप्नेषु पश्यति ।
समृद्धि तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने तस्मिन्स्वप्ननिदर्शन इति ।९।

श्वेतकेतुर्हारुणेय पञ्चालानाँ समितिमेयाय । तँ ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच, कुमारानु त्वाऽशिषत्पितेत्यनु हि भगव इति ।१।

'देवयान' और 'पितृयाण' के मार्ग कहा अलग-अलग होते है ? उसने उत्तर दिया, भगवन् ! मै नहीं जानता ।२।

राजाने आगे पूछा, (४) क्या तुम्हें मालूम है कि इतने प्राणियोके मरते रहनेपर भी वह लोक भर क्यो नही जाता ? उसने उत्तर दिया, भगवन् ! मै नहीं जानता । (५) क्या तुम्हें मालूम है कि 'जल' पाचवीं आहुतिमें जाकर किस प्रकार 'पुरुष' बनकर बोलने लगते है ? उसने उत्तर दिया, भगवन् ! मै नहीं जानता ।३।

तब राजाने कहा, तो तूने कैसे कह दिया था कि तू शिक्षा ग्रहण कर चुका ? जो इन बातोको नहीं जानता वह कैसे कह सकता है कि उसने शिक्षा ग्रहण कर ली ? श्वेतकेतुने अपनेको परास्त अनुभव किया, वह पिताके घर लौट आया, और उसे कहा—आपने मुझे बिना पूरी शिक्षा दिये ही कह दिया कि तुझे सब सिखा दिया ।४।

उस 'क्षत्रिय-बन्धु', अर्थात् क्षत्रिय-भाईने मुझसे पांच प्रश्न पूछे, मै उनमेंसे एकका भी तो उत्तर न दे सका । पिताने पूछा, वे प्रश्न क्या थे ? प्रश्नोको सुनकर उसने कहा कि जैसे ये प्रश्न तूने मुझे सुनाये है, मै भी इनमेंसे किसीका उत्तर नहीं जानता । अगर मै इनका उत्तर जानता होता, तो तुझे क्यो न बतलाता ? ।५।

श्वेतकेतुका पिता गौतम स्वयं राजाकेपास पहुचा । राजाने उसकी पूजा की । प्रात काल जब राजा सभामें गया, तो गौतम भी

वेत्थ यदितोऽधि प्रजा प्रयन्तीति । न भगव इति । वेत्थ यथा पुनरावर्तन्त ३ इति । न भगव इति । वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना ३ इति । न भगव इति । २ ।
वेत्थ यथासौ लोको न सपूर्यत ३ इति । न भगव इति । वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्तीति । नैव भगव इति । ३ ।
अथानु किमनुशिष्टोऽवोचथा, यो हीमानि न विद्यात्कथं सोऽनुशिष्टो ब्रुवीतेति । स हाऽऽयस्त पितुरर्धमेयाय तं होवाचाऽननुशिष्य वाव किल मा भगवानब्रवीदनु त्वाऽशिषमिति । ४ ।
पञ्च मा राजन्यबन्धु प्रश्नानप्राक्षीत्तेषा नैकचनाशक विवक्तुमिति । स होवाच यथा मा त्व तदेतानवदो यथाऽहमेषा नैकचन वेद । यद्यहमिमानवेदिष्य कथ ते नावक्ष्यमिति । ५ ।

वहा पहुचा। राजाने कहा, भगवन्! गौतम! कोई मानुषी धन माग लो! गौतमने उत्तर दिया, राजन! मानुषी-धन तो आप अपने पास रखो, मेरे पुत्र कुमार श्वेतकेतुसे जो प्रश्न आपने किये थे मुझे तो उन्हींका उत्तर दीजिये।६।



श्वेतकेतुका पिता गौतम राजा जैवलि प्रवाहणके पास ब्रह्म-विद्याके लिये पहुचा

स ह गौतमो राज्ञोऽर्धमेयाय। तस्मै ह प्राप्तायार्हाचकार। स ह प्रात सभाग उदेयाय। तँ होवाच मानुपस्य भगवन्गौतम वित्तस्य वर वृणीथा इति। स होवाच तवैव राजन्मानुप वित्तम्। यामेव कुमारस्यान्ते वाचमभापथास्तामेव मे ब्रूहीति। स ह कृच्छ्री वभूव।६।

यह सुनकर राजा असमजसमें पड गया। सोच-विचारकर उसने आज्ञा दी कि कुछ कालतक यही मेरे पास रहो। फिर, राजाने गौतम को कहा, देख गौतम ! तूने मुझसे इन प्रश्नोका उत्तर पूछा तो है, परन्तु यह स्मरण रख कि तुझसे पहले यह विद्या किसी ब्राह्मणको नहीं मिली। इसीलिये सब देशोमें क्षत्रियोका ही शासन रहा है। फिर उसे राजाने उपदेश देना प्रारभ किया ।७।

पचम प्रपाठक—[चौथा खड]

पहले राजा पाचवें प्रश्नका उत्तर देते है कि 'जल' किसप्रकार पाचवी आहुतिमें 'पुरुष' बनकर बोलने लगते है—

हे गौतम ! वह देखो द्यु-लोक ! यह 'द्यु-लोक' यज्ञकी अग्नि है। उस अग्निमें सूर्य समिधा है, किरणें धुआ है, दिन ज्वाला है, चन्द्र अगार है, नक्षत्र चिनगारिया है ।१।

इस द्यु-रूप यज्ञाग्निमें देव-गण श्रद्धाको, अर्थात् जलकी आहुति देते है. और उस आहुतिसे राजा सोम, अर्थात् 'वाष्प' उत्पन्न होते है। सृष्टिमें होरहे द्यु-यज्ञमें जलकी यह पहली आहुति है ।२।

पचम प्रपाठक—[पाचवा खड]

फिर देखो वह पर्जन्य ! यह पर्जन्य यज्ञकी दूसरी अग्नि है। उस अग्निमें वायु समिधा है, अभ्र धुआ है, विद्युत् ज्वाला है, वज्र अगारे है, गर्जन चिनगारिया है ।१।

इस पर्जन्य-रूप यज्ञाग्निमें देव-गण सोम-राजा, अर्थात् जलीय-वाष्प

त॑ ह चिर वसेत्याज्ञापयाचकार। त॑ होवाच। यथा मा त्व गौतमावदो यथेय न प्राक् त्वत्त पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छति। तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति। तस्मै होवाच। ७।

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गा। १।

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा श्रद्धा जुह्वति तस्या आहुते सोमो राजा सभवति। २।

पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्र धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादनयो विस्फुलिङ्गा। १।

की आहुति देते हैं, और उस आहुतिसे 'वर्षा' होती है। सृष्टिमें हो रहे 'पर्जन्य-यज्ञ'में जलका दूसरी आहुतिमें यह रूप होजाता है।२।

पचम प्रपाठक—[छठा खड]

फिर देखो यह पृथिवी ! यह पृथिवी यज्ञकी तीसरी अग्नि है। इस अग्निमें सवत्सर समिधा है, आकाश धुआ है, रात्रि ज्वाला है, दिशाए अगारे है, अवान्तर दिशाए चिनगारिया है।१।

इस पृथिवी-रूप यज्ञाग्निमें देव-गण वर्षाकी आहुति देते है, और उस आहुतिसे 'अन्न' उत्पन्न होता है। सृष्टिमें हो रहे 'पर्जन्य-यज्ञ' में जलका तीसरी आहुतिमें यह रूप होजाता है।२।

पचम प्रपाठक—[सातवा खड]

फिर देखो यह पुरुष ! यह पुरुष यज्ञकी चतुर्थ अग्नि है। इस अग्निमें वाणी समिधा है, प्राण धुंआ है, जिह्वा ज्वाला है, आख अगारे हैं, कान चिनगारिया है।१।

इस पुरुष-रूप यज्ञाग्निमें देव-गण अन्नकी आहुति देते हैं, और उस आहुतिसे 'रेतस्'—'वीर्य'—उत्पन्न होता है। सृष्टिमें होरहे 'पुरुष-यज्ञ' में जलका चतुर्थ आहुतिमें यह रूप हो जाता है।२।

पचम प्रपाठक—[आठवा खड]

फिर देखो यह स्त्री ! यह स्त्री यज्ञकी पंचम अग्नि है।१।

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा सोमॅ् राजान
जुह्वति तस्या आहुतेर्वर्षॅ् सभवति । २ ।
पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्या सवत्सर एव समिदाकाशो
धूमो रात्रिरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिंगा । १ ।
तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्ष जुह्वति तस्या आहुतेरन्नॅ् सभवति । २ ।
पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो
धूमो जिह्वाऽर्चिश्चक्षुरङ्गारा श्रोत्र विस्फुलिंगा । १ ।
तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्न जुह्वति तस्या आहुते रेत सभवति । २ ।
योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स
धूमो योनिरर्चिर्यदन्त करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिंगा । १ ।

इस स्त्री-रूप यज्ञाग्निमें देव-गण रेतस्को आहुति देते है, और उस आहुतिसे गर्भ होता है। सृष्टिमें होरहे 'स्त्री-यज्ञ'में जलका पचम आहुतिमें यह रूप, अर्थात् गर्भ-रूप होे जाता है ।२।

(हवनकुडमे समिधा-सामग्री-घृतसे अग्निहोत्र होता है—इससे आहुति ऊपर 'द्यु'को जाती है। द्यु-लोकको यज्ञ माना जाय, तो वहा हो रहे यज्ञके वाद आहुति 'पर्जन्य' अर्थात् वादलमे जाती है, क्योकि आहुतिके द्युमे जानेके वाद ही 'पर्जन्य' अर्थात् वादल वनता है। 'पर्जन्य'को यज्ञ माना जाय, तो वहा हो रहे यज्ञके वाद आहुति 'अन्न' मे जाती है। क्योकि 'पर्जन्य'से ही 'अन्न' उत्पन्न होता है। 'अन्न' को यज्ञ माना जाय, तो उसमे हो रहे यज्ञके वाद आहुति 'वीर्य'मे जाती है, क्योकि 'अन्न'से 'वीर्य' वनता है। 'वीर्य'को यज्ञ माना जाय, तो उसमे हो रहे यज्ञके वाद आहुति 'गर्भ'मे जाती है, क्योकि 'वीर्य' से 'गर्भ' उत्पन्न होता है। इसप्रकार हवन-कुडमे हो रहे यज्ञसे सूत्र उठाकर जहा-जहा आहुति पहुचती है, जिस-जिस क्रमसे पहुचती है, वहा-वहा यज्ञकी कल्पना की गई है और गर्भाधानको भी एक पवित्र यज्ञ कहा गया है। आहुति-द्यु-पर्जन्य-अन्न-वीर्य—इसप्रकार पाचवी आहुति, अर्थात वीर्यके पडनेपर पर्जन्यका जल पुरुषरूप हो उठता है, और वोलने लगता है।)

पचम प्रपाठक—[नौवा खड]

इसप्रकार पाचवीं आहुतिमें जल पुरुषकी तरह वोलने लगते है। वह उल्वमें लिपटाहुआ गर्भ दस वा नौ मासतक, या जिस समय तक भी हो, माताके अन्दर शयन कर उत्पन्न होता है ।१।

वह उत्पन्न होकर जितनी भी आयु हो, तवतक जीता है। मर जानेके वाद उसे यहांसे अग्निया ही निर्दिष्ट स्थानको ले जाती है।

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भ सभवति । २ ।

इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्तीति स उल्वावृतो गर्भो दश वा नव वा मासानन्त शयित्वा यावद्वाथ जायते । १ ।

जहासे यहा आया था, यहासे जहा जायगा---यह-सब अग्नि ही करती है ।२।

पचम प्रपाठक---[दसवा खड]

(मृत्युके बाद आत्माकी गति---देवयान-पितृयाण एव उत्तरायण-दक्षिणायन मार्गोंका वर्णन)

हे गौतम ! जो लोग उत्पत्तिके इस क्रमको जानते है, और जो 'निष्काम-कर्मी' अरण्यमें श्रद्धा और तपसे उपासनामें लीन रहते है, वे मृत्युके बाद ज्योतिर्मय रूपकी क्रमिक शृखलामेंसे गुजरते है। पहले-पहल उनका रूप 'अर्चि'---किरण---के सदृश प्रकाशमान होता है, किरणसे बढताहुआ 'दिन'के समान इनका ज्योतिर्मय रूप हो जाता है, उससे बढकर 'पूर्णमासी'के पखवाडेमें, इन पन्द्रह दिनोंमें जितना प्रकाश है उतने प्रकाशसे वे ज्योतिर्मय होजाते है, उससे बढकर 'उत्तरायण'के छ. मासोमें ।१।

छ मासोसे---उत्तरायणसे---बढकर 'सवत्सर', और सवत्सरसे बढकर 'आदित्य'की महान् ज्योतिके सदृश वे तेजसे भरपूर होजाते है। 'आदित्य-ज्योति'से वे चन्द्र-ज्योति, और 'चन्द्र-ज्योति'से 'विद्युत्-ज्योति'को प्राप्त होते है। इसप्रकार उत्तरोत्तर, प्रकाशसे प्रकाशमें विकसित होतेहुए पुरुषका 'मानव'से यह 'अमानव'-रूप प्रकट होता है, फिर वही 'अमानव' अन्य ब्रह्म-भक्तोको 'ब्रह्म-मार्ग'का प्रदर्शन करता है, यही 'देवयान-मार्ग' कहलाता है ।२।

इसके विपरीत, जो 'सकाम-कर्मी', ग्राममें रहकर, कुए-बावडी

स जातो यावदायुप जीवति त प्रेत दिष्टमितोऽग्नय
एव हरन्ति यत एवेतो यत सभूतो भवति । २ ।
तद्य इत्थ विदु । ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिपमभिसभवन्त्य-र्चिपोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्पडुदङ्डेति मासाँ्स्तान् । १ ।
मासेभ्य सवत्सरँ् सवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमस चन्द्रमसो
विद्युत तत्पुरुपोऽमानव स एनान्ब्रह्म गमयत्येप देवयान पन्था इति । २ ।

बनवाकर, शुभ-कार्योंमें दान देकर भगवान्‌की उपासना करते हैं, वे मृत्युके बाद मन्द-ज्योतिकी क्रमिक-शृंखलामेंसे गुजरते है। पहले-पहल उनका रूप 'धूम' सदृश होता है, धूमसे बढताहुआ 'रात्रि'के समान इनकी मन्द-ज्योति होती है, उससे बढकर 'अमावास्या'की रात्रिके समान वे ज्योतिर्विहीन हो जाते हैं, उससे बढकर छ मासोंमें, अर्थात् छ मासतककी ज्योतिर्विहीनतामें—'दक्षिणायन'में पहुचते हैं—परन्तु ये सकाम-भावनासे काम करनेवाले 'संवत्सर'को, अर्थात् उससे भी बढेहुए साल भरके अन्धकारमय लोकको नहीं जाते।३।

तो, ये सकाम-कर्मी कहा जाते है? 'दक्षिणायन'से वे 'पितृ-लोक'को पहुचते हैं, पितृ-लोकसे 'आकाश'को, आकाशसे 'चन्द्रमा'को, अर्थात् 'चन्द्र-लोक'में जा पहुचते है। 'चन्द्र-लोक' सोम राजाका लोक है—'सोम-लोक' है। जो सकाम-कर्मी लोग हैं, जिन्होने फलकी आशासे कुए-बावडी बनवाये, दान दिये—उनके कर्मोका यह भोग है, इसे वे सोम-लोकमें जा भोगते है।४।

चन्द्र-लोकमें वे तबतक रहते है, जबतक उनके कर्म क्षीण नहीं हो जाते। उसके बाद वे जिस मार्गसे गये थे उसीको लौट आते हैं, अर्थात् चन्द्र-लोकसे आकाशको लौट आते है। आकाशीय दशासे वायवीय दशाको, वायुसे धूम-सदृश दशाको, धूमसे अभ्र-सदृश दशाको।५।

अभ्रसे मेघको, मेघमें आकर वे बरस पडते हैं, बरसकर धान, जौ, औषधि, वनस्पति, तिल, माष—किसीमें भी जा पैदा होते है। बस, इनमेंसे निकलना कठिन होजाता है। जो-जो भी अन्न खाता है, उसके

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड्दक्षिणैति मासांस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति। ३।

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति। ४।

तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते। यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति। ५।

वीर्यसे उस-जैसी ही सन्तान उत्पन्न होती है। पशु-पशुको उत्पन्न करता है, मनुष्य मनुष्यको। निकलना इसलिये कठिन हो जाता है कि मनुष्य-योनिमें आनेकेलिये यह आवश्यक है कि जीव जिस अन्नमें है वह अन्न किसी मनुष्यके अन्दर जाय, पशुके अन्दर नहीं, यही कठिनता है।६।

ये 'चन्द्र-लोक'से जो लौटते हैं, अगर यहांसे जाते समय उनका आचरण यहा अच्छा रहा था, तो शीघ्र ही वे अच्छी योनिमें आ पहुचते हैं, ब्राह्मण-योनिमें, क्षत्रिय-योनिमें, वैश्य-योनिमें, जिनका आचरण यहा बुरा रहा था, वे शीघ्र ही बुरी योनिमें पहुच जाते हैं, कुत्तेकी योनिमें, सूअरकी योनिमें, चाण्डालकी योनिमें।७।

(इस राजाने जीवके भौतिक-आधार—Materialistic basis of life—ढूढनेमे कमाल कर दिया है। राजाका कथन है कि निष्काम-कर्मी तो उत्तरायणमे, देवयान-मार्गसे जाते है, और मुक्त हो जाते है, सकाम-कर्मी दक्षिणायनसे, पितृयाण-मार्गसे जाते है, और अच्छे-बुरे कर्मोके अनुसार भिन्न-भिन्न जन्म लेते है। जन्म लेनेसे पूर्व वे वर्षाद्वारा बरसते है, और भिन्न-भिन्न अन्नोमे जा पडते है। पशु उस अन्नको खा ले, तो वे पशुके वीर्यद्वारा पशु-जन्म लेते है, मनुष्य उस अन्नको खा ले, तो वे मनुष्यके वीर्यद्वारा मनुष्य-जन्म लेते है। अन्नका दाना-दाना कर्मोके अनुसार ही पशु अथवा मनुष्यद्वारा खायाजाता है, और जिसने मनुष्य-जन्म लेना है वह जीव जिस अन्नमे आ पडा है उसे मनुष्य ही खाता है, जिसने पशु-जन्म लेना है वह जीव जिस अन्नमे है उसे पशु ही खाता है। जबतक कोई नही खाता तबतक

अभ्र भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति। त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतर यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेत सिञ्चति तद्भूय एव भवति।६।
तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीया योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूया योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा।७।

जीव अन्नमे बधा पडा रहता है—यह इस ऋषिकी काल्पनिक उडान है ।

पहला प्रश्न यह था कि मरकर मनुष्य यहासे कहा जाता है ? उसका उत्तर दे दिया—निष्काम-उपासक उत्तरायणमे देवयानसे 'ब्रह्मलोक'को जाता है, जो 'शुक्ल-गति' या 'सौरी-गति' है, सकाम-उपासक दक्षिणायनमे पितृयाणसे 'चन्द्रलोक'को जाता है, जो 'कृष्ण-गति' या 'चान्द्रमसी-गति' है । गीता के ८म अध्यायमे भी यही बात निम्न श्लोकोमे कही है—

यत्र काले त्वनावृत्ति आवृत्ति चैव योगिन. ।
प्रयाता यान्ति त काल वक्ष्यामि भरतर्पभ ।२३।
अग्निर्ज्योतिरह शुक्ल षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना ।२४।
धूमो रात्रिस्तथा कृष्ण षण्मासा दक्षिणायनम ।
तत्र चान्द्रमस ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ।२५।
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगत शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्ति अन्ययावर्तते पुन. ।२६।

दूसरा प्रश्न यह था कि तुम्हें मालूम है कि लौटकर कैसे आते है ? उसका उत्तर भी दे दिया—कुछ निष्काम-कर्मी ब्रह्मको पहुचकर 'आदित्य-लोक'को चले जाते है, आदित्यकी ज्योतिके समान ज्योतिर्मय हो जाते है, सकाम-कर्मी 'चन्द्र-लोक'को जाकर फिर आकाश, धूम, अभ्र, मेघ, अन्न, वीर्य आदि मार्गोमे लौट आते है, और अपने पूर्व सचित कर्मोके अनुसार शुभाशुभ जन्म ग्रहण करते है । तीसरा प्रश्न यह था कि 'देवयान' और 'पितृयाण'के मार्ग कहा अलग-अलग होते है ? उसका उत्तर भी दे दिया । देवयानके मार्गमे जानेवाले 'अयन' (आधे वर्ष)मे 'सवत्सर' (वर्ष)को चले जाते है, पितृयाणके मार्ग से जानेवाले 'अयन'मे सवत्सरको न जाकर, पितृ-लोकको चले जाते है । अब चौथा प्रश्न रह गया—इतने प्राणियोके मरते रहनेपर भी वह लोक भर क्यो नही जाता ? इस प्रश्नका राजा उत्तर देते है—)

देवयान और पितृयाण—इन दोनोंमेंसे जो किसी एकसे भी नहीं जाते, वे छोटे-छोटे जन्तु, कीट-पतंगकी तरह—बार-बार जन्म लेनेवाले बनते हैं—उनका 'जायस्व-म्रियस्व'—'जन्म-मरण'—यह तीसरा मार्ग है। इसलिये वह लोक भर नहीं जाता। अपनेको पापसे बचाना चाहिये ताकि इन कीट-पतंगोंकी तरह जन्मते-मरते न रहें, आवागमनके चक्करमें ही बराबर न पड़े रहें। किसीने कहा है—।८।

सोनेका चुरानेवाला, शराब पीनेवाला, गुरु-तल्प-गामी, ब्रह्म-ज्ञानीको मारनेवाला—ये चारों पतित हो जाते हैं, और पांचवां वह जो इनके साथ किसी प्रकारका भी सम्बन्ध रखता है।९।

जिन यज्ञ-रूप पांच अग्नियोंका इस ग्रन्थमें उल्लेख किया गया है, उन्हें जो ठीक-ठीक जानता है, वह इन लोगोंके सम्पर्कमें आता हुआ भी पापसे लिप्त नहीं होता। जो इस रहस्यको जानता है वह शुद्ध, पवित्र रहता तथा पुण्य-लोकोंको प्राप्त करता है।१०।

(ऐसा वर्णन मुंडक १-२, छांदोग्य ४-१५, ८-६-५, बृहदा ५-१० में भी है। कई विद्वान् जो ज्योतिः शास्त्रके ज्ञाता हैं, कहते हैं कि देवयान तथा पितृयाण-मार्ग भूगोल-सम्बन्धी अस्ली मार्ग है। पृथ्वीसे लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त ब्रह्मपथ है, जो एकदम प्रकाशमय है। पृथ्वीसे सूर्यलोक तकका मार्ग प्रकाशमय है ही। उसके आगे चन्द्र नामक नक्षत्रका प्रकाश मिलता है। यह चन्द्र वह चन्द्र नहीं है, जो पृथ्वीका उपग्रह है। ज्योतिः शास्त्रमें सूर्यके आगे ऐसे तारा माने गये हैं, जिनका प्रकाश

अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयँ स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते तस्माज्जुगुप्सेत तदेष श्लोकः ।८।

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबँश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा च। एते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरँ स्तैरिति।९।

अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन्वेद न सह तैरप्याचरन्पाप्मना लिप्यते शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति य एवं वेद य एवं वेद।१०।

चन्द्रमाकी तरह घटता-बढता है । सूर्यलोकके बाद वही चन्द्रलोक मिलता है । उसके बाद विद्युत्-लोक है । विद्युत्-लोकके बाद ब्रह्मलोक है । उत्तरायणमे सूर्य पृथ्वीसे उत्तरकी तरफ रहता है, पृथ्वीसे उत्तरकी तरफ ही ब्रह्मलोक है, अत उत्तरायणमे पृथ्वीसे ब्रह्मलोकतक एकदम सीधा प्रकाशका मार्ग रहता है, और उपासक मरकर इस देवयान-मार्गसे एकदम सीधा ब्रह्मलोकमे पहुच जाता है । कैसे पहुचता है ? मरकर उसका लिंग-शरीर प्रकाशमय होजाता है ज्योतिर्मय हो जाता है, इसीको 'अर्चि' कहा है । प्रकाशका सजातीय होनेसे यह प्रकाशमय-शरीर प्रकाशके मार्गकेद्वारा सूर्यलोक, फिर चन्द्रलोक, फिर विद्युत्-लोक और फिर ब्रह्मलोकमे पहुच जाता है । सूर्यके दक्षिणायन होनेपर सूर्य पृथ्वीके दक्षिणमे चला जाता है । ऐसी हालतमे जो उपासक मरेगा वह पहले प्रकाशमय—'अर्चिमय'—शरीरसे सूर्यलोककी तरफ ही जायगा क्योकि विना सूर्यलोक गये ब्रह्मलोकको जा नही सकता । इसलिये मार्ग तो यह भी देवयान ही कहायगा, परन्तु आत्मा पहले सूर्यकी तरफ दक्षिणको गया, फिर ब्रह्मलोककी तरफ, जो पृथ्वीसे सदा उत्तरको ही रहता है, उत्तर को गया—इससे यह मार्ग कुछ टेढा हो गया—इसलिये यह तिर्यक्-देवयान कहाता है । पितृयाणका मार्ग तिर्यक्-देवयानकी तरह दक्षिणायनका ही मार्ग है । इसमे भी सूर्य पृथ्वीके दक्षिणमे ही होता है, परन्तु इसमे आत्मा ज्योति-रूप नही होता, अन्धकार-रूप होता है । निष्काम-कर्मियोका लिंग-शरीर प्रकाशमय होता है, अत वह प्रकाशके सहारे चलता है, सकाम-कर्मियोका लिंग-शरीर अन्धकारमय होता है, अत वह रात्री-कृष्णपक्ष आदिके सहारे चलताहुआ पृथ्वीके उपग्रह चन्द्रलोकमे पहुचकर कर्मोका आनन्दमय फल भोगता है । ये दो गतिया उपासकोकी है, दोनो उत्तम है, एक देव-गति, दूसरी पितर-गति है, तीसरी—सीधी आवागमनकी—मनुष्य-गति है ।

अर्चि, अह, पक्ष, अयन सवत्सर आदिके विषयमे कई लोग, जैसा हमने अभी कहा, यह अर्थ करते है कि आत्मा इन लोकोमे—पहले

सूर्यलोक, फिर चन्द्रलोक, फिर विद्युत्-लोक और अन्तमे ब्रह्मलोकमे जाता है, और कई यह अर्थ करते है कि ये शब्द उसकी आध्यात्मिक दशाको सूचित करते है। 'अर्चि'का अर्थ है, किरण-की-सी उज्ज्वल आत्मिक-दशा, 'अह'का अर्थ है, दिन-की-सी उज्ज्वल आत्मिक-दशा। मरनेके बाद जीवकी आर्चिषी, आन्हिकी, पाक्षिकी, वार्षिकी, सौरी, चान्द्रमसी, वैद्युती, ब्राह्मी—ये उजेले-की-सी आत्मानुभवकी दशाए होती है। इसीप्रकार आकाशीय, वायवीय, धूम्रीय, अभ्रीय भी आत्मा-की अनुभवकी धीमी-धीमी प्रकाशमय दशाए ही है।

इस राजाने अपने विचारके अनुसार यहा जीवात्माकी तीन गति बतलाई है—एक निष्काम-कर्मियोकी, इसे 'मोक्ष' कहते है, दूसरी सकाम-कर्मियोकी, इसे 'स्वर्ग' कहते है, तीसरी मरने-जीनेवालोकी, इसे 'आवागमन' कहते है। इस तीसरी अवस्थाकी तुलना बृहदारण्यक (४-४-३)मे तृणजलायुका—सुडी—से की है, और कहा है कि जैसे सुडी तिनकेके अन्तपर पहुचकर, दूसरा कोई सहारा पकडकर अपनेको खीच लेती है, वैसे आत्मा इस शरीरके अन्तपर पहुचकर, दूसरे मनुष्य, पशु, पक्षी आदि शरीरका सहारा लेकर अपनेको खीच लेता है—यही पुनर्जन्म है।)

पचम प्रपाठक——[ग्यारहवा खड]

(अश्वपतिका 'वैश्वानर-ब्रह्म' क्या है, इस सम्बन्धमे उपदेश, ११से २४)

उपमन्युका वशज प्राचीनशाल, पुलुषका वशज सत्ययज्ञ, भल्लव का वशज इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्ष्यका वशज जन, अश्वतराश्वका वशज बुडिल——ये पाचो बडी-बडी अट्टालिकाओके स्वामी थे, वेदोके महान् पडित भी थे। एक बार ये इकट्ठे हुए और विचार करने लगे कि 'आत्मा' क्या है, 'ब्रह्म' क्या है? ।१।

प्राचीनशाल औपमन्यव सत्ययज्ञ पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो
जन. शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते हैते महाशाला
महाश्रोत्रिया समेत्य मीमा`सा चक्रु को नु आत्मा किं ब्रह्मेति। १।

वे इस निश्चयपर पहुचे कि अरुणका वशज उद्दालक आजकल 'वैश्वानर-आत्मा'की खोजमें लगाहुआ है, चलो उसके पास चलें। वे उसके पास पहुचे।२।

उन्हें आया देखकर उद्दालकने सोचा, ये महाशाल, महा-श्रोत्रिय मुझसे ब्रह्म-ज्ञान-विषयक प्रश्न करेंगे, मै उनकी सब बातोका उत्तर न दे सकूगा, चलो, किसी अन्य गुरुके पास उन्हें ब्रह्म-ज्ञानके लिये भेज दू।३।

फिर उनसे कहा, हे महानुभाव! कैकेय देशका राजा अश्वपति आजकल 'वैश्वानर-आत्मा'की खोजमें लगाहुआ है, चलो, हम सब मिलकर उसीके पास चलें। तब वे सब उसके पास चल दिये।४।

जब वे उसके पास पहुचे, तो राजाने उनकी अलग-अलग सेवा करनेकी आज्ञा दी, और अगले दिन प्रात काल उठकर उनके पास पहुचा और बोला—मेरे जनपदमें कोई चोर नहीं है, कोई कृपण नहीं है, कोई मद्यप नहीं है, कोई अनाहिताग्नि नहीं है, कोई अविद्वान् नहीं है, कोई व्यभिचारी नहीं है—फिर व्यभिचारिणी तो हो ही कैसे सकती है? हे महानुभाव! मै हालमें ही एक यज्ञ करनेवाला हू, जितना-जितना एक-एक ऋत्विक्को धन दूगा उतना-उतना आपको भी दूगा। आप मेरे यहा ही निवास करें।५।

ते ह सपादयाचक्रुरुद्दालको वै भगवन्तोऽयमारुणि सप्रतीममात्मान
वैश्वानरमध्येति त हन्ताभ्यागच्छामेति त हाभ्याजग्मु।२।
स ह सपादयाचकार प्रक्ष्यन्ति मामिमे महाशाला महाश्रोत्रि-
यास्तेभ्यो न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये हन्ताहमन्यमभ्यनुशासानीति।३।
तान्होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोऽय कैकेय सप्रतीममात्मान
वैश्वानरमध्येति त हन्ताभ्यागच्छामेति त हाभ्याजग्मु।४।
तेभ्यो ह प्राप्तेभ्य पृथगर्हाणि कारयाचकार। स ह प्रात सजिहान
उवाच न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न
स्वैरी स्वैरिणी कुतो यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मा
ऋत्विजे धन दास्यामि तावद्भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु भगवन्त इति।५।



वैश्वानर-आत्माकी खोजमें जिज्ञासु अश्वपति कैकेयके पास पहुँचे

उन्होंने कहा, मनुष्य जिस प्रयोजनसे घूम रहा हो, जिस बातकी खोजमें हो, उसे वही कहना चाहिये। सुना है, आप आजकल 'वैश्वानर-आत्मा'का विशेष अध्ययन कर रहे हैं, आप हमें इसीका उपदेश दें।६।

राजाने कहा, प्रातःकाल मैं इस बातका उत्तर दूंगा। अगले दिन

ते होचुर्येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्तँ हैव वदेदात्मानमेवेमं वैश्वानरँ सम्प्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति। ६।

प्रातःकाल हाथमें समिधा लेकर वे राजाके पास पहुंचे। वैसे तो, शिष्यका उपनयन करके उसे दीक्षा दी जाती थी, परन्तु राजा इन महात्माओंके विनय-भावको देखकर इतना प्रसन्न हुआ कि उनका विना उपनयन किये ही उन्हें उपदेश देने लगा।७।

पंचम प्रपाठक—[बारहवां खंड]

राजाने पहले उपमन्युके वंशज प्राचीनशालसे पूछा, तू किसे 'आत्मा' समझकर उसकी उपासना करता है? उसने उत्तर दिया, हे राजन्! मैं तो 'द्यु-लोक'को—इस तारोंसे जगमगाते आसमान को—आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हूं। राजाने कहा, ठीक है, 'वैश्वानर-आत्मा'का यह रूप तो है, परन्तु पूर्ण-रूप यह नहीं है। उसके विशाल रूपोंमें जो तेजोमय-रूप है, तू उसकी उपासना करता है। तेजोमय-रूपको राजाने 'सुतेजा' कहा। 'सुतेजा'के आदि दो अक्षर 'सु त'को लेकर राजा कहता है, क्योंकि तू वैश्वानरके सुतेजा-रूपकी आराधना करता है, इसीलिये तेरे घरमें 'सुत'-'प्रसुत'-'आसुत' है, अर्थात् तेरे घरमें सोम-रसकी धाराएं 'सुत' अर्थात् बह रही है।१।

तभी परमेश्वरके आशीर्वादसे तुझे भरपेट खाना मिलता है, प्रिय-वस्तु दृष्टि-गोचर होती है। जो इसप्रकार 'वैश्वानर-आत्मा' के तेजोमय-रूपकी उपासना करता है, उसे परमेश्वरके आशीर्वादसे भरपेट भोजन मिलता है, प्रिय-वस्तुएं देखनेको मिलती है, उसके कुल में ब्रह्म-तेज दीख पडता है। यह तेजोमय द्यु-लोक, 'वैश्वानर-आत्मा'

तान्होवाच प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति। ते ह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रति चक्रमिरे। तान्हानुपनीयैवैतदुवाच।७।
औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति। दिवमेव भगवो राजन्निति होवाच। एष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से। तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते।१।

का, जिसे तू खोज रहा है, 'मूर्धा' है, एक अंश है। तेरा मूर्धा गिर जाता, अगर तू ब्रह्मके पूर्ण-रूपके जाननेकेलिये मेरे पास न आता ।२।

पंचम प्रपाठक—[तेरहवां खंड]

फिर पुलुषके वंशज सत्ययज्ञको सम्बोधित करके राजाने पूछा, ऐ प्राचीनयोग्य! बुजुर्गोंमें लायक, तू किसे 'आत्मा' समझकर उसकी उपासना करता है? उसने उत्तर दिया, हे राजन्! मैं तो 'आदित्य' को—इस सूर्यको—आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हूं। राजाने कहा, ठीक है, 'वैश्वानर-आत्मा'का यह रूप तो है ही, परन्तु पूर्ण-रूप यह नहीं है। उसके अनेक रूपोंमें जो विश्व-रूप—विश्वका प्रकाशक रूप है—उसकी तू उपासना करता है। 'वैश्वानर-आत्मा' के विश्व-रूप—विश्वके प्रकाशक रूप—की तू उपासना करता है। इसलिये तेरे कुलमें विश्व रूप दिखाई देते हैं ।१।

परमेश्वरके आशीर्वादसे तेरे यहां रथ चलते हैं, दासियां हैं, हार हैं, भरपेट भोजन है, सुहावने दृश्य हैं—यही सब तो विश्वरूप है। जो इसप्रकार 'वैश्वानर-आत्मा'के विश्वरूपकी उपासना करता है, उसे परमेश्वरके आशीर्वादसे भरपेट भोजन मिलता है, प्रिय वस्तुएं देखनेको मिलती है, उसके कुलमें ब्रह्म-तेज दीख पड़ता है। यह विश्व-रूप-आदित्य 'वैश्वानर-आत्मा'का, जिसे तू खोज रहा है, 'चक्षु' है, एक अंश है। तू अन्धा हो जाता अगर तू ब्रह्मके पूर्ण-रूपके जाननेकेलिये मेरे पास न आता ।२।

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते। मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच। मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति। २।

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिं प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मानमुपास्स इति। आदित्यमेव भगवो राजन्निति होवाच। एष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से। तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते। १।

प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासी निष्कोऽत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते। चक्षुष्ट्वेतदात्मन इति होवाचान्धोऽभविष्यो यन्मां नागमिष्य इति। २।

पचम प्रपाठक—[चौदहवा खड]

फिर, भल्लवके वशज इन्द्रद्युम्नको सम्बोधित करके राजाने पूछा, ऐ वैयाघ्रपद्य ! तू किसे 'आत्मा' समझकर उसकी उपासना करता है ? उसने उत्तर दिया, राजन् ! मै तो 'वायु'को आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हू । राजाने कहा, ठीक है, 'वैश्वानर-आत्मा' का यह रूप तो है ही, परन्तु पूर्ण-रूप यह नहीं है। इसके अनेक रूपोमें जो 'पृथक्-वर्त्मा'—भिन्न-भिन्न मार्गोमें वायुकी तरह बहनेवाला उसका रूप है—उसकी उपासना करता है। उसीके अनुग्रहसे तेरे पास नाना भेंटे आती है, और नाना-रथ-श्रेणिया तेरे पीछे चलती है ।१।

उसीके अनुग्रहसे तू अन्नको खाता है, प्रिय-जनोको देखता है । जो इसप्रकार 'वैश्वानर-आत्मा'के नाना-मार्गोमें गये हुए रूपोकी उपासना करता है, उसे प्रभुके आशीर्वादसे भरपेट भोजन मिलता है, प्रिय-वस्तुए देखनेको मिलती है, उसके कुलमें ब्रह्म-तेज दीख पडता है । यह पृथक्-पृथक् मार्गोमें बहनेवाला वायु, 'वैश्वानर-आत्मा'का, जिसे तू खोजरहा है, 'प्राण' है । तेरा प्राण निकल जाता अगर तू ब्रह्मके पूर्ण-रूपके जाननेकेलिये मेरे पास न आता ।२।

पचम प्रपाठक—[पन्द्रहवा खड]

फिर, शर्कराक्ष्यके वशज जन को सम्बोधित करके राजाने पूछा, तू किसे 'आत्मा' समझकर उसकी उपासना करता है ? उसने उत्तर दिया, हे राजन् ! मै तो 'आकश'को आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हू । राजाने कहा, ठीक है, 'वैश्वानर-आत्मा'का यह रूप तो

अथ होवाचेन्द्रद्युम्न भाल्लवेय वैयाघ्रपद्य क त्वमात्मानमुपास्स इति ।
वायुमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै पृथग्वर्त्माऽऽत्मा वैश्वानरो य
त्वमात्मानमुपास्से । तस्मात्त्वा पृथग्बलय आयन्ति पृथग्रथश्रेणयोऽनुयन्ति । १ ।
अत्स्यन्न पश्यसि प्रियमत्त्यन्न पश्यति प्रिय भवत्यस्य ब्रह्मवर्चस
कुले य एतमेवमात्मान वैश्वानरमुपास्ते । प्राणस्त्वेष
आत्मन इति होवाच । प्राणस्त उदक्रमिष्यद्यन्मा नागमिष्य इति । २ ।

है ही, परन्तु पूर्ण-रूप यह नही है । इसके अनेक रूपोमें जो 'वहुल'--वहुत, अनन्त रूप है, उसकी तू उपासना करता है । इसी कारण तेरे पास वहुल प्रजा तथा धन है ।१।

उसीके अनुग्रहसे तू अन्नको खाता है, प्रिय-जनोको देखता है। जो इसप्रकार 'वैश्वानर-आत्मा'के वहुल-रूपकी उपासना करता है, उसे प्रभुके प्रसादसे भरपेट भोजन मिलता है, प्रिय-वस्तुए देखनेको मिलती है, उसके कुलमें ब्रह्म-तेज दीख पडता है । यह अनन्त आकाश, 'वैश्वानर-आत्मा'का, जिसे तू खोज रहा है, मध्य-भाग है, धड है । तेरा धड नष्ट होजाता अगर तू ब्रह्म के पूर्ण-रूपके जाननेकेलिये मेरे पास न आता ।२।

पचम प्रपाठक—[सोलहवा खड]

फिर, अश्वतराश्वके वशज वुडिलको सम्वोधित करके राजाने पूछा, वैयाघ्रपद्य ! तू किसे 'आत्मा' समझकर उसकी उपासना करता है ? उसने उत्तर दिया, हे राजन् ! मै तो 'जल'को आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हू । राजाने कहा, ठीक है, 'वैश्वानर-आत्मा' का यह रूप तो है ही, परन्तु पूर्ण-रूप यह नहीं है। इसके अनेक रूपोमें जो 'रयि'—सम्पत्ति, ऐश्वर्य—रूप है, उसकी तू उपासना करता है। इसीकारण तू रयिमान अर्थात् सम्पत्तिमान् तथा पुष्टिमान् है ।१।

उसीके अनुग्रहसे तू अन्न खाता है, प्रिय देखता है । जो इसप्रकार

अथ होवाच जनं शार्कराक्ष्य क त्वमात्मानमुपास्स इत्याकाशमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै वहुल आत्मा वैश्वानरो य त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्व वहुलोऽसि प्रजया च धनेन च । १ ।
अत्स्यन्न पश्यसि प्रियमत्त्यन्न पश्यति प्रिय भवत्यस्य ब्रह्मवर्चस कुले य एतमेवमात्मान वैश्वानरमुपास्ते । सदेहस्त्वेष आत्मन इति होवाच । सदेहस्ते व्यशीर्यद्यन्मा नागमिष्य इति । २ ।
अथ होवाच वुडिलमाश्वतराश्वि वैयाघ्रपद्य क त्वमात्मानमुपास्स इत्यप एव भगवो राजन्निति होवाचैष वै रयिरात्मा वैश्वानरो य त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं रयिमान्पुष्टिमानसि । १ ।

'वैश्वानर-आत्मा'के रयि-रूपकी उपासना करता है, उसे प्रभुके प्रसादसे अन्न मिलता है, वह प्रिय-दर्शन होता है, उसके कुलमें ब्रह्म-वर्चस्व दीख पडता है। यह रयि-रूप जल, 'वैश्वानर-आत्मा'का, जिसे तू खोज रहा है, वस्ति-प्रदेश—मूत्राशय—है। तेरा वस्ति-प्रदेश नष्ट होजाता, अगर तू ब्रह्मके पूर्ण-रूपके जाननेकेलिये मेरेपास न आता।२।

पचम प्रपाठक—[सत्रहवा खड]

फिर, अरुणके वशज उद्दालकको सम्बोधित करके राजाने पूछा, हे गौतम! तू किसे 'आत्मा' समझकर उसकी उपासना करता है? उसने उत्तर दिया, हे राजन्! मै तो 'पृथिवी'को आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हू। राजाने कहा, ठीक है, 'वैश्वानर-आत्मा' का यह रूप तो है ही, परन्तु पूर्ण-रूप यह नहीं है। इसके अनेक रूपो में जो 'प्रतिष्ठा'—सबको सभालनेवाला—रूप है, उसकी तू उपासना करता है। इसीकारण तू प्रजा और पशुओसे प्रतिष्ठित होरहा है।१।

उसीके अनुग्रहसे तू अन्न खाता है प्रिय देखता है। जो इस प्रकार 'वैश्वानर-आत्मा'के प्रतिष्ठा, अर्थात् स्थिरताके रूपकी उपासना करता है, उसे प्रभु-प्रसादसे अन्न मिलता है, वह प्रिय-दर्शन होता है, उसके कुलमें ब्रह्म-वर्चस्व दीख पडता है। यह पृथिवीका प्रतिष्ठा रूप, 'वैश्वानर-आत्मा'के, जिसे तू खोज रहा है, पांव है। तेरे पाव सूख जाते, अगर तू ब्रह्मके पूर्ण-रूपके जाननेकेलिये मेरे पास न आता।२।

अत्स्यन्न पश्यसि प्रियमत्त्यन्न पश्यति प्रिय भवत्यस्य ब्रह्मवर्चस कुले य एतमेवमात्मान वैश्वानरमुपास्ते। वस्तिस्त्वेष आत्मन इति होवाच। वस्तिस्ते व्यभेत्स्यद्यन्मा नागमिष्य इति। २।

अथ होवाचोद्दालकमारुणि गौतम क त्वमात्मानमुपास्स इति। पृथिवीमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै प्रतिष्ठात्मा वैश्वानरो य त्वमात्मानमुपास्से। तस्मात्त्व प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च। १।

अत्स्यन्न पश्यसि प्रियमत्त्यन्न पश्यति प्रिय भवत्यस्य ब्रह्मवर्चस कुले य एतमेवमात्मान वैश्वानरमुपास्ते। पादौ त्वेतावात्मन इति होवाच। पादौ ते व्यम्लास्येता यन्मा नागमिष्य इति। २।

पचम प्रपाठक—[अठारहवा खड]

इतना कह चुकनेके वाद अश्वपति कैकयने उन सव उपासकोको सम्वोधित करके कहा, आप लोग 'वैश्वानर-आत्मा'को भिन्न-भिन्न तौरसे जानते रहे, उसके पृथक्-पृथक् रूपकी उपासना करते रहे, और अन्न खाकर जैसी तृप्ति होती है वैसी तृप्तिका जीवन व्यतीत करते रहे। जो इस प्रादेश-मात्र 'वैश्वानर-आत्मा'की—उस आत्माकी जिसकी आप लोग एक-एक 'प्रदेश'में, एक-एक अशमें उपासना करते रहे है, यह समझकर उपासना करता है मानो वह एक प्रदेशमें ही नहीं है, अपितु सर्वत्र विद्यमान है, वह सव लोकोमें, सव भूतोमें, सव आत्माओमें, अन्न खाकर मनुष्यको जैसी तृप्ति होती है वैसी तृप्तिका अनुभव करता है ।१।

उस सर्वत्र विद्यमान 'वैश्वानर-आत्मा'का विराट् रूप देखो। तेजोमय-द्यु-लोक उसका मूर्धा है, विश्वरूप-आदित्य उसका चक्षु है, पृथग्वर्त्मा-वायु उसका प्राण है, अनन्त-आकाश उसका धड है, ऐश्वर्यरूप-जल उसका वस्ति-प्रदेश है, पृथिवी उसके पाव है, यज्ञकी वेदी उसकी छाती है, यज्ञकी कुशा उसके रोम है, गार्हपत्याग्नि उसका हृदय है, अन्वाहार्यपचनाग्नि उसका मन है, आहवनीयाग्नि उसका मुख है ।२।

(इसप्रकार 'विश्व' मे 'नर' रूपकी कल्पना करके राजाने 'वैश्वानर' का वर्णन कर दिया।)

पचम प्रपाठक—[उन्नीसवा खड]

(विश्व एक 'विराट्-नर' है—'वैश्वानर' है। उसका और इस

तान्होवाच ते वै खलु यूय पृथगिवेममात्मान वैश्वानर विद्वा्ँसोऽन्नमत्थ । यस्त्वेतमेव प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मान वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति । १ ।

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूप प्राण पृथग्वर्त्मात्मा सदेहो वहुलो वस्तिरेव रयि पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि वर्हिर्हृदय गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीय । २ ।

नर-देहका, अर्थात् ब्रह्माडका और पिडका आपसमे सबध है। इसके अतिरिक्त ससारमे सब जगह यज्ञ हो रहा है—ब्रह्माडमे भी, पिडमे भी। पिड, अर्थात् 'नर'मे होरहे यज्ञको, ब्रह्माड, अर्थात् 'वैश्वानर' के यज्ञसे जोडतेहुए अश्वपति कहने लगे—)

उपासकके पास जो भोजन पहले-पहल आये, उसे यज्ञकी आहुतिके समान समझे। भोजन करतेहुए मुखमें जो पहला ग्रास डाले, उसे यज्ञमें डालीहुई प्रथम आहुति समझे, और बोले—'प्राणाय स्वाहा'—'यह आहुति मै नर-देहके प्राण-देवताको देता हू'। इसप्रकार नर-देहका प्राण तृप्त होता है।१।

प्राणके तृप्त होनेसे चक्षु तृप्त होती है। यह नर-देह उस वैश्वानर के तत्त्वोसे बना है, पिड ब्रह्माडका ही अश है, अत पिडमें चक्षुके तृप्त होनेपर ब्रह्माडमें सूर्य तृप्त होता है, सूर्यके तृप्त होनेपर द्यौ तृप्त होता है, द्यौके तृप्त होनेपर सूर्य तथा द्यौपर जो भी आश्रित है, वे तृप्त होते है। इसप्रकार उपासक तृप्ति-भावनाको जब पिडसे ब्रह्माडतक फैला देता है, नरसे वैश्वानरतक तृप्ति-ही-तृप्तिका विस्तार कर देता है, तब स्वयं प्रजा, पशु, भोग-सामग्री, तेज और ब्रह्मवर्चस्‌मे तृप्त हो जाता है।२।

पचम प्रपाठक—[बीसवा खड]

भोजनके समय मुखमें जो दूसरा ग्रास डाले, उसे यज्ञमें डालीहुई द्वितीय आहुति समझे, और बोले—'व्यानाय स्वाहा'—'यह आहुति मै नर-देहके व्यान-देवताको देता हू।' इसप्रकार नर-देहका व्यान तृप्त होता है।१।

तद्यद्भक्त प्रथममागच्छेत्तद्धोमीय स या प्रथमामाहुति जुहुयात्ता जुहुयात्प्राणाय स्वाहेति प्राणस्तृप्यति ।१।
प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति चक्षुषि तृप्यत्यादित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौस्तृप्यति दिवि तृप्यन्त्या यत्किच द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्ति तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ।२।
अथ या द्वितीया जुहुयात्ता जुहुयाद्व्यानाय स्वाहेति व्यानस्तृप्यति ।१।

व्यानके तृप्त होनेसे श्रोत्र तृप्त होता है। पिंडमें श्रोत्रके तृप्त होनेपर ब्रह्माडमें चन्द्रमा तृप्त होता है, चन्द्रमाके तृप्त होनेपर दिशाए तृप्त होती है, दिशाओके तृप्त होनेपर दिशाओ तथा चन्द्रमापर जो भी आश्रित है, वे तृप्त होते है। इसप्रकार उपासक तृप्ति-भावनाको जब पिंडसे ब्रह्माडतक, नरसे वैश्वानरतक तृप्ति-ही-तृप्ति फैला देता है, तब स्वय प्रजा, पशु, भोग्य-सामग्री, तेज और ब्रह्म-वर्चस्से तृप्त हो जाता है।२।

पचम प्रपाठक—[इक्कीसवा खड]

भोजनके समय मुखमें जो तीसरा ग्रास डाले, उसे यज्ञमें डाली-हुई तृतीय आहुति समझे, और बोले—'अपानाय स्वाहा'—'यह आहुति मै नर-देहके अपान देवताको देता हू।' इसप्रकार नर-देहका अपान तृप्त होता है।१।

अपानके तृप्त होनेसे वाणी तृप्त होती है। पिंडमें वाणीके तृप्त होनेपर ब्रह्माडमें अग्नि तृप्त होती है, अग्निके तृप्त होनेपर पृथिवी तृप्त होती है, पृथिवीके तृप्त होनेपर जो पृथिवी और अग्निपर आश्रित है, वे तृप्त होते है। इस प्रकार उपासक तृप्ति-भावनाको जब पिंडसे ब्रह्माडतक, नरसे वैश्वानरतक फैला देता है, तब स्वय प्रजा, पशु, भोग्य-सामग्री, तेज और ब्रह्म-वर्चस्से तृप्त हो जाता है।२।

पचम प्रपाठक—[बाईसवा खड]

भोजनके समय मुखमें जो चौथा ग्रास डाले, उसे यज्ञमें डाली हुई

व्याने तृप्यति श्रोत्र तृप्यति श्रोत्रे तृप्यति चद्रमास्तृप्यति चन्द्रमसि तृप्यति दिशस्तृप्यन्ति दिक्षु तृप्यन्तीपु यत्किच दिशश्च चन्द्रमाश्चाधितिष्ठन्ति तत्तृप्यति तस्यानु तृप्ति तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवचसेनेति।२।

अथ या तृतीया जहुयात्ता जुहुयादपानाय स्वाहेत्यपानस्तृप्यति। १।

अपाने तृप्यति वाक्तृप्यति वाचि तृप्यन्त्यामग्निस्तृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति पृथिव्या तृप्यन्त्या यत्किच पृथिवी चाग्निश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्ति तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति।२।

चतुर्थ आहुति समझे, और बोले—'समानाय स्वाहा'—'यह आहुति मैं नर-देहके समान-देवताको देता हू। इसप्रकार नर-देहका समान तृप्त होता है।१।

समानके तृप्त होनेपर मन तृप्त होता है। पिडमें मनके तृप्त होनेपर ब्रह्माडमें मेघ तृप्त होता है, मेघके तृप्त होनेपर विद्युत् तृप्त होती है, विद्युत्के तृप्त होनेपर जो विद्युत् और मेघपर आश्रित है, वे तृप्त होते है। इसप्रकार उपासक तृप्ति-भावनाको जब पिडसे ब्रह्माडतक, नरसे वैश्वानरतक फैला देता है, तब स्वय प्रजा, पशु, भोग्य-सामग्री, तेज और ब्रह्म-वर्चस्से तृप्त हो जाता है।२।

पचम प्रपाठक—[तेईसवा खड]

भोजनके समय मुखमें जो पाचवा ग्रास डाले, उसे यज्ञमें डाली हुई पंचम आहुति समझे और बोले—'उदानाय स्वाहा'—'यह आहुति मैं नर-देहके उदान देवताको देता हू।' इसप्रकार नर-देहका उदान तृप्त होता है।१।

उदानके तृप्त होनेपर वायु तृप्त होता है। पिडमें वायुके तृप्त होनेपर ब्रह्माडमें आकाश तृप्त होता है, आकाशके तृप्त होनेपर जो वायु तथा आकाशपर आश्रित है, वे तृप्त होते है। इसप्रकार उपासक तृप्तिभावनाको जब पिडसे ब्रह्माडतक, नरसे वैश्वानरतक फैला देता है, तब स्वय प्रजा, पशु, भोग्य-सामग्री, तेज और ब्रह्म-वर्चस्से तृप्त हो जाता है।२।

अथ या चतुर्थी जुहुयात्ता जुहुयात्समानाय स्वाहेति समानस्तृप्यति। १।
समाने तृप्यति मनस्तृप्यति मनसि तृप्यति पर्जन्यस्तृप्यति पर्जन्ये तृप्यति विद्युत्तृप्यति विद्युति तृप्यन्त्या यत्किच विद्युच्च पर्जन्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्ति तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति। २।
अथ या पञ्चमी जुहुयात्ता जुहुयादुदानाय स्वाहेत्युदानस्तृप्यति। १।
उदाने तृप्यति त्वक् तृप्यति त्वचि तृप्यन्त्या वायुस्तृप्यति वायौ तृप्यन्त्या-काशस्तृप्यत्याकाशे तृप्यति यत्किच वायुश्चाकाशश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्ति तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति। २।

पचम प्रपाठक—[चौबीसवा खड]

जो कोई इस रहस्यको न जानताहुआ अग्निहोत्र करता है, वह ऐसा हवन करता है जैसे कोई अगारोको हटाकर राखमें हवन करे।१।

जो कोई इस रहस्यको जानकर अग्निहोत्र करता है, उसका सब लोकोमें, सब प्राणियोमें, सब आत्माओमें हवन-ही-हवन हुआ करता है ।२।

जो कोई इस रहस्यको जानताहुआ अग्निहोत्र करता है, उसके सारे पाप ऐसे जल जाते है जैसे सरकडेके ऊपरकी रुई अग्निमें डाली-हुई सर्र-से राख होजाती है ।३।

इसीलिये इस रहस्यको जाननेवाला स्वय जो भोजन करता है, उसे तो यज्ञ समझता ही है, अगर चाण्डालको भी भोजन देता है, भले ही उच्छिष्ट भोजन दे, उसे भी 'वैश्वानर-आत्मा'में किया गया होम ही समझता है, इसपर यह श्लोक भी है—।४।

जैसे भूखसे व्याकुल बालक माताके आस-पास बैठ जाते है, ऐसे ही सब प्राणी अग्निहोत्रकी उपासना करते है, अग्निहोत्रकी उपासना करते है—जीवनमें हर जगह यज्ञको ही देखते है ।५।

(मनुष्य अपने जीवनको एक यज्ञ समझे । यज्ञमे जैसे आहुतिया

स य इदमविद्वानग्निहोत्र जुहोति यथाङ्गारा-
नपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक्तत्स्यात् । १ ।
अथ य एतदेव विद्वानग्निहोत्र जुहोति तस्य सर्वेपु
लोकेपु सर्वेपु भूतेपु सर्वेष्वात्मसु हुत भवति । २ ।
तद्यथेपीकातूलमग्नौ प्रोत प्रदूयेतैवँ हास्य सर्वे पाप्मान
प्रदूयन्ते य एतदेव विद्वानग्निहोत्र जुहोति । ३ ।
तस्मादु हैवविद्यद्यपि चण्डालायोच्छिष्ट प्रयच्छेदात्मनि
हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतँ स्यादिति । तदेप श्लोक । ४ ।
यथेह क्षुधिता बाला मातर पर्युपासते । एवँ सर्वाणि
भूतान्यग्निहोत्रमुपासत इत्यग्निहोत्रमुपासत इति । ५ ।

दी जाती है, वैसे मुखमे डाले एक-एक ग्रासको आहुति समझकर डाल। आहुति यज्ञ-कुडमे पडी नही रहती, वह अग्निद्वारा सूक्ष्म होकर सृष्टि मे फैल जाती है। हम मुखमे पहला ग्रास डालतेहुए कहे—'प्राणाय स्वाहा'—यह ग्रास एक आहुति है, जो हम प्राणकी अग्निमे डालते है। प्राण इस आहुतिसे 'नर-देह'की आखकी ज्योति उत्पन्न करे, परन्तु वहीतक रुक न जाय। यह ग्रास हमारे 'नर-देह'की 'आख' से लेकर विश्वके 'विराट्-देह'—'वैश्वानर-आत्मा'—के 'आदित्य' तक सवके कल्याणकेलिये अपनेको फैला दे। जैसे भोजन करनेसे, अन्न खानेसे हमे वैयक्तिक-तृप्ति होती है, वैसे मुखमे डालीहुई पहली आहुतिका यह फल हो कि आदित्यतक सव जड-चेतन-रूप समष्टि-जगत्की अखड तृप्तिके हम कारण वने। 'नर' (Individual being) का आत्मा ही तृप्त न हो, 'वैश्वानर' (Social being) का आत्मा भी तृप्त हो। इसीप्रकार दूसरे ग्रासको भी एक आहुति समझकर मुहमे डाले और कहे—'व्यानाय स्वाहा'—यह ग्रास दूसरी आहुति है, जो हम व्यानकी अग्निमे डालते है। व्यान इस आहुतिसे 'नर-देह'मे श्रोत्र-शक्ति उत्पन्न करे, और वही न रुककर विश्वके 'विराट्-देह'मे चन्द्रतक सवका कल्याण करे, और सव प्राणियोमें वैसी अखड-तृप्ति दिखाई दे जैसी मनुष्यको भोजन करनेके वाद प्राप्त होती है। तीसरा ग्रास तीसरी आहुति है। इसे मुखमे डालताहुआ—'अपानाय स्वाहा' कहे। इस आहुतिसे 'नर-देह'मे वाणी तथा 'विराट्-देह'मे अग्नितक सव जगह तृप्ति-ही-तृप्तिका राज्य हो—'व्यष्टि' तथा 'समष्टि'मे कही अतृप्ति न रहे। 'समानाय स्वाहा' कहकर चौथा ग्रास खाये, जो चौथी आहुति है। यह ग्रास शरीरमें मनको और विश्वमे मेघतक तृप्ति फैला दे। पाचवा प्राण उदान है, अत पाचवा ग्रास खाताहुआ कहे—'उदानाय स्वाहा'। उदान-रूपी-अग्निमे पडीहुई पाचवी आहुति शरीरके वायु तथा विश्वके 'विराट्-देह'के आकाशमे तृप्तिका स्रोत वहा दे। इसप्रकार 'वैश्वा-नर-आत्मा'की भावनाका अभिप्राय यह है कि मनुष्य अपनी तृप्तिसे ही

सन्तुष्ट न हो, विश्वकी तृप्तिको अपना ध्येय बनाये, और एक-एक ग्रास इसी उद्देश्यसे मुहमे डाले। परन्तु प्रश्न होता है कि अगर 'नर-देह' (पिड)की तरह 'विराट्-देह' (ब्रह्माड)की तृप्ति आवश्यक है, तो जैसे 'नर-देह'का 'आत्मा' है, वैसे 'विराट-देह'का कौन-सा आत्मा है? इसी 'विराट-देह'के आत्माको उपनिषत्मे 'वैश्वानर-आत्मा' कहा है। इस 'वैश्वानर-आत्मा'की खोजमे प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्र-द्युम्न, जन, बुडिल तथा उद्दालक निकले थे और अश्वपतिके पास गये थे। इन लोगोमेसे कोई द्युको, कोई आदित्यको, कोई वायुको, कोई आकाश को, कोई जलको, और कोई पृथिवीको सब-कुछ मानकर उसकी उपासनामे लीन था। हम भी तो आजकल पाच भूतोको ही सब-कुछ माने बैठे है। उपनिषत्कारका कथन है कि ये भूत 'वैश्वानर-आत्मा'के देह है, और देहके भी भिन्न-भिन्न अग है। जैसे मनुष्यकी आख, नाक, कान आदि अलग-अलग मनुष्यका शरीर नही है, वैसे द्यु-आदित्य-वायु-पृथिवी-आकाश-जल आदि 'विराट्-पुरुष'के मूर्धा, चक्षु, प्राण, पाव, धड तथा वस्ति-प्रदेश है उसके भिन्न-भिन्न अग है। इन अगोसे मिलकर ही 'वैश्वानर'का देह बनता है और उस 'वैश्वानर' का आधार-भूत तत्त्व ही 'वैश्वानर-आत्मा' है। द्यु-लोकको वैश्वानर मत समझो यह तो उसका तेजोमय एक रूप है मूर्धा है, आदित्यको ही वैश्वानर मत समझो, यह तो उसका विश्व-रूप है, चक्षु है, वायु उसका पृथक्वर्त्मा-रूप है, प्राण है, आकाश उसका बहुल-रूप है, धड है, जल उसका रयि-रूप है, वस्ति-प्रदेश है, पृथिवी उसका प्रतिष्ठा-रूप है, पाव है। इसप्रकार उसके एक-देश—प्रादेश—की उपासना मत करो, उसके पूर्ण-रूपकी उपासना करो, और उसीकी उपासना 'वैश्वानर-आत्मा'की उपासना है। एक-एक नरको नही, 'वैश्वानर-आत्मा'को इन ऋषियोकी तरह खोजो, और एक एक नरकी तृप्ति नही, 'वैश्वानर-आत्मा'की तृप्ति—जड-चेतन सपूर्ण जगतकी तृप्ति—का उपाय करो, यही राजा अश्वपति कैकेयका वैश्वानर-सबधी (Cosmic soul) उपदेश है।)

षष्ठ प्रपाठक—[पहला खड]

(श्वेतकेतुको उसके पिताका 'सदेवेदमग्र आसीत्'का उपदेश, १ से ७)

प्राचीन-कालमें अरुणका वशज श्वेतकेतु था। उसे उसके पिता ने कहा, हे श्वेतकेतु ! जाओ, किसी आश्रममें ब्रह्मचर्य धारण करके रहो। हे सोम्य ! हमारे कुलमें ऐसा कोई नहीं हुआ जो वेदोका अध्ययन किये विना 'ब्रह्म-वन्धु' होकर ही रह गया हो, अर्थात् उसकी योग्यता केवल इतनी हो कि वह ब्राह्मणोका वधु है, सम्बन्धी है, स्वयं कुछ नही जानता ।१।

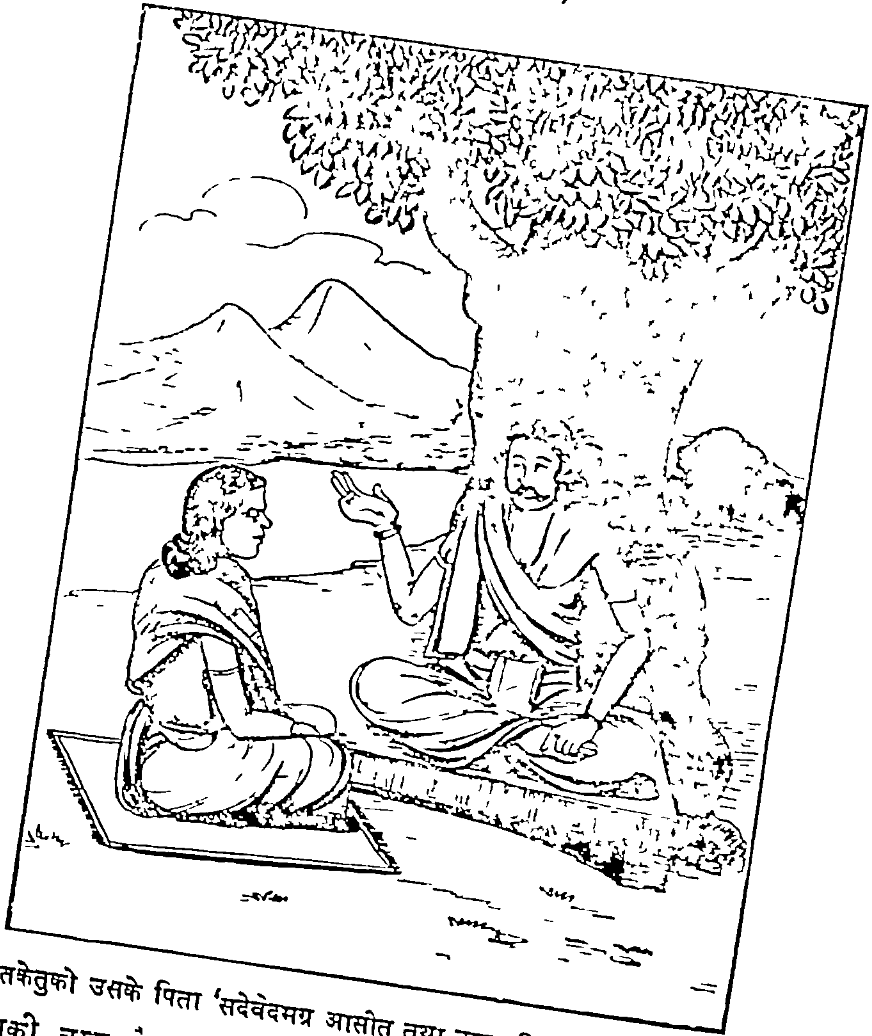
वह १२ वर्षकी आयुमें आचार्यके पास गया और २४ वर्षकी आयुमें सब वेदोको पढकर, बडा मनस्वी, अपनेको वेदज्ञ माननेवाला और गर्वसे फूलाहुआ लौटकर आया ।२।

उसे पिताने कहा, बेटा श्वेतकेतु ! तू जो अपनेको बड़ा मनस्वी, वेदोका ज्ञाता मानकर लौटा है और बडी अकडमें फिरता है, यह तो बतला कि तूने अपने गुरुसे कभी वह 'आदेश' भी पूछा जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है, अविज्ञात विज्ञात हो जाता है ? ।३।

श्वेतकेतुने पितासे पूछा, हे भगवन् ! वह 'आदेश' किसप्रकार का है ? पिताने उत्तर दिया, हे सोम्य ! जिस प्रकार मिट्टीके एक ढेलेके जाननेसे ससारके सभी मिट्टीसे बने पदार्थोका ज्ञान हो जाता है, वे सब पदार्थ मिट्टीके विकार है, वाणीसे कहने-

---

ॐ श्वेतकेतुर्हाऽऽरुणेय आस। तँ ह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यम्।
न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ।१।
स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विँशतिवर्षः सर्वान्वेदानधीत्य महामना
अनूचानमानी स्तब्ध एयाय। तँ ह पितोवाच श्वेतकेतो यन्नु
सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्य ।२।
येनाश्रुतँ श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति।
कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति ।३।



श्वेतकेतुको उसके पिता 'सदेवेदमग्र आसीत् तया तत्त्वमसि'का उपदेश दे रहे हैं

मात्रकी वस्तु है, नाम उनका अलग है, वास्तवमें निट्टी ही सत्य-
वस्तु है ।४।

हे सोम्य ! जैसे लोहमणि, अर्थात् सोनेके आभूषणके जानने
से ससारके सभी सोनेसे बने पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है, वे सब

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्व मृन्मय विज्ञातं
स्याद्वाचारम्भण विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यम् । ४ ।

पदार्थ सोनेके विकार है, वाणीसे कहनेमात्रकी वस्तु है, नाम उनका अलग है, वास्तवमें सोना ही सत्य-वस्तु है ।५।

हे सोम्य ! जैसे एक नुहेरनेके जाननेसे ससारके सब लोहेसे बने पदार्थोका ज्ञान हो जाता है, वे सब पदार्थ लोहेके विकार है, वाणीसे कहनेमात्रकी वस्तु है, नाम उनका अलग है, वास्तवमें लोहा ही सत्य-वस्तु है । हे सोम्य ! इसप्रकारका वह 'आदेश' है ।६।

श्वेतकेतुने उत्तर दिया, मेरे गुरु इस 'आदेश'को नही जानते होगे, क्योकि अगर जानते होते, तो मुझे क्यो न बतलाते ? तो पिताजी, आप ही मुझे बतायें ! पिताने कहा, तथास्तु ।७।

षष्ठ प्रपाठक—[दूसरा खड]

हे सोम्य ! सृष्टिके प्रारभमें 'सत्' ही था—एक, अद्वितीय । कई आचार्योका यह कहना है कि सृष्टिके प्रारभमें 'असत्' ही था—एक, अद्वितीय । अगर यह बात मान लें कि सृष्टिके प्रारभमें 'असत्' था, तो यह मानना पडता है कि उस 'असत्'से 'सत्' हुआ ।१।

परन्तु हे सोम्य ! यह कैसे हो सकता है ? 'असत्'से 'सत्' कैसे हो सकता है ? इसलिये यही मानना ठीक है कि प्रारभमें 'सत्' ही था—एक, अद्वितीय ।२।

(एक अद्वितीय—इसका अर्थ अद्वैती तो यह करते है कि वह एक

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् । ५ ।
यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेवं सोम्य स आदेशो भवतीति । ६ ।
न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति ।
भगवांस्त्वेव मे तद्ब्रवीत्विति । तथा सोम्येति होवाच । ७ ।
सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तद्धैक आहुर-
सदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत । १ ।
कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच । कथमसतः
सज्जायेतेति । सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । २ ।

है, अद्वितीय है, परन्तु द्वैती यह अर्थ करते है कि वह एक, अद्वितीय है—अर्थात् उसके समान दूसरा कोई नही। असलमे देखा जाय तो इस प्रकरणका प्रारभ करते हुए कहा गया है कि सृष्टिके प्रारभमें 'सत्' था, 'असत' नही था। एक अद्वितीयका यह अर्थ ज्यादा सगत प्रतीत होता है कि वह एक था, अर्थात् 'सत' था—इसमे अधिक द्वैत-अद्वैतके झगडेमे पडनेका आचार्यका अभिप्राय नही मालूम पडता।)

उस 'सत्'-रूप, चेतन-शक्तिने इच्छा की कि मै बहुत हो जाऊं, पैदा हो जाऊं। उसने 'तेज'को रचा। तेजने इच्छा की कि मै बहुत हो जाऊ, पैदा हो जाऊ। उसने 'जल'को रचा। इसीलिये गर्म होनेपर पसीना आ जाता है, ये जल तेजसे ही पैदा हो जाते है।३।

जलोने इच्छा की कि हम बहुत हो जाए, उन्होने 'अन्न'को रचा, इसीलिये जहां कहीं बरसता है, वहीं प्रभूत अन्न होता है—जलसे ही अन्न उत्पन्न होता है।४।

षष्ठ प्रपाठक—[तीसरा खड]

अपने भावको और अधिक विशद करतेहुए पिताने कहा, तेज-जल-अन्न—इन तीन भूतोसे तीन ही बीज बनते है—अण्डज, जीवज, उद्भिज। 'अण्डज', अडेसे होनेवाले, 'जीवज', जरायुसे होनेवाले, 'उद्भिज', पृथ्वी भेदकर होनेवाले।१।

फिर, उस 'सत्'-रूप चेतन-शक्तिने सोचा, 'तेज'-'जल'-'अन्न'—इन तीन देवताओसे बने 'अण्डज'-'जीवज'-'उद्भिज'—इन तीन

तदैक्षत बहु स्या प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत। तत्तेज ऐक्षत बहु स्या प्रजायेयेति। तदपोऽसृजत। तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते। ३।
ता आप ऐक्षन्त बह्व्य स्याम प्रजायेमहीति। ता अन्नमसृजन्त। तस्माद्यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्न भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्य जायते।४।
तेषा खल्वेषा भूताना त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डज जीवजमुद्भिज्जमिति।१।

बीजोमें जीवात्माके साथ प्रवेश करके ससारमें 'नाम' और 'रूप'का विस्तार कर दू ।२।

ससारके पदार्थोको तीन सख्यासे आवृत कर दू, तीन सख्यासे आवृत कर दू । बस उस 'सत्'-रूप चेतन-शक्तिने तेज-जल-अन्न—इन तीन देवताओसे बने अण्डज-जीवज-उद्भिज—इन तीनो बीजोमें जीवात्माके साथ प्रवेश करके नाम और रूपवाले जगत्का विस्तार कर दिया ।३।

इस ससारके विस्तारमें उसने पदार्थोको तीन बार आवृत—तीन बार आवृत कर दिया । हे सोम्य ! अग्नि-जल-अन्न तथा अन्य पदार्थो-को इन तीनो देवताओसे तीन बार आवृत कैसे किया यह मुझसे समझ ।४।

षष्ठ प्रपाठक—[चौथा खड]

इस सामने जलतीहुई अग्निका जो रक्त-वर्ण है वह 'तेज'का रूप है, जो शुक्ल-वर्ण है वह 'जल'का रूप है, जो कृष्ण-वर्ण है वह 'अन्न' का रूप है । अग्निके इन तीनो आवरणोको अलग-अलग कर दिया जाय, तो अग्नि कहा रहती है ? अग्नि तो केवल वाणीका व्यवहार करनेकेलिये तेज-जल-अन्नके विकारका नाम है ! सत्य तो वे तीन रूप ही है ।१।

इस सूर्यको देखो । इसका जो रक्त-वर्ण है वह 'तेज'का रूप है, जो शुक्ल-वर्ण है वह 'जल'का रूप है, जो कृष्ण-वर्ण है वह 'अन्न'का रूप

सेय देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति ।२।

तासा त्रिवृत त्रिवृतमेकैका करवाणीति । सेय देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ।३।

तासा त्रिवृत त्रिवृतमेकैकामकरोद्यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ।४।

यदग्ने रोहित रूप तेजसस्तद्रूप यच्छुक्ल तदपा यत्कृष्ण तदन्नस्य । अपागादग्नेरग्नित्व वाचारम्भण विकारो नामधेय त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ।१।

है। सूर्यके इन तीनो आवरणोको अलग-अलग कर दिया जाय, तो सूर्य कहा रहता है ? सूर्य तो केवल वाणीका व्यवहार करनेके-लिये तेज-जल-अन्नके विकारका नाम है। सत्य तो वे तीन रूप ही है ।२।

चन्द्रमा क्या है ? चन्द्रका रक्त-वर्ण 'तेज'का, शुक्ल-वर्ण 'जल' का, और कृष्ण-वर्ण 'अन्न'का रूप है। इन तीनो आवरणोको अलग-अलग कर दिया जाय, तो चन्द्रमा कहा रहता है ? चन्द्रमा तो केवल वाणीका व्यवहार करनेकेलिये तेज-जल-अन्नके विकारका नाम है। सत्य तो वे तीन रूप ही है ।३।

विद्युत्का भी रक्त-वर्ण 'तेज'का, शुक्ल-वर्ण 'जल'का, कृष्ण-वर्ण 'अन्न'का रूप है। इन तीनो आवरणोके बिना विद्युत् क्या है ? यह तो वाणीके व्यवहारका एक नाम-मात्र है, सत्य तो वे तीन रूप ही है ।४।

इस रहस्यको जानतेहुए ही प्राचीन-कालके महाशाल, महाश्रोत्रिय कहा करते थे, आजसे कोई मत कहना कि हमारेलिये ससारमें कुछ भी अश्रुत या अविज्ञात है। ससारके सभी पदार्थ इन तीनके मिलने ही से तो बने है, इन तीनको जान लिया, तो सब जान लिया ।५।

जो रक्त-वर्ण-सा दिखाई दिया, यह समझ लिया कि वह 'तेज'

यदादित्यस्य रोहित॑ रूप तेजसस्तद्रूप यच्छुक्ल तदपा यत्कृष्ण तदन्नस्य। अपागादादित्यादादित्यत्व वाचारम्भण विकारो नामधेय त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ।२।
यच्चन्द्रमसो रोहित॑ रूप तेजसस्तद्रूप यच्छुक्ल तदपा यत्कृष्ण तदन्नस्य। अपागाच्चन्द्राच्चन्द्रत्व वाचारम्भण विकारो नामधेय त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ।३।
यद्विद्युतो रोहित॑ रूप तेजसस्तद्रूप यच्छुक्ल तदपा यत्कृष्ण तदन्नस्य। अपागाद्विद्युतो विद्युत्त्व वाचारम्भण विकारो नामधेय त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ।४।
एतद्ध स्म वै तद्विद्वा॑स आहु पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रिया न नोऽद्य कश्चनाश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीति। ह्येभ्यो विदाचक्रु ।५।

का रूप है, जो शुक्ल-सा दीखा, समझ लिया कि वह 'जल'का रूप है; जो कृष्ण-सा दीखा, समझ लिया कि वह 'अन्न'का रूप है ।६।

जो अविज्ञात-सा प्रतीतहुआ वह इन तीन देवताओका ही समास होगा--यह उन्होने जान लिया । हे श्वेतकेतु, जैसे मैने तुझे 'ब्रह्माड' में बताया, ऐसे अब मैं तुझे यह बताऊगा कि पुरुषके शरीर, अर्थात् 'पिंड'में आकर किसप्रकार प्रत्येक पदार्थ तीन आवरणो, अर्थात् 'अन्न'-'जल'-'तेज' के मेलसे बना है ।७।

षष्ठ प्रपाठक---[पाचवा खड]

पहले 'अन्न'को लो । खानेके बाद अन्न तीनमें बंट जाता है । उसका स्थूल-तत्त्व विष्ठा बन जाता है, मध्यम-तत्त्व मास, और सूक्ष्म-तत्त्व 'मन' बन जाता है ।१।

'जल' भी पीनेपर तीन भागोमें बट जाते है । उनका स्थूल-तत्त्व मूत्र बन जाता है, मध्यम-तत्त्व रुधिर, और सूक्ष्म-तत्त्व 'प्राण'बन जाता है ।२।

'तैजस्'-पदार्थ घी-मक्खन आदि खानेपर तीन भागोमें बट जाते है । उनका स्थूल-तत्त्व अस्थि बन जाता है, मध्यम-तत्त्व मज्जा, और सूक्ष्म-तत्त्व 'वाणी' बन जाती है ।३।

यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्विदा-
चक्रुर्यदु शुक्लमिवाभूदित्यपां रूपमिति तद्विदा-
चक्रुर्यदु कृष्णमिवाभूदित्यन्नस्य रूपमिति तद्विदाचक्रु । ६ ।
यद्वविज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानां समास
इति तद्विदाचक्रुर्यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवता पुरुष
प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति । ७ ।
अन्नमशित त्रेधा विधीयते तस्य य स्थविष्ठो धातु-
स्तत्पुरीष भवति यो मध्यमस्तन्मांस योऽणिष्ठस्तन्मन । १ ।
आप पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासा य स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्र
भवति यो मध्यमस्तल्लोहित योऽणिष्ठ स प्राण । २ ।
तेजोऽशित त्रेधा विधीयते तस्य य स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि
भवति यो मध्यम स मज्जा योऽणिष्ठ सा वाक् । ३ ।

इसीलिये हे सोम्य ! 'मन' अन्नसे बनता है, 'प्राण' जल से, और 'वाणी' तेजसे बनती है। श्वेतकेतुने कहा, पिताजी, जरा इस बातको फिर-से समझाइये। पिताने कहा, बहुत अच्छा ।४।

षष्ठ प्रपाठक---[छठा खंड]

हे सोम्य ! जब दही मथा जाता है, तब उसका जो सूक्ष्म अंश ऊपरको उठ आता है, वह मक्खन बनता है ।१।

ठीक इसीतरह, हे सोम्य ! जब अन्न खाया जाता है, तब उसका जो सूक्ष्म अंश ऊपरको उठ आता है, वह 'मन' बनता है ।२।

और, ठीक इसीतरह, हे सोम्य ! जब जल पीया जाता है, तब उसका जो सूक्ष्म अंश ऊपरको उठ आता है, वह 'प्राण' बनता है ।३।

और, ठीक इसीतरह, हे सोम्य ! जब तेजोमय पदार्थ घी-मक्खन आदि खाये जाते हैं, तब उनका जो सूक्ष्म अंश ऊपरको उठ आता है, वह 'वाणी' बन जाती है ।४।

इसीलिये हे सोम्य ! मन 'अन्नमय' है, प्राण 'आपोमय' है, और वाक् 'तेजोमयी' है। श्वेतकेतुने कहा, पिताजी, अभी इसे और अधिक स्पष्ट करके समझाइये। पिताने कहा, तथास्तु ।५।

षष्ठ प्रपाठक---(सातवां खंड)

हे सोम्य ! यह पुरुष सोलह कलाओंवाला है। अगर तुम पन्द्रह

अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति
भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच । ४ ।
दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तत्सर्पिर्भवति । १ ।
एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा
स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति । २ ।
अपां सोम्य पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति स प्राणो भवति । ३ ।
तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवति । ४ ।
अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति
भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच । ५ ।

दिनतक खाना न खाओ, किन्तु भरपेट जल पीते रहो, तो जल पीते रहनेके कारण प्राण नहीं टूटेगा—प्राण जलमय जो है ।१।

श्वेतकेतुने पन्द्रह दिनतक खाना नही खाया । फिर पिताके पास आकर बोला, पिताजी, कहिये, अब क्या करूं ? पिताने कहा, ऋक्-यजु-सामके मन्त्र मुझे सुनाओ । श्वेतकेतुने कहा, पिताजी, वे तो मुझे सूझते ही नहीं, स्मरण ही नही आ रहे ।२।

पिताने कहा, हे सोम्य ! जैसे बहुत बड़ी प्रज्वलित अग्निका जुगनू-जितना एक अंगारा बच रहे, तो वह अपनेसे अधिकको, एक ढेरको, नहीं जला सकता, इसीतरह हे सोम्य ! तेरी सोलह कलाओंमेंसे केवल एक कला बच रही है, इसलिये तू वेदोका स्मरण नही कर सक रहा । अच्छा, अब खाकर आओ ।३।

मैंने जो तुझे उपदेश दिया उसे तू अब समझेगा । श्वेतकेतुने भोजन किया । पिताके पास आया । अब पिताने जो-कुछ पूछा उस सबका उसने उत्तर दिया । तब पिताने कहा—।४।

हे सोम्य ! जैसे बहुत बडी प्रज्वलित अग्निका जुगनू-जितना एक अंगारा बच रहे, और उसे तिनकोसे फिरसे प्रज्वलित कर दिया जाय, तो वह अपनेसे अधिकको, एक भारी ढेरको भी जला देता है ।५।

इसी प्रकार, हे सोम्य ! तेरी सोलह कलाओंमेंसे एक कला बच

षोडशकलः सोम्य पुरुषः पञ्चदशाहानि माऽशीः काम-
मपः पिबापोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति । १ ।
स ह पञ्चदशाहानि नाऽऽशाथ हैनमुपससाद । किं ब्रवीमि भो इत्यृचः
सोम्य यजूꣳषि सामानीति स होवाच । न वै मा प्रतिभान्ति भो इति । २ ।
तꣳ होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः
परिशिष्टः स्यात्तेन ततोऽपि न बहु दहेदेवꣳ सोम्य ते षोडशानां
कलानामेका कलाऽतिशिष्टा स्यात्तयैतर्हि वेदान्नानुभवस्यशान । ३ ।
अथ मे विज्ञास्यसीति स हाशाथ हैनमुपससाद ।
तꣳ ह यत्किंच पप्रच्छ सर्वꣳ ह प्रतिपेदे । ४ ।
तꣳ होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकमङ्गारं खद्योतमात्रं
परिशिष्टं तं तृणैरुपसमाधाय प्राज्वलयेत्तेन ततोऽपि बहु दहेत् । ५ ।

रही थी। वह अन्नसे सुलगाई गई, और फिर चमक उठी, और इससे अब फिर तुम्हें वेद स्मरण हो आये। इसलिये, हे सोम्य! मन 'अन्नमय' है, प्राण 'जलमय' है, और वाणी 'तेजोमयी' है। श्वेतकेतु यह सुनकर पिताकी बातको समझ गया, समझ गया।६।

षष्ठ प्रपाठक—[आठवा खंड]

(श्वेतकेतुको उनके पिताका 'तत्त्वमसि' उपदेश, ८ से १६ खंड)

उद्दालक आरुणिने 'सदेवेदमग्र आसीत्'का उपदेश देनेके बाद अपने पुत्र श्वेतकेतुको फिर कहा, हे सोम्य! मुझसे स्वप्नके अन्त, अर्थात् सुषुप्तिको भी समझ ले। जब हम पुरुषके विषयमें 'स्वपिति'—गाढ निद्रामें सोता है—यह कहते हैं, तब वह 'सत्', अर्थात् ब्रह्मके साथ मिल गया होता है, 'स्व'को—अपने वास्तविक 'स्व'-रूपको पहुचा होता है। 'स्वपिति' इसीलिये कहते हैं, क्योंकि उस समय वह 'स्व'में, अर्थात् अपनेपनमें गया होता है।१।

जैसे डोरमें बधीहुई चिडिया दिशा-दिशामें उड-उडकर जाती है, कहीं ठिकाना न पाकर जहा बधी होती है वहीं आकर आश्रय पाती है, हे सोम्य! इसीप्रकार मन दिशा-दिशामें उडकर जाता है, कहीं ठिकाना न पाकर सुषुप्तावस्थामें प्राणका ही आकर सहारा लेता है—क्योंकि प्राण ही मनको बाधनेवाला खूटा है। यह प्राण ही उसका 'सत्'-रूप या 'स्व'-रूप है जिसमें जीव सुषुप्तावस्थाके समय पहुचजाता है।२।

एवं सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलाऽतिशिष्टाभूत्साऽन्नेनोपसमाहिता प्राज्वालीत्तयैतर्हि वेदाननुभवस्यन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति।६।

उद्दालको हाऽऽरुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति। यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सपन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति।१।

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनं हि सोम्य मन इति।२।

फिर पिताने कहा, हे सोम्य ! भूख-प्यासका तत्त्व मुझसे समझ ले। भूख-प्यासमेंसे पहले 'भूख'पर ऋषि कहते हैं—हे सोम्य ! जब हम किसी पुरुषके विषयमें कहते हैं कि वह भूखा है, तब उसका यही अभिप्राय होता है कि उसके खायेहुए अन्नको जल ले जा रहे हैं। खायाहुआ पदार्थ द्रव-रूपमें, अर्थात् जल-रूपमें होकर ही शरीर में पहुचता है। क्योंकि अन्नको शरीरमें सब स्थानो में पहुचानेका काम जलका है, इसलिये जलको 'अशनाय' कहते हैं। 'अश'का अर्थ है भोजन, 'नाय'का अर्थ है, लेजानेवाला। ठीक इसीतरह जैसे ग्वाले को 'गो-नाय', साईसको 'अश्व-नाय', सेनापतिको 'पुरुष-नाय' कहते हैं। जब जल, अन्नको शरीरमें सब जगह पहुचा देता है, तब उसी अन्नसे शरीर-रूपी अकुर उत्पन्न होता है। हे सोम्य, अब सोचनेकी बात यह है कि क्या अन्नसे उत्पन्न होनेवाला यह शरीर-रूपी अकुर विना मूलके, विना जडके है ?।३।

तो, शरीरका मूल अन्नके विना कहा हो सकता है ? जैसे शरीरको अकुर माना जाय, तो उसका मूल अन्न है, वैसे अन्नको अकुर माना जाय, तो उसका मूल क्या है ? अन्नका मूल जल है ! जैसे अन्नका मूल जल है, वैसे जलको अकुर माना जाय, तो उसका मूल क्या है ? जलका मूल तेज है। (तभी तो जलके प्रपातमेंसे बिजली निकल पडती है)। जैसे जलका मूल तेज है, वैसे तेजको अकुर माना जाय, तो उसका मूल क्या है ? तेजका मूल, हे सोम्य ! 'सत्' है। हे सोम्य, इस सम्पूर्ण प्राणि-जगत्का मूल 'सत्' है, इसका आयतन 'सत्' है, इसकी प्रतिष्ठा 'सत्' है ।४।

अशनापिपासे मे सोम्य विजानीहीति। यत्रैतत्पुरुषोऽशिशिषति नामाप एव तदशितं नयन्ते। तद्यथा गोनायोऽश्वनाय पुरुषनाय इत्येव तदप आचक्षतेऽशनायेति। तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितं सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति। ३।
तस्य क्व मूलं स्यादन्यत्रान्नादेवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भि सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ। तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ। सन्मूला सोम्येमा सर्वा प्रजा सदायतना सत्प्रतिष्ठा। ४।

२२

भूखमे 'सत्'तक पहुचकर अब 'प्यास'पर ऋषि कहते है—हे सोम्य ! जब हम किसी पुरुषके विषयमें कहते है कि वह प्यासा है, तब उसका यही अभिप्राय होता है कि उसके पीयेहुए जलको तेज ले जा रहा है, अग्नि सुखा रही है। क्योकि जलको सुखानेका काम तेजका है, इसलिये तेजको 'उदन्या' कहते है, 'उदन्या'का अर्थ है 'प्यास'—'उदक्'का अर्थ है, जल, 'नय'का अर्थ है, लेजानेवाला। ठीक इसीतरह जैसे ग्वालेको 'गो-नाय', साईसको 'अश्व-नाय', सेनापतिको 'पुरुष-नाय' कहते है, वैसे 'उदन्या', अर्थात् 'उद्क-नाय' प्यासको कहते ह। जब तेज जलको शरीरमेंसे सोख लेता है, तब फिर जलकी आवश्यकता होती है, उसी जलसे शरीर-रूपी अंकुर उत्पन्न होता है। हे सोम्य, अब सोचनेकी बात यह है कि क्या जलसे उत्पन्न होनेवाला यह शरीर-रूपी अकुर बिना मूलके, बिना जडके है ?।५।

तो, शरीरका मूल जलके बिना कहा हो सकता है ? जैसे शरीरको अंकुर माना जाय, तो उसका मूल जल है, वैसे जलको अकुर माना जाय, तो उसका मूल क्या है ? जलका मूल तेज है। जैसे जलका मूल तेज है, वैसे तेजको अकुर माना जाय, तो उसका मूल क्या है ? 'तेज'का मूल, हे सोम्य ! 'सत्' है। हे सोम्य, इस सम्पूर्ण प्राणि-जगत् का मूल 'सत्' है, इसका आयतन 'सत्' है, इसकी प्रतिष्ठा 'सत्' है। इसप्रकार 'भूख' तथा 'प्यास' इन दोनो डोरोको पकडकर हम 'सत्'के पास ही पहुचते है। हे सोम्य ! जैसा पहले कहा जा चुका है, 'सत्'से प्रारंभ होकर अन्न-जल-तेज—ये तीन देवता ही विकसित होकर पुरुष की रचना करते है, मरते समय क्रम उलट जाता है—वाणी मनमें लीन हो जाती है (वह बोलना बन्द कर देता है), मन प्राणमें (वह

अथ यत्रैतत्पुरुष पिपासति नाम तेज एव तत्पीत नयते। तद्यथा गोनायोऽश्वनाय पुरुषनाय इत्येव तत्तेज आचष्ट उदन्येति। तत्रैतदेव शुङ्गमुत्पतित सोम्य विजानीहि नेदममूल भविष्यतीति। ५।

कुछ समझ नहीं सकता), प्राण तेजमें (वह ठडा होने लगता है), और तेज उस परम देवता 'सत्'में लीन हो जाता है।६।

वह परम-देवता 'सत्' क्या है? वह स्थूल नही, 'अणिमा' है— सूक्ष्म-तम है, यह सब स्थूल-शरीर उसी सूक्ष्मका शरीर है, यह स्थूल-शरीर सत्य नही, वही सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतु, 'तत्त्वमसि'—तू, अर्थात् तेरा आत्मा 'तत्त्व' है, अर्थात् 'सत्' है, तेरा शरीर 'तत्त्व-वस्तु' नही। अथवा, 'तत्त्वमसि'—'तू वह है'—तू भी उसकी तरह 'सत्' है, 'असत्' नहीं है। श्वेतकेतुने कहा, भगवन्! इस रहस्यको मुझे फिर समझाइये। पिताने कहा, तथास्तु।७।

षष्ठ प्रपाठक—(नौवा खड)

(ऋषिका कहना ह कि भूख-प्यास तो ऐसी चीजे है जो हरेक को लगती है। इनपर ही विचार किया जाय तब भी इनकी डोर पकडकर मनुष्य इसी परिणामपर पहुचता है कि इनका कारण भी वह 'सत्' ही है। भूख-प्यास 'सत्' नही, इनके पीछे जो है, जो इनका कारण है, वही 'सत्' है।)

हे सोम्य! जैसे मधु-मक्खियां मधुको बनाती है, नाना-प्रकारके फलोके वृक्षोके रसोको लेकर अनेक रसोका एक रस बना देती है।१।

वे रस शहदके छत्तेमे पहुचकर यह विवेक नहीं कर सकते कि मै इस वृक्षका रस हू, या उस वृक्षका रस हू, इसीप्रकार, हे सोम्य,

---

तस्य क्व मूलँ स्यादन्यत्राद्भ्योऽद्भि सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ। तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ। सन्मूला सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा। यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव। भवत्यस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्। ६।
स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच। ७।
यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति, नानात्ययानां वृक्षाणाँ रसान्समवहारमेकतां रसं गमयन्ति। १।

ये सब प्राणी 'सत्'में पहुचकर नहीं जानते कि हम 'सत्'में आ पहुचे है ।२।

वे यहा व्याघ्र, सिंह, भेडिया, भालू, कीट, पतग, दश, मशक, जो होते हैं वही रहते है—जैसे भिन्न-भिन्न वृक्षोका रस शहदमें अपने रूपको खो देता है, वैसे ये जीव सत्में पहुचकर अपने रूपको नहीं खो देते—और फिर भिन्न-भिन्न रूपोमें पैदा होते है। क्या ही अच्छा हो कि शहदमें रसकी तरह वे जीव 'सत्'में अपनेको खो दें, अपने भिन्न-भिन्न रूपोको अपना समझनेके स्थानमें अपने 'सत्'-रूपको अपना समझें ।३।

वह जो 'अणिमा' है, सूक्ष्म-तत्त्व है, यह सब स्थूल-जगत् उसीका शरीर है, यह शरीर सत्य नहीं, वही सत्य है, वह 'सत्' ही आत्मा है, हे श्वेतकेतु, 'तत्त्वमसि'—तू, अर्थात् तेरा आत्मा 'तत्त्व' है, अर्थात् 'सत्' है, तेरा शरीर 'तत्त्व-वस्तु' नहीं। अथवा, 'तत्त्वमसि'—'तू वह है'—तू भी उसकी तरह 'सत्' है, 'असत्' नहीं है। श्वेतकेतुने कहा, भगवन् ! इस रहस्यको मुझे फिर समझाइये। पिताने कहा, तथास्तु ।४।

षष्ठ प्रपाठक—[दसवा खड]

हे सोम्य ! जैसे पूर्वकी नदिया पूर्वको बहती है, पश्चिमकी पश्चिमको—परन्तु तत्त्वत समुद्रसे वाष्पद्वारा जो पानी उठा, वही समुद्रमें जा पहुचा, समुद्र बन गया, और वहा पहुचकर उसे यह ज्ञान नहीं रहता कि मैं अमुक हू, मैं अमुक हू ।१।

ते यथा तत्र न विवेक लभन्तेऽमुष्याह वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याह वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमा सर्वा प्रजा सति सपद्य न विदु सति सपद्यामह इति ।२।

त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति ।३।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच ।४।

इमा सोम्य नद्य पुरस्तात्प्राच्य स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ता समुद्रात्समुद्रमेवापियन्ति, समुद्र एव भवन्ति, ता यथा तत्र न विदुरियमहमस्मीयमहमस्मीति ।१।

हे सोम्य ! इसीप्रकार ससारके प्राणी-मात्र 'सत्'से आते है, परन्तु यह नहीं जानते कि वे 'सत्'से आये है । वे यहा व्याघ्र, सिह, भेड़िया, भालू, कीट, पतग, दश, मशक जो-कुछ होते है, वही रहते है—जैसे भिन्न-भिन्न नदिया समुद्रमें अपने रूपको खो देती है, वैसे ये जीव सत्में पहुचकर अपने रूपको नहीं खो देते, और फिर भिन्न-भिन्न रूपोमें पैदा होते है । क्या ही अच्छा हो कि समुद्रमें नदीकी तरह वे जीव 'सत्'में अपनेको खो दें ।२।

वह जो 'अणिमा' है, सूक्ष्म-तत्त्व है, यह सब स्थूल-जगत् उसीका शरीर है, वही सत्य है, वह 'सत्' ही आत्मा है, हे श्वेतकेतु, 'तत्त्वमसि'—तू, अर्थात् तेरा आत्मा 'तत्त्व' है, अर्थात् 'सत्' है, तेरा शरीर 'तत्त्व-वस्तु' नहीं । अथवा, 'तत्त्वमसि'—'तू वह है'—तू भी उसकी तरह 'सत्' है, 'असत्' नहीं है । श्वेतकेतुने कहा, भगवन् ! इस रहस्यको मुझे फिर समझाइये । पिताने कहा, तथास्तु ।३।

षष्ठ प्रपाठक—[ग्यारहवा खड]

हे सोम्य ! अगर किसी महान् वृक्षके मूलमें प्रहार करें, तो रस वह पडता है, परन्तु वृक्ष जीवित रहता है, मध्यमें प्रहार करें तब भी रस वह निकलता है, परन्तु वृक्ष जीवित रहता है, चोटीपर प्रहार करें तब भी रस बहता रहता है, परन्तु वृक्ष जीवित रहता है—वृक्षमें जीवन प्रभूत-मात्रामें है इसलिये वह पृथिवीसे रस-पान करताहुआ हरा-भरा खडा रहता है ।१।

एवमेव खलु सोम्येमा सर्वा प्रजा सत आगम्य न विदु सत आगच्छामह इति । त इह व्याघ्रो वा सिँहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दँशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति । २ ।
स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच । ३ ।
अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेद्योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेत्स एष जीवेनात्मनानुप्रभूत पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति । १ ।

जीव जब इस वृक्षकी एक शाखाको छोड देता है तो वह सूख जाती है, दूसरीको छोड देता है तो वह सूख जाती है, तीसरीको छोड देता है तो वह सूख जाती है, सारेको छोड देता है तो सम्पूर्ण वृक्ष सूख जाता है। हे सोम्य! ऐसे ही मनुष्य-शरीरको भी समझ लो।२।

जब जीव शरीरसे अलग हो जाता है तब शरीर ही मरता है, जीव नहीं मरता। वह जो 'अणिमा' है, सूक्ष्म-तत्त्व है, यह सब स्थूल-जगत् उसीका शरीर है, वही सत्य है, वह 'सत्' ही आत्मा है, हे श्वेतकेतु, 'तत्त्वमसि'—तू, अर्थात् तेरा आत्मा 'तत्त्व' है, अर्थात् 'सत्' है, तेरा शरीर 'तत्त्व-वस्तु' नहीं। अथवा, 'तत्त्वमसि'—'तू वह है'—तू भी उसकी तरह 'सत्' है, 'असत्' नही है। श्वेतकेतुने कहा, भगवन्! इस रहस्यको मुझे फिर समझाइये। पिता ने कहा, तथास्तु।३।

षष्ठ प्रपाठक—[बारहवां खंड]

पिताने कहा, वट-वृक्षका फल लाओ। श्वेतकेतुने कहा, पिताजी, ले आया। तोडो इसे। तोड दिया। इसमें क्या देखते हो? भगवन्! इसमें बहुत-से छोटे-छोटे दाने हैं! प्यारे, इन दानोमेंसे एकको तोडो। पिताजी, तोड दिया। इसमें क्या देखते हो? पिताजी, इसमें तो कुछ भी नही दीखता।१।

अस्य यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति, द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति, तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति, सर्वं जहाति सर्वं शुष्यत्येवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच ।२।
जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति। स य एषो ऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्यति होवाच ।३।
न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति। भिन्धीति। भिन्नं भगव इति। किमत्र पश्यसीत्यण्व्य इवेमा धाना भगव इत्यासामङ्गैकां भिन्धीति। भिन्ना भगव इति। किमत्र पश्यसीति। न किंचन भगव इति ।१।

पिताने कहा, हे सोम्य ! जिसे तू 'कुछ नहीं' कह रहा है, जिस अणु-रूपको तू नहीं देख पा रहा, हे सोम्य ! इस अणु-रूपमेंसे ही यह महान् वट-वृक्ष खड़ा हो जाता है । इस बातपर श्रद्धा कर ।२।

वह जो 'अणिमा' है, सूक्ष्म-तत्त्व है, यह सब स्थूल-जगत्—उसी का शरीर है , वही सत्य है , वह 'सत्' ही आत्मा है, हे श्वेतकेतु ! 'तत्त्वमसि'—तू, अर्थात् तेरा आत्मा 'तत्त्व' है, अर्थात् 'सत्' है, तेरा शरीर 'तत्त्व-वस्तु' नही । अथवा, 'तत्त्वमसि'—'तू वह है'—तू भी उसकी तरह 'सत्' है, 'असत्' नही है । श्वेतकेतुने कहा, भगवन् ! इस रहस्यको मुझे फिर समझाइये । पिताने कहा, तथास्तु ।३।

षष्ठ प्रपाठक—[तेरहवा खड]

पिताने कहा, यह लवण पानीमें डालकर प्रात काल मेरे पास आना । श्वेतकेतुने वैसा ही किया । पिताने अगले दिन कहा, प्यारे ! रात्रिको जो लवण पानीमें रखा था, उसे ले आ । श्वेतकेतु पानीमें रखे लवणको खोजने लगा, पर वह कही न मिला ।१।

पिताने कहा, प्यारे ! लवण पानीमें लीन हो गया है । इसे ऊपरसे आचमन कर, कैसा है ? लवण है । मध्यसे आचमन कर, कैसा है ? लवण है । नीचेसे आचमन कर, कैसा है ? लवण है । फिर पिताने कहा, इसे चखकर मेरे पास आ । श्वेतकेतुने वैसा ही किया और पितासे आकर कहा, लवण तो वैसे-का-वैसा ही है, नष्ट नही हुआ ।

तँ होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै
सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति । श्रद्धत्स्व सोम्येति । २ ।
स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो
इति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच । ३ ।
लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति । स ह तथा चकार । तँ
होवाच यद्दोषा लवणमुदकेऽवाधा अङ्ग तदाहरेति । तद्धावमृश्य न विवेद । १ ।

पिताने कहा, हे सोम्य ! वह 'सत्' जिमसे सृष्टि बनी है, वह भी यहीं है, वह दीख नहीं रहा, परन्तु निश्चयसे वह है यहीं ।२।

वह जो 'अणिमा' है, सूक्ष्म-तत्त्व है, यह सब स्थूल-जगत्—उसीका शरीर है, वही सत्य है, वह 'सत्' ही आत्मा है, हे श्वेतकेतु, 'तत्त्वमसि'—तू, अर्थात् तेरा आत्मा 'तत्त्व' है, 'सत्' है, तेरा शरीर 'तत्व-वस्तु' नहीं । अथवा, 'तत्त्वमसि'—'तू वह है'—तू भी उसकी तरह 'सत्' है, 'असत्' नहीं है । श्वेतकेतुने कहा, भगवन् ! इस रहस्य को मुझे फिर समझाइये । पिताने कहा, तथास्तु ।३।

षष्ठ प्रपाठक—[चौदहवा खड]

हे सोम्य ! जैसे कोई गधार देशके किसी व्यक्तिको आखें बाधकर निर्जन स्थानमें लाकर छोड दे, वह जैसे सब दिशाओंको शोर मचाकर गुंजा देता है, और चिल्लाता है कि आखें बाधकर मुझे पकड लाये, आखें बाधे ही छोड दिया ।१।

जैसे कोई उसके बन्धनको खोलकर उसे कहे, अमुक दिशामें गन्धार देश है, उधर चला जा, वह बुद्धिमान् गाव-गाव पूछताहुआ गधार देशको पहुच जाता है, ठीक इसीतरह, आचार्यको, गुरुको पाकर यह भटकताहुआ पुरुष अपने 'सत्' रूपको पानेकेलिये चल देता है। इस ससारमें बधे रहनेकी अवधि तो उतनी ही है जितनी देरतक

यथा विलीनमेवाङ्गास्यान्तादाचामेति । कथमिति । लवणमिति । मध्यादाचामेति । कथमिति । लवणमित्यन्तादाचामेति । कथमिति । लवणमित्यभिप्रास्यैतदथ मोपसीदथा इति । तद्ध तथा चकार । तच्छश्वत्सं-वर्तते । तँ होवाचात्र वाव किल सत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति । २ ।
स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच । ३ ।
यथा सोम्य पुरुष गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय त ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वाऽधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्ट । १ ।

कोई रास्तेपर डालनेवाला गुरु आखोपर बधी पट्टी खोल नहीं देता। उसके बाद तो 'सत्'की प्राप्ति हो ही जाती है ।२।

वह 'सत्' ही 'अणिमा' है, सूक्ष्म-तत्त्व है, यह सब स्थूल-जगत् उसीका शरीर है, वही सत्य है, वह 'सत्' ही आत्मा है, हे श्वेतकेतु, 'तत्त्वमसि'—तू, अर्थात् तेरा आत्मा 'तत्त्व' है, 'सत्' है, अर्थात् तेरा शरीर 'तत्त्व-वस्तु' नहीं। अथवा, 'तत्त्वमसि'—'तू वह है'—तू भी उसकी तरह 'सत्' है, 'असत्' नहीं है। श्वेतकेतुने कहा, भगवन्! इस रहस्यको मुझे फिर समझाइये। पिताने कहा, तथास्तु ।३।

षष्ठ प्रपाठक—[पन्द्रहवा खड]

हे सोम्य! रोगी पुरुषको चारोतरफसे उसके बन्धु-बाधव घेर लेते हैं और पूछते हैं, मुझे पहचानते हो, मुझे पहचानते हो? जबतक उसकी वाणी मनमें, मन प्राणमें, प्राण तेजमें, और तेज परम-देवतामें लीन नहीं हो जाता तबतक वह पहचानता जाता है ।१।

जब उसकी वाणी मनमें, मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज उस परम-देवतामें लीन हो जाता है, तब वह किसीको नहीं पहचानता ।२।

यह परम-देवता जिसमें वह लीन होजाता है—यही 'अणिमा' है, सूक्ष्म-तत्त्व' है, यह सब स्थूल-जगत् उसीका शरीर है, वही सत्य है, वह 'सत्' ही आत्मा है, हे श्वेतकेतु, 'तत्त्वमसि'। श्वेतकेतुने कहा,

---

तस्य यथाभिनहन प्रमुच्य प्रब्रूयादेता दिश गन्धारा एता दिश व्रजेति। स ग्रामाद्ग्राम पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसपद्येतैवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद। तस्य तावदेव चिर यावन्न विमोक्ष्येऽथ सपत्स्य इति। २।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद् सर्व तत्सत्य् स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच। ३।

पुरुष् सोम्योपतापिन ज्ञातय पर्युपासते जानासि मा जानासि मामिति। तस्य यावन्न वाङ् मनसि सपद्यते मन प्राणे प्राणस्तेजसि तेज परस्या देवतायां तावज्जानाति। १।

अथ यदास्य वाङ् मनसि सपद्यते मन प्राणे प्राणस्तेजसि तेज परस्या देवतायामथ न जानाति। २।

भगवन् ! इस रहस्यको मुझे फिर समझाइये । पिताने कहा—तथास्तु ।३।

षष्ठ प्रपाठक—[सोलहवां खंड]

हे सोम्य ! किसी पुरुषको पकडकर लाया गया और उसपर यह दोष लगाकर कि इसने चोरी की है, उसकेलिये परशु गरम किया गया । अगर उसने वास्तवमें चोरी की है, तो तपेहुए परशुकी बात सुनकर ही उसका चेहरा झूठ प्रकट कर देता है। झूठसे अपनेको ढककर, झूठका सहारा लेकर, वह तपेहुए परशुको पकड लेता है, और जल जाता है, मारा जाता है ।१।

अगर उसने चोरी नहीं की होती, तो उसके चेहरेसे ही सत्य टपक पडता है । सत्यसे अपनेको ढककर, सत्यका सहारा लेकर, वह तपेहुए परशुको पकड लेता है, वह जलता नहीं, छूट जाता है ।२।

जैसे सत्यका सहारा लेनेवाला जलता नहीं, वैसे उस 'सत्'का सहारा लेनेवाला, 'सत्'से अपनेको ढक लेनेवाला संसारके तापसे परितप्त नहीं होता । यह संसार उसीका आत्म-रूप है, वह सत्य है, वह 'सत्' ही आत्मा है, हे श्वेतकेतु, 'तत्त्वमसि' । यह सुनकर श्वेतकेतु अपने पिताके उपदेशको समझ गया, समझ गया ।३।

('तत्त्वमसि' वाक्यपर द्वैत-अद्वैत-सम्बन्धी बहुत विवाद रहता है। 'तत्त्वमसि'का एक अर्थ तो 'तत्'-'त्व'-'असि'—'तू वह है'—'वह', अर्थात् 'ब्रह्म'—यह किया जाता है, इसका दूसरा अर्थ 'तत्त्व'-'असि'—

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच । ३ । पुरुषँ सोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपहार्षीत्स्तेयमकार्षीत्परशुमस्मै तपतेति । स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते । सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स दह्यतेऽथ हन्यते । १ । अथ यदि तस्याकर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते । स सत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते । २ । स यथा तत्र नादाह्येतैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति । तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति । ३ ।

'तू तत्त्व है'—तत्त्व, अर्थात् 'सत्' है—'सार है' यह भी होता है। इस उपनिषद्‌मे यही दर्शाया जा रहा है कि जैसे नमकके पानीमे घुल जानेपर भी नमक नष्ट नही होता, 'सत्' रहता है, जैसे वट-वृक्षके बीजमे पेडके न दीखनेपर भी उसीमे वृक्ष 'सत्'-रूपमे मौजूद है, इसीप्रकार हे श्वेतकेतु! ससारमे परमात्माके और शरीरमे जीवात्माके न दीखने पर भी ब्रह्माडमे वह 'सत्' है, और उस 'सत्'की तरह, पिडमे तू—अर्थात् आत्मा—सत् है। पिड तथा ब्रह्माडका 'तत्त्व' यह पिड तथा ब्रह्माड नही, परन्तु इनमे वर्तमान 'सत्' है, जिससे ये अनुप्राणित हो रहे है। उपनिषदोका प्रतिपाद्य विषय द्वैत-अद्वैतके झमेलेमे पडना नही, उपनिषदोका उद्देश्य शरीरमे से खीचकर मनुष्यको आत्माकी तरफ ले जाना, और प्रकृतिमेसे खीचकर ब्रह्मकी तरफ लेजाना है। उनका कथन है कि हम शरीरमे रमे रहते है—यह ठीक नही है, हम प्रकृति मे रमे रहते है—यह भी ठीक नही है। पिडमे यथार्थ-सत्ता शरीरकी नही, 'आत्मा' की है, ब्रह्माडमे यथार्थ-सत्ता प्रकृतिकी नही, 'ब्रह्म' की है। पिडमे 'आत्मा'को लक्ष्य बनाओ, ब्रह्माडमे 'ब्रह्म'को लक्ष्य बनाओ—वास्तविक 'तत्त्व' यही है, वास्तविक 'सत्' यही है।)

सप्तम प्रपाठक—[पहला खड]

(नारद और सनत्कुमार, १ से २६ खड)

(षष्ठ प्रपाठकमे 'सत्'को अन्तिम सत्ता कहा गया है। इस प्रपाठकमे उसी 'सत्'को 'भूमा' कहा गया है परन्तु उसतक पहुचनेके लिये सब अवान्तर सीढियोका इसमे उल्लेख है।)

कहते है कि एक बार सनत्कुमार, अर्थात् सदा कुमार-रूप रहनेवाले ऋषिके पास नारद मुनि पहुचे और उनसे कहा, भगवन्! मुझे ज्ञान दीजिये। ऋषिने कहा, जो-कुछ तुम पहले जानते हो वह बतलाओ, तब मै उससे आगे तुम्हे शिक्षा दूगा।१।

नारदने कहा, भगवन्! मैने ऋग्वेद पढा है, और यजुर्वेद, सामवेद,

ॐ। अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमार नारदस्त होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्व वक्ष्यामीति स होवाच।१।

चौथा आथर्वण, पाचवा इतिहास-पुराण, वेदोंके वेद (अर्थात्, जिससे वेद स्पष्ट हो जाते है), पित्र्य (शुश्रूषा-विज्ञान), राशि (गणित), दैव-विद्या (उत्पात-विज्ञान), निधि-शास्त्र (अर्थ-शास्त्र), वाको-वाक्य (तर्क-शास्त्र), एकायन (नीति-शास्त्र), देव-विद्या (निरुक्त), ब्रह्म-विद्या (ब्रह्मका ज्ञान), भूत-विद्या (भौतिकी, रसायन तथा प्राणी-शास्त्र), क्षत्र-विद्या (धनुर्विद्या), नक्षत्र-विद्या (ज्योतिष), सर्प-विद्या (विष-ज्ञान), देव-जन-विद्या (ललित-कला)—इनको भी पढा है ।२।

भगवन् ! यह सब-कुछ पढकर मै 'मन्त्रवित्' हुआ हू, 'आत्मवित्' नहीं हुआ—मुझे शब्द-ज्ञान तो हो गया है, आत्म-ज्ञान नहीं हुआ। हे भगवन् ! मैने आप-सरीखे महात्माओसे सुना है—'तरति शोक आत्मवित्', जो आत्माको जान जाता है वह दु ख-सागरको तर जाता है। भगवन् ! मै शोक-सागरमें डूबा जा रहा हू, आप मुझे इससे पार उतारिये। यह सुनकर सनत्कुमारने नारदसे कहा, तूने अबतक जो सीखा है, वह नाम-मात्र है ।३।

ये ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, आथर्वण आदि जो-कुछ तुमने पढा है, ये 'नाम'-ज्ञान है। आत्मवित् बननेकेलिये नाम-ज्ञान तो सीढी का पहला पाया है। तू नामकी उपासनाकर—नामसे, अर्थात् शब्द-ज्ञानसे शुरू कर, परन्तु यहीं तक रुक मत जा ।४।

ऋग्वेद भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वण चतुर्थ-
मितिहासपुराण पञ्चम वेदाना वेद पित्र्यं राशि दैव
निधि वाकोवाक्यमेकायन देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या
क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ।२।
सोऽह भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्त-
रति शोकमात्मविदिति। सोऽह भगव शोचामि त मा भगवाञ्छोकस्य
पार तारयन्त्विति। तं होवाच यद्वै किंचैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत् ।३।
नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेद सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहास-
पुराण पञ्चमो वेदाना वेद पित्र्यो राशिर्दैवो निधिर्वाको-
वाक्यमेकायन देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या
नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्या नामैवैतन्नामोपास्स्वेति ।४।



नारदने सनत्कुमारको कहा—'मैं मन्त्रवित् हूं, आत्मवित् नहीं हूं'

जो 'नाम'को ब्रह्म जानकर उसकी उपासना करता है, वह जहां तक नामकी गति है, वहींतक निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारदने पूछा, तो क्या भगवन्! नामसे बढकर भी कुछ है? ऋषिने उत्तर दिया, हां, है! नारदने कहा, तो भगवन्! आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ।५।

स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो नाम ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो नाम्नो भूय इति नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ।५।

सप्तम प्रपाठक—[दूसरा खण्ड]

ऋषिने कहा, 'वाणी' नामसे बडी है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वण आदि सभी विद्याओंको जिन्हें तुमने पढा है वाणी जतलाती है, परन्तु इनसे अधिक बातोंको भी वाणी ही जनलाती है। उदाहरणार्थ, द्यु, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, हिंस्र-जन्तु, कीट, पतग, चींटी—इन सबका ज्ञान भी वाणीद्वारा ही होता है। इनके अतिरिक्त, धर्म-अधर्म, सत्य-अनृत, साधु-असाधु, सहृदय-असहृदय—इन सबका ज्ञान भी वाणी ही देती है। यदि वाणी न होती, तो न धर्म-अधर्मका ज्ञान होता, न सत्य-असत्यका ज्ञान होता, न अच्छे-बुरेका ज्ञान होता, न हृदयानुकूल-प्रतिकूलका ज्ञान होता। वाणी ही इन सबका ज्ञान कराती है। 'नाम'से बढकर 'वाणी' है, 'नाम'का ज्ञान अपनेतक रहता है, 'वाणी'द्वारा ज्ञान दूसरेतक पहुचता है। इसलिये, हे नारद ! 'वाणी'की उपासना कर।१।

परन्तु जो 'वाणी'को ब्रह्म जानकर उसकी उपासना करता है, वह जहातक वाणीकी गति है, वहीतक निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारदने पूछा, तो क्या भगवन् ! वाणीसे बढकर भी कुछ है ? ऋषिने उत्तर दिया, हा है ! नारदने कहा, तो भगवन् ! आप मुझे उसका उपदेश दीजिये।२।

वाग्वाव नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेद विज्ञापयति यजुर्वेद् साम-वेदमाथर्वण चतुर्थमितिहासपुराण पञ्चम वेदाना वेद पित्र्य् राशि दैव निधि वाकोवाक्यमेकायन देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या् सर्पदेवजनविद्या दिव च पृथिवी च वायु चाकाश चापश्च तेजश्च देवा्श्च मनुष्या्श्च पशू्श्च वया्सि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलक धर्म चाधर्म च सत्य चानृत च साधु चासाधु च हृदयज्ञ चाहृदयज्ञ च। यद्वै वाङ्ना-भविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्य नानृत न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्व विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति। १।
स यो वाच ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गत तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो वाच ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो वाचो भूय इति वाचो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति। २।

सप्तम प्रपाठक—[तीसरा खंड]

ऋषिने कहा, 'मन' (Knowing) वाणीसे बड़ा है । जैसे दो आंवले, दो बेर, या दो बहेड़े बन्द मुट्ठीमें अनुभव किये जा सकते हैं, ऐसे ही 'वाणी' तथा 'नाम' ये दोनो ही मनमें अनुभव किये जाते हैं । यह मनुष्य पहले मनमें ही तो सोचता है कि 'मन्त्र' पढ़ूं या 'कर्म' करूं—जब मनमें सोचता है, तब मन्त्र पढ़ने लगता है, कर्म करने लगता है । 'पुत्र'-'पशु'की मनमें इच्छा करता है, तो इन्हें पा लेता है, 'इसलोक' तथा 'उस-लोक'की इच्छा करता है, तो उन्हें पा लेता है । इसलिये मन ही मानो आत्मा है, मन ही मानो लोक है, मन ही मानो ब्रह्म है । 'मन'की प्रेरणासे ही 'वाणी' 'नाम'का—शब्दका—उच्चारण करती है, अतः 'मन', हे नारद ! 'वाणी' तथा 'नाम'—इन दोनोंसे बड़ा है । तू 'मन'की उपासना कर ।१।

परन्तु जो 'मन'को ब्रह्म जानकर उसकी उपासना करता है, वह जहांतक मनकी गति है, वहांतक निर्बाध गति प्राप्त करता है । नारदने पूछा, तो क्या भगवन् ! मनसे बढ़कर भी कुछ है ? ऋषिने उत्तर दिया, हां है ! नारदने कहा, तो भगवन् ! आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ।२।

सप्तम प्रपाठक—[चौथा खंड]

ऋषिने कहा, 'संकल्प' (Willing) मनसे बड़ा है । मनुष्य जब संकल्प करता है, विचारका बीज मनमें डालता है, तब मन उस

मनो वाव वाचो भूयो यथा वै द्वे वामलके द्वे वा कोले द्वौ वाक्षौ मुष्टिरनुभवत्येवं वाचं च नाम च मनोऽनुभवति । स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयीयेत्यथाधीते कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छेयेत्यथेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छेयेत्यथेच्छते मनो ह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपास्स्वेति । १ ।

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो मनो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो मनसो भूय इति मनसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति । २ ।

सकल्पका वार-बार मनन करता है, मननके बाद वह वाणीको प्रेरणा देता है, वाणी प्रेरणा पाकर नाम, अर्थात् शब्दका उच्चारण करती है। 'नाम' सपूर्ण कर्म-काडकी इकाई है, क्योकि नाममें मत्र समा जाते हैं, शब्दोके समूहको ही तो मत्र कहते है, और मत्रमें कर्म-काड समा जाता है।१।

मनसे लेकर नामतक सबका एकमात्र आधार 'सकल्प' है, सकल्प ही इनका आत्मा है, सकल्पमें ही ये निवास करते हैं। ब्रह्माड तथा पिडमें सकल्प-ही-सकल्प दिखाई देता है, द्यु तथा पृथिवीमें एक ही सकल्प दिखाई दे रहा है, देखो ये दोनो कैसे एक-दूसरेपर आश्रित है, आकाश तथा वायुमें एक ही सकल्प काम कर रहा है, पानी और तेजमें भी मानो सकल्प चल रहा है, उस सकल्पसे मानो वर्षा होती है, वर्षामें जो सकल्प काम कररहा है उससे मानो अन्न होता है, अन्नमें जो सकल्प चल रहा है उससे मानो प्राण होता है, प्राणके सकल्पसे मन्त्र, मन्त्रके संकल्पसे कर्म, कर्मके सकल्पसे लोक, लोकके सकल्पसे सब-कुछ चल रहा है। हे नारद! विश्वमें सब जगह सकल्प-ही-सकल्प है, इसलिये तू 'सकल्प' की उपासना कर।२।

जो संकल्पको ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह ध्रुव, प्रतिष्ठित तथा संताप-रहित होकर, सकल्पके ध्रुव, प्रतिष्ठित तथा संताप-रहित लोककी मानो सिद्धि प्राप्त कर लेता है, परन्तु सकल्प की जहातक गति है, वहींतक वह निर्बाध गति प्राप्त करता है।

सकल्पो वाव मनसो भूयान्यदा वै सकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति। ताम् नाम्नीरयति। नाम्नि मन्त्रा एक भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि। १।
तानि ह वा एतानि सकल्पैकायनानि सकल्पात्मकानि सकल्पे प्रतिष्ठितानि। समक्लृपता द्यावापृथिवी समकल्पेता वायुश्चाकाश च समकल्पन्तापश्च तेजश्च। तेषा सक्लृप्त्यै वर्ष सकल्पते वर्षस्य सक्लृप्त्या अन्न सकल्पतेऽन्नस्य सक्लृप्त्यै प्राणा सकल्पन्ते प्राणाना सक्लृप्त्यै मन्त्रा सकल्पन्ते मन्त्राणा सक्लृप्त्यै कर्माणि सकल्पन्ते कर्मणा सक्लृप्त्यै लोक सकल्पते लोकस्य सक्लृप्त्यै सर्व सकल्पते। स एष सकल्प सकल्पमुपास्स्वेति। २

नारदने पूछा, तो क्या भगवन् ! संकल्पसे बढ़कर भी कुछ है ? ऋषिने उत्तर दिया, हां है ! नारदने कहा, तो भगवन्, आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ।३।

सप्तम प्रपाठक—[पांचवां खंड]

ऋषिने कहा, 'चित्त' (Feeling) संकल्पसे बड़ा है । जब किसी विषयकी 'चेतना' होती है, अनुभूति होती है, तभी संकल्प उठता है । संकल्पके बाद 'मन'-'वाणी'-'नाम'-'मन्त्र'-'कर्म'का चक्कर चल पड़ता है ।१।

संकल्प-मन-वाणी आदि सबका एकमात्र आधार चित्त है, अनुभूति है, चित्त ही इनका मानो आत्मा है, चित्तमें ही इनका निवास है, इसीलिये भले ही कोई व्यक्ति 'बहुविद्' हो, पंडित हो, अगर वह चित्त-रहित होगया है, तो उसे ऐसे ही मानते हैं जैसे वह हो ही नहीं ! यदि वह कुछ जानता था, या जानता है, तो क्या इसप्रकार अचित्त होता ? वह व्यक्ति जो कुछ नहीं जानता, न होनेके बराबर है । इसके विपरीत भले ही कोई व्यक्ति 'अल्पविद्' हो, थोड़ा जानता हो, अगर वह चित्त-वान् है, तो सब उसकी बात सुनते हैं । चित्त ही इनका एकमात्र आधार है, चित्त ही आत्मा है, चित्त ही प्रतिष्ठा है, हे नारद ! तू 'चित्त'की उपासना कर ।२।

स यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते क्लृप्तान्वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रति-
ष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति यावत्संकल्पस्य
गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः
संकल्पाद्भूय इति संकल्पाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति । ३ ।

चित्तं वाव संकल्पाद्भूयो यदा वै चेतयतेऽथ संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाच-
मीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि । १ ।

जो चित्तको ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह ध्रुव, प्रतिष्ठित तथा सताप-रहित होकर चित्तके ध्रुव, प्रतिष्ठित तथा सताप-रहित लोककी मानो सिद्धि प्राप्त कर लेता है, परन्तु चित्त की जहातक गति है वहीतक वह निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारदने पूछा, तो क्या भगवन् ! चित्तमे बढकर भी कुछ है ? ऋषिने उत्तर दिया, हा है ! नारदने कहा, तो भगवन् ! आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ।३।

सप्तम प्रपाठक--[छठा खड]

ऋषिने कहा, 'ध्यान' (Concentration) चित्तसे, अनुभूतिसे बडा है। अनुभूतिया अनेक होती है, ध्यान एक होता है—एक अनुभूति का होना ध्यान है। यह पृथिवी मानो ध्यानमें लीन है, अन्तरिक्ष-द्यौ-जल-पर्वत-देव-मनुष्य—सभी मानो ध्यान-मग्न है ! ससारके नर-नारियोमें जो महत्ताको प्राप्त करते है, वे ध्यानके थोडे-बहुत अशसे ही महत्त्व प्राप्त करते है। जो लोग 'अल्प' है, तुच्छ है, वे भी ध्यानके सहारे ही कलह करते है, चुगली करते है, एक-दूसरेकी निन्दा करते है, जो लोग 'प्रभु' है, महान् है, वे भी ध्यानके थोडे-बहुत अशसे ही प्रभुता प्राप्त करते है ! हे नारद ! तू 'ध्यान'की उपासना कर ।१।

जो ध्यानको ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है वह जहातक ध्यानकी गति है वहीतक निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारदने

स यश्चित्त ब्रह्मेत्युपास्ते चित्तान्वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुव प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिद्धयति । यावच्चित्तस्य गत तत्रास्य यथाकामचारो भवति यश्चित्त ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवश्चित्ताद्भूय इति चित्ताद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति । ३ ।
ध्यान वाव चित्ताद्भूयो ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्ष ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्यास्तस्माद्य इह मनुष्याणा महत्ता प्राप्नुवन्ति ध्यानापादाँशा इवैव ते भवन्त्यथ येऽल्पा कलहिन पिशुना उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानापादाँशा इवैव ते भवन्ति ध्यानमुपास्स्वेति । १ ।

पूछा, तो क्या भगवन् ! ध्यानसे बढकर भी कुछ है ? ऋषिने उत्तर दिया, हा है ! नारदने कहा, तो भगवन् ! आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ।२।

सप्तम प्रपाठक—[सातवा खड]

ऋषिने कहा, 'विज्ञान' ध्यानसे बडा है । अनेकोमें एक अनुभूतिको ध्यान कहते है, परन्तु वह अनुभूति अच्छी या बुरी दोनो प्रकारकी हो सकती है । तभी षष्ठ खडमें कहा कि ध्यानसे हम 'अल्प', अर्थात् छोटे और 'प्रभु', अर्थात् बडे दोनो हो सकते है । विज्ञानकी सहायतासे, अल्प (छोटा) होनेके स्थानमें प्रभु (बडा) होनेके ध्यानको मनुष्य अपना लेता है । विज्ञानद्वारा ही ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेद-आथर्वण आदि, द्यु-पृथिवी-वायु-आकाश आदि, धर्म-अधर्म-सत्य-अनृत आदिका ज्ञान होता है, इसलिये हे नारद ! तू 'विज्ञान'की उपासना कर ।१।

जो विज्ञानको ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह विज्ञान तथा ज्ञान दोनो लोकोकी मानो सिद्धि प्राप्त कर लेता है, परन्तु विज्ञानकी जहातक गति है वहीतक वह निर्बाध गति प्राप्त करता है । नारदने पूछा, तो क्या भगवन् ! विज्ञानसे बढकर भी कुछ है ?

स यो ध्यान ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्ध्यानस्य गत तत्रास्य यथाकाम-चारो भवति यो ध्यान ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो ध्यानाद्भूय इति ध्यानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति । २ ।

विज्ञान वाव ध्यानाद्भयो विज्ञानेन वा ऋग्वेद विजानाति यजुर्वेद सामवेदमाथर्वण चतुर्थमितिहासपुराण पञ्चम वेदाना वेद पित्र्य राशि दैव निधि वाकोवाक्यमेकायन देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्या दिव च पृथिवी च वायु चाकाश चापश्च तेजश्च देवाश्च मनुष्याश्च पशूश्च वयासि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलक धर्म चाधर्म च सत्य चानृत च साधु चासाधु च हृदयज्ञ चाहृदयज्ञ चान्न च रस चेम च लोकममु च विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञानमुपास्स्वेति । १ ।

ऋषिने उत्तर दिया, हा है ! नारदने कहा, तो भगवन्, आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ।२।

सप्तम प्रपाठक—[आठवा खड]

ऋषिने कहा, 'वल' विज्ञानसे वडा है । विज्ञान तो मानसिक है, वल शारीरिक-मानसिक-आत्मिक सभी प्रकारका है । एक वलवान् भी विज्ञानवानोको कपा देता है । विज्ञानवान् जव वलवान् होता है, तव कुछ करनेको उठ खडा होता है, जव उठ खडा होता है, तव किसी गुरुकी सेवामें पहुचता है, गुरु-सेवासे वह गुरुके निकट पहुच जाता है, उसका प्रिय हो जाता है, फिर उसे गुरु-प्रसाद मिलता है जिससे वह तत्त्व-ज्ञानका 'द्रष्टा', 'श्रोता', 'मन्ता', 'वोद्धा', 'कर्त्ता', और 'विज्ञाता' हो जाता है ।१।

वलसे ही पृथिवी ठहरी हुई है, वलसे आकाश, वलसे द्यु-लोक, वलसे पर्वत, वलसे देव और मनुष्य, वलसे पशु-पक्षी-तृण-वनस्पति-श्वापद-कीट-पतग-पिपीलिका ठहरेहुए हैं । भगवान्के नियम-रूपी वलसे सब लोक अपनी मर्यादामें स्थित हैं । हे नारद ! तू 'वल'की उपासना कर ।२।

स यो विज्ञान ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै स लोकाञ्ज्ञानवतो-ऽभिसिध्यति यावद्विज्ञानस्य गत तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो विज्ञान ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो विज्ञानाद्भूय इति विज्ञानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति । २ ।

वल वाव विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शत विज्ञानवतामेको वलवानाकम्पयते स यदा वली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठन्परिचरिता भवति परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन्द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवन्ति वोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति । १ ।

वलेन वै पृथिवी तिष्ठति वलेनान्तरिक्ष वलेन द्यौर्वलेन पर्वता वलेन देवमनुष्या वलेन पशवश्च वयासि च तृणवनस्पतय श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलक वलेन लोकस्तिष्ठति वलमुपास्स्वेति । २ ।

जो बलको ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह बलकी जहातक गति है वहींतक निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारदने पूछा, तो क्या भगवन् ! बलसे बढकर भी कुछ है ? ऋषिने उत्तर दिया, हा है ! नारदने कहा, तो भगवन्, आप मुझे उसका उपदेश दीजिये।३।

सप्तम प्रपाठक—[नौवा खड]

ऋषिने कहा, 'अन्न' बलसे बडा है। इसीलिये अगर कोई दस राततक कुछ न खाये, उसके बाद अगर जीता रहे, तो वह 'अद्रष्टा'-'अश्रोता'-'अमन्ता'-'अबोद्धा'-'अकर्ता'-'अविज्ञाता' हो जाता है—उसका मन काम करना छोड देता है, पर जब उसे अन्न प्राप्त होजाता है, तब वह फिरसे देखने, सुनने, मानने, जानने, काम करने और समझनेवाला बन जाता है। हे नारद ! तू 'अन्न'की उपासना कर।१।

जो अन्नको ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह अन्न और पानके लोकोंकी मानो सिद्धि प्राप्त कर लेता है, परन्तु अन्नकी जहा-तक गति है वहीतक वह निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारदने पूछा, तो क्या भगवन् ! अन्नसे बढकर भी कुछ है ? ऋषिने उत्तर दिया, हा है ! नारदने कहा, तो भगवन्, आप मुझे उसका उपदेश दीजिये।२।

सप्तम प्रपाठक—[दसवा खड]

ऋषिने कहा, 'जल' अन्नसे बडे है। तभी जब वृष्टि अच्छी नहीं

स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्बलस्य गतं तत्रास्य यथाकाम-
चारो भवति यो बलं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो बलाद्भूय
इति बलाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति । ३ ।
अन्नं वाव बलाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि दश रात्रीर्नाश्नीयाद्यद्यु ह जीवेदथवाऽद्रष्टा-
ऽश्रोताऽमन्ताऽबोद्धाऽकर्ताऽविज्ञाता भवत्यथान्नस्यायै द्रष्टा भवति श्रोता
भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवत्यन्नमुपास्स्वेति । १ ।
स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान्पानवतोऽभिसिध्यति
यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति
भगवोऽन्नाद्भूय इत्यन्नाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति । २ ।

होती, तो प्राण यह सोचकर दु खी होते हैं कि इस बार अन्न थोडा होगा , और जब अच्छी वृष्टि होती है, तो प्राण यह सोचकर आनन्द मनाते हैं कि इस बार अन्न बहुत होगा। जल ही मानो मूर्त-रूप धारण करके हमारे सामने खडे हैं—ये पृथिवी, आकाश, द्यौ, ये पर्वत, ये देव और मनुष्य, ये पशु-पक्षी-तृण-वनस्पति-श्वापद-कीट-पतग-पिपीलिका—ये सब मूर्त-रूप धारण किये मानो जल ही हैं। हे नारद ! तू 'जल'की उपासना कर ।१।

जो जलको ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह सब कामनाओको पा जाता है, तृप्त होजाता है, परन्तु जलकी जहातक गति है वहीतक वह निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारदने पूछा, तो क्या भगवन् ! जलसे बढकर भी कुछ है ? ऋषिने उत्तर दिया, हा है ! नारदने कहा, तो भगवन्, आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ।२।

सप्तम प्रपाठक—[ग्यारहवा खड]

ऋषिने कहा, 'तेज' जलसे बडा है। यह तेज ही जब वायुको साथ लेकर आकाशको तपाता है तब सब कह उठते हैं, सूखा पड रहा है, तपिश बढ रही है, अवश्य बरसेगा। तेज पहले अपने करतब दिखलाकर जलकी सृष्टि करता है। तेज ही ऊपर तिरछी बिजलियो के साथ गर्जनाए करताहुआ चलता है। यह देखकर लोग कह उठते हैं, चमक रहा है, गरज रहा है, अब बरसेगा—यह तेज ही अपना

आपो वावान्नाद्भूयस्तस्माद्यदा सुवृष्टिर्न भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्न कनीयो भविष्यतीत्यथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिन प्राणा भवन्त्यन्न बहु भविष्यतीत्याप एवेमा मूर्ता येय पृथिवी यदन्तरिक्ष यद् द्यौर्यत्पर्वता यद्देवमनुष्या यत्पशवश्च वयाँसि च तृणवनस्पतय श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकमाप एवेमा मूर्ता अप उपास्स्वेति । १ ।
स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति सर्वान्कामाँस्तृप्तिमान्भवति यावदपा गत तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽपो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽद्भ्यो भूय इत्यद्भ्यो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति । २ ।

रूप प्रकटकर फिर जलकी सृष्टि करता है। हे नारद ! तू 'तेज'की उपासना कर ।१।

जो तेजको ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह स्वयं तेजस्वी होजाता है, तेजवान्-प्रकाशमान्-अन्धकार रहित लोकोको मानो वह सिद्धि प्राप्त कर लेता है, परन्तु तेजकी जहातक गति है वहीतक वह निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारदने पूछा, तो क्या भगवन् ! तेजसे बढकर भी कुछ है ? ऋषिने उत्तर दिया, हा है ! नारदने कहा, तो भगवन्, आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ।२।

सप्तम प्रपाठक--[बारहवा खड]

ऋषिने कहा, 'आकाश' तेजसे बडा है। आकाश तेजका आश्रय-स्थान जो ठहरा। आकाशमें ही सूर्य और चन्द्र ये दोनो है, आकाशमें ही विद्युत्, नक्षत्र और अग्नि है। आकाशसे पुकारा जाता है, आकाश से सुना जाता है, आकाशसे उत्तर दिया जाता है, आकाशमें रमण होता है या नही होता, आकाशमें पैदा होते है, अकुर आकाशकी तरफ फूटते है। हे नारद ! तू 'आकाश'की उपासना कर ।१।

जो आकाशको ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह प्रकाश-

तेजो वावाद्भ्यो भूयस्तद्वा एतद्वायुमागृह्याकाशमभितपति तदाहुर्निशोचति नितपति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते तदेतदूर्ध्वाभिश्च तिरश्चीभिश्च विद्युद्भिरा-ह्रादाश्चरन्ति। तस्मादाहुर्विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा इति। तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते तेज उपास्स्वेति । १ ।

स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते तेजस्वी वै स तेजस्वतो लोकान्भास्वतोऽ-पहततमस्कानभिसिध्यति यावत्तेजसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवस्तेजसो भूय इति तेजसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति । २ ।

आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशे वै सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्य-ग्निराकाशेनाह्वयत्याकाशेन शृणोत्याकाशेन प्रतिशृणोत्याकाशे रमत आकाशे न रमत आकाशे जायत आकाशमभिजायत आकाशमुपास्स्वेति । १ ।

वाले और आकाशवाले, खुले, बाधा-रहित, विशाल लोकोंकी मानो सिद्धि प्राप्त कर लेता है, परन्तु आकाशकी जहांतक गति है वहींतक वह निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारदने पूछा, तो क्या भगवन्! आकाशसे बढकर भी कुछ है? ऋषिने उत्तर दिया, हां है! नारदने कहा, तो भगवन्, आप मुझे उसका उपदेश दीजिये।२।

सप्तम प्रपाठक—[तेरहवां खंड]

ऋषिने कहा, 'स्मृति' आकाशसे बडी है। आकाशमें तो शब्द आता है और चला जाता है, स्मृतिमें तो शब्द स्थिर होकर बैठ जाता है। अगर किसी स्थानपर अनेक व्यक्ति आकर बैठ जांय, स्मरण-शक्ति किसीमें न हो, तो पास-पास बैठेहुए भी वे एक-दूसरेकी बात न सुन सकेंगे, न जान सकेंगे, न समझ सकेंगे। हां, अगर उनकी स्मरण-शक्ति लौट आये, तो वे एक-दूसरेकी बात सुन सकेंगे, जान सकेंगे, समझ सकेंगे। प्राणी स्मृति-शक्तिद्वारा ही पुत्रोंको, पशुओंको पहचानता है। हे नारद! तू 'स्मृति'की उपासना कर।१।

जो 'स्मृति'को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह स्मृति की जहांतक गति है वहींतक निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या भगवन्! स्मृतिसे बढकर भी कुछ है? ऋषिने उत्तर दिया, हां है! नारदने कहा, तो भगवन्, आप मुझे उसका उपदेश दीजिये।२।

स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्त आकाशवतो वै स लोकान्प्रकाश-वतोऽसंबाधानुरुगायवतोऽभिसिद्धयति। यावदाकाशस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आकाशाद्भूय इत्याकाशाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति। २।

स्मरो वावाकाशाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि बहव आसीरन्नस्मरन्तो नैव ते कंचन शृणुयुर्न मन्वीरन्न विजानीरन्। यदा वाव ते स्मरेयुरथ शृणुयुरथ मन्वीरन्नथ विजानीरन् स्मरेण वै पुत्रान्विजानाति स्मरेण पशून् स्मरमुपास्स्वेति। १।

स य स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत्स्मरस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य स्मरं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव स्मराद्भूय इति स्मराद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति। २।

सप्तम प्रपाठक—[चौदहवां खंड]

ऋषिने कहा, 'आशा' स्मृतिसे बडी है। स्मृतिका 'भूत'से संबंध है, आशा स्मृतिको साथ लेकर 'भविष्यत्'से संबंध जोडती है। आशासे प्रदीप्त होकर ही स्मृति मंत्रोंका स्मरण करती है, आशासे ही मनुष्य कर्म करता है, आशासे ही पुत्र-पशु, इस लोक उस लोककी इच्छा करता है। हे नारद! तू 'आशा'की उपासना कर।१।

जो 'आशा'को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, उसकी सब कामनाएँ आशासे भी बढकर पूर्ण होती हैं, उसके सब आशीर्वाद अमोघ होते हैं, फलते हैं, परन्तु जहांतक आशाकी गति है वहींतक वह निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारदने पूछा, तो क्या भगवन्! आशासे बढकर भी कुछ है? ऋषिने उत्तर दिया, हां है! नारदने कहा, तो भगवन्, आप मुझे उसका उपदेश दीजिये।२।

सप्तम प्रपाठक—[पन्द्रहवां खंड]

ऋषिने कहा, 'प्राण' आशासे बडा है। आशा भी तो प्राणके लिये—जीवनके लिये—ही होती है। जिस प्रकार अरे चक्रकी नाभिमें अर्पित होते हैं, इसीप्रकार 'नाम'से लेकर 'आशा' तक सब अरे प्राण-रूपी चक्रमें समर्पित हैं। सब-कुछ प्राणके सहारे चल रहा है, प्राणको लक्ष्यमें रखकर चल रहा है, प्राणकेलिये चल रहा है। प्राण ही पिता है, प्राण माता है, प्राण भ्राता है, प्राण भगिनी है, प्राण आचार्य है, प्राण ब्राह्मण है।१।

आशा वाव स्मराद्भूयस्याशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते कर्माणि कुरुते
पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छत आशामुपास्स्वेति ।१।
स य आशां ब्रह्मेत्युपास्त आशयास्य सर्वे कामाः समृध्यन्त्यमोघा
हास्याशिषो भवन्ति । यावदाशाया गतं तत्रास्य यथाकाम-
चारो भवति य आशां ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आशाया भूय
इत्याशाया वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ।२।
प्राणो वा आशाया भूयान्यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एव-
मस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितं प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं
ददाति प्राणाय ददाति प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो
भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः ।१।

अगर कोई जीवित पिताको, माताको, भाईको, बहिनको, आचार्य को, ब्राह्मणको—कुछ अनुचित-सा कह भी दे तो लोग कहते हैं, धिक्कार है तुझे ! तू 'पितृहा' है, 'मातृहा', 'भ्रातृहा', 'स्वसृहा,' 'आचार्यहा', 'ब्राह्मणहा' है ।२।

परन्तु अगर प्राण निकलनेके बाद इन्हें शरीर-सहित कोई अग्निमें भस्म कर दे, और शूलसे उलट-पलट करे, तो कोई नहीं कहता कि तू 'पितृहा'-'मातृहा'-'भ्रातृहा'-'स्वसृहा'-'आचार्यहा'-'ब्राह्मणहा' है ।३।

प्राण ही तो यह सब-कुछ है । जो इसप्रकार देखता है, इसप्रकार मानता है, इसप्रकार जानता है—'नाम'से प्रारंभ कर 'प्राणतक' पहुंच जाता है, उसे 'अतिवादी' कहते हैं, वह आगे ही-आगे बढ रहा है, कहीं अटकता नहीं, जहां पहुंचता है उससे आगेकी बात करने लगता है । अगर ऐसे व्यक्तिको कोई कहे कि तू तो 'अतिवादी' है, बहुत बातें करता है, बकवादी है, तो उसे यही उत्तर दे कि मैं आगे-ही आगे बढना चाहता हूं—इस दृष्टिसे 'अतिवादी' हूं, इस बातको छिपाता नहीं हूं, हां बकवादी होनेके कारण 'अतिवादी' नहीं हूं ।४।

सप्तम प्रपाठक—[सोलहवां खंड]

ऋषिने कहा, यथार्थमें 'अतिवादी' तो वह है जो आगे-ही-आगे बढतेहुए 'सत्य'का 'अतिवादी' बन जाय। नारदने कहा, तो भगवन् !

स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वाचार्यं वा ब्राह्मणं वा किंचिद्भृशमिव प्रत्याह धिक्त्वाऽस्त्वित्येवैनमाहुः पितृहा वै त्वमसि मातृहा वै त्वमसि भ्रातृहा वै त्वमसि स्वसृहा वै त्वमस्याचार्यहा वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै त्वमसीति । २ ।

अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्तप्राणान् शूलेन समासं व्यतिषंदहेन्नैवैनं ब्रूयुः पितृहाऽसीति न मातृहाऽसीति न भ्रातृहाऽसीति न स्वसृहाऽसीति नाचार्यहाऽसीति न ब्राह्मणहाऽसीति । ३ ।

प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति । स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति तं चेद्ब्रूयुरतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत । ४ ।

मुझे 'सत्य'से 'अतिवादी' बना दीजिये। ऋषिने कहा, तुझे सत्यके ही जाननेकी इच्छा करनी चाहिये। नारदने कहा, तो भगवन्! मुझे 'सत्य'का उपदेश दीजिये।१।

सप्तम प्रपाठक--[सत्रहवा खड]

ऋषिने कहा, 'सत्य' वही बोलता है जिसे 'ज्ञान' होता है, जिसे 'ज्ञान' नहीं होता वह 'सत्य' नहीं बोलता, इसलिये तुझे 'सत्य'केलिये 'ज्ञान'की, अर्थात् 'विज्ञान'के जाननेकी इच्छा करनी चाहिये। नारदने कहा, तो भगवन्, मुझे 'विज्ञान'का उपदेश दीजिये।१।

सप्तम प्रपाठक--[अठारहवा खड]

ऋषिने कहा, 'विज्ञान' उसीको प्राप्त होता है जो 'मनन' करता है, जो 'मनन' नहीं करता वह समझता भी कुछ नही, मनन करनेसे ही समझता है, इसलिये तुझे 'मति'के जाननेकी इच्छा करनी चाहिये। नारदने कहा, तो भगवन्, मुझे 'मति'का उपदेश दीजिये।१।

सप्तम प्रपाठक--[उन्नीसवा खड]

ऋषिने कहा, 'मति' उसीको प्राप्त होती है जो 'श्रद्धा' करता है, बिना 'श्रद्धा'के 'मनन' नही होता, 'श्रद्धा'वाला ही 'मनन' करता है, इसलिये तुझे 'श्रद्धा'के जाननेकी इच्छा करनी चाहिये। नारदने कहा, तो भगवन्, मुझे 'श्रद्धा'का उपदेश दीजिये।१।

एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति। सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति। सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। सत्यं भगवो विजिज्ञास इति। १।

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति। नाविजानन् सत्यं वदति। विजानन्नेव सत्यं वदति। विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति। १।

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति। नामत्वा विजानाति मत्वैव विजानाति। मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति। मतिं भगवो विजिज्ञास इति। १।

यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते। नाश्रद्दधन्मनुते। श्रद्दधदेव मनुते। श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति। १।

सप्तम प्रपाठक—[बीसवां खंड]

ऋषिने कहा, 'श्रद्धा' उसीको प्राप्त होती है जो 'निष्ठा'वाला होता है, बिना 'निष्ठा'के 'श्रद्धा' नहीं होती, 'निष्ठा'से ही 'श्रद्धा' उत्पन्न होती है, इसलिये तुझे 'निष्ठा'के जाननेकी इच्छा करनी चाहिये। नारदने कहा, तो भगवन्, मुझे 'निष्ठा'का उपदेश दीजिये ।१।

सप्तम प्रपाठक—[इक्कीसवां खंड]

ऋषिने कहा, 'निष्ठा' उसीको प्राप्त होती है जो 'कर्मण्य' होता है, बिना 'कर्मण्यता'के 'निष्ठा' नहीं होती, 'कृति-भाव'से ही 'निष्ठा' प्राप्त होती है, इसलिये तुझे 'कृति'के जाननेकी इच्छा करनी चाहिये। नारदने कहा, तो भगवन्, मुझे 'कृति'का उपदेश दीजिये ।१।

सप्तम प्रपाठक—[बाईसवां खंड]

ऋषिने कहा, 'कृति' अर्थात् 'कर्मण्यता'मे भी तभी प्रेरणा मिलती है जब 'सुख' प्राप्त होता है, बिना 'सुख'के कोई कुछ नहीं करता, सुख मिलनेसे ही मनुष्य कर्ममें प्रवृत्त होता है, इसलिये तुझे 'सुख'के जाननेकी इच्छा करनी चाहिये। नारदने कहा, तो भगवन्, मुझे 'सुख'का उपदेश दीजिये ।१।

सप्तम प्रपाठक—[तेईसवां खंड]

ऋषिने कहा, 'यो वै भूमा तत्सुखम्'—जो 'भूमा' है, असीम है, निरतिशय है, महान् है, वही सुख है, 'नाल्पे सुखमस्ति'—जो 'अल्प' है, ससीम है, परिमित है, क्षुद्र है, उसमें सुख नही है। 'भूमा ही

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति । नानिस्तिष्ठञ्छ्रद्दधाति । निस्तिष्ठन्नेव स श्रद्दधाति । निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति । निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति । १ ।

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति । नाकृत्वा निस्तिष्ठति । कृत्वैव निस्तिष्ठति । कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति । कृतिं भगवो विजिज्ञास इति । १ ।

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति । नासुखं लब्ध्वा करोति । सुखमेव लब्ध्वा करोति । सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति । सुखं भगवो विजिज्ञास इति । १ ।

सुख है', इसलिये 'भूमा'को जाननेकी इच्छा करनी चाहिये। नारदने कहा, तो भगवन्, मुझे 'भूमा'का उपदेश दीजिये।१।

सप्तम प्रपाठक--[चौबीसवां खंड]

ऋषिने कहा, जिस परम-शुद्ध अवस्थामें आत्मा अन्य वस्तुको न देखता है, न सुनता है, न जानता है, वही 'भूमा' है, जहां आत्मा अन्य वस्तुको देखता है, सुनता है, जानता है, वही 'अल्प' है। जो 'भूमा' है वह 'अमृत' है, जो 'अल्प' है वह 'मर्त्य' है---मरण-धर्मा है। नारदने पूछा, भगवन्! यह 'भूमा' किसमें प्रतिष्ठित है? ऋषिने उत्तर दिया, भूमा अपनी ही महिमामें प्रतिष्ठित है। या यह कहें कि वह महिमामें भी प्रतिष्ठित नहीं है? ।१।

इस लोकमें गाय, घोड़े, हाथी, सोना, दास, पत्नी, भूमि और घर--इनको 'महिमा' कहा जाता है, परन्तु मैं इन्हें 'महिमा' नहीं कहता। ऋषिने कहा, मैं तो कहता हूं, ये एक-दूसरेमें प्रतिष्ठित हैं---वह क्या 'महिमा' जो किसी दूसरेमें प्रतिष्ठित हो, किसी दूसरेके सहारे खड़ी हो।२।

सप्तम प्रपाठक--[पच्चीसवां खंड]

'भूमा' किसीमें प्रतिष्ठित नहीं, वही नीचे है, वही ऊपर है, वह पीछे है, सामने है, दाएं है, बाएं है---'स एवेदं सर्वं', वही यह सब-कुछ है। भगवान्‌के इस 'भूमा' रूपको दर्शन करनेके बाद भक्त अपने को भूमा-रूपमें ही देखने लगता है--यही 'अहंकारादेश' है। जैसे

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति। भूमानं भगवो विजिज्ञास इति।१।

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृ-णोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यं स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति।१।

गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति। नाहमेवं ब्रवीमि। ब्रवीमीति होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति।२।

'भूमा'को भक्त सब जगह देखने लगता है, वैसे 'अह'को—अपनेको—भी नीचे, ऊपर, पीछे, सामने, दाए, बाए—सब जगह देखने लगता है, वह अनुभव करता है, 'अहमेवेद सर्व'—मै ही यह सब-कुछ हू, मै स्वल्प नही हू, महान् हू ।१।

इसके बाद 'आत्मा'में 'स' और 'अह'का—'वह' और 'मै' का,'उसका' और 'मेरा'—यह सब भेद मिट जाता है, यही 'आत्मादेश' है । भक्त अनुभव करता है कि आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, पीछे आत्मा है, आगे आत्मा है, दाए आत्मा है, बाए आत्मा है, 'आत्मैवेद सर्व'—आत्मा ही यह सब-कुछ है । हमारी दृष्टि शरीरपर पडती है, हम शरीरको सब-कुछ समझते है, उसकी दृष्टि आत्मापर पडती है, वह आत्माको सब-कुछ समझने लगता है । वह ऐसा देखकर, ऐसा मानकर, ऐसा जानकर आत्मामें रत हो जाता है, आत्मामें खेलने लगता है, आत्माकेसाथ जुड जाता है, आत्मानन्द हो जाता है, वह 'स्वराट्' हो जाता है—अपने भीतरके प्रकाशसे चमक उठता है । उसकी सब लोकोमें निर्बाध गति हो जाती है, परन्तु जो इससे भिन्न मार्गका अवलम्बन करते है, भगवान्के 'भूमा-रूप'के साथ 'अह-रूप'का 'आत्म-रूप'में समन्वय नहीं करते, वे विनाश-शील लोकोको जाते है, उनकी सब लोकोमें निर्बाध गति नहीं होती ।२।

सप्तम प्रपाठक—[छब्बीसवा खड]

जो व्यक्ति 'भूमा' रूपको अपने आत्मामें देख लेता है, मान लेता

स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणत स उत्तरत स एवेदँ सर्वमित्यथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादह पश्चादह पुरस्तादह दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदँ सर्वमिति ।१। अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदँ सर्वमिति । स वा एष एव पश्यन्नेव मन्वान एव विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्द स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषाँ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ।२।

है, जान लेता है, उसे इस बातका प्रत्यक्ष हो जाता है कि आत्मासे ही 'प्राण'का विकास है, आत्मासे ही 'आशा'का जन्म है, आत्मासे ही 'स्मृति'का प्रकाश है, आत्मासे ही 'आकाश', आत्मासे ही 'तेज', आत्मासे ही 'जल', आत्मासे ही 'जन्म और मृत्यु', आत्मासे ही 'अन्न', आत्मासे ही 'बल', आत्मासे ही 'विज्ञान', आत्मासे ही 'ध्यान', आत्मासे ही 'चित्त', आत्मासे ही 'संकल्प', आत्मासे ही 'मन' और आत्मासे ही 'कर्म'का उदय है—आत्मासे ही सब-कुछ उत्पन्न हुआ है ।१।

किसीने कहा है—जो आत्माके 'भूमा' रूपको देख लेता है, वह मृत्युको नहीं देखता, रोगको नहीं देखता, दुःखको नही देखता । 'भूमा'का साक्षात् करनेवाला सब-कुछ देख लेता है, सब तरहसे सब-कुछ पा लेता है, उसकेलिये कुछ बच नही रहता । वह पहले एक रूपमें होता है, फिर तीन रूपोंमें आजाता है, फिर पांच, सात, नौ और ग्यारह रूपोंमें विकासके मार्गपर चल पड़ता है । बढ़ता-बढ़ता एक-सौ दस, बीस हज़ार एक, और फिर अनन्त भेदोंवाला होजाता है । इस भेद-मार्गमेंसे निकलकर आत्म-रूपमें आनेकेलिये पहले 'आहार-शुद्धि' आवश्यक है । इन्द्रियोंके विषय ही आहार हैं । आहार-शुद्धि होनेपर 'सत्त्व-शुद्धि' होजाती है, अन्तःकरणकी मलिनता दूर हो जाती है, अन्तःकरणकी शुद्धिसे 'ध्रुव-स्मृति' होती है, अपने ध्रुव—'भूमा'—रूपका स्मरण हो आता है, अपने ध्रुव-रूपका स्मरण हो आनेपर सब गांठें खुलजाती हैं । इसप्रकार भगवान् सनत्कुमारने नारद मुनिके मानसिक मलका मर्दनकरके, अन्धकार-रूपी नदीके पार लेजाकर,

---

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशाऽऽत्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामाऽऽत्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदं सर्वमिति ।१।

उसे आत्माके 'भूमा' रूपका दर्शन करा दिया, इसलिये सनत्कुमार ऋषिको 'स्कन्द' भी कहते हैं, 'स्कन्द' भी कहते हैं ।२।

(वर्तमान-मनोवैज्ञानिक मनके तीन विभाग करते हैं, 'ज्ञान', 'इच्छा', 'कृति' जिन्हें अंग्रेजीमें Knowing, Feeling, Willing कहते हैं। ऋषिने इस उपाख्यानमें 'मन'-'संकल्प'-'चित्त' शब्दका इन्हीं तीनों-केलिये प्रयोग किया है। इस उपदेशमें ऋषि एक शृंखलामें चलते-हुए पहले नारदको उच्चतम 'मानसिक-स्तर'पर लेगये हैं, फिर वहां से 'भौतिक-स्तर'पर लेआये हैं, क्योंकि मानसिकका आधार भौतिक ही तो है। फिर भौतिकसे उठाकर वे नारदको 'आत्मिक-स्तर'पर लेगये हैं, जिसमें 'सत्य'-'विज्ञान'-'मति'-'श्रद्धा'-'निष्ठा'-'कृति'-'सुख'-'भूमा'-'अहंकारादेश'-'आत्मादेश'का वर्णन है, और इस 'आत्मिक-स्तर'से फिर उसे 'भौतिक-स्तर'पर लेआये हैं, क्योंकि सत्त्व-शुद्धि आहार-शुद्धिके विना नहीं होती। जो लोग भौतिकको मानसिक तथा आत्मिकसे पृथक करते हैं, उनकेलिये ऋषि सनत्कुमारके उपाख्यानमें विशेष शिक्षा भरी हुई है।)

अष्टम प्रपाठक—[पहला खंड]

('हृदयाकाश'में ब्रह्मको ढूंढो, १ से ६ खंड)

ब्रह्म 'भूमा'-रूप है, यह पहले कहा। परन्तु उसे कहां ढूंढें—इस प्रश्नका उत्तर देतेहुए ऋषि कहते हैं—

यह शरीर ब्रह्मकी नगरी है—'ब्रह्म-पुर' है, इसमें एक 'दहर', अर्थात् छोटा-सा कमलके सदृश हृदय-रूपी मन्दिर है, इस छोटे-से

तदेष श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखतां सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः इति स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादश स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिराहारशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ भगवान् सनत्कुमारस्तं स्कन्द इत्याचक्षते तं स्कन्द इत्याचक्षते । २ ।

हृदय-मन्दिरमें छोटा-सा हृदयाकाश है, उस आकाशके भीतर जो छिपा है, उसे खोजना चाहिये, उसे जानना चाहिये ।१।

अगर कोई कहे कि इस छोटी-सी ब्रह्म-पुरीमें कहा तो छोटा-सा कमलके सदृश हृदय-रूपी मन्दिर, कहा उस छोटे-से हृदय-रूपी-मन्दिरमें छोटा-सा हृदयाकाश । उस आकाशमें क्या पडा है जिसे तुम कहते हो, उसे खोजना चाहिये, उसे जानना चाहिये ।२।

तो, ऐसी शका करनेवालेको उपासक उत्तर दे—अरे, जितना वडा यह आकाश तुम्हें दीख रहा है उतना वडा यह हृदय-मन्दिरके भीतरका आकाश है, जैसे ये द्यु और पृथिवी आकाशके भीतर मानो किसीने ठीक स्थानपर रख-से दिये है, वैसे ही ये हृदयाकाशमें भी समाहित है । अग्नि और वायु, सूर्य और चन्द्र, विद्युत् और नक्षत्र, वर्तमान और भूत-भविष्यत्—ये सव जैसे ब्रह्माडमें दिखाई दे रहा है, वैसे ही पिडके हृदयाकाशमें भी वर्तमान है ।३।

इसपर अगर कोई कह उठे कि यदि शरीर रूपी इस ब्रह्म-पुरीमें सव-कुछ समायाहुआ है, सव 'भूत', सव 'कामनाए', तो जव यह शरीर-रूपी ब्रह्म-पुरी जरा-जीर्ण होजाती है, या जव इसका ध्वस हो जाता है, तव इन 'भूतो', इन 'कामनाओ'का क्या वच रहता है ? ।४।

ऐसी शका करनेवालेको उपासक उत्तर दे—अरे, इस शरीरके जरा-जीर्ण होनेपर वह हृदयाकाशमें रहनेवाला जीर्ण नहीं होता, न

ॐ अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहर पुण्डरीक वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश स्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्य तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ।१।

त चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहर पुण्डरीक वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्य यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति स ब्रूयात् ।२।

शरीरके नाशसे उसका नाश होता है । यह हृदयाकाश झूठा नहीं, सच्चा ब्रह्म-पुर है, इसमें पहुचकर सब कामनाए पूर्ण होजाती है । इस हृदयाकाशमें निवास करनेवाला आत्मा पापोसे अलग है, जरा और मृत्युसे छूटाहुआ है, भूख और प्याससे परे है, सत्य-काम और सत्य-सकल्प है । जैसे प्रजाए राजाके शासनके अनुसार जब अपने-अपने काममें जुट जाती है, तब जिस-जिस प्रदेश, जनपद या क्षेत्रकी कामना करती है, वह-वह उन्हें राजाके अनुग्रहसे प्राप्त होजाता है, ऐसे ही मनुष्य जब हृदयाकाशमें बसनेवाले आत्माके आदेशके अनुसार अपने जीवनमें जुट जाता है, तब आत्माके अनुग्रहसे उसकी कामनाए पूर्ण होजाती है ।५।

और, जैसे इस लोकमें अपने कर्मसे, अपनी भुजाओसे उपार्जित सम्पत्ति, फल भोग लेनेके बाद क्षीण होजाती है, अर्थात् कर्मोसे जीता हुआ 'कर्मजित्-लोक' समाप्त होजाता है, वैसे ही उस लोकमें दानादि पुण्य-कर्मोसे उपार्जित--'पुण्यजित्-लोक' भी, फल भोग लेनेके बाद समाप्त होजाता है । जो इस जन्ममें 'आत्मा'को, और आत्माकी सच्ची कामनाओको ढूढे बिना परलोकको चल देते है, उनकी सब लोकोमें निर्बाध गति नहीं होती , जो इस जन्ममें 'आत्मा'को, और आत्माकी सच्ची कामनाओको पाकर इस लोकसे कूच करते है, उनकी सब लोकोमें निर्बाध गति होती है ।६।

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्य ब्रह्मपुरमस्मिन्कामा समाहिता एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपास सत्यकाम सत्यसकल्पो यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासन य यमन्त-मभिकामा भवन्ति य जनपद य क्षेत्रभाग त तमेवोपजीवन्ति ।५।
तद्यथेह कर्मजितो लोक क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोक क्षीयते तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवत्यथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतां-श्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । ६ ।

अष्टम प्रपाठक—[दूसरा खड]

आत्माको पा लेनेवालेकेलिये कही बाहर भटकनेकी आवश्यकता नहीं होती, वह सब कामनाओको आत्मामे पा लेता है। अगर उसे 'पितृ-लोक'की कामना होती है, तो उसके सकल्प-मात्रसे इसे चारोतरफ पितृ-रूपके दर्शन होने लगते है, और वह 'पितृ-लोक'से सम्पन्न होकर अपनेको महिमाशाली अनुभव करता है।१।

यदि उसे 'मातृ-लोक'की कामना होती है, तो उसके सकल्पमात्रसे उसे चारोतरफ माताए-ही-माताए दीख पडती है, और वह 'मातृ-लोक' से सम्पन्न होकर अपनेको महिमाशाली अनुभव करता है।२।

यदि उसे 'भ्रातृ-लोक'की कामना होती है, तो उसके सकल्प-मात्रसे उसे चारोतरफ भाई-ही-भाई नज़र आने लगते है, और वह 'भ्रातृ-लोक'से सम्पन्न होकर अपनेको महिमाशाली अनुभव करता है।३।

यदि उसे 'स्वसृ-लोक'की कामना होती है, तो उसके सकल्प-मात्र से उसे चारोतरफ बहिन-ही-बहिन दिखाई देती है, और वह 'स्वसृ-लोक'से सम्पन्न होकर अपनेको महिमाशाली अनुभव करता है।४।

यदि उसे 'सखि-लोक'की कामना होती है, तो उसके सकल्प-मात्रसे उसे सर्वत्र सखा-ही-सखा दिखाई देते है, और वह 'सखि-लोक'मे सम्पन्न होकर अपनेको महिमाशाली अनुभव करता है।५।

स यदि पितृलोककामो भवति सकल्पादेवास्य पितर समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन सपन्नो महीयते । १ ।

अथ यदि मातृलोककामो भवति सकल्पादेवास्य मातर समुत्तिष्ठन्ति तेन मातृलोकेन सपन्नो महीयते । २ ।

अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति सकल्पादेवास्य भ्रातर समुत्तिष्ठन्ति तेन भ्रातृलोकेन सपन्नो महीयते । ३ ।

अथ यदि स्वसृलोककामो भवति सकल्पादेवास्य स्वसार समुत्तिष्ठन्ति तेन स्वसृलोकेन सपन्नो महीयते । ४ ।

अथ यदि सखिलोककामो भवति सकल्पादेवास्य सखाय समुत्तिष्ठन्ति तेन सखिलोकेन सपन्नो महीयते । ५ ।

यदि उसे 'गन्ध-माल्य-लोक'की कामना होती है, तो उसके संकल्प-मात्रसे उसे सब जगह गन्ध और मालाका ही अनुभव होता है, और वह 'गन्ध-माल्य-लोक'से सम्पन्न होकर महिमाशाली हो जाता है ।६।

यदि उसे 'अन्न-पान-लोक'की कामना होती है, खाने-पीनेमें ही मजा लेना चाहता है, तो उसके संकल्प-मात्रसे खान-पानकी वस्तुए एकत्रित हो जाती है, और वह 'अन्न-पान-लोक' से सम्पन्न होकर गौरव अनुभव करता है ।७।

यदि उसे 'गीत-वादित्र-लोक'की कामना होती है, तो उसके संकल्प-मात्रसे गाना-बजाना उठ पडता है, और वह 'गीत-वादित्र-लोक'से सम्पन्न होकर महिमा पा लेता है ।८।

यदि उसे 'स्त्री-लोक'की कामना होती है, तो उसके संकल्प-मात्रसे स्त्रियां-ही-स्त्रिया प्रकट हो जाती है, और वह 'स्त्री-लोक'से सम्पन्न होकर अपनेको गौरवशाली अनुभव करता है ।९।

संक्षेपमें, जिस-जिस विषयको वह चाहता है, जिस-जिस विषयकी कामना करता है, वह इसके संकल्प-मात्रसे उठ खडा होता है, और वह उससे सम्पन्न होकर महिमा अनुभव करता है ।१०।

अष्टम प्रपाठक—[तीसरा खड]

तो यह क्या है ? यह स्त्रीकी कामना, गन्ध-माल्य और गीत-

अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतस्तेन गन्धमाल्यलोकेन संपन्नो महीयते । ६ ।

अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति संकल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठतस्तेनान्नपानलोकेन संपन्नो महीयते । ७ ।

अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतस्तेन गीतवादित्रलोकेन संपन्नो महीयते । ८ ।

अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्त्रीलोकेन संपन्नो महीयते । ९ ।

यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन संपन्नो महीयते । १० ।

वादित्रकी कामनाका उल्लेख क्यों किया ? मनुष्यकी जो सत्य-कामनाएं, ऊंची कामनाएं हैं, वे अनृतसे, नीची कामनाओंसे ढकी रहती हैं— 'सत्या कामा, अनृतापिधाना.'। सो ये स्त्री-गन्ध-माल्यादिकी अनृत कामनाएं ब्रह्म-ज्ञानकी सत्य-कामनाओंको ढके रहती हैं। जो यहांसे मरकर चला गया उसे कोई फिर यहां कैसे देख सकता है ? उन्हें यहां देखनेकी इच्छा एक अनृत इच्छा है—मनुष्यकी इस इच्छामें 'सत्य'को 'अनृत'ने ढकाहुआ है।१।

जो यहां इसके जीवित हैं, या जो मर चुके हैं, और जो-कुछ वह चाहता है परन्तु पा नहीं सकता—उस सबको हृदय-मन्दिरमें वर्तमान ब्रह्मके पास पहुंचकर यह पा लेता है। हृदय-मन्दिरमें सत्य-कामनाएं मौजूद रहती हैं, परन्तु विषयोंके प्रति तृष्णाका उनपर आवरण चढ़ा रहता है—'सत्या कामा अनृतापिधाना'। तृष्णाओंके इस अनृत-आवरणके कारण ही वह अपने सत्य-स्वरूपको नहीं पहचान पाता। जैसे पृथिवीमें दबीहुई सुवर्णकी निधिको, उसके ऊपर चलते-फिरते भी नहीं जान पाते, ठीक ऐसे सब जीव-जन्तु सुषुप्ति अवस्थामें ब्रह्म-लोकमें दिन-प्रतिदिन पहुंचतेहुए भी आत्माकी निधिको नहीं पा सकते क्योंकि तृष्णा-रूपी अनृतके आवरणसे उनकी चेतना ढकी रहती है। आत्माके यथार्थ-रूपको जो जान जाता है, वह अनृत-कामनाओंके आवरणको हटाकर सत्य-कामनाओंको अपनाता है।२।

वह आत्मा 'हृदय'में है। 'हृदय'को 'हृदय' कहते भी इसीलिये हैं क्योंकि 'हृदि+अयम्—'वह हृदयमें है'। जो इस रहस्यको दिन-

---

त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानास्तेषां सत्यानां सतामनृतमपिधानं यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय लभते ॥ १ ॥

अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्र गत्वा विन्दतेऽत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा अनृतापिधानास्तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा

प्रतिदिन जानता है वह, उसे बाहर ढूंढनेके स्थानमें हृदयके भीतर ढूंढता है, और वही मानो स्वर्गको पा जाता है ।३।

जब यह जीव निर्मल होकर, इस शरीरसे उठकर, अर्थात् इस शरीरमें आत्म-भावनाको त्यागकर, उस परम-ज्योतिको प्राप्त होकर अपने शुद्ध-रूपमें प्रकट होता है, तब उसीको 'आत्मा' कहा जाता है—यही 'अमृत' है, 'अभय' है, यही 'ब्रह्म' है—इसी ब्रह्मका नाम 'सत्य' है ।४।

'सत्य' में 'स+ति+य'—ये तीन अक्षर हैं (बृहदा० ५, ५, १) । यह जो 'सत्' है, यह 'अमृत', अर्थात् 'ब्रह्म'का द्योतक है, यह जो 'ति' है, यह 'मर्त्य', अर्थात् 'जगत्'का द्योतक है, जो 'यम' है, यह दोनोको मिलानेका सूचक है—क्योंकि इससे 'अमृत' तथा 'मर्त्य' दोनोकी प्राप्ति होती है, इसलिये 'यम्' दोनोका बन्धक है। जो व्यक्ति दिन-प्रतिदिन सत्यके इस रहस्यको जानता है, अमृत और मर्त्यका, ब्रह्म और जगत्का समन्वय करता रहता है, जगत्से ब्रह्म और ब्रह्मसे जगत्के दर्शन करता रहता है, वह मानो स्वर्ग-लोकको पाजाता है ।५।

अष्टम प्रपाठक—[चौथा खंड]

'अमृत' और 'मर्त्य'-लोक आपसमें एक-दूसरेसे टूट न जाय, इस हेतु यह 'आत्मा' एक पुलके समान है, यह आत्मा इन दोनो लोकोंको

स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्यय-
मिति तस्माद्धृदयमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति । ३ ।
अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योति-
रुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचैतद-
मृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति । ४ ।
तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति तद्यत्सत्त-
दमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यमथ यद्य तेनोभे यच्छति यदने-
नोभे यच्छति तस्माद्यमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति । ५ ।

विधृति है, दोनोंको धारण करनेवाला है। दिन-रात, जरा-मृत्यु-शोक, सुकृत-दुष्कृत—इस पुलके इधर-इधर इस मर्त्य-लोकमें ही रह जाते हैं, उस पार अमृत-लोक, अर्थात् ब्रह्म-लोकमें नहीं जा सकते।१।

इस पुलके इस पारसे ही सब पाप लौट आते हैं—जबतक 'जीव' अपने शुद्ध 'आत्मा'के रूपमें आकर ब्रह्म-लोकके साथ ऐसे नहीं जुड जाता जैसे पुल नदीके दो पाटोंको मिला देता है, तभीतक उसके साथ पापका सम्पर्क है, उसके बाद, उस पारका लोक पापसे पृथक् है, वह ब्रह्म-लोक है। इसलिये इस पुलको पार करके अन्धा सुजाखा हो जाता है, विद्ध अविद्ध हो जाता है, रोगी नीरोग हो जाता है, इसीलिये इस पुलको पार करनेपर रात भी दिनके समान हो जाती है, सब अन्धकार दूर हो जाता है, इस ब्रह्म-लोकमें सदा प्रकाश-ही-प्रकाश रहता है।२।

जो इस ब्रह्म-लोकको 'ब्रह्मचर्य'से ढूढते हैं, उन्हींको ब्रह्म-लोक प्राप्त होता है, उनकी सब लोकोंमें निर्बाध गति होती है।३।

अष्टम प्रपाठक—[पाचवा खंड]

जिसे कर्म-काडी लोग 'यज्ञ' कहते हैं, वह 'ब्रह्मचर्य' ही है। 'यज्ञ' शब्द 'यत्+ज्ञ'से बना है, इसका अर्थ है, जिससे ब्रह्म जाना जाय। 'ब्रह्मचर्य'से ही उस 'ज्ञाता'—'ब्रह्म'—को जाना जाता है। जिसे

कर्म-काडी लोग 'इष्ट' कहते हैं, यह भी 'ब्रह्मचर्य' ही है, 'ब्रह्मचर्य' के द्वारा ही उपासक उसकी तीव्र इच्छा मनमें जगाकर 'आत्मा'को प्राप्त करता है ।१।

जिसे कर्म-काडी लोग 'सत्रायण-यज्ञ' कहते हैं, यह भी 'ब्रह्मच'' ही है, क्योंकि 'ब्रह्मचर्य'से ही 'सत्'-रूप 'आत्मा'का त्राण होता है, जिसे कर्म-काडी 'मौन' कहते हैं, यह भी 'ब्रह्मचर्य' ही है, क्योंकि 'मौन' 'मन'से बना है, और 'ब्रह्मचर्य'से ही 'आत्मा' प्राप्त होता तथा उसका 'मनन' होता है ।२।

जिसे कर्म-काडी 'अनाशकायण-यज्ञ' कहते हैं, यह भी 'ब्रह्मचर्य' ही है, 'अनाश'का अर्थ है, जो नष्ट नहीं होता, 'ब्रह्मचर्य'से जिस आत्म-रूपको उपासक प्राप्त करता है, वह 'आत्मा' नष्ट नहीं होता। जिसे कर्म-काडी 'अरण्यायन', अर्थात् ब्रह्मको ढूढनेकेलिये जगलमें चले जाना कहते हैं, यह भी 'ब्रह्मचर्य' है । 'अरण्यायन'में दो शब्द हैं, 'अर' और 'ण्य' । यहासे तीसरा जो द्यु-लोक है, वहा 'अर' और 'ण्य' नामके दो समुद्र हैं, और 'ऐरमदीय'-नामक एक सरोवर है। वहा एक 'अश्वत्थ'-नामक वृक्ष है, जिसमेंसे सोम-रस सदा टपका करता है । प्रभुकी बनाईहुई सोनेकी वहा एक अपराजिता ब्रह्म-पुरी है। (ब्रह्मको जिसने पालिया, वह मानो ब्रह्म-पुरीमे रहने लगा। उसका भोजन सोम-रस है, जो अश्वत्थ नामक वृक्षसे टपकता है। अश्वत्थका अर्थ है अ+श्व+स्थ—अर्थात् जो आज है, कल नही रहेगा। ब्रह्मका ज्ञान इसीसे तो होता है, यह जाननेसे कि ससार आज है, कल नही है, क्षण-भगुर है । कर्म-काडी जिसे अरण्यायन कहते

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता त विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते ।१।

अथ यत्सत्त्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मनस्त्राण विन्दतेऽथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवात्मानमनुविद्य मनुते । २ ।

है, उसे उपनिषत्कारने यहां ज्ञान-पक्षमें घटानेका प्रयत्न किया है।) ।३।



अश्वत्थ-वृक्ष (क्षण-भंगुरता)मेंसे सदा सोम-रस (ज्ञान) टपकता है जो 'ब्रह्मचर्य'से 'ब्रह्म-लोक'में 'अर' और 'ण्य' इन दो समुद्रोंको

पाजाते है, उन्हीका 'ब्रह्म-लोक' होजाता है, उनकी सब लोकोमें निर्बाध गति हो जाती है ।४।

(उपनिषदोके रहस्यको समझनेकेलिये यह समझना आवश्यक है कि ऋषि लोग सदा 'पिड' तथा 'ब्रह्माड'की एकताका प्रतिपादन किया करते थे। जो 'ब्रह्माड'मे है, वह 'पिड'मे है, जो 'पिड'मे है, वह 'ब्रह्माड'मे है। किसी वस्तुको बाहर भी देख सकते है, भीतर भी, बाहर स्थूल-जगत् है, भीतर सकल्पमय सूक्ष्म-जगत् है। तभी इस प्रपाठकके द्वितीय खडमे कहा है कि हृदयाकाशमे आत्माके दर्शन करनेवालेके सकल्पसे ही सब-कुछ उठ खडा होता है। इसी विचार-क्रमको पचम खडमे दर्शाया है। ब्रह्माडमे दो समुद्र है—आसमानका, तथा पृथिवी-का। पिडमे भी 'अर' और 'ण्य'—'कर्म' तथा 'ज्ञान'—ये दो समुद्र है। ब्रह्माडमे पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यु—ये तीन लोक है, पिडमे शरीर पृथिवी-लोक है, मन अन्तरिक्ष-लोक है, आत्मा द्यु-लोक है। कई लोग 'शरीर'मे ही विचरण करते है, कई 'मन'के लोकमे, कई 'आत्मा'के लोकमे। आत्मिक-लोक तीसरा लोक है, यह पिड का द्यु-लोक है। ब्रह्माडमे निर्मल, निर्झर होते है, पिडके द्यु-लोकमे 'एरमदीय' सरोवर है—आनन्दका सोता है। ब्रह्माडमे सोम-रस है, पिडमे 'अश्वत्थ' से अमृतका झरना वहा करता है। 'अ+श्व+त्थ'का अर्थ है, जो कल नही रहेगा। पिडके ब्रह्म-लोकमे प्रवेश करके ही तो यह ज्ञान होता है कि यह सब-कुछ क्षणिक है, यह कल नही रहेगा। ससारकी क्षण-भगुरताकी भावना ही अश्वत्थ-वृक्ष है, जिससे अमरताका सोम-रस झरता है। इस सारे प्रकरणका अर्थ यह है कि हृदयाकाशमें ब्रह्मकी एक सुवर्ण-मय नगरी है, इस नगरीके पास 'कर्म' और 'ज्ञान'के समुद्र है, पास ही 'आनन्द'का झरना बह रहा है, इधर-उधर 'अमरता'का रस टपकानेवाले, ससारकी निस्सारताका ज्ञान कराने-

---

तद्य एवैतावर च ण्य चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति
तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषा सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । ४ ।

वाले पौधे लहलहा रहे हैं। उपासकको ऋषि कहता है कि 'ब्रह्माड'से मुह फेरकर, अन्दरकी, 'पिड'की नगरीकी सैर कर, तुझे सब दीख जायगा।)

अष्टम प्रपाठक--[छठा खड]

'ब्रह्म-लोक'को 'ब्रह्मचर्य'से प्राप्त किया जाता है, परन्तु जो 'ब्रह्म-लोक'को जाता है, उसके प्राण आख-कान आदि इन्द्रियोसे न निकलकर ब्रह्म-रध्रसे निकलते है। आखके विषयोमें जीवनभर लीन रहनेवालेके प्राण आखोसे, श्रोत्रके विषयोमें लीन रहनेवालेके प्राण श्रोत्रोसे, और ब्रह्ममें लीन रहनेवालेके प्राण मूर्धामें जो नाडी जाती है, उससे निकलते है, वह वहासे 'ब्रह्म-लोक'को पहुचता है। इस विचारको विशद करतेहुए ऋषि कहते है—

पिडमें हृदय मानो सूर्य है। उससे पिंगल, शुक्ल, नील, पीत, लोहित वर्णकी नाडिया सूक्ष्म रससे भरी हुई किरणोकी तरह चारोतरफ फैल रही है। ब्रह्माडमें सूर्य मानो जगत्का हृदय है। उससे पिंगल, शुक्ल, नील, पीत, लोहित वर्णकी किरणें रससे भरीहुई नाडियोकी तरह चारोतरफ फैल रही है।१।

जैसे एक 'महापथ'—लम्बा-चौडा रास्ता—निकटके तथा दूरके दोनो ग्रामोको पहुच जाता है, इसीप्रकार आदित्यकी किरणें पिड तथा ब्रह्माड दोनो लोकोको पहुचती है। वे आदित्यसे चलकर इन नाडियो में चली आती है, और इन नाडियोसे चलकर आदित्यमें पहुच जाती है। पिड तथा ब्रह्माडका यह आदान-प्रदान होता रहता है।२।

जब यह सोता है, स्वप्न भी नहीं लेरहा होता, उस समय 'सुषुप्ति-अवस्था'में यह बिखरा नहीं रहता, 'समस्त' हो जाता है, 'प्रसन्न' हो जाता है । उस समय हृदयकी इन्हीं नाडियोमें पहुचा होता है, उस समय उसे कोई पाप छूतक नहीं जाता, उस समय सूर्यकी रश्मियोसे नाडियोमें आये तेजके साथ इसका सम्पर्क होरहा होता है ।३।

जब यह निर्बल हो जाता है, तब इसके चारोतरफ बैठे बन्धु-बान्धव पूछते है, क्या मुझे पहचानते हो, क्या मुझे पहचानते हो, और जबतक यह शरीरसे निकल नहीं जाता तबतक पहचानता है ।४।

परन्तु जब शरीरसे निकलता है, तब साधारण पुरुष तो इन्हीं हृदयकी रश्मि-रूप नाडियोसे किसी एकमेंसे निकल जाता है । ये नाडिया आख, कान, नाक आदि सभी इन्द्रियोको गई है । जिस विषयमें जीवन-भर रमा रहा होता है, उसी विषयकी नाडीसे, उसी इन्द्रिय-द्वारसे निकल जाता है । ब्रह्मका उपासक 'ओ३म्'का उच्चारण करताहुआ ऊपरको प्रयाण करता है । इधर इसका मनस्तत्त्व (Etherial body) क्षीण होता है, और वह आदित्य-लोकको पहुच जाता है, सौरी-दशाको प्राप्त हो जाता है । यह सौरी-दशा 'ब्रह्म-लोक' का द्वार है——ब्रह्म-ज्ञानी इस द्वारमेंसे निकलकर 'ब्रह्म-लोक'में पहुच जाते है, दूसरे यहा रुक जाते है (छा० ४-१५, ५-१०, मुडक १-२) ।५।

इसपर किसीकी उक्ति (कठ ६-१६, प्रश्न ३-६,७, बृहदा० ४-२-३) है——हृदयकी एक-सौ-एक नाडिया है, उनमेंसे एक मूर्धाकी

तद्यत्रैतत्सुप्त समस्त सप्रसन्न स्वप्न न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति । त न कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हि तदा सपन्नो भवति । ३ ।
अथ यत्रैतदवलिमान नीतो भवति तमभित आसीना आहुर्जानासि मा जानासि मामिति । स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति । ४ ।
अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते । स ओमिति वा होद्वामीयते । स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्य गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वार विदुषा प्रपदन निरोधोऽविदुषाम् । ५ ।

ओर (Carotid Artery) निकलती है, उस नाडीसे ऊपरकी ओर चढताहुआ ब्रह्मविद् अमृतत्वको प्राप्त करता है, दूसरी नाडियोसे निकलनेमें भिन्न-भिन्न गति होती है, हा, निकलनेमें भिन्न-भिन्न गति होती है ।६।

अष्टम प्रपाठक--[सातवा खड]

(प्रजापति, इन्द्र तथा विरोचनकी कथा, ७ से १५ खड)

'प्रजापति'ने घोषणा की कि हृदयाकाशमें जिस 'आत्मा'का निवास है वह पापोसे अलग है, जरा और मृत्युसे छूटाहुआ है, भूख और प्यासमे परे है, सत्य-काम और सत्य-सकल्प है—उसीकी खोज करनी चाहिये, उसीको जानना चाहिये। जो उस 'आत्मा'को ढूढकर जान लेता है, वह सब लोकोको और सब कामनाओको पालेता है ।१।

प्रजापतिकी यह घोषणा देव तथा असुर दोनोके कानोमें जा पडी। उन्होने मन-ही-मन कहा, चलो, उस आत्माका पता चलायें, जिसे पाजानेसे सब लोको और सब कामनाओकी प्राप्ति हो जाती है। देवोमेसे 'इन्द्र' और असुरोमेसे 'विरोचन' इसी गवेषणामें निकल पडे। वे दोनो हाथमें समिधा लेकर, एक-दूसरेको बिना जाने प्रजापतिके पास आपहुचे ।२।

उन्होने प्रजापतिके आश्रममें आकर ३२ वर्षतक ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास किया। 'आत्मा'का नाममात्र सुनकर तो चले नहीं जाना था,

उसका साक्षात्कार करना था। साक्षात्कारकेलिये, अर्थात् जीवनमें आत्म-तत्त्वको ढाल लेनेकेलिये ३२ सालका समय कोई वहुत भी नहीं था। इसके अनन्तर प्रजापतिने उनसे पूछा, किस इच्छासे तुम आश्रममें आसन जमाये हो ? उन्होने कहा, भगवन् ! आपकी घोषणा चारो-तरफ गूंज रही थी कि 'आत्मा' पापोसे अलग है, जरा और मृत्युसे छूटाहुआ है, भूख और प्याससे परे है, सत्य-काम और सत्य-संकल्प है--उसीको खोजना चाहिये, उसीको जानना चाहिये, जो उस 'आत्मा'को ढूढकर जानलेता है वह सब लोकोको और सब कामनाओ को पालेता है--वस, हम उसी 'आत्मा'की खोजमें आपके आश्रममें आकर आसन जमाये वैठे है।३।

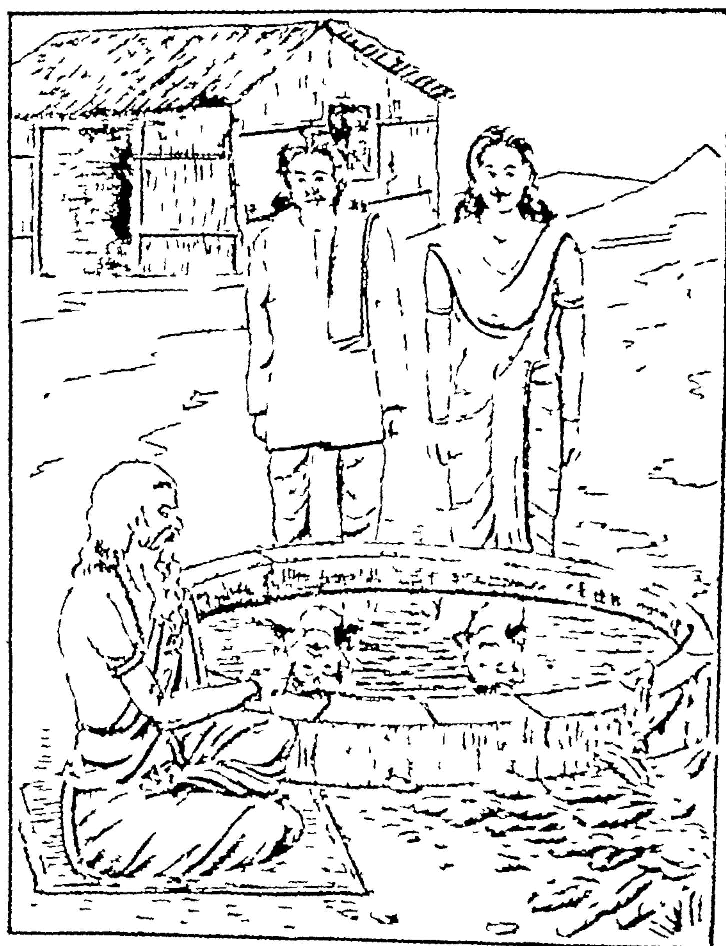
प्रजापतिने उन दोनोसे कहा, यह जो आखमें पुरुष दीखता है, यह 'आत्मा' है, फिर कहा, यही 'अमृत' है, 'अभय' है, यही 'ब्रह्म' है। उन दोनोने पूछा, भगवन् ! यह जो जलमें दीखता है, जो दर्पणमें दीखता है--यह कौन-सा आत्मा है ? प्रजापतिने उत्तर दिया, इनमें भी वही आत्मा दीख पडता है, जो आखमें दिखाई देता है।४।

अष्टम प्रपाठक--[आठवा खड]

फिर प्रजापतिने उन दोनोसे कहा, पानीके वर्तनमें तुम दोनो अपनेको देखो, और फिर 'आत्मा'के विषयमें जो-कुछ समझ न पडे, वह मुझसे पूछो। उन्होने पानीके वर्तनमें देखा। प्रजापतिने पूछा, क्या दीखता

तौ ह द्वात्रिँशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूपतुस्तौ ह प्रजापतिरुवाच किमिच्छन्ताववास्तमिति तौ होचतुर्य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वाँश्च लोकानाप्नोति सर्वाँश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति भगवतो वचो वेदयन्ते तमिच्छन्तावावास्तमिति ।३।
तौ ह प्रजापतिरुवाच य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेत्यथ योऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चायमादर्शे कतम एष इत्येष उ एवैषु सर्वेष्वेतेषु परिख्यायत इति होवाच ।४।

हैं ? उन्होंने कहा, भगवन् ! हमें अपना पूर्ण रूप दीख रहा है, लोमस नखतक, अपना प्रतिरूप, अपनी छाया ।१।



प्रजापति इन्द्र तथा विरोचनको आत्माका उपदेश दे रहे हैं

प्रजापतिने उन दोनोंसे फिर कहा, सुन्दर अलङ्कार और वस्त्र धारणकरके, साफ-सुथरे होकर, पानीके वर्तनमें देखो । उन दोनोंने

सुन्दर अलंकार और सुन्दर वस्त्र धारण किये, अपनेको साफ़-सुथरा किया, और पानीके वर्तनमें देखने लगे। प्रजापतिने उनसे पूछा, क्या दीखता है ? ।२।

उन्होंने कहा, भगवन् ! जैसे हम सुन्दर अलकार, सुन्दर वस्त्र धारण कियेहुए है, साफ-सुथरे हैं, इसीप्रकार हम दोनोके प्रतिविम्ब भी सुन्दर अलकारवाले, सुन्दर वस्त्र धारण कियेहुए और साफ-सुथरे है। प्रजापतिने कहा, 'जागृतावस्था'में जिसे तुम देखते हो, यह 'आत्मा' है, यह 'अमृत' है, 'अभय' है, यह 'ब्रह्म' है। वे दोनो यह सुनकर शान्त-हृदय होकर चल दिये ।३।

उन्हें इसप्रकार जाते देखकर प्रजापतिने अपने हृदयमें कहा, ये दोनो 'आत्मा'को विना उपलब्ध किये, विना जाने जा रहे हैं। इन दोनोमेंसे जो कोई 'देह ही आत्मा है'—इस उपनिषद्के अनुयायी बनेंगे, वे पराजित हो जायगे। विरोचन तो शान्त-हृदय होगया, और असुरोके पास पहुचा। वह तो 'विरोचन' था, शरीरको रोचमान रखनेमें, सजाने-वजानेमें ही उसका चित्त था। उसने असुरोको 'देह ही आत्मा है'—इस उपनिषद्का उपदेश दिया। उसने कहा, देह ही आत्मा है, इसी देह-रूप आत्माकी पूजा करनी चाहिये, सेवा करनी चाहिये—इसीकी पूजासे, इसीकी सेवासे मनुष्य दोनो लोको को प्राप्त कर लेता है, इस लोकको, और उस लोकको ।४।

तौ ह प्रजापतिरुवाच साध्वलकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामिति तौ ह साध्वलकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षाचक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच कि पश्यथ इति ।२।
तौ होचतुर्यथैवेदमावा भगव साध्वलकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ स्व एवमेवेमौ भगव साध्वलकृतौ सुवसनौ परिष्कृतावित्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतु ।३।
तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाचानुपलभ्यात्मानमननुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति देवा वाऽसुरा वा ते पराभविष्यन्तीति स ह शान्तहृदय एव विरोचनोऽसुराञ्जगाम तेभ्यो हैतामुपनिषद प्रोवाचात्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मान परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीम चामु चेति ।४।

इसलिये आज दिनतक जो 'दान' नहीं देता, किसी वस्तुमें 'श्रद्धा' नहीं रखता, 'यज्ञ' नहीं करता, उसे कहते हैं—यह 'असुर' है। देहको आत्मा कहना 'असुरोपनिषद्' है। असुर लोग शरीरको गन्ध-माला से सजाते हैं, और समझते हैं कि इस लोकको जीत लिया, और मरनेपर शरीरका वस्त्रालंकारादिसे सत्कार करते हैं, और समझते हैं कि इसप्रकार उस लोकको जीत लिया ।५।

अष्टम प्रपाठक—[नौवां खंड]

इन्द्र देवोंके पास नहीं पहुंचा। उसे यह भय उत्पन्न होगया कि प्रजापतिके उपदेशसे वह आत्माके वास्तविक स्वरूपको नहीं समझा। वह सोचने लगा, जैसे जलमें दीखनेवाली छाया शरीरके अलंकृत होनेपर अलंकृत होजाती है, सुवस्त्रसे सुवस्त्र हो जाती है, परिष्कृत होनेपर परिष्कृत हो जाती है, इसीप्रकार शरीरके अन्धे होनेपर, काणे होनेपर, लूले-लंगडे होनेपर यह छाया भी तो अन्धी, काणी और लूली-लंगडी दीखने लगती है, शरीरका नाश हो जाय, तो यह भी नष्ट हो जाती है। सो यह जलमें छायाके रूपमें दीखनेवाला प्रतिबिम्ब आत्मा कैसे हो सकता है? मुझे इस सिद्धान्तमें कोई भलाई नहीं दीख पडती ।१।

वह हाथमें समिधा लेकर फिर लौट आया। उसे प्रजापतिने कहा, हे इन्द्र! तुम तो विरोचनके साथ शान्त-हृदय होकर चले गये थे, अब फिर किस चाहनासे वापस लौट आये हो? उसने कहा,

भगवन् ! जलमें दीखनेवाली यह छाया जैसे शरीरके अलङ्कृत होनेपर अलङ्कृत, सुवस्त्र होनेपर सुवस्त्रित और परिष्कृत होनेपर परिष्कृत होजाती है, वैसे शरीरके अन्धे होनेपर अन्धी, काणे होनेपर काणी, लूले-लगडे होनेपर लूली-लगडी और शरीरके नाश होनेपर नष्ट भी तो होजाती है। मुझे शरीरको ही आत्मा माननेका यह सिद्धान्त कुछ ठीक नही जचा ।२।

प्रजापतिने उत्तर दिया, हे इन्द्र ! तूने ठीक समझा, मैं तुझे आत्माका स्वरूप समझानेकेलिये और उपदेश दूंगा। तुम ३२ वर्ष और मेरे पास ब्रह्मचर्य-पूर्वक वास करो। उसने प्रजापतिके निकट और ३२ वर्ष वास किया, तब प्रजापतिने उसे कहा ।३।

अष्टम प्रपाठक—[दसवा खड]

जो यह 'स्वप्नावस्था'में महिमाशाली होकर विचरता है, यही 'आत्मा' है, यह 'अमृत' है, 'अभय' है, यही 'ब्रह्म' है। यह सुनकर इन्द्र शान्त-हृदय होकर चल दिया, परन्तु देवोके पास पहुचनेसे पहले ही उसे यह भय दीखने लगा कि यद्यपि यह ठीक है कि शरीर अन्धा होजाय, तो स्वप्नावस्थामें विचरनेवाला अन्धा नही होता, शरीर काणा हो जाय, तो वह काणा नहीं होता, शरीरके दोषसे वह दूषित नही होता ।१।

स समित्पाणि पुनरेयाय तँ ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्त-हृदय प्राव्राजी सार्ध विरोचनेन किमिच्छन् पुनरागम इति स होवाच यथैव खल्वय भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलकृते साध्वलकृतो भवति सुवसने सुवसन परिष्कृते परिष्कृत एवमेवाय-मस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्राम परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्य पश्यामीति। २ ।
एवमेवैष मघवन्निति होवाचैत त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिँशत वर्षाणीति स हापराणि द्वात्रिँशत वर्षाण्युवास तस्मै होवाच । ३ ।
य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति स ह शान्तहृदय प्रवव्राज स हाप्राप्यैव देवानेतद्भय ददर्श तद्यद्यपीदँ शरीर-मन्ध भवत्यनन्ध स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति। १ ।

न शरीरके वधसे वह मरता है, न इसके काणा होनेसे वह काणा होता है, परन्तु स्वप्नमें ऐसा तो प्रतीत होता है कि कोई इसे मार रहा है, इसका पीछा कर रहा है, स्वप्नमें इसे अप्रिय अनुभव होते हैं, कभी-कभी रोने भी लगता है। मुझे स्वप्नके द्रष्टाको आत्मा माननेके सिद्धान्तमें भी कोई भलाई नहीं दीखती ।२।

वह हाथमें समिधा लेकर फिर लौट आया। उसे प्रजापतिने कहा, हे इन्द्र ! तुम तो शान्त-हृदय होकर चले गये थे, अब फिर किस चाहनासे वापस लौट आये हो ? उसने कहा, भगवन् ! यद्यपि यह ठीक है कि शरीर अन्धा होजाय तो वह अन्धा नही होता, काणा होजाय तो वह काणा नही होता, शरीरके दोषसे वह दूषित नही होता ।३।

न शरीरके वधसे वह मरता है, न काणा होनेसे काणा होता है, परन्तु फिर भी ऐसा तो अनुभव होता है जैसे कोई इसे मार रहा है, इसका पीछा कर रहा है, स्वप्नमें इसे अप्रिय अनुभव होता है, कभी-कभी यह रोने भी लगता है। मुझे यह सिद्धान्त कुछ ठीक नहीं जचा। प्रजापतिने उत्तर दिया, हे इन्द्र ! तूने ठीक समझा, मैं तुझे आत्माका स्वरूप समझानेकेलिये और उपदेश दूगा। तुम ३२ वर्ष और मेरे पास ब्रह्मचर्य-पूर्वक वास करो। उसने प्रजापतिके निकट और ३२ वर्ष वास किया, तब प्रजापतिने उसे कहा ।४।

अष्टम प्रपाठक—[ग्यारहवा खण्ड]

सोनेके बाद जहा पहुचकर यह 'समस्त' हो जाता है, बिखरा न रहकर सिमिट-सा जाता है, 'प्रसन्न' हो जाता है—स्वप्नको भी नही जानता—ऐसी 'सुपुप्तावस्था'में जिसके स्वरूपकी कुछ-कुछ झाकी दीखती है, वही 'आत्मा' है, वह 'अमृत' है, 'अभय' है, वही 'ब्रह्म' है। यह सुनकर इन्द्र शान्त-हृदय होकर चल दिया, परन्तु देवोके पास पहुचनेसे पहले ही उसे यह भय दीखने लगा कि सुपुप्तावस्थामें तो यह अपनेको भी नहीं जानता। 'मै यह हू'—ऐसा अनुभव उसे नहीं होता, और न ही इन भूतोके विषयमें उसे कुछ भी ज्ञान रहता है, मानो उस अवस्थामें वह नाशमें ही लीन हो जाता है। सुषुप्तावस्था में पहुच जानेवाली सत्ताको आत्मा माननेके सिद्धान्तमें मुझे कोई भलाई नहीं दीखती।१।

वह हाथमें समिधा लेकर फिर लौट आया। उसे प्रजापतिने कहा, हे इन्द्र! तुम तो शान्त-हृदय होकर चले गये थे, अब फिर किस चाहनासे वापस लौट आये हो? उसने कहा, भगवन्! सुषुप्तावस्था में पहुंचकर इसे यह भी तो ज्ञान नहीं रहता कि मै यह हू, न उस समय यह इन भूतोंको ही जान पाता है, मानो नष्टहुआ-सा होता है। मुझे यह सिद्धान्त कुछ ठीक नहीं जचा।२।

प्रजापतिने उत्तर दिया, हे इन्द्र! तूने ठीक समझा, मै तुझे आत्मा का स्वरूप समझानेकेलिये और उपदेश दूगा। सुषुप्तावस्थामें आत्मा

तद्यत्रैतत् सुप्त समस्त सप्रसन्न स्वप्न न विजानात्येप आत्मेति होवाचै-तदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति स ह शान्तहृदय प्रवव्राज स हाप्राप्यैव देवानेतद्-भय ददर्श नाह खल्वयमेवँ सम्प्रत्यात्मान जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्य पश्यामीति।१।
स समित्पाणि पुनरेयाय तँ ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्त-हृदय प्राव्राजी किमिच्छन्पुनरागम इति स होवाच नाह खल्वय भगव एवँ सप्रत्यात्मान जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्य पश्यामीति।२।

को जो झलक दीख पड़ती है, वही आत्मा है, उससे अतिरिक्त वह और कुछ नहीं है। तुम और ५ वर्ष आश्रममें वास करो। उसने प्रजापतिके निकट और ५ वर्ष वास किया। इसप्रकार इन्द्रने प्रजापतिके निकट १०१ वर्षतक तपस्या की। इसीलिये यह कथानक प्रसिद्ध है कि इन्द्रने १०१ वर्षतक प्रजापतिके निकट ब्रह्मचर्य-वास किया था। पांच वर्ष बीत जानेपर प्रजापतिने इन्द्रको समझाना शुरू किया—।३।

अष्टम प्रपाठक—[बारहवां खंड]

हे इन्द्र! यह शरीर तो मरण-धर्मा है, मृत्युसे ग्रसा हुआ है। यह मरण-धर्मा शरीर उस अमृत-रूप अशरीर आत्माका अधिष्ठान है, उसके रहनेका स्थान है। आत्मा स्वभावसे अशरीर है, परन्तु जबतक इस शरीरके साथ अपनेको एक समझकर रहता है, तबतक उसे भी सुख-दुःख लगा ही रहता है क्योंकि सुख-दुःख तो शरीरका धर्म ही है। जबतक शरीरके साथ यह अपनी एकता बनाये रखेगा सुख-दुःखसे नहीं छूट सकेगा, अपने अशरीर-रूपमें आनेपर इसे सुख-दुःख छू भी नहीं सकेंगे।१।

वायु, अभ्र, विद्युत्, गर्जना—ये भी तो अशरीर ही हैं, कहां हैं इनका शरीर? जिसप्रकार ये 'आकाश'में रहते हैं, पर शरीर न होनेके कारण दीखते नहीं, हां अपने दृश्य-रूपमें तब प्रकट होते हैं जब परम-ज्योति 'सूर्य'से इनका सम्पर्क होता है, सूर्यकी गर्मी पाकर वायु अपने असली रूपको धारणकर बहने लगता है, सूर्यकी गर्मीमें

ही अभ्र प्रकट होते है, विद्युत् चमकती है, गर्जना प्रकट होती है ।२।

इसी प्रकार आत्मा भी अशरीर है, वह 'शरीर'में रहता है, परन्तु जब उसका भी परम-ज्योति 'ब्रह्म'के साथ सम्पर्क होजाता है, तब वह भी अपने असली रूपको धारण कर लेता है। जैसे वायु आकाशमें रहताहुआ भी दीखता नहीं था, परन्तु सूर्यके सम्पर्कमे जब वायु बहने लगता है तब मानो दीखने लगता है, ऐसे ही शरीरमें रहताहुआ भी आत्मा दीखता नहीं परन्तु जब परम-ज्योति ब्रह्मका सम्पर्क होजाता है, तब वह भी मानो दीखने लगता है, वह अपने शुद्ध-रूपमें प्रकट हो जाता है। इस अवस्थामें जो पहुचजाता है, उसीको 'उत्तम-पुरुष' कहते है। जब मनुष्य इस अवस्थामें पहुचजाता है—शरीरमें रहता हुआ भी अपनेको अशरीरी अनुभव करने लगता है—तब वह खाता-हुआ, खेलताहुआ, स्त्रियोंके साथ आनन्द मनाताहुआ, सैर करताहुआ, इसप्रकार विचरता है जैसे यह शरीर, ये बन्धु-बान्धव, ये आस-पासके लोग उसे कुछ याद ही नहीं। वह ससारके जो काम करता है, ऐसे करता है जैसे शरीरके साथ उसका कोई सम्बन्ध नही, परम-ज्योतिके सम्पर्कमें आनेके कारण वह अपनेको शरीरसे अलग देख लेता है। वह ऐसा स्पष्ट देख लेता है कि जैसे रथके साथ घोडा जुता होता है वैसे ही उसका प्राण, उसका आत्मा इस शरीर-रूपी रथके साथ जुता-हुआ है, वह स्वय शरीर नहीं है, न शरीर तथा आत्माका कोई मूल-गत सम्बन्ध है ।३।

आकाशमें जहा भी आख जडीहुई है, वही 'चाक्षुष-पुरुष', वह

अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मा-दाकाशात्समुत्थाय पर ज्योतिरुपसपद्य स्वेन रूपेणाभि निष्पद्यन्ते ।२।
एवमेवैष सप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय पर ज्योतिरुपसपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमपुरुष स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन्रममाण स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजन स्मरन्निद शरीर स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्त ।३।

आत्मा बैठा है, और इस विशाल जगत्को मानो झरोखोंमें बैठा झांक रहा है। आंख क्या है? यह कोई स्वतन्त्र-वस्तु नहीं है, उसीके देखनेका साधन है—जो देख रहा है, वही 'आत्मा' है। नासिका गन्ध ग्रहण करनेकेलिये है, यह साधन है, जो गन्ध ग्रहण करता है, वही 'आत्मा' है। वाणी व्यवहार करनेकेलिये है, यह साधन है, जो व्यवहार करता है, वही 'आत्मा' है। श्रोत्र सुननेकेलिये है, यह साधन है, जो सुनता है, वही 'आत्मा' है।४।

मन आत्माका दैव-चक्षु है, दिव्य-नेत्र है, इससे यह आगे-पीछे, भूत-भविष्यत् सब देखता है, इसी दिव्य-चक्षुद्वारा मनमें ही, कल्पनामें ही मनुष्य रमण करता है, परन्तु यह भी आत्माका साधन है, जो मनके द्वारा मनन करता है वही 'आत्मा' है।५।

होजाता है, वैसे सुषुप्त-स्थानमें जाकर भी आत्मा कुछ देरकेलिये शरीरसे अलग-सा हो जाता है। मरकर तो कोई उसी शरीरमें लौट कर आता नहीं, अतः वह नहीं जान सकता कि शरीरसे अलग होकर वह किस अवस्थामें पहुंच गया था, परन्तु सुषुप्त होकर तो हरेक व्यक्ति जाग उठता है—तब जो सुषुप्त-समयके आनन्दको स्मरण करता है, वह आनन्द अपने शुद्ध-स्वरूपमें जानेपर जो उसे हुआ था, उसीको स्मरण करता है। हे इन्द्र! सुषुप्त-समयमें आत्मा नहीं सोता, शरीर सोता है, आत्मा जडवत् नहीं होता, शरीर जडवत् होता है। उस समय की अवस्थाको जानकर ही तो तू आत्माके स्वरूपको जान सकता है। यही विचार माण्डूक्योपनिषद् तथा बृहदा० में क्रमशः २-१ तथा ४-२,३ में कहे गये हैं।)

जो देव-गण इस संसारके साथ अधिक सम्पर्क न रखकर ब्रह्म-लोक में विचरण करते हैं, ब्रह्म-ध्यानमें लीन रहते हैं, वे इसी 'आत्मा'की उपासना किया करते हैं, इसीलिये सब लोक और सब कामनाएं उनके वशमें रहती हैं। जो उस आत्माको ढूंढकर जान लेता है वह सब लोकों और सब कामनाओंको प्राप्त कर लेता है—ऐसा प्रजापतिने इन्द्रसे कहा, प्रजापतिने कहा।६।

अष्टम प्रपाठक—[तेरहवां खंड]

मैं आत्माके 'श्याम'-रूपसे, उस रूपसे जो श्याममय अर्थात् अन्धकारमय है, जिसे मैं कुछ नहीं जानता, उसके 'शवल'-रूपको, चितकबरे रूपको, उस रूपको जिसमें कुछ-कुछ स्पष्टताका आभास होता है, प्राप्त करूं, 'शवल'-रूपको देखकर यह समझ जाऊं कि यह वही 'श्याम'-रूप है, जो कुछ दीख नहीं पडता था। जैसे घोडा बालोंको झाडकर गर्दन झाड देता है, जैसे चन्द्र राहुके ग्राससे छूट जाता है, इसी-

---

य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषां सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ।६।

प्रकार आत्माके यथार्थ रूपको जानकर मैं पापोंको झाड दू, शरीरको फेंक दूं, संसारके सब कृत्योंसे निवृत्त होकर अकृत ब्रह्म-लोकमें जा पहुंचू, जा पहुंचू ।१।

अष्टम प्रपाठक—[चौदहवां खंड]

संसार 'नाम' (Name) तथा 'रूप' (Form) का ही समुदाय है। ये नाम-रूप आकाशमें —जो खाली स्थान दीख रहा है—उसमें हैं। संसार क्या है ? 'नाम' 'रूप' और 'आकाश' ! इन तीनोंके बीचमें जो है, वह 'ब्रह्म' है, वह 'अमृत' है, वह 'आत्मा' है। प्रजापतिने आत्माके सम्बन्धमें उपदेश दिया है इसलिये मैं प्रजापतिकी सभामें रहूं, उसके घरपर रहूं, ब्राह्मणोंमें, क्षत्रियोंमें और वैश्योंमें यश प्राप्त करूं, मैंने यशको पा लिया, यशो-के-यशको पा लिया—शरीरसे पृथक् आत्माका दर्शन कर लिया। मैं अब योनिमें गमन न करूं, जन्म-मरणके बंधनसे छूट जाऊं क्योंकि यह योनि दांतोंवाली तो नहीं है—'अ-दन्त' है—परन्तु फिर भी बिना दांतोंके ही खा जाती है—'अदन्-त' है ।१।

अष्टम प्रपाठक—[पन्द्रहवां खंड]

यह 'आत्म-ज्ञान' ब्रह्माने प्रजापतिको सुनाया, प्रजापतिने मनुको, मनुने इसका सब प्रजाओंको उपदेश दिया। उपासकको चाहिये कि आचार्य-कुलमें जाकर गुरुकी सेवा करे, उसके बाद जो समय बचे उसमें यथाविधि वेदोंका अध्ययन करे। तदनन्तर समावर्तन संस्कार होनेपर शुद्ध प्रदेशमें कुटुम्बके साथ स्वाध्याय करता हुआ धार्मिक

कार्योंको करताहुआ, सब इन्द्रियोंका आत्मामें निग्रह करताहुआ, तीर्थ-स्थानोंमें ही नहीं उनके अतिरिक्त भी सर्वत्र सब भूतोंके प्रति अहिंसाका व्यवहार करताहुआ विचरे । जो इसप्रकार विचरता है, वह इस जन्ममें ही आयु-पर्यन्त 'ब्रह्म-लोक'में ही विचरण करता है, और शरीर त्यागनेपर फिर लौटकर नहीं आता, फिर लौटकर नहीं आता ।१।

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्य आचार्यकुलाद्वेद-मधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते । १ ।

बृहदारण्यक उपनिषत्

प्रथम अध्याय—[पहला ब्राह्मण]

(सृष्टिका हय, वाजी, अर्वा तथा अश्व-रूपमें वर्णन)

उपनिषदोंके ऋषि 'ज्ञान'से 'अज्ञान'का वर्णन करतेहुए 'पिंड'से 'ब्रह्मांड'का वर्णन किया करते थे—उनकी वर्णन-शैलीका यह मूल-मंत्र था। उपनिषत्कालमें जो यज्ञ होते थे, उन्हें भी वे परमार्थमें ही घटानेका यत्न करते थे। इन्हीं यज्ञोंमें 'अश्वमेध'-यज्ञ था। जिस-प्रकार यज्ञ-मंडपमें 'अश्वमेध'-यज्ञ हो रहा है, उसप्रकार मानो इस विशाल ब्रह्मांडमें भी 'अश्वमेध-यज्ञ' ही रचा जा रहा है, यह सृष्टि-रूप-यज्ञ एक 'विराट्-अश्वमेध-यज्ञ' है। जैसे कि ऋषि कहता है—

सृष्टि ही मानो मेध्य-अश्व है, विराट् अश्व है। इस 'विराट्-अश्व'का सिर 'उषा' है, इसकी आंख 'सूर्य' है, इसका प्राण 'वायु' है, इसका खुलाहुआ मुंह 'वैश्वानर-अग्नि' है, इस मेध्य-अश्वका आत्मा 'संवत्सर' है—'समय' है। इसकी पीठ 'द्यु-लोक' है, इसका उदर 'अन्तरिक्ष-लोक' है, इसके खुर 'पृथिवी-लोक' हैं, पासे 'दिशाएं' हैं, पसलियां 'अवान्तर-दिशाएं' हैं, अंग 'ऋतुएं' हैं, जोड़ 'मास और अर्धमास' हैं, स्थिति-स्थान 'अहोरात्र' हैं, अस्थियां 'नक्षत्र' हैं, मांस 'बादल' हैं, पेटमें पड़ा आधा-पचा भोजन 'रेतस्' है, आंतड़ियां नदियें हैं, जिगर-फेफड़े 'पहाड़' हैं, लोम 'ओषधि तथा वनस्पतियां' हैं, पूर्वार्ध 'उदीयमान-सूर्य' है, उत्तरार्ध 'अस्त होताहुआ सूर्य' है। अश्व जैसे जंभाई लेता है, सृष्टिमें वह 'चमकना' है, अश्व जैसे शरीरको झाड़ता है, सृष्टिमें वह गरजना है, अश्व जैसे मूत्रोत्सर्ग करता है, सृष्टिमें

वह 'बरसना' है, अश्व जैसे हिनहिनाता है, सृष्टिमें वह 'गरजना' है ।१।

अश्वके आगे-पीछे जैसे उसकी महिमाको गानेवाले घुघरू लगाये जाते है, सृष्टिमें 'दिन'-रूपी घुघरू उसकी अगली और 'रात्रि'-रूपी घुंघरू उसकी पिछली महिमाका बखान कर रहे है । दिनका उदय 'पूर्व-समुद्र'से होता है, रात्रिका प्रारभ 'अपर-समुद्र'से होता है । (कोई समय था जब कि भारतके पूर्व-भागमे भी समुद्र था, यह भूगर्भ-वेत्ताओने पता लगाया है । उसी कालमे ये उपनिषद् लिखी गई होगी ।) ये दोनो—दिन और रात—सृष्टि-रूपी अश्वको आगे और पीछे दोनोतरफसे महिमा बनकर घेरेहुए है । अश्वके चार नाम है—'हय'-'वाजी'-'अर्वा'-'अश्व' । यह सृष्टि 'हय' है, अर्थात् 'हेय' है, 'त्याज्य' है । 'देव-गण' इस सृष्टि-रूपी घोडेपर इसे 'हय' समझकर बैठते है, इसे त्यागना है यह समझकर, इसका भोग करते है । यह सृष्टि 'वाजी' है, अर्थात् वाज-वाली, अन्नवाली है, 'भोग्य' है । 'गन्धर्व-गण', अर्थात् विलासी-लोग इस सृष्टि-रूपी घोडेपर इसे 'वाजी' समझ-कर बैठते है, ससार भोगके ही लिये है, यह समझकर इसका भोग करते है । यह सृष्टि 'अर्वा' है, 'अर्व', अर्थात् 'वध'का स्थान है, हिंसासे ही यहा काम चलता है । 'असुर-गण' इस सृष्टि-रूपी घोडेपर इसे 'अर्वा' समझकर बैठते है, ससारमें सहार द्वारा ही अपनी जीवन-यात्रा करते है । यह सृष्टि 'अश्व' है, 'अश', अर्थात् 'भोजन' मिल जानेका स्थान है । 'मनुष्य-गण', साधारण-लोग इस सृष्टि-रूपी घोडेपर इसे 'अश्व'

ॐ उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिर सूर्यश्चक्षुर्वात प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानर सवत्सर आत्माऽश्वस्य मेध्यस्य । द्यौ पृष्ठमन्तरिक्षमुदर पृथिवी पाजस्य दिश पार्श्वे अवान्तरदिश पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो मांसानि । ऊवध्यं सिकता सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमान्युद्यन् पूर्वार्धो निम्लोचञ्जघनार्धो यद्विजृम्भते तद्विद्योतते यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक् । १ ।

समझकर बैठते हैं, पेट भर जाय, जीवन-यात्राका निर्वाह होजाय, इतने मात्रसे सन्तुष्ट रहते हैं। इसप्रकार देव, गन्धर्व, असुर तथा मनुष्य इस सृष्टि-रूपी विराट् अश्वको हय, वाजी, अर्वा, अश्व रूपमें सवारी कर रहे हैं। इन सबका बन्धु, इन सबका कारण 'समुद्र' है—'समुद्र' अर्थात् जिसमें सब दौडतेहुए जाकर मानो जैसे बन्धुमें लीन होजाते हों वैसे उसमें लीन होजाते हैं। वही कारण-रूप 'प्रकृति' अथवा 'पर-ब्रह्म' ही मानो समुद्र है जिसमें सब ऐसे लीन होजाते हैं जैसे बन्धुमें सब प्रेमसे समा जाते हैं।२।

प्रथम अध्याय—[दूसरा ब्राह्मण]

(मृत्यु तथा सृष्टि)

इस प्रकरणमें ऋषिने ब्रह्मकी कल्पना 'मृत्यु'के रूपमें की है। ब्रह्मको मृत्यु-रूप मानकर कैसे पहले जड़-जगत् उत्पन्नहुआ, उसके उत्पन्न होनेके बाद कैसे चेतन-जगत उत्पन्नहुआ—इस सब सृष्टि-प्रक्रियाका साहित्यिक वर्णन करतेहुए ऋषि कहते हैं—

सृष्टिके प्रारम्भमें यहां, यह जो-कुछ दीख रहा है, कुछ नहीं था। भूखी मृत्युसे यह सब ढका हुआ था। मृत्युका क्या काम है? खा जाती है। भूखा ही तो खाता है। और जो इस विराट् जगत्को खा जाये, कितनी उसकी भूख होगी! परन्तु मृत्यु खाती भी क्या है, पेटमें ही तो रख लेती है। खानेवाला वस्तुको पेट ही में तो रख लेता है। मृत्युने भी यह सब जगत् पेटमें ढाप रखा था। मृत्युका रूप ही 'अशनाया' है, 'भूख' है। मृत्यु ब्रह्मके उस रूपका नाम है, जिसने सब जगत्को भोजन बनाकर अपनेमें ढाप रखा है। मृत्यु-रूप-ब्रह्मका प्रकृति ही तो शरीर था। प्रलयावस्थामें जब प्रकृति-रूपी इस शरीरको वह खा गया, तो उसका अपना शरीर भी न रहा, तब उसने [illegible]

सृष्टिकी अवस्थामें अपने शरीरसे ही तो वह अपने शरीरको खा रहा था——यही तो मत्स्य-न्याय है ! बड़ी मछली छोटी मछलीको निगल रही है, कोई भोक्ता है, कोई भोग्य है। ब्रह्मके मृत्यु-रूप शरीरमें ही तो यह चर्वण चल रहा है। जब इस चर्वणके होते-होते प्रलय होगई, तब ब्रह्मका शरीर न रहा। अब मृत्यु अपनी क्षुधा-पूर्ति का क्या उपाय करे? ऐसी अवस्थामें उसका मन किया कि फिर 'आत्मन्वी' होजाऊं, फिर शरीर धारण करूं, अब फिर सृष्टिकी रचना करूं, ताकि फिर खा-खाकर अपनी भूख मिटाऊं ! उसने अर्चना शुरू की, परमाणुओंकी खुशामद शुरू की कि आओ भाई, करो मदद, सृष्टिको बना डालें ! इसप्रकार अर्चना करतेहुए उसने परमाणुओंमें गति दी। मृत्यु-रूप-ब्रह्मकी इस अर्चनासे 'आप्' उत्पन्न हुए, अर्थात् द्रवावस्थामें प्रकृति प्रकट हुई। 'आप्' का अर्थ यहां जल नहीं, अपितु द्रवावस्थाके रूपमें प्रकृति है। यह देखकर कि अब उसका शरीर बनने लगा उसे 'क' हुआ, 'क' अर्थात् सुख हुआ। 'अर्च'का 'अर्' और 'क'का 'क' मिलकर 'अर्+क'='अर्क' बनता है——क्योंकि 'अर्चना' करतेहुए उसे 'क' अर्थात् सुख हुआ था इसीलिये द्रवावस्था-रूप प्रकृतिको 'अर्क' कहते हैं, यही 'अर्क'का 'अर्कत्व' है। जो इसप्रकार अर्कके अर्कत्वको जानता है उसे सुख प्राप्त होता है।१।

यह 'आप्' और 'अर्क' एक ही बात है—प्रकृतिकी द्रवावस्था का नाम 'आप्' है, और इसीका नाम 'अर्क' है। 'आप्', अर्थात् द्रवावस्था प्रकृतिका जो शर था, अर्थात् ऊपर-ऊपरका हिस्सा था, वह महान् हो गया, कड़ा हो गया। आधे बिलोये दहीमें ऊपर-ऊपर जो झाग आ जाती है उसे 'शर' कहते हैं, वह मक्खन बनकर कड़ी हो जाती है, ऐसे ही 'आप्'का ऊपरका हिस्सा जमकर कड़ा पड़गया, वही 'पृथिवी' बन गया, नीचेका हिस्सा तरल होकर 'जल' बनगया।

नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत् । अशनाययाऽशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुताऽऽत्मन्वी स्यामिति । सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्व कं ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्व वेद । १ ।

उसमें फिर मृत्यु-रूप-ब्रह्मने श्रम किया। उसके श्रम करनेपर, और तप उठनेपर, उसके तेजका रस निकल पड़ा, जिसे 'अग्नि' कहा जाता है। इसप्रकार 'आप्', अर्थात् द्रवावस्था प्रकृतिसे पानी, जमीन और आग—ये तीन पदार्थ उत्पन्न होगये ।२।

अब मृत्यु-रूप-ब्रह्मने अपने अग्नि-रूप शरीरको तीन स्थानोंमें बांट लिया। उसका 'अग्नि'-रूप पृथिवीपर रहा, 'आदित्य'-रूप द्युमें और 'वायु'-रूप अन्तरिक्षमें चलागया। इसप्रकार अग्नि-रूप ब्रह्मका प्राण तीन स्थानोंमें बंट गया, और द्यु-लोकसे लेकर पृथिवी तकके विशाल शरीरको धारणकर अग्नि-रूप वह ब्रह्म जड़-जगत्के रूपमें शरीर-धारी होगया। उसके विशाल जड़-जगत्-रूपी शरीरका वर्णन कौन करे ? पूर्व-दिशा उसका सिर है, और देखो 'वह' और 'वह'—उत्तर-पूर्व और दक्षिण-पूर्व—दूरतक जा रही ये दिशाएं उसकी दोनों भुजाएं हैं। पहले सृष्टिको अश्व मानकर वर्णन किया गया है, इसलिये इस सृष्टि-रूपी-अश्वकी कोई पूछ भी तो चाहिये ! तो देखो, पश्चिम-दिशा उसकी पूछ है, और देखो 'यह' और 'यह'—उत्तर-पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम—दूरतक जा रही ये दिशाएं उसकी दोनों टांगें हैं। दक्षिण और उत्तर दिशा उसके दोनों पासे हैं द्यौ पीठ है, अन्तरिक्ष उदर है, पृथिवी छाती है, और यह विशाल-काय सृष्टि-रूपी-अश्व जो मृत्यु-रूप-ब्रह्मका ही शरीर है, 'आप्'में से द्रवावस्था-रूप प्रकृतिमेंसे उठकर खड़ाहुआ है, इसलिये उसीमें प्रतिष्ठित है। जो इस रहस्यको जानता है वह जहां कहीं जाता है वहीं प्रतिष्ठा पाता है ।३।

जड-जगत् उत्पन्न होनेके बाद उसका एक शरीर पूरा हो गया, अब उसके अन्दर अपने दूसरे शरीरको, चेतन-जगत्को, जिस जगत्में 'मन' तथा 'वाणी'का व्यवहार होता है—इन्हे उत्पन्न करनेकी कामना उठी। उसने चाहा मेरा दूसरा शरीर भी हो जाय। पहले मृत्यु-रूप-ब्रह्मको ससारको खा जानेकी भूख लगी थी, तो उसने प्रलयपर जाकर दम लिया था, जहा कुछ न रहा था, अब उसे सृष्टि उत्पन्न करनेकी भूख लगी है, अब वह प्रत्येक वस्तुको उत्पन्न करनेकी अपनी भूखको मिटाकर ही दम लेगा, भूखसे जो मर रहा है, ब्रह्म ठहरा तो क्या! अपने इस दूसरे शरीर, अर्थात् चेतन-जगत्को उत्पन्न करनेकेलिये उसने 'मन'को 'वाणी'से जोड दिया—ऐसी सृष्टि होने लगी जो 'मन' तथा 'वाणी'से काम लेने लगी। ब्रह्मकी प्रथम-शरीरकी रचनाके लिये जो भावना थी, उसने 'आप्'का रूप धारण किया था जिससे जड-जगत्की सृष्टि हुई, अर्थात् 'आप्'से पानी, जमीन और आग पैदा हुए, अब इस द्वितीय-शरीर, अर्थात् चेतन-जगत्की रचनाकेलिये ब्रह्मकी जो भावना हुई उसने 'सवत्सर'का, काल का, समयका रूप धारण किया। चेतन-जगत्की उत्पत्तिसे पहले सवत्सरका, समयका ज्ञान नहीं था। अग्नि-आदित्य-वायु, अर्थात् जड-जगत्केलिये दिन-रातकी मर्यादा क्या अर्थ रखती है, जीवधारीकेलिये ही समयका ज्ञान कुछ अर्थ रखता था, अत चेतन-जगत्की उत्पत्तिके अनन्तर समयका विभाग काममें आने लगा। तो, अबतक क्या सवत्सर, अर्थात् समय था ही नहीं? था, परन्तु छिपाहुआ था, और इतनी देर तक छिपा रहा जितनी देरसे अब यह प्रकट हो रहा है। महान् काल-तक जड-जगत् ही रहा, इतनी देरतक सवत्सरका नामोनिशान न था, इसके अनन्तर जब चेतन-जगत् हुआ तब सवत्सरकी, कालकी रचना की गई। जब सवत्सर उत्पन्न हुआ, तो मृत्यु-रूप-ब्रह्मने उसकी तरफ अपना भूखा मुह खोला, सोचा अब सृष्टि उत्पन्न होगई, फिर खाना शुरू करू! इतनेमें सवत्सर चिल्ला पडा, भाण-भाण करने लगा, बस तभीसे 'वाणी'की उत्पत्ति होगई, 'भाण' शब्द 'वाणी'से

जो मिलता है। सृष्टिके इस द्वितीय-क्रमके आनेमें जब कि 'वाणी'का व्यवहार प्रारंभ हुआ बहुत भारी समय लगा, इतना समय कि मृत्यु-रूप-ब्रह्म भूखसे व्याकुल होकर समयकी प्रतीक्षा न कर सका, समयको ही खानेको दौड़ पड़ा। तब जाकर 'वाक्-शक्ति'का जन्म हुआ, उस शक्तिका जो जड़ तथा चेतनका भेद करती है, जो अदृश्य-रूपमें 'मन' तथा दृश्य-रूपमें 'वाणी' कहाती है।४।

अब उस मृत्यु-रूप-ब्रह्मने सोचा, मैं तो अपनी भूख मिटानेके लिये एक विशाल शरीरकी रचनाकर फिर उसे खानेमें लग जाना चाहता था, यह क्या, यह तो नन्हीं-सी-बच्ची—'वाणी'—उत्पन्न होगई, इसे खा जाऊंगा, तो क्या अन्त बनेगा! ऐसा सोचकर उसने इस छोटी सी वाणीसे ही यह सब रच डाला, ऋचाएं, यजु, साम, छन्द, यज्ञ, मनुष्य और पशु। इसप्रकार उसका चेतन-जगत्के रूपमें दूसरा शरीर भी तय्यार हो गया। अब जो जो कुछ उसने रचा था उसे फिर खाने लगा। वह सब खा जाता है, इसी मृत्युको 'अदिति' कहते हैं। [illegible] अदितिपन ही यही है कि यह सब 'अद्-भक्षण'के [illegible] कर जाता है, सफा-चट्ट कर जाता है। जो इसप्रकार अदितिके अदिति-त्वको जानता है, वह इसका 'अत्ता' हो जाता है [illegible] उसके सामने 'अन्न'की तरह ढेर हो जाता है।५।

अबतक सृष्टि-रूप दो प्रकट हुए—'जड़-जगत्' और 'चेतन-जगत्'। इस मृत्यु-रूप-ब्रह्मने फिर कामना की एक भारी [illegible]।

इस उद्देश्यसे उसने श्रम किया, तप किया। उसके श्रम तथा तप कर चुकनेपर उसके 'यशोवीर्य'का उदय हुआ। 'प्राण' ही 'यशोवीर्य' है। 'यशोवीर्यका उदय हुआ'—का अभिप्राय है, यशस्वी और वीर्यवान् प्राणोका सब जगह सचार हुआ। यद्यपि सृष्टि उत्पन्न हो जानेपर उसने उसका भक्षण प्रारभ कर दिया था, तथापि इस भक्षणके साथ-साथ सृष्टिमें प्राण-शक्तिका विस्तार बढता गया, बढती होती ही चली गई, और बढती होती ही जा रही है। भक्षण होतेहुए भी बढती होते जाना मृत्यु-रूप-ब्रह्मका भारी तीसरा यज्ञ है। प्राणोके सब जगह फैल जानेपर ब्रह्मका शरीर—जड-चेतन—बढने लगा। जैसे कृषकका मन खेतमें लगा रहता है, वैसे मृत्यु-ब्रह्मका मन अपने शरीरकी वृद्धिमें लगा रहा।६।

मृत्यु-ब्रह्मने कामना की कि मेरे शरीरकी 'वृद्धि' तो होती जा रही है, यह शरीर यू ही न फूलता जाय, इसमें 'पवित्रता' अवश्य हो। उसने यह चाहा कि मैं 'आत्मन्वी'—आत्मा, अर्थात् शरीरवाला—तो होऊ, परन्तु 'मेध्य', अर्थात् पवित्र शरीरवाला होऊ। क्योकि मृत्यु-ब्रह्मका शरीर बढता जा रहा था, इसलिये इसे 'अश्व' कहते हैं, 'अश्व'का अर्थ है, बढना, फूलना, और क्योकि वह उसे 'मेध्य'—पवित्र—चाहता था, इसलिये इस विकसित सृष्टिका नाम 'अश्वमेध' हुआ। यही अश्वमेधका अश्वमेधपना है, और जो इस रहस्यको समझता है वही अश्वमेधके वास्तविक-रूपको जानता है। जैसे 'अश्व-मेध'का घोडा एक वर्षतक विना रोके खुला विचरता है, वैसे सृष्टि-रूप-अश्वको मृत्यु-ब्रह्मने विना रोके बढने दिया, परन्तु फिर जैसे अश्वमेधके घोडेको वापस बुला लिया जाता है, वैसे सवत्सरके बाद फिर उस अश्व-रूप-सृष्टिका ब्रह्मने अपनेमें ग्रहण कर लिया, तभी तो एक वर्ष बाद शीत-उष्ण-शरत्-वसन्तका चक्र फिर दोबारा चल पडता है।

सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति। सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य यशो वीर्यमुदक्रामत्। प्राणा वै यशो वीर्यं तत्प्राणे-षूत्क्रान्तेषु शरीरं श्वयितुमध्रियत तस्य शरीर एव मन आसीत्।६।

सृष्टिका जो मुख्य—'अश्व'-रूप था उसका तो मृत्यु-ब्रह्मने स्वयं भोग लगाया, और जो गौण—'पशु'-रूप—था उसे अन्य देवताओंके सुपुर्द कर दिया। मृत्यु तो ब्रह्म-सूर्य-चन्द्र-पृथिवी आदिको भोगता है, और सूर्य-चन्द्र-पृथिवी आदि अन्य-अवान्तर-जगत्को भोगते हैं। इसप्रकार यह विशाल-संसार सब देवताओंका खिला-खिलाया प्राण-पशु-भोग है—यह मानो एक निरन्तर अश्व-मेध-यज्ञ हो रहा है।

प्रथम अध्याय—[तीसरा ब्राह्मण]

(प्राणके सम्बन्धमें देवासुर-कथा)

प्रजापतिकी दो प्रकारकी सन्तानें थीं, देव और असुर। देव छोटे और असुर बडे थे। वे ब्रह्माडमें, अर्थात् पृथिव्यादि लोकोंमें, और पिंडमें, अर्थात् इन्द्रियादि लोकोंमें अपना आधिपत्य पानेकेलिये एक-दूसरेसे स्पर्धा करने लगे। देवोंने सोचा, ये ब्रह्माड तथा पिंड तो यज्ञ हैं, फिर क्यों न उद्गीथद्वारा हम असुरोंसे आगे बढ जायं।१।

उन्होंने 'वाणी'को कहा, तू हमारा उद्गाता बन। वाणीने कहा, अच्छा। वह ब्रह्माडमें तथा पिंडमें उद्गाता बन देवोंकेलिये गाने लगी। उसने यह तो कह दिया कि मेरे कर्मका फल सब देव, अर्थात् सब इन्द्रियां भोगें, परन्तु साथ यह भी चाहने लगी कि जो अच्छा-अच्छा फल हो, वह मैं अपनेलिये रख लूं। उसकी इस स्वार्थ-भावनाको असुरोंने जान लिया। वे कहने लगे, इस उद्गाताद्वारा देव लोग हमसे आगे निकलना चाहते हैं? उन्होंने जाकर वाणीको पापसे बींध दिया, वही जो पाप कहाता है, उससे। अब वाणी 'अप्रतिरूप', अर्थात् झूठ भी बोलने लगी, यह झूठ—अर्थात् पाप। इससे देव सफल न हुए।२।

तब देवोंने 'घ्राण'को कहा, तू उद्गाता बन। घ्राणने कहा, अच्छा। वह ब्रह्माडमें तथा पिंडमें उद्गाता बन देवोंकेलिये गाने लगा। उसने यह तो कह दिया कि मेरे कर्मका फल सब देव, अर्थात् सब इन्द्रियां भोगें, परन्तु साथ ही यह भी चाहने लगा कि जो अच्छा-

---

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च। ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति।१।
ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुदगायत्।
यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत् कल्याणं वदति तदात्मने।
ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा। २।

अच्छा फल हो, वह मैं अपने लिये रख लूँ। उनकी इस स्वार्थ-भावनाको असुरोंने जान लिया। वे कहने लगे, इस उद्गाताद्वारा देव लोग हमसे आगे निकलना चाहते हैं? उन्होंने जाकर प्राणको पापसे बींध दिया, यही जो पाप कहाता है, उससे। अब प्राण 'अप्रतिरूप', अर्थात् बुरा भी सूँघने लगा, यह दुर्गन्ध अर्थात्—पाप। इससे देव सफल न हुए।३।

तब देवोंने 'चक्षु'को कहा, तू उद्गाता बन। चक्षुने कहा अच्छा। वह चक्षुमें तथा पिण्डमें उद्गाता बन देवोंके लिये गाने लगा। उसने गा तो यह दिया कि मेरे कर्मका फल सब देव, अर्थात् सब इन्द्रियाँ भोगें परन्तु साथ ही यह भी चाहने लगा कि जो-जो अच्छा फल हो, वह मैं अपने लिये रख लूँ। उसकी इस स्वार्थ-भावनाको असुरोंने जान लिया। वे कहने लगे, इस उद्गाताद्वारा देव लोग हमसे आगे निकलना चाहते हैं? उन्होंने चक्षुको पापसे बींध दिया, यही जो पाप कहाता है, उससे। अब चक्षु 'अप्रतिरूप'—बुरा भी देखने लगा। इससे देव सफल न हुए।४।

असुरोने जान लिया । वे कहने लगे, इस उद्गाताद्वारा देव लोग हमसे आगे निकल जाना चाहते हैं ? उन्होने श्रोत्रको पापसे बींध दिया। अब श्रोत्र 'अप्रतिरूप'—बुरा भी सुनने लगा । इससे देव सफल न हुए ।५।

तब देवोने 'मन'को कहा, तू उद्गाता बन । उसने कहा, अच्छा। वह ब्रह्माडमें तथा पिंडमें उद्गाता बन देवोकेलिये गाने लगा । उसने यह तो कह दिया कि मेरे कर्मका फल सब देव, अर्थात् सब इन्द्रिया भोगें, परन्तु साथ ही यह भी चाहने लगा कि जो-जो अच्छा फल हो, वह मैं अपने लिये रख लू । उसकी इस स्वार्थ-भावना को असुरोने जान लिया । वे कहने लगे, इस उद्गातासे देव लोग हमसे आगे निकलना चाहते हैं ? उन्होने मनको पापसे बींध दिया । अब मन 'अप्रतिरूप'—बुरा सकल्प भी करने लगा । इससे देव सफल न हुए ।६।

तब देवोने मुखमें निवास करनेवाले 'प्राण'को कहा, तू उद्गाता बन । उसने कहा, अच्छा । वह ब्रह्माड तथा पिंडमें उद्गाता बन देवोकेलिये गाने लगा । असुरोने कहा, अच्छा, अब इसके सहारे देव लोग हमसे आगे निकलना चाहते हैं ? उन्होने स्वार्थ-हीन प्राणके सामने आकर ज्यो ही उसे पापसे बींधना चाहा कि जैसे मिट्टीका ढेला पत्थरसे टकराकर चूर-चूर होजाता है, वैसे ही असुर भी प्राणसे

अथ ह श्रोत्रमूचुस्त्व न उद्गायेति तथेति तेभ्य श्रोत्रमुदगायद्य श्रोत्रे भोगस्त देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणँ शृणोति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स य स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपँ शृणोति स एव स पाप्मा । ५ ।
अथ ह मन ऊचुस्त्व न उद्गायेति तथेति तेभ्यो मन उदगायद्यो मनसि भोगस्त देवेभ्य आगायद्यत् कल्याणँ सकल्पयति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स य स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपँ सकल्पयति स एव स पाप्मैवमु खल्वेता देवता पाप्मभिरुपासृजन्नेवमेना पाप्मनाऽविध्यन् । ६ ।

टकराकर चूर-चूर हो गये, और विध्वस्त होतेहुए ढेलेकीतरह चारों-तरफ बिखरकर नष्ट हो गये। तब देव बढ़े, असुर हारे। जो इस रहस्यको जान लेता है वह आत्माके स्वरूपमें आजाता है और उससे द्वेष करनेवाले शत्रु पराजित हो जाते हैं।७।

देव अपनी विजय देखकर बोले कहां है वह जिसने हमारा इसप्रकार साथ दिया? उन्हें मालूम हुआ अरे यह तो मुखके भीतर बैठाहुआ है। इसीलिये प्राणको 'अयास्य' कहते हैं, और 'आंगिरस' भी कहते हैं। 'अय'का 'अय', और 'आस्ये'का 'आस्य' मिलकर 'अयास्य' बना, और क्योंकि यह अंगोंका रस है अत इसे 'आंगिरस' कहा गया।८।

प्राण-देवता इन्द्रियोंके पाप-रूप-मृत्युको दूर हटाकर इन्हें मृत्युके पार लघा ले गया ।११।

उसने पहले-पहल 'वाणी'को मृत्युके पार लघाया । वाणी जब मृत्युके बन्धनसे छूट गई, वह 'अग्नि' हो गई । ब्रह्माडकी 'अग्नि' ही तो पिडमें कैद होकर 'वाणी' होगई थी । यह वाणी ही मृत्युके पार पहुचीहुई अग्नि-रूपमें देदीप्यमान हो रही है ।१२।

फिर 'घ्राण'को पार लघाया । 'घ्राण'जब मृत्युके बन्धनसे छूट गया, वह 'वायु' होगया । ब्रह्माडकी 'वायु' ही तो पिडमें कैद होकर 'घ्राण' हो गई थी । यह घ्राण ही मृत्युके पार पहुचकर वायु होकर वह रहा है ।१३।

फिर 'चक्षु'को पार लंघाया । 'चक्षु' जब मृत्युके बन्धनसे छूट गया, वह 'आदित्य' होगया । ब्रह्माडका 'आदित्य' ही तो पिडमें कैद होकर 'चक्षु' होगया था । यह चक्षु ही मृत्युके पार पहुचकर आदित्य होकर तप रहा है ।१४।

फिर 'श्रोत्र'को पार लघाया । 'श्रोत्र' जब मृत्युके बन्धनसे छूट गया, वह 'दिशाए' होगया । ब्रह्माडकी 'दिशाए' ही तो पिडमें कैद होकर 'श्रोत्र' होगई थी । ये श्रोत्र ही मृत्युके पार पहुंचकर दिशाए बनीहुई है ।१५।

सा वा एषा देवतैतासा देवताना पाप्मान
मृत्युमपहत्याथैना मृत्युमत्यवहत् । ११ ।
स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत
सोऽग्निरभवत्सोऽयमग्नि परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते । १२ ।
अथ प्राणमत्यवहत्स यदा मृत्युमत्यमुच्यत स
वायुरभवत्सोऽय वायु परेण मृत्युमतिक्रान्त पवते । १३ ।
अथ चक्षुरत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स आदित्योऽभ-
वत्सोऽसावादित्य परेण मृत्युमतिक्रान्तस्तपति । १४ ।
अथ श्रोत्रमत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत ता दिशो-
ऽभवँस्ता इमा दिश परेण मृत्युमतिक्रान्ता । १५ ।

फिर 'मन'को पार लगाया। 'मन' जब मृत्युके बन्धनसे छूट गया, वह 'चन्द्रमा' होगया। ब्रह्माण्डका 'चन्द्र' ही तो पिण्डमें कैद होकर 'मन' होगया था। वह मन ही मृत्युके पार पहुंचकर चन्द्र बनकर अपनी आभा दिखा रहा है। जो इस रहस्यको जान लेता है उसे प्राण-देवता मृत्युके पार लगा लेजाता है।।६।

(यहांतक प्राणकेद्वारा, विराट्-रूप या ब्रह्माण्ड तथा अणु-रूप या पिण्डमें एकात्मता दर्शाई गई है। इन्द्रिय तथा प्राणके सम्बन्धमें ऐसा ही वर्णन केन ३, प्रश्न २-३, बृहदा० ३-१ में भी पाया जाता है।)

अपना बल दूसरोंको देना ही प्राणका गाना है, इस गाने-रूपी खानेसे प्राण बलशाली होगया ।) जो-कुछ अन्न खाया जाता है, प्राण ही तो खाता है, प्राण ही में तो जाकर वह ठहरता है ।१७।

इन्द्रियां बोलीं, अन्न ही तो दुनियामें सब-कुछ है, वह तूने अपने-लिये गा लिया । हमें भी इस अन्नमें हिस्सा दो । प्राणने कहा, हिस्सा चाहती हो, तो मुझमें अच्छी तरहसे प्रविष्ट हो जाओ । इन्द्रियोंने कहा, अच्छा, और यह कहकर प्राणमें चारों ओरसे प्रवेश कर गईं । इसीसे प्राण जो खाता है उससे इन्द्रियां तृप्त हो जाती हैं । जो इस रहस्यको जानता है, प्राणका अनुसरण करता है, स्वयं खाकर ही तृप्त नहीं होजाता, इन्द्रियां जैसे प्राणमें वैसे उसके अपने मानो उसीमें प्रवेश कर जाते हैं, अपनोंका वह भर्ता होजाता है, श्रेष्ठ कहाता है, अग्र-गामी, अन्नाद और अधिपति होजाता है । अपनोंमें ही अगर कोई प्राण-सरीखे स्वार्थहीन व्यक्तियोंका शत्रु उठ खड़ा होता है तो वह, जैसे असुर समर्थ नहीं हो सके, वैसे समर्थ नहीं हो सकता, किसीका भर्ता नहीं बन सकता । जो प्राणकी स्वार्थ-हीनताको अनुभव करता है, जो भरण-योग्य व्यक्तियोंका पालन करना चाहता है, वह प्राणकी तरह 'भर्ता' बनकर इन्द्रियोंको 'भार्या'---पोष्य---बनानेमें समर्थ होजाता है, ठीक ऐसे जैसे प्राणरूपी 'भर्त्ता'की इन्द्रियां मानो 'भार्या' हैं ।१८।

यह 'अयास्य'---प्राण---'आंगिरस' है, क्योंकि यह अंगोंका रस है । प्राण अंगोंका रस है, और क्योंकि प्राण अंगोंका रस है इसलिये

अथात्मनेऽन्नाद्यमागायद्यद्धि किंचान्नमद्यतेऽनेनैव तदद्यत इह प्रतितिष्ठति ।१७।
ते देवा अब्रुवन्नेतावद्वा इदं सर्वं यदन्नं तदात्मन आगासीरनु नोऽस्मिन्नन्न आभजस्वेति ते वै माऽभिसंविशतेति तथेति तं समन्तं परिण्यविशन्त । तस्माद्यदनेनान्नमत्ति तेनैतास्तृप्यन्त्येवं ह वा एनं स्वा अभिसंविशन्ति भर्ता स्वानां श्रेष्ठः पुर एता भवत्यन्नादोऽधिपतिर्य एवं वेद य उ हैवंविदं स्वेषु प्रतिप्रतिर्बुभूषति न हैवालं भार्येभ्यो भवत्यथ य एवैत मनुभवति यो वैतमनु भार्यान् बुभूर्षति स हैवालं भार्येभ्यो भवति ।१८।

जिस-किसी अंगसे प्राण निकल जाता है, वही सूख जाता है, अंगोका रस जो ठहरा ।१९।

यह 'बृहस्पति' भी कहाता है । 'वाणी' बृहती है महान् है, और यह वाणीका भी पति है क्योंकि वाणीको इसीने तो मृत्युके पार लघाया था, इसलिये यह बृहस्पति है ।२०।

यह 'ब्रह्मणस्पति' भी कहाता है । 'वाणी' ब्रह्म है, उसका यह पति है इसलिये ब्रह्मणस्पति है ।२१।

प्राण ही उद्गीथ है। 'वाणी' गीथ है, प्राण 'उत्' है। प्राण 'उत्' इसलिये है क्योंकि प्राणसे ही तो सब उठ खडा हुआ है, और उठ खडे होकर सब प्रभुका गुण-गान कर रहे हैं। यह खडे-खडे जो सब जगह प्राणद्वारा प्रभुका गान हो रहा है, यही उद्गीथ है।२३।

प्राण ही वाणीद्वारा प्रभुका गुण-गान करता है, इस विषयमें एक आख्यायिका है। किसी समय ब्रह्मदत्त चेकितायन सोम-पान कर रहे थे। वे बोले, अयास्य-आंगिरस प्राण अगर वाणीके बिना उद्गीथ का गान करे, तो सोम राजा उसका सिर फोड दे। अर्थात्, प्राण इकला उद्गीथ-गान नहीं कर सकता, वाणी तथा प्राणके मेलसे ही उद्गीथ-गान होसकता है।२४।

वाणी साम-गान करती है, परन्तु सामका धन उसका सर्वस्व 'स्वर' है। जो सामके धनको जानता है, वही धनी होता है। 'स्वर' ही सामका धन है, इसलिये ऋत्विक्‌का कार्य करना हो, तो स्वर ठीक करे। स्वरसे सम्पन्न वाणीसे ऋत्विक्-कार्य करे। तभी तो यज्ञमें स्वरवालेको ढूंढते हैं, जिसकी वाणीमें स्वरका धन होता है। जो इसप्रकार सामके धनको, सुरीली-वाणीको जानता है, वह सामका धनी हो जाता है।२५।

सामका 'धन' स्वर है, सामका 'सुवर्ण', अर्थात् 'सोना' क्या है? जो सामके सोनेको जानता है, उसके पास सोना-ही-सोना होजाता है।

एष उ वा उद्गीथः प्राणो वा उत्प्राणेन हीदं सर्वमु-
त्तब्ध वागेव गीथोच्च गीथा चेति स उद्गीथः। २३।
तद्धापि ब्रह्मदत्तश्चैकितानेयो राजानं भक्षयन्नुवाचायं त्यस्य
राजा मूर्धानं विपातयताद्यदितोऽयास्य आङ्गिरसोऽन्ये-
नोदगायदिति वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायदिति। २४।
तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद भवति हास्य स्वं तस्य वै स्वर एव
स्वं तस्मादार्त्विज्यं करिष्यन्वाचि स्वरमिच्छेत तया वाचा
स्वरसम्पन्नयार्त्विज्यं कुर्यात्तस्माद्यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्त एव।
अथो यस्य स्वं भवति भवति हास्य स्वं य एवमेतत्साम्नः स्वं वेद। २५।

'स्वर' ही सामका 'सुवर्ण' है। 'सु-वर्ण'—'वर्ण' अर्थात् अक्षरोंका शुद्ध-शुद्ध पाठ ही सामका 'सुवर्ण', अर्थात् सोना है। जो सामके 'सुवर्ण'को, अर्थात् शुद्धोच्चारणको जानता है उसके पास 'सुवर्ण' अर्थात्, सोना होजाता है, प्रभुका गुण-गान-रूपी सोना उसे प्राप्त होता है।२६।

सामकी जो 'प्रतिष्ठा'को जानता है, 'आधार'को जानता है, वह प्रतिष्ठित होता है। 'वाणी' ही सामकी प्रतिष्ठा है वह 'प्राण' 'वाणी'में प्रतिष्ठित होकर प्रभुका गुण-गान करता है। प्राण वाणीमें आकर स्वर-गान करता है, यह प्रत्यक्ष है। इसका मत यह है कि प्राण अपने केवलसे स्वर-गानसे उत्पन्न नाद स्थापना देता है।२७।

अमृत प्रदान करो। 'मृत्योर्माऽमृत गमय' का अर्थ तो स्पष्ट ही है, मुझे मृत्युसे अमृतकी तरफ ले चलो। उक्त तीन पवमान-स्तोत्रोंसे आध्यात्मिक-प्रसाद, अर्थात् 'अमृत' मांगनेके बाद उद्गाता अन्य स्तोत्रों से अपनेलिये जो भौतिक-पदार्थ चाहे मांगे। यही तरीका ठीक-ठीक वर मांगनेका, और जिस-जिस वस्तुकी कामना हो उसे पानेका है। जो उद्गाता इस रहस्यको जानता है, वह अपनेलिये अथवा यजमानकेलिये जो कामना चाहता है उसे गा लेता है, और वह लोकजित् होजाता है। जो इसप्रकार सामको जानता है और लौकिक-पदार्थ मांगता है वह 'लोकजित्' तो होजाता है, परन्तु उससे 'आलोक्यता'की आशा नहीं की जासकती, यह आशा, नहीं की जा सकती कि वह 'परलोकजित्' भी होजायगा।२८।

प्रथम अध्याय—[चौथा ब्राह्मण]

(सृष्टि-रचना)

ब्रह्मांडकी रचनासे पूर्व जैसे पहले 'पुरुष' था, अर्थात् ब्रह्म था, वैसे पिंडकी रचनासे पूर्व पहले 'आत्मा' था, अर्थात् जीव था। 'पुरुष' ने अपने चारोंतरफ देखा, तो अपने अतिरिक्त कुछ न पाया—पृथिवी, सूर्य आदि देवताओंकी सृष्टि तबतक नहीं हुई थी, 'आत्मा'ने भी

अथातः पवमानानामेवाभ्यारोहः स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति स यत्र प्रस्तुयात्तदेतानि जपेत्। असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति स यदाहासतो मा सद्गमयेति मृत्युर्वा असत्सदमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह तमसो मा ज्योतिर्गमयेति मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह मृत्योर्माऽमृतं गमयेति नात्र तिरोहितमिवास्ति। अथ यानीतराणि स्तोत्राणि तेष्वात्मनेऽन्नाद्यमागायेत्तस्मादु तेषु वरं वृणीत यं कामं कामयेत तँ स एष एवंविदुद्गातात्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति तद्धैतल्लोकजिदेव न हैवालोक्यताया आशाऽस्ति य एवमेतत्साम वेद। २८।

था, जितने स्त्री-पुरुष मिलेहुए हो। उसने अपने इस ही शरीरको दो टुकडोमें 'अपातयत्'—पटक दिया। पटकनेकेलिये 'पत्' शब्दका प्रयोग किया गया है, उसीसे 'पति' और 'पत्नी' बने, वे दो टुकडे पति-पत्नी हो गये। इसीको देखकर याज्ञवल्क्य ऋषिका कथन था कि हमारा शरीर 'अर्ध-वृगल'—आधे दल—जैसे चनेके या सीपके दो आधे-आधे दल होते हैं, उनके समान है। इसीलिये जैसे चनेका आधा दल दूसरे दलसे मिलकर पूरा बनता है, वैसे ही पुरुषके सामनेका खाली आकाश स्त्रीके साथ मिलनेसे ही पूरा जाता है। पुरुष-तत्त्व तथा स्त्री-तत्त्वका मेल हुआ, और उससे मनुष्य-जातिका निर्माण हुआ।३।

(बायबलमे भी सृष्टि-रचनाके प्रकरणमे कहा गया है—In the image of God created He him, Male and female created He them—जेनसिस १ २७। इसके आगे २ य अध्याय की २२वी आयतमे लिखा है—And the rib, which the Lord God had taken from man, made He a woman, पुरुषकी पसली निकालकर उसे स्त्री बना दिया। इसका भी यही अभिप्राय है कि सृष्टि-रचनासे पूर्व पुरुष इतना था जितने स्त्री-पुरुष मिले हुए। इस विचारके ससारमे सर्वत्र फैलनेका एक ही स्रोत है।)

स्त्री-तत्त्वने सोचा, मुझे अपने शरीरमेंसे ही उत्पन्न करके यह कैसे मेरे साथ ही सयोग करता है, हाय, मै छिप जाऊ! वह छिपकर गौ होगई, पुरुष-तत्त्व बैल बनगया, और उन दोनोसे गो-जातिका निर्माण हुआ। फिर स्त्री-तत्त्वने घोडीका रूप धारण किया, पुरुष-तत्त्वने घोडेका, फिर गधी-गधेका—इससे एक खुरवाले पशु उत्पन्न हुए। फिर वे बकरी-बकरा, भेड-भेडा बने और उनसे बकरियो

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमाँसौ सपरिष्वक्तौ स इममेवात्मान द्वेधाऽपातयत्तत पतिश्च पत्नी चाभवता तस्मादिदमर्धवृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाश स्त्रिया पूर्यत एव ताँ समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त। ३।

और भेड़ोंकी जाति उत्पन्न हुई। इसीप्रकार चिउँटी-पर्यन्त जितने संसारके जोड़े हैं, उन्हें पुरुष-तत्त्व तथा स्त्री-तत्त्वने उत्पन्न कर दिया।४।

'आत्म-तत्त्व'ने अपनेको 'पुरुष-तत्त्व' तथा 'स्त्री-तत्त्व'में परिणत किया था, फिर संसारके जीव-जन्तुओंके रूपमें विकसित किया, यह सब कर चुकनेपर वह कह उठा, मैं ही सृष्टि हूँ, मैंने ही यह सब रचा है, मेरे रचने ही से तो यह सृष्टि हुई है। जो इस रहस्यको जानता है, वह 'आत्म-तत्त्व'की सृष्टिमें जा पहुँचता है, जिस तत्त्वसे सृष्टिका प्रवाह चलता है उस ऊँचे स्तरपर जा पहुँचता है, सृष्टिका विधायक बन जाता है।५।

है, वही सर्व-देव है। सृष्टिमें जो-कुछ 'आर्द्र' है, जो-कुछ लहलहा रहा है, वह उसी 'आत्म-तत्त्व'के बीजसे उत्पन्न हुआ है। 'आत्म-तत्त्व'के बीजका नाम ही 'सोम' है। सृष्टिमें जो-कुछ है, या वह 'अन्न' है, या 'अन्नाद' है, या भोग्य है, या भोक्ता है। 'सोम' अन्न है, भोग्य है। आत्म-तत्त्वने यह सोमात्मक, अन्नमय, भोग्य-पदार्थोंसे भरीहुई सृष्टि प्राणिमात्रके उपभोगकेलिये बनाई है। 'अग्नि' अन्नाद है, भोक्ता है। आत्म-तत्त्वने मनुष्यको अग्निमय रचा है, वह संसारको अग्नि-रूप होकर भोग डाले, उसे भस्म कर दे, स्वयं भस्म न हो जाय। ब्रह्मकी यह 'अति-सृष्टि' है, ऊंची सृष्टि है, जिसमें श्रेष्ठ-लोग देव बन जाते हैं, और मर्त्य-लोग अमृत बन जाते हैं, तभी तो यह 'अति-सृष्टि' कहलाती है। जो इस रहस्यको जानता है, वह ब्रह्मकी इस 'अति-सृष्टि'में जा पहुंचता है।६।

प्रारंभमें तो सृष्टि 'अव्याकृत'थी, अस्फुट थी। अबतक 'वाणी' उत्पन्न हो चुकी थी। आत्म-तत्त्वने इस सृष्टिको 'वाणी'द्वारा 'नाम' और 'रूप'से 'व्याकृत' कर दिया, स्फुट कर दिया, इसका यह नाम है, और यह रूप है—ऐसा स्पष्ट कर दिया ताकि संसारका व्यवहार चल सके। आज दिन भी प्रत्येक वस्तुका नाम-रूपसे ही व्यवहार होता है, इस वस्तुका यह नाम है, यह रूप है। वह 'आत्म-तत्त्व' प्रत्येक वस्तुमें प्रविष्ट है, नखोंके अग्र-भागतक प्रविष्ट है, ठीक-ऐसे जैसे छुरा नाईकी पेटीमें, और आग लकडीमें। आत्म-तत्त्वको कोई देख नहीं पाता क्योंकि पूरा तो कहीं वह मिलता ही नहीं। जब शरीरमें वह

अथेत्यभ्यमन्थत्स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत तस्मा-देतदुभयमलोमकमन्तरतोऽलोमका हि योनिरन्तरतः। तद्यदिद-माहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवाः। अथ यत्किंचेदमार्द्रं तद्रेतसोऽसृजत तदु सोम एतावद्वा इदं सर्वमन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नमग्निरन्नाद सैषा ब्रह्मणोऽतिसृष्टिर्यच्छ्रेयसो देवानसृजताथ यन्मर्त्यः सन्नमृतान-सृजत तस्मादतिसृष्टिरतिसृष्ट्यां हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद। ६।

ही नसीब होगा। 'आत्म-तत्त्व'को ही प्रिय समझो, उसीकी उपासना करो। जो 'आत्म-तत्त्व'को प्रिय समझकर उसकी उपासना करता है, उसका प्रिय कभी नष्ट नहीं होता।८।

कई जिज्ञासु शका करते है, और पूछते है—जो मनुष्य समझते है हम 'ब्रह्म-विद्या'से सब-कुछ बन जायेंगे, उनका क्या अभिप्राय होता है ? 'ब्रह्म-विद्या'द्वारा 'ब्रह्म'को किस बातका ज्ञान हुआ कि वह सब-कुछ हो गया ? ।९।

इस प्रश्नका ऋषि उत्तर देते है—सृष्टिके प्रारभमें 'ब्रह्म' था। उसने अपनेको ही जाना—'मै ब्रह्म हू', यह जानकर वह सब-कुछ होगया। देवोमें, ऋषियोमें, मनुष्योमें जो-जो यह जानता गया, वह-वह 'ब्रह्म' होता गया। (उपनिषदोमे ब्रह्मका अर्थ है, 'महान्'। 'ब्रह्म' होता गया, अर्थात् 'महान्' होता गया।) इसी तत्त्वका साक्षात्कार कर ऋषि वामदेवने कहा था, मै ही मनु था, मै ही सूर्य था ! आज-दिन भी जो यह जान जाता है कि 'मै ब्रह्म हू'—'मै क्षुद्र नही, महान् हू'—वह सब-कुछ होजाता है, देवता भी उसके ऐश्वर्यको नही रोक पाते, ब्रह्म होनेके नाते वह देवताओका भी आत्मा जो होजाता है ! जो 'अन्य' देवताकी उपासना करता है, अर्थात् वह 'अन्य' है, मै 'अन्य' हू—इस क्षुद्र भावको जन्म देता है, वह नासमझ है, वह मानो देवोके सामने पशु-सदृश है। जैसे बहुत-से पशु मिलकर एक-एक मनुष्यका पालन करते है, ऐसे ही 'अन्य'की उपासना करनेवाले, अपनेको क्षुद्र समझनेवाले अनेक पुरुष मिलकर देवोके मानो पशु बनकर उनकी पालनामें लगे

तदेतत्प्रेय पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतर यदयमात्मा। स योऽन्यमात्मन प्रिय ब्रुवाण ब्रूयात् प्रिय रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रिय प्रमायुक भवति। ८।
तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया सर्व भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद्ब्रह्मावेद्यस्मात्तत्सर्वमभवदिति। ९।

ही नसीब होगा। 'आत्म-तत्त्व'को ही प्रिय समझो, उसीकी उपासना करो। जो 'आत्म-तत्त्व'को प्रिय समझकर उसकी उपासना करता है, उसका प्रिय कभी नष्ट नहीं होता।८।

कई जिज्ञासु शंका करते हैं, और पूछते हैं—जो मनुष्य समझते हैं हम 'ब्रह्म-विद्या'से सब-कुछ बन जायेंगे, उनका क्या अभिप्राय होता है ? 'ब्रह्म-विद्या'द्वारा 'ब्रह्म'को किस बातका ज्ञान हुआ कि वह सब-कुछ हो गया ? ।९।

इस प्रश्नका ऋषि उत्तर देते हैं—सृष्टिके प्रारंभमें 'ब्रह्म' था। उसने अपनेको ही जाना—'मैं ब्रह्म हूं', यह जानकर वह सब-कुछ होगया। देवोंमें, ऋषियोंमें, मनुष्योंमें जो-जो यह जानता गया, वह-वह 'ब्रह्म' होता गया। (उपनिषदोंमें ब्रह्मका अर्थ है 'महान्'। 'ब्रह्म' होता गया, अर्थात् 'महान्' होता गया।) इसी तत्त्वका साक्षात्कार कर ऋषि वामदेवने कहा था, मैं ही मनु था, मैं ही सूर्य था! आज-दिन भी जो यह जान जाता है कि 'मैं ब्रह्म हूं'—'मैं क्षुद्र नहीं, महान् हूं'—वह सब-कुछ होजाता है, देवता भी उसके ऐश्वर्यको नहीं रोक पाते, ब्रह्म होनेके नाते वह देवताओंका भी आत्मा जो होजाता है! जो 'अन्य' देवताकी उपासना करता है, अर्थात् वह 'अन्य' है, मैं 'अन्य' हूं—इस क्षुद्र भावको जन्म देता है, वह नासमझ है, वह मानो देवोंके सामने पशु-सदृश है। जैसे बहुत-से पशु मिलकर एक-एक मनुष्यका पालन करते हैं, ऐसे ही 'अन्य'की उपासना करनेवाले, अपनेको क्षुद्र समझनेवाले अनेक पुरुष मिलकर देवोंके मानो पशु बनकर उनकी पालनामें लगे

तदेतत्प्रेय पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतर यदयमात्मा। स योऽन्यमात्मन प्रिय ब्रुवाण ब्रूयात् प्रियं रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रिय प्रमायुक भवति। ८।

तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया सर्व भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद्ब्रह्माऽवेद्यस्मात्तत्सर्वमभवदिति। ९।

रहते हैं। एक पशु हाथसे निकल जाय तभी बुरा लगता है, ये मनुष्य-रूप पशु देवताओंके हाथसे निकल जाय, यह देवताओंको कैसे रुच सकता है? इसलिये देव लोग नहीं चाहते कि मनुष्य लोग 'अहं ब्रह्मास्मि'—'मैं क्षुद्र नहीं, ब्रह्म हूं, महान् हूं'—के रहस्यको समझें, वे यही चाहते हैं कि मनुष्य, पशु अर्थात् क्षुद्र बने रहें, और उनकी सेवा करते रहें।१०। (यह ऋषि ने उपहासमें कहा है।)

सृष्टिके प्रारम्भमें यह केवल एक 'ब्रह्म' था, 'ब्रह्म' अर्थात् वह सत्ता जिसमें बढ़नेकी, महान् होनेकी शक्ति थी। वह इकला था, इसलिये कुछ हो न सकता था। वह 'ब्रह्म' था, अर्थात् उसमें बढ़नेकी आन्तरिक सामर्थ्य थी, अत इकला होनेपर भी वह बढ़ा, महान् हुआ, उसने श्रेयोरूपको रचा—क्षत्रको, अर्थात् क्षात्र-धर्मको। देवोंमें क्षात्र-धर्मके प्रतिनिधि हैं, इन्द्र, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान। क्षात्र-धर्मसे बढ़कर कुछ नहीं, इसीलिये राजसूय-यज्ञमें ब्राह्मण क्षत्रियसे नीचे बैठता है, अपने यशको क्षात्र-धर्मके सुपुर्द कर देता है। परन्तु क्षात्र-धर्मका आधार, उसका कारण है तो ब्रह्म ही, ब्रह्म अर्थात् वह सत्ता जो सृष्टिके प्रारम्भमें थी, इसलिये यद्यपि राजसूय-यज्ञमें राजा अर्थात् क्षत्रिय ब्राह्मणसे ऊपर बैठता है तथापि यज्ञके अन्तमें वह ब्राह्मणके नीचे ही आ बैठता है, क्योंकि ब्रह्म ही तो क्षत्रका कारण है। जो ब्रह्मकी, अर्थात् उस सत्ताकी जो सृष्टिके प्रारम्भमें थी, जिसमें

वढनेका वीज था, जिसके बढनेसे सब-कुछ वना, हिंसा करता है, उसका अनादर करता है, वह अपने ही कारणकी हिंसा, अनादर करता है, जैसे मानो कोई श्रेष्ठकी हिंसा करके पापका भागी वने, वैसे ही ब्रह्म-धर्मका अनादर करनेवाला क्षात्र-धर्म पापका भागी होता है ।११।

ब्रह्मने 'क्षात्र-धर्म'को तो रचा, परन्तु फिर भी काम न चला। उसने फिर 'विश्'—'वैश्य-धर्म'को रचा। देवोमें वैश्य-धर्मके प्रतिनिधि है, वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुत्। वसु आदि इन देवोके अपने-अपने गण है, समुदाय है, श्रेणिया है। वसु ८ है, रुद्र ११ है, आदित्य १२ है, विश्वेदेव १३ है, मरुत् ४९ है ।१२।

फिर भी काम न चला, तो 'पूषन्', अर्थात् पालन-पोषण करने-वाले 'शौद्र-धर्म'को रचा। देवोमें यह पृथिवी पूषा है, ससारमें यह जो-कुछ है, उसका यही पालन-पोषण करती है ।१३।

ब्रह्माडमें ब्रह्म तथा पिंडमें ब्राह्मण-शक्ति, ब्रह्माडमें इन्द्र, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान तथा पिंडमें क्षत्रिय-शक्ति, ब्रह्माडमें वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव, मरुत् तथा पिंडमें वैश्य-शक्ति, ब्रह्माड में पृथिवी तथा पिंडमें शूद्र-शक्ति एक-दूसरेके प्रतिनिधि है, एक ही ब्रह्म-तत्त्वसे वढते-बढते यह विकास होगया, यह कहनेके वाद ऋषि कहते है—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूप-मत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुण सोमो रुद्र पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति। तस्मात् क्षत्रात्परं नास्ति तस्मा-द्ब्राह्मण क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये क्षत्र एव तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म। तस्माद्यद्यपि राजा परमता गच्छति ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वा योनिं य उ एनं हिनस्ति स्वां स योनिमृच्छति स पापीयान् भवति यथा श्रेयांसं हिंसित्वा। ११।
स नैव व्यभवत् स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति। १२।
स नैव व्यभवत् स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमिय
[illegible]

काम फिर भी न चला। तव उसने श्रेयोरूप 'धर्म'को रचा। यह 'धर्म' क्षत्रका भी क्षत्र है, वलका भी वल है, क्योंकि धर्मसे परे कुछ नही है। धर्मसे ही निर्वल वलवान्पर ऐसे शासन करता है, जैसे राजाकी सहायतासे शासन कर रहा हो। 'धर्म' क्या है ? 'सत्य' ही धर्म है, तभी 'सत्य' बोलनेवालेकेलिये कहा जाता है कि यह धर्म कहता है, और 'धर्म' बोलनेवालेकेलिये कहा जाता है कि यह सत्य कहता है—'सत्य' और 'धर्म' ये दोनो एक ही वस्तु हैं (अर्थात्, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रसे समाजका तभी काम चलता है, जव वे अपने-अपने धर्मका पालन करें, केवल इन नामोंसे समाजकी गाडी नही चल सकती) ।१४।

इसप्रकार समाजमें 'ब्रह्म'-'क्षत्र'-'विट्'-'शूद्र'—ये चार प्रक्रियाएं अपने-अपने 'धर्म'को लेकर चल पडी, तव जाकर काम चला। 'ब्रह्म' ने देवोंमें 'अग्नि'का तथा मनुष्योंमें 'ब्राह्मण'का रूप धारण किया—अर्थात्, ब्रह्म-शक्तिका विकास जड-जगत्में भौतिक-प्रकाश देनेवाले अग्निके रूपमें, और चेतन-जगत्में आत्मिक-प्रकाश, अर्थात् ज्ञान देनेवाले ब्राह्मणके रूपमें हुआ। फिर वही ब्राह्म-शक्ति विकसित होतीहुई अपने क्षत्रिय-धर्मके कारण क्षत्रिय, वैश्य-धर्मके कारण वैश्य और शूद्र-धर्मके कारण शूद्र कहलाई। ब्रह्म-शक्तिसे ही न सव वर्णोंका विकास हुआ। इसीलिये देव-लोकमें 'अग्नि' और मनुष्य-लोकमें 'ब्राह्मण'—इन दो की इच्छा की जाती है, क्योंकि इन दो रूपो से ही तो 'ब्रह्म'ने 'अग्नि' अर्थात् जड तथा 'ब्राह्मण' अर्थात् चेतन-जगत्में अपना विस्तार किया। इन लोकोंमें रहताहुआ जो 'स्व-लोक'को, अपने यथार्थ-रूपको बिना देखे, बिना जाने इस संसारसे

चल बसता है, उसका ब्रह्मसे परिचय नहीं हो पाता, वह अपना विकास नहीं कर पाता, और वह ब्रह्मका रसास्वाद नहीं ले सकता, ठीक-ऐसे जैसे बिनापढा-वेद या बिनाकिया-कर्म कोई फल नहीं देता। जो 'स्व'-रूपको नही जान पाता, अगर वह कोई बडा काम भी करे, तो वह कर्म भी अन्तमें क्षीण ही होजाता है, इसलिये 'आत्म-लोक'की ही उपासना करे--मैं क्या हूं, स्वल्प नहीं हूं, महान् हूं, ब्रह्म हूं---यह अनुभव करे। जो 'आत्म-लोक'की उपासना करता है, अपने 'ब्रह्म', अर्थात् महान् रूपको समझ लेता है, उसका कर्म क्षीण नहीं होता, क्योंकि वह इस 'आत्मा'से ही महान् होनेकी भावनाद्वारा, जो-जो चाहता है, उसे रच लेता है।१५।

'स्व'-लोक, जिसे 'आत्म'-लोक भी कहा, उसमें स्वल्पताको कैसे छोडे, महानताको कैसे लाये? इसका उत्तर देतेहुए ऋषि कहते हैं—यह 'आत्मा' ही सब भूतोका लोक है, निवास-स्थान है। होम करना, यज्ञ करना, आत्माका 'देव-लोक' है, पठन-पाठन इसका 'ऋषि-लोक' है, माता-पिताकी सेवा करना, सन्तान चाहना इसका 'पितृ-लोक' है, सब मनुष्योंके निवासका, भोजनका प्रबन्ध करना इसका 'मनुष्य-लोक' है, पशुओको तृणोदक देना 'पशु-लोक' है, घरमें चौपाये, पक्षी, पिपीलिकादिको भोजन देना आत्माका वह-वह लोक है। ये सब लोक आत्माके अपने लोक है, इन लोकोंके साथ अपनी एकात्मता स्थापित करे। जैसे आत्मा इनकी---देव, ऋषि, पितर, मनुष्य, पशुकी

तदेतद् ब्रह्म क्षत्र विट् शूद्रस्तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद् ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्य शूद्रेण शूद्रस्तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते ब्राह्मणे मनुष्येष्वेताभ्यां हि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत्। अथ यो ह वा अस्माल्लोकात्स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति स एनमविदितो न भुनक्ति यथा वेदो वाऽननूक्तोऽन्यद्वा कर्माकृत यदिह वा अप्यनवंविन्महत्पुण्यं कर्म करोति तद्धास्यान्तत क्षीयत एवात्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते। अस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते। १५।

शुभ-कामना करेगा, वैसे सब प्राणी ऐसे व्यक्तिकी शुभ-कामना करेंगे, इसप्रकार यह 'ब्रह्म' अर्थात् महान् होनेके मार्गपर चल पडेगा, इस बातको खूब जान लिया गया है, इसपर खूब मीमासा होचुकी है ।१६।

ऊपर जो-कुछ कहा उसका उपसहार करतेहुए ऋषि कहते है कि जैसे शुरूमें ब्रह्म इकला था, वैसे शुरूमें आत्मा भी इकला ही था। उसने चाहा, मुझे 'जाया' प्राप्त हो ताकि मै प्रजोत्पत्ति करू, साथ ही यह भी चाहा कि मुझे 'वित्त' प्राप्त हो ताकि मै कर्म करू। ससारमें ये दो ही तो 'कामनाए' है--कोई चाहे, न चाहे, इन दो, पुत्रैषणा तथा वित्तैषणा से ज्यादा कोई कुछ नही चाहता। इसलिये आजतक इकला व्यक्ति यही चाहता है, मुझे 'जाया' प्राप्त हो ताकि मै प्रजोत्पत्ति करू, मुझे 'वित्त' प्राप्त हो ताकि मै कर्म करू। जबतक मनुष्य इनमेंसे एक-एक को नही पा लेता, तबतक अपनेको अपूर्ण ही समझता है, परन्तु वास्तव में 'जाया' तथा 'वित्त'से पूर्णता नही प्राप्त होती, पूर्णता तब प्राप्त होती है, जब 'मन'को आत्मा समझे, 'वाणी'को जाया समझे, 'प्राण' को प्रजा समझे, 'चक्षु'को 'मानुष-वित्त' समझे क्योकि आखोंसे देख-देखकर ही तो लोभमें फसकर यह धन बटोरनेमें लग जाता है, 'श्रोत्र' को 'दैव-वित्त' समझे क्योकि सुन-सुनकर ही देव-भाव प्राप्त होता है, और 'कर्म'को शरीर समझे क्योकि शरीरसे ही कर्म किया जाता है। इसप्रकार पूर्णता 'जाया' और 'वित्त'से नही, 'यज्ञ'से है। 'मन'-'प्राण'-'चक्षु'-'श्रोत्र'-'कर्म'--इन पाचसे मिलकर यज्ञ रचा गया है, पशुमें ये पाचो है, पुरुषमें ये पाचो है--पशु तथा पुरुष मानो यज्ञ-रूप है, यह

सब संसार भी पाचका—पाच तत्त्वोका—मिलकर बना है, यह भी एक यज्ञ है। जो इस रहस्यको जानता है वह सब पा लेता है ।१७।

प्रथम अध्याय—[पाचवा ब्राह्मण]

(मान अन्नोमे प्राणकी सर्वोत्कृष्टता)

सृष्टिके पिताने 'मेधा'से और 'तप'से सात अन्न उत्पन्न किये। इनमेंसे एक साधारण अन्न है, दो अन्न देवोको बाट दिये गये। तीन अन्न अपनेलिये रचे, एक पशुओको दे दिया गया। पशुओको दिये गये अन्नमें उस सारे जगत्की स्थिति है, जो सास लेता है, और जो सास नहीं लेता। इन अन्नोको हर समय खाया जा रहा है तब भी समाप्त नही होते, इसका क्या कारण है ? जगत्पिताके रचेहुए अन्नकी अक्षीणताको जो जान जाता है वह प्रतीक-मात्र अन्न खाता है, अन्नके इतने अक्षय भडारके होतेहुए वह जितना भी खा पाता है नाम-मात्र होता है, अत अन्न समाप्त कैसे हो जाय ? वह देवोको प्राप्त होता है, वह ऊर्जको, बलको प्राप्त होता है। प्राचीन-कालसे चली आरही ये श्लोक-बद्ध कुछ पहेलिया है। इन सक्षिप्त वाक्योको ऋषि आगे खोलते है—।१।

जो यह कहा कि सृष्टिके पिताने 'मेधा' और 'तप'से सात अन्न

आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्त मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेत्येतावान् वै कामो नेच्छ ँ श्च नातो भूयो विन्देत्तस्मादप्येतर्ह्येकाकी कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्त मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति स यावदप्येतेषामेकैक न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते तस्यो कृत्स्नता मन एवास्याऽऽत्मा वाग्जाया प्राण प्रजा चक्षुर्मानुष वित्त चक्षुषा हि तद्विन्दते श्रोत्र दैव ँ श्रोत्रेण तच्छृणोत्यात्मैवास्य कर्मात्मना हि कर्म करोति स एष पाङ्क्तो यज्ञ पाङ्क्त पशु पाङ्क्त पुरुष पाङ्क्तमिद ँ सर्व यदिद किंच तदिद ँ सर्वमाप्नोति य एव वेद। १७।

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता। एकमस्य साधारण द्वे देवानभाजयत्। त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एक प्रायच्छत्तस्मिन्सर्व प्रतिष्ठित यच्च प्राणिति यच्च न। कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदा। यो वैतामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन। स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति श्लोका। १।

उत्पन्न किये, वह ठीक ही कहा है कि सब अन्नोंको जगत्पिताने 'मेधा' और 'तप'ने ही उत्पन्न किया है। यह जो कहा कि इनमेंसे एक साधारण अन्न है, उसका अभिप्राय यह है कि जिस अन्नको हम सब खाते हैं वह 'साधारण अन्न' है, यह अन्न सबका साझा है, उसे जो अपने ही लिये रख लेता है वह पापसे नहीं छूटता, उसे तो सबके साथ बांटकर खाना ही ठीक है।

यह जो कहा कि दो अन्न देवोंको बांट दिये, उसका अभिप्राय यह है कि ये दो अन्न 'हुत' और 'प्रहुत' हैं। शुभ-कर्म करतेहुए स्वयं कुछ न खाकर, अग्निहोत्र करके, अग्निमें आहुति दी जाती है, यही 'हुत' है, दान दिया जाता है, यही 'प्रहुत' है। आहुतिको अग्नि खा जाती है, दानको ब्राह्मण खा जाता है—इसलिये ये देवोंके दो अन्न हैं। कई लोगोंका कहना है कि 'दर्श' अर्थात् अमावास्या और 'पूर्णमास' अर्थात् पूर्णिमा—ये दो यज्ञ देवोंके दो अन्न हैं। इन यज्ञोंको हर अमावास्या और पूर्णमासीमें करे, 'इष्टि-याजुक' न हो, अर्थात् मतलबसे, स्वार्थ-साधनासे ही यज्ञ न करता रहे, अर्थात् अपने अन्दर देव-भाव लाकर 'हुत'-'प्रहुत' अथवा 'दर्श'-'पूर्णमास'की निस्स्वार्थ-भावना जाग्रत् करे।

जो यह कहा कि एक अन्न पशुओंको दे दिया गया, इसका अभिप्राय 'पय'से, जल तथा दूधसे है। मनुष्य तथा पशु प्रारम्भमें दूध और पानीपर ही जीते हैं। मनुष्यके बालकको पैदा होनेपर घृत चटाते हैं, स्तनसे दूध पिलाते हैं, पशुओंकी सन्तानको भी शुरूमें 'अतृणाद' अर्थात् तिनका न खानेवाला कहते हैं। यह जो कहा कि पयके अन्नपर ही सबकी स्थिति है,

वार-वार मृत्युको जीतता है। इस रहस्यको जाननेवाला देवोको सब अन्नाद्य वाटता है—अन्न, घी, दूध, दही आदिके दरिया वहा देता है।

यह जो कहा कि इन अन्नोको हर समय खाया जा रहा है, परन्तु ये समाप्त नहीं होते, इसका रहस्य यह है कि पुरुष ही तो इस 'अक्षिति' का, अक्षीणताका कारण है, वह पुन-पुन इस अन्नको अपनी 'धी' से तथा 'कर्म'से उत्पन्न करता रहता है, भोक्ता भोग्यको जनता रहता है, ऐसा न करे तो अन्न क्षीण न हो जाय। यह जो कहा कि वह 'प्रतीक'से अन्न खाता है, यहा प्रतीकका अर्थ है मुख। इतने विशाल अन्नके भडारको सामने देखकर मुख जैसे छोटे-से छिद्रसे जो अन्न खायेगा वह प्रतीक-मात्र अर्थात् नाम-मात्र ही तो होगा। इस स्थलमें जिन भावनाओका उल्लेख है, उन्हें हृदयमें धारणकर जो खाता-पीता, विचरता है, वह देवोमें जा मिलता है, वह ऊर्ज प्राप्त करता है—ये प्रशसात्मक वाक्य है। यहातक अन्न, हुत, प्रहुत, पय—इन चारका वर्णन हुआ।२।

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पितेति मेधया हि तपसाऽजनयत्पितैकमस्य साधारणमितीदमेवास्य तत्साधारणमन्न यदिदमद्यते। स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्तते मिश्रँ ह्येतत्। द्वे देवानभाजयदिति हुत च प्रहुत च तस्माद्देवेभ्यो जुह्वति च प्र च जुह्वत्यथो आहुर्दर्शपूर्णमासाविति। तस्मान्नेष्टियाजुक स्यात्। पशुभ्य एक प्रायच्छदिति तत्पय। पयो ह्येवाग्रे मनुष्याश्च पशवश्चोपजीवन्ति तस्मात् कुमार जात घृत वैवाग्रे प्रतिलेहयन्ति स्तन वाऽनुधापयन्त्यथ वत्स जातमाहुरतृणाद इति। तस्मिन् सर्व प्रतिष्ठित यच्च प्राणिति यच्च नेति पयसि हीदँ सर्व प्रतिष्ठित यच्च प्राणिति यच्च न। तद्यदिदमाहु सवत्सर पयसा जुह्वदप पुनर्मृत्यु जयतीति न तथा विद्याद्यदहरेव जुहोति तदह पुनर्मृत्युमपजयत्येव विद्वान्सर्वँ हि देवेभ्योऽन्नाद्य प्रयच्छति। कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदेति पुरुषो वा अक्षिति स हीदमन्न पुन पुनर्जनयते। यो वैतामक्षितिं वेदेति पुरुषो वा अक्षिति स हीदमन्न धिया धिया जनयते। कर्मभिर्यद्धैतन्न कुर्यात्क्षीयेत ह सोऽन्नमत्ति प्रतीकेनेति मुख प्रतीक मुखेनेत्येतत्स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति प्रशँसा। २।

यह जो कहा कि तीन अन्न अपनेलिये रचे—वे हैं, मन, वाणी तथा प्राण। अन्न, हुत, प्रहुत तथा पय—ये चार अपनेसे बाहरके अन्न हैं, मन, वाणी, प्राण—ये तीन अपने भीतरके अन्न हैं। जब हम कहते हैं, मेरा मन दूसरी जगह था इसलिये मैंने नहीं देखा, मन दूसरी जगह था इसलिये नहीं सुना, तब हम दूसरे शब्दोंमें यही कह रहे होते हैं कि मन ही देखता है, सुनता है। काम, संकल्प, संदेह, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय—ये सब मन ही के स्वरूप हैं, अगर कोई पीठ पीछेसे हमें छूए तो मनसे ही हम पहचान जाते हैं। यह-सब मनका दियाहुआ अन्न ही तो है, मन हमें कितना भोजन दे रहा है! मनमें जो अमूर्त होता है, उसे वाणी शब्दोंद्वारा मूर्त बना देती है—वाणी ही शब्दोंकी रचना करती है। कैसी छोटी-सी वाणी है, मानो कुछ है ही नहीं, परन्तु मनके अन्ततकका पता देती है। कितना अन्न, अर्थात् भोजन दे रही है वाणी! अब रहा प्राण। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान—ये-सब प्राण ही के रूप हैं। ये सब भोजन प्राणसे मिल रहा है। इसलिये यह शरीर एतन्मय है—वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय।३।

वाक्, मन, प्राणकी महिमा महान् है। पिण्डके ये तीनों त्रिलोकीमें विराजमान हैं। यह पृथिवी-लोक वाणीका लोक है, अन्तरिक्ष-लोक मनका लोक है, द्यु-लोक प्राणका लोक है। जैसे वाणी सब अर्थोंको प्रकट करती है, वैसे पृथिवी सब पदार्थोंको पैदा कर देती है, जैसे मन वाणीको थामेहुए है, वैसे अन्तरिक्ष पृथिवीको थामेहुए है,

प्राण मन-वाणीको जीवित रखता है, वैसे द्यु अन्तरिक्ष तथा पृथ्वीको प्रकाशित कर रहा है ।४।

तीनो वेद भी मानो वाक्, मन, प्राण ही है। ऋग्वेद मानो वाक् है, यजुर्वेद मन है, सामवेद प्राण है। ऋग्वेद ज्ञान-काडका प्रतिनिधि है, वाणी ज्ञानका ही रूप है, यजुर्वेद कर्म-काडका प्रतिनिधि है, मनद्वारा ही कर्म चल रहा है, सामवेद स्तुति-काडका प्रतिनिधि है, प्राणद्वारा ही साम-गान होता है ।५।

वाक्, मन, प्राण ही मानो देव, पितर, मनुष्य—ये तीनो है, वाणी ही देव है, मन ही पितर है, प्राण ही मनुष्य है। 'वाणी' शरीर का मानो प्रकाश है, 'देव-गण' भी मनुष्य-समाजमें बिना बोले भी अपने गुणोसे मानो बोल उठते है, गुणोका प्रकाश फैला देते है, 'मन'में शरीरकी सब इन्द्रिया रक्षा पाती है, मन ठीक रहे तो शरीरकी सब इन्द्रिया ठीक, मन बिगड़ा तो सब बिगड जाती है, 'पितर' भी मनुष्य-समाजके मनकी तरह रक्षक है, 'प्राण' शरीरका सब काम चलाता है, 'मनुष्य' अर्थात् साधारण लोग भी मानव-समाजका सब काम-काज शरीरमें प्राणकी तरह चलाते है ।६।

ये मानो पिता, माता तथा प्रजा है। 'मन' ही पिता, 'वाणी' माता तथा 'प्राण' प्रजा है, सन्तानके समान है ।७।

ये ही 'विज्ञात' (Known), 'विजिज्ञास्य' (Knowable) तथा 'अविज्ञात' (Unknown) है। जो 'विज्ञात' है, जाना जा चुका है, वह 'वाणी'का ही रूप है, वाणीमें आ चुका है, विज्ञात-पदार्थ वाणी-रूप है। ज्ञान जबतक वाणीमें नहीं आता तबतक

त्रयो लोका एत एव वागेवाय लोको
मनोऽन्तरिक्षलोक प्राणोऽसौ लोक ।४।
त्रयो वेदा एत एव वागेवर्ग्वेदो मनो यजुर्वेद प्रा [illegible] सामवेद ।५।
देवा पितरो मनुष्या एत एव वागेव
देवा मन पितर प्राणो मनुष्या ।६।
पिता माता प्रजैत एव मन एव पिता वाङ्माता प्राण प्रजा ।७।

अस्पष्ट रहता है, जब वह वाणी-रूप होजाता है, जब हम ज्ञानको वाणीमें प्रकट कर देते है, तब उसकी सुरक्षा होजाती है, अत. वाणी ज्ञान-रूप होकर मनुष्यकी रक्षा करती है ।८।

जो 'विजिज्ञास्य' है, अभी जाना नही गया परन्तु जाना जा सकता है, वह 'मन'का ही रूप है, मन ही तो विज्ञेय पदार्थोंसे भरा पड़ा है, मन जिस पदार्थपर अपनेको अटका लेता है, वह ज्ञेय कोटिमे आ जाता है, अत मन ससारको ज्ञेय कोटिमें लाकर मनुष्यकी रक्षा करता है ।९।

जो 'अविज्ञात' है, जाना नहीं गया, वह 'प्राण'का ही रूप है । प्राण अविज्ञात है, जाना नही जाता कि यह क्या है, कहा है ? प्राण मनुष्यकी बिना जाने, अविज्ञात-भावसे रक्षा करता है ।१०।

पिंड-शरीरमें जैसे 'वाणी' है, ब्रह्माड-शरीरमें वैसे पृथिवी है । पिंड-शरीरमें जैसे जीवनकी उष्णता है, ब्रह्माड-शरीरमें वैसे ज्योति-रूप अग्नि है । पिडमें वाणीका विस्तार ब्रह्माडके पृथिवीके विस्तारके सदृश है । वाणी पिडकी कहानी बोलती है, पृथिवी ब्रह्माडकी कहानी बोलती है । जितनी विशाल 'वाणी' है, उतनी ही विशाल 'पृथिवी' है, उतनी ही विशाल पृथिवीमे रहनेवाली 'अग्नि' है ।११।

पिड-शरीरमें जैसे 'मन' है, ब्रह्माड-शरीरमें वैसे द्यौ है । पिड-शरीरमें जैसे जीवनकी उष्णता है, ब्रह्माड-शरीरमें वैसे ज्योतिरूप-आदित्य है । पिडमें मनका विस्तार ब्रह्माडके द्यु-लोकके विस्तारके

सदृश है। मन पिंडकी कहानी बोलता है, द्यु-लोक ब्रह्मांडकी कहानी बोलता है। जितना विशाल 'मन' है, उतना ही विशाल 'द्यु' है, उतना ही विशाल द्यु-लोकमें रहनेवाला 'आदित्य' है।

'वाणी' और 'मन'के मेलसे 'प्राण' प्रकट हुआ, ठीक-ऐसे जैसे पृथिवीकी अग्नि और द्यु-लोकके सूर्यके मेलसे, इनकी गर्मीसे 'वायु' प्रकट होता है। पिंडके प्राणको ब्रह्मांडमें इन्द्र कहते हैं, वायु कहते हैं। यह 'असपत्न' है, शत्रु-रहित है। जो कोई दूसरा मुकाबिलेका हो, उसे 'सपत्न' कहते हैं। जो इस रहस्यको जानता है उसका कोई 'सपत्न' नहीं होता, मुकाबिलेका नहीं होता।१२।

पिंड-शरीरमें जैसे 'प्राण' है, ब्रह्मांड-शरीरमें वैसे जल है। पिंड-शरीरमें जैसे जीवनकी उष्णता है, ब्रह्मांड-शरीरमें वैसे ज्योतिरूप-चन्द्र है। पिंडमें प्राणका विस्तार ब्रह्मांडके जलके विस्तारके सदृश है। प्राण पिंडकी कहानी बोलता है, जल ब्रह्मांडकी कहानी बोलता है। जहां जल है वही जीवन है। जितना विशाल 'प्राण' है, उतना ही विशाल 'जल' है, उतना ही विशाल चन्द्र है।

इसप्रकार हमने देखा कि पिंडके वाणी, मन, प्राण,—ये तीनों ब्रह्मांडके पृथिवी, द्यु, जल तथा अग्नि, आदित्य, चन्द्र—इन सबके समान हैं। ये सभी अनन्त हैं, महान् हैं। इन सबको जो 'अन्तवान्' समझ कर इनकी उपासना करता है वह अन्तवान् लोकोंपर विजय पाता है, जो इन्हें 'अनन्तवान्' समझकर इनकी उपासना करता है वह,अनन्तवान् लोकोंपर विजय पाता है। वाणी, मन, प्राण—ये कितने छोटे हैं, कितने अन्तवान् हैं। परन्तु ये पिंडमें ही तो छोटे, अन्तवान् दिखाई देते हैं। ये ही ब्रह्मांडमें अनन्त दिखाई देने लगते हैं। ब्रह्मांडसे ऊपर उठकर अगर अनन्तोंके भी अनन्तके साथ उनका सम्बन्ध जोड दिया जाय, तो मनुष्य सान्तसे अनायास ही अनन्तको

अथैतस्य मनसो द्यौ शरीरं ज्योतीरूपमसावादित्यस्तद्यावदेव मनस्तावती द्यौस्तावानसावादित्यस्तौ मिथुनं समैतां ततः प्राणोऽजायत स इन्द्रः स एषोऽसपत्नो द्वितीयो वै सपत्नो नास्य सपत्नो भवति य एवं वेद।१२।

और चल देता है। फिर वह सान्त लोकोंका विजय करनेके स्थानमें अनन्तके विजयपर निकल पडता है।१३।

अनन्तकी ओर चलनेवालेकेलिये 'संवत्सर'--काल--ही प्रजापति है, भुवनका स्वामी है। इस कालकी उपमा चन्द्रमासे दी जा सकती है। चन्द्रकी सोलह कलाएं हैं। पन्द्रह रात्रिया इसकी पन्द्रह कलाएं है, ध्रुवा इसकी सोलहवी कला है, इस ध्रुवा कलाके कारण ही तो यह ध्रुव बना रहता है। चन्द्र रात्रियोंमें ही पूर्ण होता है, रात्रियोंमें ही क्षीण होता है। जब चन्द्रमा क्षीण होता है तब वास्तवमें प्राणिमात्रमें प्रवेश कर रहा होता है, और अमावास्याकी रातको जब इसकी कोई कला नहीं दीखती तब यह संपूर्ण प्राणि-जगत्में पूर्ण जीवनका संचार कर चुका होता है, और अगले दिन प्रातःकाल अपनी बचीहुई सोलहवी कलासे फिर उदय होने और बढने लगता है। इसलिये इस रात्रिमें किसी प्राणधारीका प्राण-हरण न करे, गिरगिट-जैसे तुच्छ प्राणिको भी न मारे, और कुछ नहीं तो यह सोचकर ही 'प्राण-हरण' न करे कि यह प्राण चन्द्रमाका ही एक रूप है, चन्द्र ही तो इसकी कलाओंसे सृष्टिमें प्राण-रूप होरहा है, और कुछ नहीं तो इसके सम्मानसे ही ऐसा न करे।१४।

कलाओंसे संवत्सर, अर्थात् काल-रूपी सोलह कलाओंवालेका नाम 'प्रजापति' है, जिसमें इस रहस्यको जाननेवालेका नाम 'पुरुष' है। इस पुरुष-रूपी चन्द्रकी पन्द्रह कलाएं 'वित्त' है, धन-धान्य हैं। सोलहवीं

कला 'आत्मा' है। जैसे चन्द्र रात्रियोंसे पूर्ण होता है, रात्रियोंसे क्षीण होता है, वैसे पुरुष-रूपी चन्द्र कभी वित्तसे पूर्ण होजाता है, कभी खाली होजाता है। 'आत्मा' इस शरीर-रूपी पहियेकी नाभि है, वह अविचल है, 'वित्त' इस पहियेकी प्रधि है, अर के सदृश है। इसलिये अगर किसीका सम्पूर्ण वित्त भी नष्ट क्यों न हो जाय, अगर उसका आत्मा जीता है, तो वह जीता ही है, इतना ही कहा जाता है कि इसके अर टूट गये हैं, ठीक हो जायगे।१५।

हे उपासक! ससारमें तीन लोक है—'मनुष्य-लोक', 'पितृ-लोक' तथा 'देव-लोक'। साधरण लोग जो खाने, पीने और प्रजोत्पति-में लगे है, वे 'मनुष्य' कहाते हैं, अपना ही विचार छोड ससारकी रक्षामें लगेहुए लोग 'पितर' कहाते है, ससारको ज्ञान देकर आगे बढानेवाले लोग 'देव' कहाते है। 'मनुष्य-लोक'को 'पुत्र'से ही जीता जाता है, दूसरे कर्मसे नहीं। जबतक पुत्र नही होता तबतक मनुष्य-स्वभावका व्यक्ति इस ससार-युद्धमें अपनेको हाराहुआ ही पाता है। 'पितृ-लोक'को 'कर्म'से जीता जाता है। पितर लोग निरंतर कर्ममें लगे रहते है, तब जाकर दुनियाका भला होता है। 'देव-लोक'को 'विद्या'से जीता जाता है। देव लोग विद्या-दानद्वारा, ज्ञानके प्रचारद्वारा ससारका भला करनेमें लगे रहते हैं। सबसे श्रेष्ठ देव-लोक है, तभी सब लोग विद्याकी प्रशसा करते हैं।१६।

'मनुष्य-लोक'को 'पुत्र'से कैसे जीतते है? 'सप्रत्ति'से, अपना सब-कुछ पुत्रको सौंपनेसे। जब कोई सन्यास लेते समय, या यह देखकर कि अब तो दुनियासे चलनेका समय निकट आ गया, घर छोडने लगता

यो वै स सवत्सर प्रजापति पोडशकलोऽयमेव स योऽयमेवंवि-त्पुरुषस्तस्य वित्तमेव पञ्चदश कला आत्मैवास्य पोडशी कला स वित्तेनैवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते तदेतन्नभ्य यदयमात्मा प्रधिर्वित्त तस्मा-द्यद्यपि सर्वज्यानि जीयत आत्मना चेज्जीवति प्रधिनाऽगादित्येवाहु । १५ ।
अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोक पितृलोको देवलोक इति सोऽय मनुष्यलोक पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठस्तस्माद्विद्या प्रशंसन्ति । १६ ।

है, तब पुत्रको बुलाकर कहता है—तू 'ब्रह्म' है, तू 'यज्ञ' है, तू 'लोक' है। इस बोझको जब पुत्रको सौंपा जाता है तब उससे कहलवाया जाता है, मैं 'ब्रह्म' हू, मैं 'यज्ञ' हू, मैं 'लोक' हू। 'ब्रह्म' कहनेमें वह सब आ जाता है जो पिताने पढा है या नही पढा, 'यज्ञ' कहनेमें सबप्रकारके शुभ-कर्म-रूपी यज्ञ आ जाते हैं जो पिताने किये है या नहीं किये, 'लोक' कहनेमें सब प्रकारके यशके कार्य आ जाते है, पिताने जो यश प्राप्त किये हैं या नही किये। मनुष्यका सपूर्ण ध्येय बस इतनेमें ही आ जाता है—'ब्रह्म'-'यज्ञ'-'लोक'। मेरा यह पुत्र, यह सब-कुछ होकर, 'ब्रह्म'-'यज्ञ'-'लोक'के मेरे बोझको अपने सिरपर लेकर, मेरे नामकी पालना करे, इसलिये जिस पुत्रको पिता यह उपदेश देता है, उसे 'लोक्य' कहते है, क्योंकि वह पितृ-लोकके लिये हितकारी होता है। इस रहस्यको जानतेहुए जो सन्यास लेता है, या दुनिया छोडता है, वह पुत्रको उपदेश देतेहुए मानो अपने प्राणोसे पुत्रमें प्रवेश कर जाता है। उसने अगर कारण-वश कुछ नहीं भी किया होता, तो पुत्र उस सबसे अपने पिताको छुटकारा करा देता है, तभी उसे 'पुत्र' कहते है। 'पुत्'का अर्थ है—पूरा करना, 'त्र'का अर्थ है—न कियेसे पिताकी रक्षा करना। पिता चल देता है, परन्तु चलतेहुए भी पुत्रकेद्वारा इस लोकमें ही स्थित रहता है। जब पिता स्वय सब-कुछ छोडकर चल देता है, तब मानो उसमें 'दैव-प्राण' प्रवेश कर जाते है, 'अमृत-प्राण' प्रवेश कर जाते हैं, अर्थात् उसमें दिव्यता और अमरता आ जाती है।१७।

मनुष्यकी रचना, जैसे पहले कहा, 'वाणी'-'मन'-'प्राण'से है । मृत्युसे धक्का खाकर तो सभी चल देते है, परन्तु जब मनुष्य अपने-आप ससारके विषयोको छोड देता है, तब पृथिवी और अग्निमें जो 'दैवी-वाक्' समा रही है, वह इसमें आ प्रवेश पाती है । इसी 'दैवी-वाक्' से वह जो-कुछ बोलता है, वही-वही हो जाता है ।१८।

द्यु तथा आदित्यमें जो 'दैव-मन' समा रहा है, वह इसमें आ प्रवेश पाता है । इस 'दैव-मन'को धारणकर उसके लिये आनन्द-ही-आनन्द रह जाता है ।१९।

चन्द्र तथा जलमें जो 'दैव-प्राण' समा रहा है, वह इसमें आ प्रवेश पाता है । वह 'दैव-प्राण' जो चलताहुआ और न चलताहुआ कभी थकता नही, कभी नष्ट नही होता । इस रहस्यको जाननेवाला सब भूतोका आत्मा, सबका-आपा हो जाता है, जैसे यह प्राण देवता है, वैसा ही वह होजाता है । जैसे सब भूत प्राण-देवताकी रक्षामें जुटेहुए है, वैसे ही सब भूत इस रहस्यको जाननेवालेकी रक्षामें जुट जाते है । अगर लोग उसके विषयमें दु खी होते है, तो दु ख लोगोतक ही सीमित रहता है, उसे दु ख नही पहुचता, उसे तो पुण्य ही पहुचता है, वह देव हो चुका है, देवोको दु ख-रूपी पापका स्पर्श नही होता ।२०।

पहले कहा, 'मनुष्य-लोक'को 'पुत्र'से जीतते है । अब कहते है, 'पितृ-लोक'को 'कर्म'से जीतते है । 'पितृ-लोक'को 'कर्म'से कैसे जीतते है ? 'व्रत'से । अब व्रतकी मीमासा करते है, उसका विचार करते

पृथिव्यै चैनमग्नेश्च दैवी वागाविशति सा वै
दैवी वाग्यया यद्यदेव वदति तत्तद्भवति । १८ ।
दिवश्चैनमादित्याच्च दैव मन आविशति तद्वै
दैव मनो येनानन्द्येव भवत्यथो न शोचति । १९ ।
अद्भ्यश्चैन चन्द्रमसश्च दैव प्राण आविशति स वै दैव प्राणो य
सचर ्श्चासचर ्श्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति स एववित्सर्वेषा भूताना-
मात्मा भवति यथैषा देवतैव ् स यथैता देवता ् सर्वाणि भूतान्यवन्त्येव ्
हैवविद ् सर्वाणि भूतान्यवन्ति । यदु किचेमा प्रजा शोचन्त्यमैवासा
तद्भवति पुण्यमेवामु गच्छति न ह वै देवान् पाप गच्छति । २० ।

है। इस तथा ब्रह्माण्डमें कौन दृढ़-व्रती है, जिसके व्रतको हमें भी धारण करना चाहिये? कहते हैं कि प्रजापतिने 'कर्मों'की रचना की। जन्म पाकर कर्म एक-दूसरेसे स्पर्धा करने लगे। वाणीने व्रत लिया कि मैं बोलती ही रहूंगी, चक्षुने व्रत लिया कि मैं देखता ही रहूंगा, श्रोत्रने व्रत लिया कि मैं सुनता ही रहूंगा, इसीप्रकार अन्य इन्द्रियोंने अपने-अपने कर्मका व्रत ले लिया। यह देखकर मृत्यु थकावट बनकर उनके निकट पहुंची, उनमें घुस गई, घुसकर उसने उन्हें अपने कामसे रोक दिया। सब इन्द्रियां थककर बैठ गई। इसलिये वाणी बोलते-बोलते थक जाती है, चक्षु-श्रोत्र थक जाते हैं, हां, शरीरके मध्यमें स्थित जो प्राण है, उसे थकावट नहीं पकड़ पाई। इन्द्रियां जान गई, यही हममें श्रेष्ठ है, जो चलताहुआ और न चलताहुआ कभी थकता नहीं, कभी नष्ट नहीं होता। चलो, हम सब इसीका रूप हो जाएं—यह कहकर वे उसीका रूप होगईं, इसलिये इन्द्रियोंको भी प्राण नामसे कहा जाता है। जो इस रहस्यको जानता है वह जिस कुलमें जन्म लेता है उसीके नामसे वह कुल प्रसिद्ध हो जाता है। जो इस रहस्यको जाननेवालेके साथ स्पर्धा करता है वह सूख जाता है, हरा भरा नहीं रह सकता और सूखकर अन्तमें मर जाता है। यह 'अध्यात्म', अर्थात् पिण्डको लक्ष्यमें रखकर प्राणकी श्रेष्ठताका विचार हुआ। २१।